सामाजिक विचारक

[SOCIAL THINKERS]

वीरेन्द्र प्रकाश शर्मा
भूतपूर्व अध्यक्ष, समाजशास्त्र विभाग
वनस्थली विद्यापीठ विश्वविद्यालय
वनस्थली

पंचशील प्रकाशन, जयपुर

संस्करण : पंचम, 2001

मूल्य : अस्सी रुपये मात्र

प्रकाशक :
पंचशील प्रकाशन
फिल्म कॉलोनी, चौड़ा रास्ता,
जयपुर—302 003

शब्द-संयोजक :
गीतांजलि कम्प्यूटर्स
टोंक फाटक, जयपुर

मुद्रक :
शीतल प्रिन्टर्स
फिल्म कॉलोनी, जयपुर

आमुख

वैज्ञानिकों द्वारा विभिन्न क्षेत्रों में समय-समय पर अनेक अन्वेषण किये गये हैं, जिनके आधार पर अनेक सिद्धान्तों का प्रतिपादन हुआ है। प्राकृतिक विज्ञानों की तुलना में सामाजिक विज्ञानों—विशेष रूप से समाजशास्त्र में वैज्ञानिक सिद्धान्तों का निर्माण कम हो पाया है। समाजशास्त्र में ज्ञान के विकास और सिद्धान्तों के निर्माण के अध्ययन के पूर्व सामाजिक विचारकों का गहन अध्ययन अत्यावश्यक है। समाजशास्त्र के विचारकों में पाश्चात्य विचारक इमाइल दुर्खीम, मैक्सवेबर और कार्ल मार्क्स के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। भारतवर्ष में राधाकमल मुकर्जी और डी पी मुकर्जी का योगदान विशेष रूप से उल्लेखनीय है। समाजशास्त्र विषय को भली-भाँति समझने के लिए इन विचारकों का अध्ययन करना विद्यार्थियों के लिए अत्यावश्यक है, इसी तथ्य को ध्यान में रखकर भारत के विभिन्न विश्वविद्यालयों ने सामाजिक विचारक नामक प्रश्न-पत्र को समाजशास्त्र के स्नातक स्तर की कक्षाओं के लिए अपने पाठ्यक्रम में समाहित किया है। इन विचारकों की अवधारणाओं, तथ्यों, अध्ययन-पद्धतियों व सिद्धान्तों आदि से सम्बन्धित विचारों का अध्ययन करने से समाजशास्त्र के विभिन्न पहलुओं को समझने में सहायता मिलेगी।। प्रस्तुत पुस्तक इस लक्ष्य की पूर्ति का प्रथम प्रयास है। पुस्तक की भाषा सरल, सुस्पष्ट एवं सुग्राह्य है।

पुस्तक के लेखन में इन विचारकों की मूल कृतियों की सामग्री ज्यों की त्यों किन्तु संक्षिप्त और सरल भाषा में प्रस्तुत की गई है साथ ही अन्य विद्वानों की कृतियों का भी सहयोग लिया गया है। उनके प्रति लेखक अपना हार्दिक धन्यवाद प्रेषित करता है।

पुस्तक के अतिशीघ्र प्रकाशन के लिए श्री मूलचन्द गुप्ता हार्दिक धन्यवाद के पात्र हैं। पुस्तक के सम्बन्ध में यदि रचनात्मक सुझाव विद्वान् साथियों से प्राप्त होते हैं तो लेखक उनके प्रति आभारी रहेगा।

—लेखक

विषय-सूची

अध्याय-1

इमाइल दुर्खीम : जीवन चित्रण एवं प्रमुख रचनाएँ
(Emile Durkheim : Life Sketch and Major Works)

अनेक सामाजिक विचारकों : आगस्ट, कॉम्ट, हरबर्ट स्पेन्सर, इमाइल दुर्खीम, कार्ल मार्क्स, मेक्स वेबर आदि ने समाजशास्त्र को एक विज्ञान के रूप मे स्थापित एव विकसित करने मे उल्लेखनीय योगदान दिया है। जहाँ, आगस्ट कॉम्ट समाजशास्त्र के जनक है, वहाँ दुर्खीम एक प्रमुख विचारक तथा प्रतिपादक हैं। फ्रास के सामाजिक विचारकों मे दुर्खीम को कॉम्ट का उत्तराधिकारी माना जाता है। दुर्खीम के सम्बन्ध मे यह कहा जाता है कि ये कॉम्ट के समान ही धार्मिक एवं सात्विक विचारधारा से सर्वथा परे रहे, और वैज्ञानिक दृष्टिकोण को जागृत करने में जागरूक एव सचेष्ट रहे। आपने वैज्ञानिक अध्ययनों पद्धतियों को समाज के अध्ययन का मूल आधार बनाया। आधुनिक समाजशास्त्रियो की मान्यता है कि जहाँ कॉम्ट ने समाजशास्त्र को एक सामाजिक विज्ञान के रूप मे स्थापित करने का प्रयास किया, वहाँ दुर्खीम ने इसे वैज्ञानिक आधार प्रदान करने का प्रयत्न किया।

समाजशास्त्र के इतिहास मे दुर्खीम ही पहिले सामाजिक विचारक थे जिन्होने समाजशास्त्र को व्यवस्थित और क्रमबद्ध वैज्ञानिक अध्ययन-पद्धति, समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य एवं विषय-वस्तु प्रदान की। इससे पूर्व किसी भी सामाजिक विचारक ने समाज का समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य के अनुसार वैज्ञानिक तथा व्यवस्थित अध्ययन करने का अनुकरणीय प्रयास नहीं किया। दुर्खीम ने सामाजिक घटनाओं के अध्ययन मे भौतिक विज्ञान की विधियों—अवलोकन, तथ्य संकलन, वर्गीकरण व परीक्षण आदि पर जोर दिया। उनका मानना था कि सामाजिक घटनाओ का अध्ययन भौतिक विज्ञानो के अध्ययन के समान प्रयोगो के आधार पर किया जाना चाहिए। वे किसी विषय में अपनी निश्चित धारणा तब तक व्यक्त नहीं करते थे, जब तक उस विषय से सम्बन्धित समस्त तथ्यों को वैज्ञानिक कसौटी पर न कस लेते थे। काल्पनिक आधार पर किसी घटना की व्याख्या करना उनकी दृष्टि मे अनुचित था। दुर्खीम समाज का विश्लेषण एवं व्याख्या वास्तविक अवलोकनो द्वारा प्राप्त किए गए तथ्यों के आधार पर करते थे किन्तु सामाजिक घटनाओ की उत्पत्ति मे सामूहिक चेतना, धारणा एव भावनाओं को महत्वपूर्ण मानते थे। इसी को **'सामूहिक प्रतिनिधित्व'** (Collective Representation) का सिद्धान्त कहा जाता है। समाजशास्त्रीय विचारधारा मे आपका महत्वपूर्ण और प्रमुख योगदान माना जाता है। दुर्खीम द्वारा प्रस्तुत 'सामाजिक श्रम का सिद्धान्त', 'धर्म का सामाजिक सिद्धान्त', 'आत्महत्या का सिद्धान्त' आदि सामूहिक चेतना के तथ्य से नियन्त्रित एव निर्देशित होते हैं, अत: इन्हें सामाजिक अध्ययन की श्रेणी मे रखा जाता है। इस प्रकार दुर्खीम समूहवादी विचारधारा के समर्थक थे, व्यक्तिवादी विचारधारा के नहीं। इसी कारण टार्डे ने सामाजिक अन्त:क्रिया के जिस सिद्धान्त को प्रतिपादित किया उससे

दुर्खीम सन्तुष्ट थे। दुर्खीम सामाजिक घटनाओ के लिए समूह या समाज को उत्तरदायी मानते थे। फ्रांस की सामाजिक विचारधारा मे डी बोनाल्ड और डी मैस्ट्रे समूहवाद के जन्मदाता माने जाते हैं। ये दोनों ही यह मानते थे कि समूह के सदस्यो से अलग भी समूह का अस्तित्व होता है।

प्रत्यक्षवाद और समूहवाद के समन्वय का प्रयास करने वाले आगस्ट कॉम्ट प्रथम विचारक थे। दुर्खीम ने इस समन्वय को दृढ रूप में स्थापित किया। इस प्रकार दुर्खीम ने फ्रास के समाजशास्त्रीय चिन्तन मे तीन महत्त्वपूर्ण योगदान दिए—(i) इन्होंने प्रत्यक्षवाद और समूहवाद मे समन्वय स्थापित किया, (ii) सामाजिक घटनाओं के अध्ययन के लिए वैज्ञानिक पद्धति पर बल दिया, और (iii) समाजशास्त्र से सम्बन्धित पुस्तको व पत्रिकाओ आदि का सम्पादन किया। इन्हीं कारणो से दुर्खीम समाजशास्त्रीय जगत् की एक महत्त्वपूर्ण निधि तथा विचारक माने जाते हैं। इनके सिद्धान्तो व विचारो के अध्ययन के पूर्व इनकी जीवनी व कृतियो का अध्ययन करना आवश्यक है।

दुर्खीम : एक जीवन चित्रण
(Durkheim : A Life Sketch)

इमाइल दुर्खीम फ्रास के सुविख्यात समाजशास्त्रीय विचारक एवं दार्शनिक थे। आपका जन्म 15 अप्रैल, सन् 1858 मे फ्रांस के लॉरेन क्षेत्र मे स्थित एपीनल नामक एक कस्बे में हुआ था। आपके माता-पिता यहूदी थे। इनके पूर्वज यहूदी दर्शन **रैबी शास्त्रकार** के रूप मे सुप्रसिद्ध रहे। अत: फ्रास के अन्य भागों मे यहूदियों पर अनेक अत्याचार होते रहने के उपरान्त भी इस क्षेत्र मे उनके प्रति दया व सहिष्णुता का व्यवहार किया जाता रहा था। आपने अपने परिवार से ही यहूदी दर्शन का पर्याप्त ज्ञान प्राप्त किया था। पारिवारिक पृष्ठभूमि के फलस्वरूप वे प्रारम्भ से ही प्रतिभाशाली, मेधावी और योग्य विद्यार्थी रहे। इनकी प्रारम्भिक शिक्षा के दौरान ही एक ईसाई शिक्षिका ने उन्हे **हिब्रू** शिक्षा प्रदान की। एपीनल की इसी स्थानीय शिक्षण शाला में उन्होने स्नातक तक की शिक्षा ग्रहण की।

उच्च अध्ययन के लिए वे फ्रास की राजधानी पेरिस मे चले गये। वहाँ उन्होने सुप्रसिद्ध सस्था **इकोल नार्मेल अकादमी** मे प्रवेश लिया, जो उस समय सम्पूर्ण विश्व की प्रतिष्ठित सस्था थी। इस सस्था मे फ्रासीसी, लेटिन व ग्रीक दर्शन का अध्ययन कराया जाता था और केवल उच्च प्रतिभा के धनी ही इस सस्था के छात्र हो सकते थे।

दुर्खीम प्रखर बुद्धि वाले होते हुए भी तीन बार प्रयास करने के उपरात ही इसमे प्रवेश पा सके। इस समय कई विद्वान् जैसे—बॉगल, ट्यूवर्ट, एस. पिनास, ग्रेनेट व डेवी आदि इस सस्था मे शिक्षा ग्रहण कर रहे थे और प्रसिद्ध दार्शनिक विद्वान् बर्गसन उनसे एक वर्ष आगे थे। इकोल अकादमी के पाठ्यक्रम में दुर्खीम को अधिक रुचि नहीं आई क्योंकि वहाँ पर परम्परावादी एव मानवतावादी दृष्टिकोण को महत्ता प्रदान की जाती थी, जबकि दुर्खीम प्रत्यक्षवादी एव वैज्ञानिक मनोवृत्ति वाले थे। वे समाज की राजनैतिक, बौद्धिक और सामाजिक दशाओं के अध्ययन मे अपनी रुचि अधिक रखते थे अत: उनके लिए परम्परावादी एव मानवतावादी दृष्टिकोण व्यर्थ था, क्योंकि वह उस समय की राजनैतिक, बौद्धिक एवं सामाजिक समस्याओं का अध्ययन नहीं करता था। इसी कारण दुर्खीम का उस सस्था के वातावरण से सामञ्जस्य नहीं हो सका। कभी-कभी तो वे अपने अध्यापको से भी विद्रोह

कर देते थे। दुर्खीम का मानना था कि किसी भी ज्ञान या दर्शन मे यदि वर्तमान राजनैतिक, बौद्धिक और सामाजिक समस्याओ को नहीं देखा जाता तो उस ज्ञान या दर्शन की कोई उपादेयता नहीं है। किसी भी सामाजिक व राजनैतिक घटना के अध्ययन मे वैज्ञानिक विधि के साथ-साथ दार्शनिक औचित्य भी उनके मत मे आवश्यक था।

दुर्खीम की रुचि प्रारम्भ से ही शिक्षक बनने की थी, अतः सन् 1882 में 'इकोल नार्मेल अकादमी' को छोड़कर वे पेरिस के पास तीन स्थानीय क्षेत्रीय हाइस्कूलों—सेन्स, सेण्ट क्यून्टिन और ट्रायज मे दर्शनशास्त्र के अध्यक्ष पद पर पाँच वर्षो तक कार्य करते रहे— वे एक कुशल शिक्षक माने जाते रहे थे।

उन्होने इन विद्यालयों में समाजशास्त्र का पाठ्यक्रम भी लागू कराया। बाद में वे उच्च अध्ययन के लिए एक वर्ष का अवकाश लेकर जर्मनी चले गए। जर्मनी यूरोप का शैक्षणिक केन्द्र रहा है। दुर्खीम ने वहाँ पर अर्थशास्त्र, लोक मनोविज्ञान और सास्कृतिक मानवशास्त्र आदि का गहन अध्ययन किया। वहाँ पर उन्होने आगस्ट कॉम्ट के लेखो का गहराई से अध्ययन किया और कॉम्ट के विचारों व सिद्धान्तो से प्रेरित होकर उन्होने समाजशास्त्रीय प्रत्यक्षवाद (Sociological Positivism) को जन्म दिया। जर्मनी मे अध्ययन के समय उन्हे लेपजिंग व बर्लिन नगर मे भी रहना पडा। लेपजिग म उनका सम्पर्क प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक वुण्ट (Wundt) से हुआ। जर्मनी मे उन्होंने दो प्रतिवेदन प्रस्तुत किए—एक दर्शनशास्त्र पर और दूसरा प्रत्यक्षवादी नीतिशास्त्र पर। इन्ही दोनो प्रतिवेदनो के कारण वे सम्पूर्ण फ्रास मे प्रसिद्ध हो गए।

सन् 1887 में दुर्खीम जर्मनी से पेरिस वापिस आ गए और 'बोर्डियेक्स विश्वविद्यालय' मे शिक्षक के रूप मे कार्य करने लगे। इस विश्वविद्यालय मे उनके लिए विशेष रूप से 'सामाजिक विज्ञान' का एक नवीन विभाग खोला गया। सन् 1896 मे दुर्खीम इसी विभाग मे समाजशास्त्र के अध्यक्ष बना दिए गए। इस प्रकार वे फ्रास के सर्वप्रथम प्रोफेसर बने। इस विश्वविद्यालय मे उन्होने समाजशास्त्र के अन्तर्गत अनेक महत्त्वपूर्ण विषय—जैसे सामाजिक एकता का पारिवारिक समाजशास्त्र, आत्महत्या, शिक्षा, मनोविज्ञान, अपराध का समाजशास्त्र, समाजवादी सिद्धान्त तथा दण्ड जैसे विषयो का अध्ययन किया। धर्म, कानून और नैतिकता जैसे विषय भी अपने पढाए। सन् 1893 मे 'पेरिस विश्वविद्यालय' द्वारा आपको फ्रासीसी भाषा मे आपके द्वारा लिखे गए शोधग्रन्थ "De la division du travail social" पर डाक्टेट की उपाधि प्रदान की गई। दो वर्ष उपरान्त 1895 मे दुर्खीम ने अपने दूसरे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ Les regles de la methode sociologique का लेखन किया और पुन. दो वर्ष के उपरान्त अपना तीसरा ग्रन्थ "Le suicide" लिखा जिनके कारण उनको विश्व का प्रमुख दार्शनिक व समाजशास्त्री माना जाने लगा। दुर्खीम के उपर्युक्त प्रमुख तीनो ग्रन्थ हिन्दी मे इस प्रकार हैं—

(1) समाज मे श्रम-विभाजन, 1893

(2) समाजशास्त्रीय पद्धति के नियम, 1895

(3) आत्महत्या, 1897

1898 मे दुर्खीम ने "L'annee sociologique" नामक पत्रिका का प्रकाशन किया और 1910 तक वे इस पत्रिका के सम्पादक बने रहे। समाजशास्त्र विषयक यह पत्रिका फ्रांस

में अत्यधिक सम्माननीय रही। अनेक महान् बुद्धिजीवियों, जैसे—साइमण्ड, लेवी स्ट्रास एवं जॉर्ज डेनी आदि के लेख इस पत्रिका मे प्रकाशित हुए। इस प्रकार अनेक विद्वानों से उनका सम्पर्क इस पत्रिका के माध्यम से हुआ और अनेक विचारकों के सहयोग से दुर्खीमवादी सम्प्रदाय की स्थापना समाजशास्त्र के जगत् मे हुई।

दुर्खीम ने बोर्डियेक्स विश्वविद्यालय मे अभूतपूर्व प्रतिष्ठा प्राप्त की—उसी समय उनका विवाह लुई ड्रेक के साथ हो गया। उनके दो सन्तानें—एक पुत्री मेरी और पुत्र आन्द्रे हुए। पारिवारिक परिस्थितियाँ उनके अनुकूल रहीं। उनकी पत्नी उनके अध्ययन एवं लेखन मे भरपूर सहयोग देती थी। पारिवारिक दायित्वों के निर्वाह के साथ-साथ दुर्खीम की लिखित सामग्री के सम्पादन, संशोधन, पाण्डुलिपि के पठन एवं पत्र-व्यवहार आदि के कार्यों मे अपनी पत्नी सहयोग करती थी, उनका व्यक्तित्व एवं पारिवारिक जीवन संतुलित एवं सुखी रहने का मुख्य कारण उनको पत्नी का पूरा सहयोग था।

दुर्खीम पेरिस विश्वविद्यालय द्वारा 1902 में 'शिक्षा शास्त्र' के आचार्य के पद पर आमन्त्रित किए गए। वहाँ उन्होने ब्यूसो के रिक्त पद को सम्भाला और वे 1906 मे इस पद पर स्थाई रूप से नियुक्त किए गए। 1913 में दुर्खीम ने 'शिक्षाशास्त्र' विषय का नाम बदल कर 'शिक्षाशास्त्र एवं समाजशास्त्र विभाग' कर दिया। इस समय तक समाजशास्त्र को एक पृथक् विषय के रूप मे मान्यता नहीं मिली थी। दुर्खीम ने पेरिस विश्वविद्यालय में नीतिशास्त्र, धर्म की उत्पत्ति, नैतिकता, विवाह और परिवार समाजशास्त्र, कॉम्ट व सेन्ट साइमन का समाजदर्शन आदि विषयो का अध्यापन किया। दुर्खीम की निष्ठा, लगन और परिश्रम ने उन्हे अपने विद्यार्थियो मे बहुत सम्माननीय बनाया। 1912 मे दुर्खीम ने अपनी एक महत्त्वपूर्ण रचना 'Les formes elementaires de la vie religieuse' (धार्मिक जीवन के प्रारम्भिक रूप) का प्रकाशन कराया। दुर्खीम ने सामाजिक और राष्ट्रीय गतिविधियों में भी भाग लिया। उन्होने 1897 के बाद 'समाजशास्त्र और दर्शनशास्त्र' पर भी कई निबन्ध लिखे। 1898 में 'इण्डिविजुअल एण्ड कलेक्टिव रिप्रेजेन्टेशन' नाम से इन निबन्धों का संग्रह प्रकाशित हुआ। इस प्रकार दुर्खीम देश और समाज की सेवा के लिए समर्पित रहे। सामाजिक समस्याओ के हल के लिए वे वैज्ञानिक अध्ययन पर जोर देते रहे। उन्होने फ्रांस और यूरोप के जन-जीवन का भी अध्ययन किया।

सन् 1914 मे प्रथम विश्वयुद्ध प्रारम्भ हुआ। उस समय भी दुर्खीम 'पेरिस विश्वविद्यालय' मे ही कार्य कर रहे थे। उन्होने अपने पुत्र आन्द्रे को समाज-सेवा के लिए प्रस्तुत किया और स्वयं भी अपने लेखो व भाषणों के द्वारा देशवासियो को सम्बोधित कर उनका मनोबल बढ़ाते रहे। अपने मित्र हेनरी बर्गेसा के साथ मिलकर उन्होने युद्ध से सम्बन्धित प्रचार कार्य को उत्तरदायित्वपूर्ण ढंग से निभाया। इसी समय दुर्खीम को 'युद्ध के अध्ययनों व प्रपत्रो की प्रकाशन समिति' का मंत्री बनाया गया। उन्होने युद्ध के समय फ्रांसीसी जनता को अपना मनोबल बनाए रखने की प्रेरणा दी, आक्रमण से त्रस्त सैनिको को धैर्य प्रदान किया। उन्होने फ्रांसीसी जनता को 'धैर्य, प्रयत्न, विश्वास' का नारा दिया, जो आज भी फ्रांस मे अमर है। उन्होने फ्रांस के लोगो के साथ इतना सहयोग किया कि अपने इकलौते प्रिय पुत्र आन्द्रे को भी युद्ध के मैदान मे भेज दिया। वहाँ पर वह बहुत बुरी तरह से जख्मी हो गया और वीर गति को प्राप्त हो गया। दुर्खीम आन्द्रे की मृत्यु का समाचार सुनकर

अन्दर से बिल्कुल टूट गए किन्तु शान्त, गम्भीर और सहनशील दुर्खीम अपनी इस अपार व्यथा को मन-ही-मन छिपाते रहे, क्योंकि आन्द्रे एक होनहार नवयुवक ही नहीं, उनका परमप्रिय इकलौता पुत्र और शिष्य भी था। वह भाषा विज्ञान का प्रकाशमान व योग्य छात्र भी था। सन् 1916 में दुर्खीम को यकायक गम्भीर बीमारी ने जकड़ लिया, फिर भी 1917 में ये 'नीतिशास्त्र' (Ethics) पर एक पुस्तक लिखने के लिए ग्रीष्म-ऋतु में फाउन्टेनब्ल्यू गए किन्तु 15 नवम्बर, 1917 में [redacted] वर्ष की आयु में वे काल के ग्रास बना दिए गए। इस प्रकार छोटी-सी अवस्था में असाधारण प्रतिभा के धनी व्यक्तित्व और सामाजिक विचारक का अस्तित्व संसार से उठ गया।

दुर्खीम की प्रमुख रचनाएँ
(Main Works of Durkheim)

इमाइल दुर्खीम ने अपने जीवनकाल में अनेक महत्वपूर्ण पुस्तकें एवं लेख फ्रांसीसी भाषा में लिखीं तथा एक समाजशास्त्रीय पत्रिका का सम्पादन भी किया। कुछ कृतियाँ तो उनके जीवन-काल में ही प्रकाशित हो चुकी थीं किन्तु कतिपय रचनाएँ उनकी मृत्यु के उपरान्त उनकी पत्नी एवं मित्रों के सहयोग से प्रकाशित हुई थीं। आपकी प्रमुख रचनाएँ निम्न हैं—

1. दा डिविजन ऑफ लेबर इन सोसाइटी—1893
   (समाज में श्रम-विभाजन)
2. दा रूल्स ऑफ सोशियोलॉजिकल मैथड—1895
   (समाजशास्त्रीय पद्धति के नियम)
3. दा स्युसाइड—1897
   (आत्महत्या)
4. दा एलिमेन्ट्री फार्म्स ऑफ दा रिलिजियस लाइफ—1912
   (धार्मिक जीवन के प्रारम्भिक रूप)
5. एजुकेशन एण्ड सोशियोलॉजी—1922
   (शिक्षा और समाजशास्त्र)
6. सोशियोलॉजी एण्ड फिलोसॉफी—1924
   (समाजशास्त्र और दर्शनशास्त्र)
7. मॉरल एजुकेशन—1925
   (नैतिक शिक्षा)
8. सोशियोलॉजी एण्ड सेन्ट साइमन—1925
   (समाजशास्त्र और सन्त साइमन)
9. दा सोशियलिज्म—1928
   (समाजवाद)
10. प्रेगमेटिज्म एण्ड सोशियोलॉजी—1955
    (व्यवहारवाद और समाजशास्त्र)
11. 'ल ऐनी सोशियोलॉजी' समाजशास्त्रीय पत्रिका के संस्थापक तथा सन् 1898 से 1910 तक प्रमुख सम्पादक रहे।

विद्यार्थी जीवन मे लेखन कार्य (Writing Work in Student Life)

1 मोण्टेस्क्यू पर शोध-प्रबन्ध—1892
2 'दा आई' पर लेख
(मैं)
3 'ज्यूस इन रोमन अम्पायर' पर लेख
(रोमन साम्राज्य मे यहूदी)

दुर्खीम की रचनाओ मे कुछ ग्रन्थ अति महत्त्वपूर्ण हैं जिनके विषय मे संक्षिप्त जानकारी प्राप्त करना अत्यावश्यक है। ये महत्त्वपूर्ण रचनाएँ निम्न प्रकार से हैं—

(1) दा डिविजन ऑफ लेबर इन सोसाइटी (1893)—फ्रांसीसी भाषा मे लिखित इस पुस्तक का नाम 'De la division du travail social' अर्थात् 'समाज मे श्रम-विभाजन' है, जो दुर्खीम की सर्वप्रथम कृति थी। यह पुस्तक दुर्खीम का शोधकार्य था जिस पर उन्हे डॉक्ट्रेट की उपाधि से सम्मानित किया गया था। इसे अतिमहत्त्वपूर्ण ग्रन्थ माना जाता है क्योकि इस पर उनको विश्वविख्यात प्रसिद्धि प्राप्त हुई थी। पुस्तक मे सामाजिक श्रम के विभाजन का विस्तार से विश्लेषण किया गया है। यह पुस्तक वास्तव मे श्रम-विभाजन का अध्ययन नहीं करती, बल्कि इसे सामाजिक परिणामों की विवेचना कहा जा सकता है। पुस्तक के दो खण्ड हैं—(1) प्रथम खण्ड सामाजिक घटनाओ से सम्बन्धित श्रम-विभाजन के कार्यों और प्रभावो की विस्तृत व्याख्या प्रस्तुत करता है, और (2) द्वितीय खण्ड श्रम-विभाजन की प्रकृति और कारणो की विवेचना करता है। इस रूप मे पुस्तक की विषयवस्तु अर्थशास्त्रीय न होकर समाजशास्त्रीय अधिक है।

(2) दा रूल्स ऑफ सोशियोलॉजिकल मैथड (1895)—प्रथम पुस्तक के अनन्तर दुर्खीम की दूसरी कृति फ्रांसीसी भाषा मे 'Les regles de la methode sociologique प्रकाशित हुई जिसका हिन्दी मे नाम 'समाजशास्त्रीय पद्धति के नियम' था। यह कृति समाजशास्त्रीय पद्धति के नियमो के प्रतिपादन से ही सम्बन्धित थी। पुस्तक मे इस तथ्य पर विशेष आग्रह रहा है कि सामाजिक अध्ययन के क्षेत्र से कल्पना और स्वपरक विवेचना को पूर्णरूप से हटा देना चाहिए और सामाजिक घटनाओ के सम्पूर्ण अध्ययन आवश्यक रूप से वस्तुनिष्ठ तथ्यो पर आधारित होने चाहिए। एक विज्ञान होने के नाते समाजशास्त्र के अध्ययन-कार्य म वैज्ञानिक पद्धतियो का प्रयोग बलपूर्वक किया जाना चाहिए। इस कृति मे दुर्खीम ने 'सामाजिक तथ्य' को समाज के विश्लेषण एव अध्ययन की पद्धति के रूप मे स्वीकारा है।

(3) दा स्युसाइड (1897)—दुर्खीम की तृतीय महत्त्वपूर्ण कृति फ्रांसीसी भाषा में 'Le Suicide अर्थात् 'आत्महत्या' प्रकाशित हुई। इस पुस्तक का उद्देश्य उन सामाजिक प्रक्रियाओ व कारको का विश्लेषण करना है जिनके कारण आत्महत्याएँ होती हैं। इस प्रकार यह कृति आत्महत्या के सम्बन्ध मे विस्तृत व्याख्या प्रस्तुत करती हैं। इस कृति मे आत्महत्या से सम्बन्धित अनेक तथ्यों को एकत्र किया गया है और उनके आधार पर यह निष्कर्ष निकाला गया है कि आत्महत्या तब की जाती है जब उस व्यक्ति का सामाजिक जीवन विघटित हो जाता है और इस विघटन का कारण भी सामाजिक प्रभाव ही होते हैं। इस प्रकार आत्महत्या का प्रधान कारण समाज अथवा समूह ही बताया गया है।

(4) दा एलीमेन्ट्री फार्म्स ऑफ द रिलीजियस लाइफ (1912)—दुर्खीम की चौथी कृति फ्रांसीसी भाषा मे 'Les forms elementaire de la vie religeuse' अर्थात् 'धार्मिक जीवन के प्रारम्भिक रूप' उनकी तृतीय कृति के करीब पन्द्रह वर्षों के उपरान्त प्रकाशित हुई। इस पुस्तक मे धर्म के शुद्ध समाजशास्त्रीय सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है। इसमे समस्त धर्मों की उत्पत्ति का मूल स्रोत 'समाज' को बताया गया है। इस पुस्तक मे दुर्खीम ने सामूहिक प्रतिनिधित्व के माध्यम से धर्म का विश्लेषण किया है। उन्हे व्यावहारिक स्वरूप प्रदान किया गया है। यह पुस्तक दुर्खीम की विचारधारा का महत्त्वपूर्ण आधार है। इसमे विचारो की क्रम-बद्धता एव एकरूपता स्पष्टत: दृष्टिगोचर होती है।

विभिन्न विचारकों का दुर्खीम पर प्रभाव
(Impact of Various Thinkers on Durkheim)

कहा जाता है कि 'साहित्य समाज का दर्पण होता है'। इसका अर्थ यह है कि प्रत्येक विचार अथवा विचारक अपने समय के समाज और उसकी परिस्थितियो से पूर्णरूपेण प्रभावित होता है। इसी कारण उसकी रचनाओं मे तत्कालीन समाज का प्रतिबिम्ब स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। दुर्खीम भी अपने युग की सामाजिक व सांस्कृतिक परिस्थितियो से प्रभावित थे। उनकी कृतियाँ भी फ्रास और जर्मनी की तत्कालीन परिस्थितियो से प्रेरित हैं। दुर्खीम पर भी विभिन्न विद्वानो व परिस्थितियो के निम्न प्रभाव देखे जा सकते हैं—

दुर्खीम एक यहूदी परिवार से सम्बन्धित थे। उनके पूर्वज भी यहूदी दर्शन (रैबी दर्शन) मे ख्यातिप्राप्त विद्वान रहे थे। बचपन से ही उन्होने एक ईसाई शिक्षिक से 'हिब्रू' शिक्षा ग्रहण की। यहूदी और ईसाई धर्मों के ज्ञान के कारण उनके सामाजिक जीवन मे धर्म और नैतिकता का महत्त्व अधिक रहा। दुर्खीम के समय में यूरोप और फ्रास परिवर्तन के दौर मे थे। औद्योगिक विकास और वैज्ञानिक दृष्टिकोण प्रभावी हो रहा था और धर्म से उसका सघर्ष चल रहा था, पुरानी नैतिक मान्यताएँ विलीन हो रही थीं और नई विज्ञानाधारित मान्यताएँ जन्म ले रही थी—दुर्खीम इन सब परिस्थितियो से प्रभावित हुए और उन्होने समाजशास्त्र को एक नवीन नैतिकता की स्थापना करने वाले विज्ञान के रूप मे स्थापित करने का प्रयास किया।

दुर्खीम पर मोण्टस्क्यू के विचारों का अधिक प्रभाव पडा। मोण्टेस्क्यू राजनीतिशास्त्र से सम्बन्धित राज्य व कानून आदि की अवधारणाओ को महत्त्वपूर्ण मानते थे और सभी घटनाओ को परस्पर सम्बन्धित भी मानते थे। इसी से प्रेरित होकर दुर्खीम ने भी अपने विचार स्पष्ट करते हुए कहा कि चूँकि सभी विज्ञानो की विषय-वस्तु मे अन्तर्निर्भरता पाई जाती है, इसलिए सभी विज्ञान परस्पर एक-दूसरे से सम्बन्धित हैं। आपने अपने एक लेख में मोण्टेस्क्यू को 'समाज-विज्ञान की सम्भावना का अनुभव करने वाला प्रथम विचारक' कहा था। दुर्खीम रूसो से भी प्रभावित थे। रूसो एक फ्रासीसी विद्वान् थे और उन्होने राज्य की उत्पत्ति के विषय मे 'सामाजिक समझौते का सिद्धान्त' प्रस्तुत किया था। रूसो के मत मे समाज की स्थिति व्यक्ति से बडी है, दुर्खीम ने भी अपनी रचनाओ मे इसी विचार को ग्रहण किया है। दुर्खीम के विचारो पर समाजशास्त्र के जनक आगस्ट कॉम्ट का भी प्रभाव पडा। आपने कॉम्ट से विज्ञानवाद, प्रत्यक्षवाद और समाजशास्त्रीयवाद ग्रहण किया। दुर्खीम ने निरीक्षण, परीक्षण, व वर्गीकरण जैसे विज्ञान के तत्त्वों को सामाजिक घटनाओ और सामाजिक तथ्यों के अध्ययन के लिए अनिवार्य माना। दुर्खीम ने कॉम्ट से नैतिकता के विचार ग्रहण किये और एक नवीन विचार 'नैतिकता का समाजशास्त्र' प्रस्तुत किया।

हर्बर्ट स्पेन्सर से भी दुर्खीम प्रभावित रहे। उन्होंने डार्विन के उद्‌विकास को समाज पर भी लागू किया था और बताया था कि जैसे— जीवों का विकास सरलता से जटिलता, समानता से भिन्नता और असम्बद्धता से सम्बद्धता की ओर होता है, ठीक उसी क्रम से उद्‌विकास की प्रक्रिया समाज, समूह और सामाजिक संस्थाओ में पाई जाती है। दुर्खीम ने उद्‌विकास की धारणा को प्रस्तुत करते हुए बताया कि समाज का उद्‌विकास 'यांत्रिक दृढ़ता से सावयवी दृढ़ता' की ओर हुआ है। दुर्खीम द्वारा प्रस्तुत यह 'यांत्रिक एवं सावयवी' एकता वाले समाजो का वर्गीकरण—टॉनीज द्वारा वर्णित समूह और समाज के वर्गीकरण—जेमीनशाफ्ट और जेसीलशाफ्ट से भी प्रभावित है।

दुर्खीम समूहवादी विचारक थे। समूहवाद को जन्म देने का श्रेय डी बोनाल्ड और डी मैस्ट्रे (De Bonald and De Maistre) को है—इनके मत में समूह के सदस्यों से अलग भी समूह का अस्तित्व होता है। अर्थात् व्यक्ति से पूर्व समूह विद्यमान होता है, जो उसकी संस्कृति और मूल्यो के निर्माण के लिए जिम्मेदार होता है। इसी विचार से प्रेरित होकर दुर्खीम भी सामाजिक घटनाओ का कारण समूह या समाज को मानते थे—चोरी, अपराध, हत्या की दर कम अथवा अधिक होने का मुख्य कारण उनके मत मे 'समूह या समाज' ही है।

दुर्खीम के विचारो पर फ्रांसीसी विद्वान टार्डे कृत **'अनुकरण का सिद्धान्त'** का भी प्रभाव पड़ा। टार्डे का मत था कि व्यक्ति का व्यवहार व्यक्तियो के अनुकरण का परिणाम है। दुर्खीम ने इसे संशोधित करते हुए कहा था कि व्यक्ति का व्यवहार सामूहिक व्यवहार से प्रभावित होता है। दुर्खीम का **'सामूहिक प्रतिनिधित्व'** और **'सामूहिक चेतना'** टार्डे से ही गृहीत है। दुर्खीम पर प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक **वुण्ट** का भी प्रभाव पड़ा। वुण्ट ने मानसिक जीवन का अध्ययन करने मे वैज्ञानिक पद्धति को अपनाने पर बल दिया था। उसी भाँति दुर्खीम ने भी भौतिक विज्ञानो की पद्धति को समाजशास्त्र में अपनाने पर बल दिया।

विद्यार्थी जीवन मे दुर्खीम का परिचय प्रसिद्ध दर्शनशास्त्री **'ब्रोट्रोक्स'** और इतिहासकार **'फस्टेल डी कोलन्जेस'** मे हुआ। ब्रोटोक्स की मानवीय व्यवहार की व्याख्या को दुर्खीम ने समूह और समाज के आधार पर प्रस्तुत किया। ब्रोटोक्स के कहने पर मोण्टेस्क्यू पर शोध-प्रबन्ध लिखा। बाद में अपने शोध-ग्रन्थ 'समाज मे श्रम-विभाजन' को भी दुर्खीम ने ब्रोटोक्स को ही समर्पित किया। कोलेन्जेन्स से वे अत्यधिक प्रभावित रहे। बाद मे बोर्डियक्स विश्वविद्यालय में वे अलफ्रेड एस्पिनास के सम्पर्क मे आये और उनके 'समूह मस्तिष्क' के सिद्धान्त से प्रभावित हुए। सामूहिक चेतना सम्बन्धी दुर्खीम के विचार उन्हीं से प्रभावित हैं। दुर्खीम प्रसिद्ध विचारक **चार्ल्स रिनाउवीर** से भी प्रभावित रहे। निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि दुर्खीम के विचारों पर यूरोप और फ्रांस के अनेक विचारको का प्रभाव पड़ा था।

दुर्खीम का समाजशास्त्र में योगदान
(Durkheim's Contribution in Sociology)

'समाजशास्त्र' के प्रमुख विचारक दुर्खीम ने समाजशास्त्र को एक विज्ञान का रूप प्रदान करने में महत्वपूर्ण कार्य किया है। आपने उपर्युक्त वर्णित लेखो, शोध-प्रबन्धो, विनिबन्धो तथा पुस्तको के द्वारा समाजशास्त्र की बड़ी सेवा की है। आपने इस नवीन-विषय

समाजशास्त्र को निम्नलिखित सिद्धान्त, अवधारणाएँ, कार्य-प्रणाली एवं प्रारूप प्रदान किये हैं—

1. सिद्धान्त (Theory)

1 समाज मे श्रम के विभाजन का सिद्धान्त,
2 आत्महत्या का सिद्धान्त,
3. धर्म का सिद्धान्त,
4 मूल्यो का सिद्धान्त,
5 नैतिकता का सिद्धान्त, और
6 ज्ञान का समाजशास्त्र।

2. अवधारणाएँ (Concepts)

1. सामाजिक तथ्य,
2 सामूहिक चेतना,
3 सामूहिक अन्तर्विवेक,
4 सामूहिक प्रतिनिधान,
5 सामाजिक एकता,
6 प्रकार्यवाद,
7 आत्महत्या,
8 आदर्शहीनता,
9 यान्त्रिक तथा जैविक एकता, और
10 कानून, अपराध तथा दण्ड की अवधारणाएँ।

3. कार्य-प्रणाली (Methodology)

1 'सामाजिक तथ्य' वस्तुएँ हैं जो मापे जा सकते हैं,
2 प्रस्थापनाएँ तथ्यात्मक सामग्री पर आधारित होती हैं,
3 तुलना, और
4. सहचारी विचरण द्वारा प्रमाण।

4. प्रारूप (Typology)

यान्त्रिक एवं जैविक एकात्मकता।

समाजशास्त्र के विकास में योगदान
(Contribution in the Development of Sociology)

आगस्ट कॉम्ट ने समाजशास्त्र विषय का नामकरण किया तथा अपना अधिक समय इसे एक विषय के रूप मे स्थापित करने मे लगाया। दुर्खीम ने कॉम्ट के कार्य को आगे बढ़ाया। दुर्खीम ने भी समाजशास्त्र को एक पृथक् सामाजिक विज्ञान के रूप मे स्थान दिलवाने के लिए अनेक कार्य किये। आपने समाजशास्त्रीय अध्ययन किये। समाजशास्त्रीय पद्धति के नियमो पर एक पुस्तक लिखी, जिसमे समाजशास्त्रीय तथ्यो को वस्तुओं का दर्जा प्रदान करने के लिए व्याख्याएँ और विवेचनाएँ की।

दुर्खीम का प्रमुख लक्ष्य 'सामाजिक घटनाओ' और 'सामाजिक समस्याओं' पर विभिन्न कारकों के प्रभावो का क्रमबद्ध और व्यवस्थित अध्ययन करना था। आपने इस बात

पर भी विशेष जोर दिया कि सामाजिक घटनाओ को समझने के लिए मनोवैज्ञानिक व्याख्या तथा मनोवैज्ञानिक ज्ञान की कोई आवश्यकता नहीं है। आपने भी कॉम्ट की इस बात का समर्थन किया कि सामाजिक घटनाओ, सामाजिक समस्याओ, सामाजिक सरचना आदि को समझने के लिए समाजशास्त्र को मनोविज्ञान विषय की सहायता नही चाहिए बल्कि मनोविज्ञान समाजशास्त्र के ज्ञान पर आधारित है। आपने समाजशास्त्र को **'सामूहिक मानसिक घटनाओं'** का अध्ययन करने वाला विज्ञान माना। उन्होने यह भी अध्ययन किया कि किस प्रकार से व्यक्ति के व्यवहार समूह म नियन्त्रित रहते हे। दुर्खीम ने सामाजिक तथ्यो तथा ऑकडो के अध्ययन के लिए वैज्ञानिक पद्धति को भी निश्चित किया जो समाजशास्त्रीय सन्दर्भ मे इनका विश्लेषण कर सके। इस प्रकार दुर्खीम ने समाजशास्त्र को एक नूतन तथा विशिष्ट विज्ञान के रूप मे स्थापित एव विकसित करने मे महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है, जो एक वास्तविक और स्वतन्त्र विषय के रूप मे समाज का क्रमबद्ध और व्यवस्थित अध्ययन करता है।

दुर्खीम के अभिगृहीत (Assumptions of Durkheim)—दुर्खीम निम्नलिखित बातो को मानते थे जिन्हे विद्वानो ने इनके अभिगृहीत कहा है—

(1) समाज मे सामूहिक अन्तर्विवेक (चेतना) विद्यमान होता है।
(2) पूर्ण योग से अधिक होता है।
(3) सामाजिक तथ्य यथार्थ होते हैं।
(4) अनुरूपता से सयुक्तता आती है।
(5) श्रम-विभाजन से सयुक्तता आती है।
(6) सत्ता सामूहिक विचारो पर आधारित होती है।
(7) सामाजिक तथ्य समाजीय आवश्यकताओ का प्रतिनिधित्व करते हैं।
(8) जनसख्या के आकार, सामाजिक घनत्व और श्रम-विभाजन मे परिवर्तन आता है।
(9) विसमानता समाज के लिए प्रकार्यात्मक होती है।

पद्धतिशास्त्र
(Methodology)

दुर्खीम ने अपनी पुस्तक **'समाजशास्त्रीय पद्धति के नियम'** में समाजशास्त्र के लिए वैज्ञानिक अध्ययन पद्धति का विस्तार से वर्णन और व्याख्या की है। **कॉम्ट** की तरह आपने भी समाजशास्त्र को भौतिक विज्ञानो की तरह निश्चित, यथार्थ, आनुभविक, प्रयोगसिद्ध तथा प्रमाणित विज्ञान का स्तर प्राप्त कराने का सुनिश्चित प्रयास किया। उन्होने समाजशास्त्र में प्राकृतिक विज्ञानो की अध्ययन पद्धति के प्रयोग पर ही बल नहीं दिया बल्कि व्यवस्थित प्रक्रिया का वर्णन भी किया है। इन्होने अपने विनिबन्धो—**'समाज में श्रम-विभाजन'**, **'आत्महत्या'** और **'धार्मिक जीवन के प्रारम्भिक स्वरूप'** मे प्राकृतिक विज्ञानो की अध्ययन पद्धतियो का प्रयोग करके प्रमाणित कर दिखाया कि इन पद्धतियो का प्रयोग सामाजिक घटनाओ तथा सामाजिक समस्याओ के समाजशास्त्रीय अध्ययन मे करना सम्भव है।

दुर्खीम की मान्यता रही कि जिस प्रकार प्राकृतिक विज्ञानो मे अवलोकन, निरीक्षण, परीक्षण, वर्गीकरण, विश्लेषण आदि किये जाते हैं, उसी प्रकार समाजशास्त्र के

अध्ययन मे भी इनका उपयोग किया जाना चाहिए। किसी विषय की वैज्ञानिकता उसकी अध्ययन पद्धति, दृष्टिकोण, मान्यताओ, नियमो आदि पर निर्भर करती है। समाजशास्त्र विषय को वैज्ञानिक रूप को मान्यता दिलवाने के लिए आपने इसकी अध्ययन पद्धति मे अनेक विशेषताओं को स्पष्ट किया। आपने सिद्ध किया कि समाजशास्त्रीय तथ्य भी उसी प्रकार से यथार्थ हैं जिस प्रकार से प्राकृतिक विज्ञानो के तथ्य हैं। आपने कहा कि सामाजिक तथ्य भी वस्तुओ के रूप मे अध्ययन के विषय हो सकते हैं, इनको एकत्र करने की पद्धति पर भी आपने प्रकाश डाला है।

दुर्खीम ने कॉम्ट द्वारा प्रतिपादित समाजशास्त्र विषय, इसकी अध्ययन पद्धति, दृष्टिकोण, विषय सामग्री, अध्ययन के क्षेत्र आदि का विस्तार से अध्ययन किया तथा कॉम्ट के कार्यों और उद्देश्यो को विज्ञान जगत् मे उचित स्थान दिलवाने मे उल्लेखनीय योगदान दिया। इसमे सबसे महत्वपूर्ण कार्य पद्धतिशास्त्र से सम्बन्धित विशेषताओं का वर्णन और व्याख्याएँ हैं, जो निम्नलिखित हैं—

(1) समाजशास्त्र में प्राकृतिक विज्ञानों की पद्धति का अनुकरण (Imitation of methods of Natural Sciences in Sociology)—दुर्खीम कॉम्ट से प्रभावित थे। अत, कॉम्ट के समान आपने अनुसन्धान के समय कल्पना, भावना, पूर्वाग्रह, व्यक्तिगत रुचि आदि मे स्वतत्र रहने का सुझाव दिया। कॉम्ट ने समाजशास्त्र मे प्राकृतिक विज्ञानों की वैज्ञानिक अध्ययन पद्धति को अपनाने पर विशेष जोर दिया। दुर्खीम ने कॉम्ट के इस आग्रह को सैद्धान्तिक और व्यावहारिक अनुसन्धान के आधार पर सामाजिक घटनाओं के अध्ययन के लिए उपयोगी सिद्ध किया। दुर्खीम ने सामाजिक घटनाओ और समस्याओ के वैज्ञानिक अध्ययन के लिए प्राकृतिक विज्ञानो की पद्धतियों (जैसे—अवलोकन, निरीक्षण, परीक्षण, वर्गीकरण, तुलना और विश्लेषण) का प्रयोग करने का सुझाव दिया। आपने अपने अध्ययनो मे इन विधियो का प्रयोग करके इनकी उपयोगिता और व्यावहारिकता को भी सिद्ध कर दिखाया। कॉम्ट की तरह आप समाजशास्त्र के पद्धतिशास्त्र मे यथार्थता, वास्तविकता, प्रत्यक्षवाद आदि पर बल देते हैं। इनके अलावा दुर्खीम ने और भी अनेक विशेषताओं का उल्लेख किया है।

(2) सामाजिक तथ्य वस्तु के रूप मे (Social facts in the forms of things)— दुर्खीम समाजशास्त्र को प्राकृतिक विज्ञानो के समान सिद्ध करना चाहते थे तथा आप सामाजिक तथ्यो को वस्तु जैसी मानते थे। इसके लिए इन्होने यह सिद्ध किया कि सामाजिक तथ्यों का अध्ययन वस्तुओ के रूप में किया जाना चाहिए। जिस प्रकार से वस्तुओं का अवलोकन और मापन हो सकता है उसी भाँति सामाजिक तथ्यो का भी अवलोकन और मापन किया जा सकता है। आपने सामाजिक तथ्यो की दो विशेषताएँ—बाह्यता और बाध्यता बताई हैं। आपका मानना है कि इन दो विशेषताओं ने सामाजिक तथ्यो को भौतिक वस्तुओं की भाँति अवलोकन, परीक्षण, निरीक्षण, वर्गीकरण आदि करने के लिए सम्भव बना दिया है।

(3) वस्तुनिष्ठता (Objectivity)—दुर्खीम तथा उनके समर्थकों एवं शिष्यो ने समाजशास्त्र में वस्तुनिष्ठता पर विशेष जोर दिया है। आपने कहा कि सामाजिक घटनाओं के अध्ययन मे समाजशास्त्री को स्वयं की भावना, विचार, मूल्य तथा पूर्वाग्रहो से स्वतन्त्र रहना चाहिए। तथ्यो का सकलन, वर्णन और व्याख्या निष्पक्ष रहकर करनी चाहिए। वस्तुनिष्ठता से

तात्पर्य है कि तथ्यो एव घटनाओ का अध्ययन उसी रूप मे करना चाहिए जिस रूप मे वे सामने आती हैं। घटना तथा तथ्यो का अध्ययन "क्या है?", "क्यो है?", "कैसे है?" तथा "क्या होगा?" के अनुसार करते हैं तो ऐसा अध्ययन वस्तुनिष्ठ कहलाता है। अगर अध्ययन मे "क्या होना चाहिए?" सम्मिलित हो जाता है तो वह अध्ययन वस्तुनिष्ठ नहीं होकर मानवतावादी अथवा व्यक्तिनिष्ठ अध्ययन हो जाता है।

(4) कारण-प्रभाव सम्बन्ध (Cause-effect Relation)—दुर्खीम ने समाजशास्त्र को प्राकृतिक विज्ञानो के समान वैज्ञानिकता प्रदान करने के लिए सुझाव दिया और कहा कि समाजशास्त्रीय घटनाओ मे कारण और प्रभावो के परस्पर सम्बन्धो का अध्ययन करना चाहिए तथा घटनाओ से सम्बन्धित सिद्धान्त बनाने चाहिए। आपने कारण-प्रभावों के परस्पर सम्बन्धो के विभिन्न रूपो का भी उल्लेख किया है, जैसे--सीधा और प्रत्यक्ष सम्बन्ध, विपरीत सम्बन्ध आदि। जैसे आपने स्वयं के विनिबन्धों में सामाजिक तथ्यो के निर्धारण-कारको की खोज पूर्व के सामाजिक तथ्यो मे की थी उसी प्रकार से आपने सुझाव दिया कि सम्बन्धित पूर्व के सामाजिक तथ्यों का सकलन, परीक्षण और विश्लेषण होना चाहिए।

(5) तुलनात्मक विधि (Comparative Method)—दुर्खीम ने समाजशास्त्र मे मानव समाज के वैज्ञानिक अध्ययनो के लिए तुलनात्मक विधि के प्रयोग पर जोर दिया। आपका कहना है कि सामाजिक तथ्यो, आँकड़ो तथा जानकारी की परस्पर तुलना करनी चाहिए। ऐसा करने से वास्तविकता का पता चलेगा। तुलनात्मक अध्ययन दो या अधिक समाजो का हो सकता है अथवा एक ही समाज के दो या अधिक कालो का हो सकता है आदि-आदि। तुलनात्मक विधि विज्ञान मे तथ्यों के परस्पर कारण-सम्बन्ध देखने की प्रणाली है जिसका समाजशास्त्र मे भी प्रयोग होना चाहिए।

(6) सामूहिक चेतना (Collective consciousness)—दुर्खीम ने समाजशास्त्र मे सामूहिक चेतना के अध्ययन द्वारा मानव समाज को समझने का सुझाव दिया है। अनेक व्यक्तियो की व्यक्तिगत चेतना के सम्मेलन से सामूहिक चेतना का निर्माण होता है। यह सामूहिक चेतना व्यक्ति से बाहर होती है तथा व्यक्ति पर नियन्त्रण रखती है। यह व्यक्ति से अधिक शक्तिशाली होती है।

(7) सामूहिक प्रतिनिधान (Collective Representation)—दुर्खीम के मत मे सामूहिक प्रतिनिधान ही समाजशास्त्र की विषय-वस्तु है अत: आपने सामूहिक प्रतिनिधानो के अध्ययन पर जोर दिया है। इन्हे समाज के सभी सदस्य बिना किसी आशका के स्वीकार करते हैं। दुर्खीम के अनुसार लोगो के मन मे जिन विचारो और व्यवहारो के सम्बन्ध में भावात्मक सयुक्तता और मानसिक स्वीकृति उत्पन्न हो जाती है, वे सामूहिक प्रतिनिधान कहलाते है।

(8) अवलोकन (Observation)—दुर्खीम ने पद्धतिशास्त्र के अन्तर्गत अवलोकन पर विशेष जोर दिया है। आपने अपनी कृति "समाजशास्त्रीय पद्धति के नियम" के अध्याय-दो मे सामाजिक तथ्यो के अवलोकन के नियमो की विवेचना की है। आपने पहिला नियम यही दिया है कि 'सामाजिक तथ्यो को वस्तु जैसा मानो'। वस्तुपरक अवलोकन के लिए घटना की विशेषताओ का विवेचन किया जाना चाहिए न कि घटना से सम्बन्धित विद्यमान विचारो का। समाजशास्त्री जब भी किसी सामाजिक तथ्य का

अन्वेषण करे तो उसे घटना मे आने वाले लक्षणों, तथ्यों तथा वास्तविकताओं का अवलोकन तथा अध्ययन करना चाहिए तथा इन्हें व्यक्ति के पूर्वाग्रह से स्वतन्त्र होना चाहिए।

समाज में श्रम-विभाजन
(The Division of Labour in Society)

दुर्खीम ने अपनी प्रथम कृति 'समाज में श्रम-विभाजन' मे कुछ महत्त्वपूर्ण समाजशास्त्रीय विषयो का विवेचन प्रस्तुत किया है जिनका इस विज्ञान के विकास पर प्रभाव पड़ा है। आपने इस कृति मे श्रम-विभाजन के कारणो, प्रकारो, परिणामो तथा प्रभावो का समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य से वर्णन और व्याख्या की है। इसके साथ-साथ आपने सामाजिक एकता के कारणो, प्रकारों तथा प्रभावो का भी विश्लेषण किया है। इन दोनों विषयों (श्रम-विभाजन तथा सामाजिक एकता) के साथ-साथ आपने सामाजिक परिवर्तन तथा अन्य समाज से सम्बन्धित बातो की व्याख्या भी की है।

दुर्खीम ने सर्वप्रथम श्रम-विभाजन के कारणों का अध्ययन किया तथा निष्कर्ष दिया कि श्रम-विभाजन का कारण जनसंख्या में वृद्धि का होना है। आपने श्रम-विभाजन के आर्थिक कारण को सही नहीं माना। आपने अध्ययन करके निष्कर्ष निकाला कि जब जनसंख्या बढ़ती है तो वह समाज में अनेक आवश्यकताओ को जन्म देती है। उनको पूरा करने के लिए आवश्यक हो जाता है कि समाज के सदस्य आपस मे श्रम को बाँट तथा अपना अस्तित्व बनाये रखे। अगर सभी एक प्रकार का कार्य या व्यवसाय करेगे तो कठिनाई होगी। इसलिए दुर्खीम ने निष्कर्ष दिया कि जब-जब जनसंख्या के आकार और घनत्व तथा भौतिक और नैतिक घनत्व मे वृद्धि होती है, तब-तब समाज मे एकता बनाये रखने के लिए श्रम का विभाजन होता है।

दुर्खीम ने आलोच्य पुस्तक में समाजो को दो वर्गों में बाँटा है—पहिले, वे समाज जिनमे श्रम-विभाजन बहुत अल्प है अथवा नही है तथा दूसरे, वे समाज जिनमे श्रम-विभाजन है। जिन समाजो मे श्रम-विभाजन होता है उनमे विशेषीकरण की मात्रा बढ़ जाती है जिसके फलस्वरूप उनमे पारस्परिक निर्भरता तथा अन्योन्याश्रितता बढ जाती है। दुर्खीम के मत मे पारस्परिक निर्भरता के कारण सदस्य परस्पर सहयोग करते हैं, इससे समाज मे सावयवी या जैविक एकता पैदा हो जाती है। इस प्रकार दुर्खीम ने अपने अध्ययन मे पाया कि जनसंख्या मे वृद्धि से सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया यान्त्रिक एकता से सावयवी एकता की ओर परिवर्तित होती है जो निम्न प्रकार से अग्रसित होती है—

(1) यांत्रिक एकता (Mechanical Solidarity)—यांत्रिक एकता व्यक्तियो की सजातीय एकता पर आधारित होती है। जब जनसख्या कम होती है तो समाज के सदस्यों मे परस्पर श्रम-विभाजन का अभाव होता है अथवा श्रम-विभाजन नहीं के बराबर होता है। विशेषीकरण भी नहीं होता है। उनमे परस्पर मानवीय-व्यवहार, बौद्धिक-आचार एव सामाजिक सजातीयता होती है। उनके विश्वास, विचार, आचरण, व्यवहार आदि एक से होते हैं। परम्परा का प्रभुत्व होता है। वैयक्तिकता और व्यक्तिवाद का अभाव होता है। सामाजिक चेतना मे सजातीयता होती है। फौजदारी कानून का प्रभुत्व होता है। इनको परस्पर एक सूत्र मे बाँधने वाली कडी सर्वसम्मत जनमत होता है जो व्यक्तियो की मानसिक और नैतिक सजातीयता पर आधारित होता है। आदिम समाज तथा छोटे ग्रामीण समाज में यांत्रिक एकता होती है।

(2) सावयवी एकता (Organic Solidarity)—दुर्खीम ने अध्ययन के आधार पर निष्कर्ष निकाला कि जब समाज मे जनसंख्या मे वृद्धि होती है तो यह आवश्यक हो जाता है कि समाज मे श्रम का विभाजन हो अर्थात् अलग-अलग लोग भिन्न-भिन्न कार्य और व्यवसाय करे। अगर सभी एक ही व्यवसाय करेंगे तो परस्पर प्रतिस्पर्धा बढ़ेगी तथा जीविकोपार्जन कठिन हो जायेगा। इस प्रकार जैसे-जैसे जनसख्या बढती है वैसे-वैसे श्रम का विभाजन होता है। श्रम के विभाजन से विशेषीकरण बढता है। अलग-अलग लोग समाज की आवश्यकताओ के लिए अलग-अलग कार्य करते हैं। व्यक्ति कोई एक कार्य सम्पूर्ण समाज के सदस्यो के लिए करता है तथा स्वयं की विभिन्न आवश्यकताओ के लिए समाज के अन्य सदस्यो पर निर्भर रहता है। दुर्खीम ने तथ्यों का विश्लेषण करके निष्कर्ष निकाला कि जनसख्या के बढ़ने से श्रम का विभाजन भी बढता है। जो जिस काम को करता है उससे उसमे विशेषीकरण आ जाता है। लोगों की परस्पर एक-दूसरे पर निर्भरता भी बढ जाती है। इसके फलस्वरूप वे परस्पर एक-दूसर से सहयोग करने के लिए बाध्य हो जाते हैं। उनमें एकता पैदा हो जाती है। इस प्रकार से विकसित एकता को दुर्खीम ने सावयवी एकता कहा है। समाज मे जनसख्या की वृद्धि के कारण यान्त्रिक एकता से सावयवी एकता की ओर परिवर्तन होता रहता है। नगरो तथा महानगरो में सावयवी एकता होती है।

समय के साथ-साथ श्रम का विकास होता है। दुर्खीम के अनुसार यह ऐतिहासिक प्रवृत्ति है। जब श्रम का विभाजन अधिक हो जाता है तब वह सामाजिक घटनाओ मे निम्नलिखित परिवर्तनो को लाता है—व्यक्तियो मे बौद्धिक और नैतिक समानता लुप्त हो जाती है। उनमे वैयक्तिकता और व्यक्तिवाद बढ जाता है। उनकी रुचियो, विश्वासो, मतो, आचारो आदि मे बहुत कम समानता रह पाती है। विशेषीकरण से परम्परा का प्रभाव कम हो जाता है। जाति के प्रतिबन्ध शिथिल हो जाते हैं। सामान्य सामाजिक चेतना मे कमी आ जाती है। व्यक्तियो मे सजातीयता नहीं रहती है। सामाजिक बन्धनो की भूमिका भी शिथिल हो जाती है। अगर कोई नूतन बन्धन नहीं हो तो समूह की एकता नष्ट हो जाए। श्रम का विभाजन उस नूतन बन्धन की भूमिका को निभाता है। समूह की ठोस एकता अब व्यक्तियों की परस्पर निर्भरता और विषम-जातीयता पर आधारित होती है। यह सब श्रम के विभाजन के कारण होता है। क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति कार्य के केवल एक विशिष्ट हिस्से के कार्य को पूरा करता है, इसलिए वह अपनी आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए एक-दूसरे पर निर्भर रहता है इसलिए सभी एक-दूसरे से सहयोग करते हैं। इस प्रकार यान्त्रिक-एकता सावयवी-एकता मे परिवर्तित हो जाती है।

आत्महत्या का सिद्धान्त
(Theory of Suicide)

दुर्खीम ने आत्महत्या का समाजशास्त्रीय सिद्धान्त अपनी पुस्तक **'आत्महत्या'** (The Suicide), 1897 मे दिया था। इनके द्वारा प्रतिपादित आत्महत्या का सिद्धान्त समाजशास्त्र विषय मे महत्त्वपूर्ण और उल्लेखनीय योगदान है। इस अध्ययन मे आपने आत्महत्या के कारणो, प्रकारों, अन्य सिद्धान्तो आदि का अनेक प्रकार से परीक्षण, निरीक्षण वर्गीकरण, विश्लेषण, सामान्यीकरण आदि समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य मे किया है। इस अध्ययन मे आपने फिर एक बार सिद्ध कर दिया कि आप एक महान् समाजशास्त्री हैं। आपने निष्कर्ष दिया कि आत्महत्या के कारणो और व्याख्याओ को समाज मे खोजना चाहिए।

सर्वप्रथम आपने उन सब कारणो और सिद्धान्तो की जाँच की जो आपके समय मे विद्यमान थे। आपने सर्वेक्षण द्वारा सिद्ध किया कि आत्महत्या का कारण मनोविकृति, प्रजाति, वंशानुसंक्रमण, भौगोलिकता, अनुकरण, अन्य विशुद्ध मनोवैज्ञानिक कारक, गरीबी, असफल प्रेम तथा अन्य वैयक्तिक प्रेरक नहीं होते हैं। इन्होंने इन सब कारको को आँकडो के आधार पर जाँच की और पाया कि इनमे से कोई भी कारक आत्महत्या का कारण नहीं है। इसके बाद दुर्खीम ने स्पष्ट किया कि महत्त्वपूर्ण आत्महत्याओ के प्रकार—अहंमन्यवादी, परार्थवादी और अप्रतिमानित आत्महत्याओ के कारण पूर्ण रूप से सामाजिक हैं। इसलिए इनके कारणो को भी समाज मे ही खोजना चाहिए। आपने आत्महत्या को सामाजिक तथ्य बताया है। यह व्यक्तिगत या निजी क्रिया नहीं है। यह समाज के दबाव के कारण की जाती है। आपके अनुसार आत्महत्या के कारणो, प्रकारो, परिणामो, तथ्यो आदि का अन्वेषण तथा व्याख्या समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से करनी चाहिए। अब हम दुर्खीम द्वारा वर्णित आत्महत्या के तीन प्रमुख प्रकारो की विवेचना करेंगे।

(1) अहंमन्यवादी आत्महत्या (Egoistic Suicide)—दुर्खीम के मत मे अहमन्यवादी आत्महत्या का कारण व्यक्ति का सामाजिक अकेलापन तथा अलग-थलग पड़ जाना होता है, सामाजिक समूह से लगाव की मात्रा का कम हो जाना है। व्यक्ति का स्वय को समाज से उपेक्षित और कटा-कटा-सा महसूस करना है। यही कारण है कि एकाकी और तलाकशुदा व्यक्तियो मे आत्महत्या की दर या प्रतिशत विवाहित लोगो की तुलना मे अधिक होती है। विवाहित लोगों को पारिवारिक बन्धन अकेलापन अनुभव नहीं होने देते हैं। रोमन कैथोलिक धर्म कट्टरपन्थी होता है, वह अपने धर्मावलम्बियो को एकता मे बाँधे रखता है। उनमे आत्महत्या की दर कम होती है। प्रोटेस्टेण्ट धर्म खुले विचारो वाला होता है, उनमे बन्धन कठोर नहीं होते हैं। उनमे आत्महत्या की दर अधिक होती है। दुर्खीम ने यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया कि जब अकेलापन बढता है तो आत्महत्या का प्रतिशत बढता है तथा जब सामाजिक बन्धन कठोर होते हैं तथा अकेलापन न्यून होता है तो आत्महत्या का प्रतिशत भी घट जाता है।

(2) परार्थवादी आत्महत्या (Altruistic Suicide)—दुर्खीम का मानना है कि परार्थवादी आत्महत्या व्यक्ति तब करता है जब वह समूह का बन जाता है। व्यक्ति का व्यक्तित्व पूर्णरूप से समूह अथवा समाज मे लीन हो जाता है। उसका अपना व व्यक्तिगत कुछ नहीं होता है। उसके स्वय के कोई हित, इच्छा या उद्देश्य नहीं होते हैं। यह अपना जीवन समाज अथवा समूह को समर्पित कर देता है। अवसर आने पर वह अपना जीवन समाज, समूह, देश, जाति आदि के लिए बलिदान कर देता है। दुर्खीम बलिदान को ही परार्थवादी आत्महत्या कहते हैं। सैनिको द्वारा देश के लिए जीवन का बलिदान, राजपूत वीरांगनाओ द्वारा जौहर तथा जनजातियो मे यान्त्रिक एकता के फलस्वरूप व्यक्ति का समाज के लिए जीवन समर्पित करना इस प्रकार की आत्महत्या के उदाहरण हैं।

(3) अप्रतिमानित आत्महत्या (Anomic Suicide)—अप्रतिमानित अथवा आदर्शहीन आत्महत्या व्यक्ति तब करता है जब सामाजिक सन्तुलन आकस्मिक रूप से तुरन्त नष्ट हो जाता है, जब समाज की नैतिक सरचना का यकायक क्रम बिगड़ने का व्यक्ति पर प्रभाव पडता है, वह अपने को सन्तुलित नहीं रख पाता है और आत्महत्या कर बैठता है तो

ऐसी आत्महत्या को दुर्खीम ने अप्रतिमानित आत्महत्या कहा है। आपका कहना है कि आर्थिक संकट और बैंको के असफल या दिवाला पिट जाने के प्रभाव से पीड़ित लोग आत्महत्या करते हैं वह इसी प्रकार की आत्महत्या का उदाहरण है।

दुर्खीम का मानना है कि यह आत्महत्या असन्तुलन के कारण होती है। अगर असन्तुलन आकस्मिक खुशहाली से उत्पन्न होता है तब भी लोग आत्महत्या करते हैं। आपने अपने अध्ययन मे यह भी निष्कर्ष दिया कि सामान्यतया यह मानना गलत है कि आत्महत्या का कारण गरीबी का बढना है क्योंकि अनेक गरीब लोग, समाज और वर्ग हैं कि वे आत्महत्या जैसी बात जानते तक नहीं हैं। आत्महत्या से सम्बन्धित दुर्खीम का एक नियम यह भी है कि सामाजिक असन्तुलन से आत्महत्या का प्रतिशत बढता है।

धर्म का सिद्धान्त
(Theory of Religion)

दुर्खीम ने धर्म का समाजशास्त्रीय सिद्धान्त अपने तीसरे विनिबन्ध '**धार्मिक जीवन के प्रारम्भिक स्वरूप**', 1912 मे प्रस्तुत किया है। इस पुस्तक में आपने धर्म की प्रकृति, स्रोत, स्वरूप, प्रभाव और धर्म मे भिन्नताओ का गहन समाजशास्त्रीय विश्लेषण प्रस्तुत किया है। आपने धर्म की सामान्य और प्रचलित परिभाषा—'ईश्वर में विश्वास अथवा पारलौकिक शक्तियो मे विश्वास' की कटु आलोचना की है तथा धर्म की निम्न परिभाषा दी है, "धर्म पवित्र वस्तुओं से सम्बन्धित विश्वासो और आचरणो की सगठित व्यवस्था है, कहने का तात्पर्य यह है कि धार्मिक वस्तुओ को अलग रखा जाता है तथा उन पर निषेध लगा दिए जाते हैं—वे विश्वास और आचरण जो एक नैतिक समुदाय के रूप मे सगठित होते हैं तथा वे सभी जो उससे जुडे होते हैं, गिरजाघर कहलाता है।" दुर्खीम ने उपर्युक्त कथन को स्पष्ट करने के लिए सभी वस्तुओ और घटनाओ को दो वर्गों में बाँटा है—धार्मिक और लौकिक। धर्म अपने मतावलम्बियो को यह भी सिखाता है कि इन दोनो वर्गों को नहीं मिलाएँ। ऐसा करना पाप है। पवित्र वस्तुएँ धर्म के अन्तर्गत आती हैं। साधारण क्रियाएँ, वस्तुएँ आदि लौकिक के अन्तर्गत आती हैं।

आपने धर्म को भी सामाजिक तथ्य बताया है। इसलिए धर्म की उत्पत्ति का स्रोत भी समाज को माना है। दुर्खीम ने धर्म की उत्पत्ति के विषय मे टायलर, स्पेंसर, मेक्स मूलर आदि के सिद्धान्तो की कटु आलोचना की है। आपने धार्मिक जीवन के प्रारम्भिक स्वरूपो का अध्ययन करने के बाद धर्म की उत्पत्ति का स्वयं का समाजशास्त्रीय सिद्धान्त दिया। धर्म का स्रोत स्वय समाज है। धार्मिक बाते और विशेषताएँ समाज की विशेषताएँ ही होती हैं। ईश्वर समाज का ही मानवीकरण होता है। धर्म के यथार्थ कार्य समाज के निर्माण, पुर्नस्थापना और समाज की एकता बनाए रखने के लिए किए जाते हैं। आपके अनुसार धर्म की उत्पत्ति सामूहिक चेतना और सामूहिक प्रतिनिधानो से होती है। धर्म समाज मे सामाजिक नियन्त्रण बनाए रखने का कार्य करता है। धार्मिक जीवन सम्पूर्ण सामूहिक जीवन की सार रूप मे अभिव्यक्ति है। धार्मिक शक्तियाँ एक प्रकार से मानवीय और नैतिक शक्तियाँ हैं। आपने धर्म के अध्ययन द्वारा एक बार फिर सिद्ध कर दिया कि आप प्रत्येक घटना का अध्ययन समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से करते हैं। आप प्रत्येक घटना या समस्या की उत्पत्ति, विकास, कारण, प्रभाव, प्रकृति, प्रकार आदि को समाज में खोजते हैं।

सामूहिक चेतना
(Collective Consciousness)

दुर्खीम ने सामूहिक चेतना का विवेचन अपनी प्रथम कृति **'समाज में श्रम-विभाजन'** में किया है। आपने सामूहिक चेतना की निम्नलिखित परिभाषा दी है—

''एक ही समाज के अधिकांश नागरिकों में सामान्य रूप से पाये जाने वाले सम्पूर्ण विश्वास और भावनाएँ सामान्य अथवा सामूहिक चेतना कहलाती हैं।''

दुर्खीम ने लिखा है कि व्यक्तिगत-चेतना सामूहिक-चेतना से भिन्न होती है। ये भिन्न-भिन्न तत्त्वों से मिलकर बनती हैं। व्यक्ति की मानसिक क्रियाएँ, भावनाएँ और विचारों का योग मिलकर व्यक्ति की व्यक्तिगत चेतना बनती है। सामूहिक चेतना का निर्माण एक ही समाज के अधिकांश लोगों की व्यक्तिगत चेतना से मिलकर होता है। दुर्खीम के अनुसार व्यक्तिगत चेतना का योग जिस पूर्ण का निर्माण करता है वह योग से अधिक होता है। यह व्यक्ति पर नियन्त्रण रखता है।

जब अनेक व्यक्ति परस्पर अन्तःक्रिया करते हैं तब उनमें परस्पर विचारों और नैतिकता का आदान-प्रदान होता है। धीरे-धीरे ये व्यक्तिगत चेतनाएँ परस्पर घुलमिल जाती हैं तथा सामूहिक चेतना के रूप में विकसित हो जाती हैं। सामूहिक चेतना व्यक्तिगत चेतना से भिन्न, स्वतन्त्र और अधिक शक्तिशाली होती है। इनका अस्तित्व व्यक्ति के बाहर विद्यमान होता है। व्यक्ति जब इनका उल्लंघन करने का प्रयास करता है तब उसे सामूहिक चेतना के दबाव तथा नियन्त्रण का ज्ञान होता है। व्यक्ति इन्हें सामाजीकरण के द्वारा सीखता है। सामूहिक चेतना व्यक्ति के बाहर तथा व्यक्ति पर नियन्त्रण रखने का कार्य करती है।

सामूहिक प्रतिनिधान
(Collective Representation)

समाजशास्त्र को प्राकृतिक विज्ञानों के समान स्थान दिलाने के लिए दुर्खीम ने अनेक अवधारणाएँ, सिद्धान्त तथा पुस्तकें लिखीं। सामूहिक प्रतिनिधान की अवधारणा का निर्माण उनके प्रमुख योगदानों में से एक है। आपके अनुसार सामूहिक प्रतिनिधान सारे समूह द्वारा स्वीकृत व्यवहार अथवा विचार होते हैं जो सारे समाज में फैले होते हैं तथा ये सामूहिक चेतना के प्रतीक होते हैं। सामूहिक प्रतिनिधान व्यक्तियों पर सामाजिक नियन्त्रण रखते हैं। आपने सामूहिक प्रतिनिधान को समाजशास्त्र की प्रमुख अध्ययन वस्तु बताया है। सामूहिक प्रतिनिधान सामाजिक चेतना के द्वारा बनते हैं। ये वे व्यवहार अथवा विचार होते हैं जिनके प्रति लोगों के मन में मानसिक और भावात्मक लगाव उत्पन्न हो जाते है। समाज के सभी सदस्य इनका पालन करते हैं। व्यक्तिगत चेतना की अन्तःक्रिया से सामूहिक चेतना बनती है तथा सामूहिक चेतना से सामूहिक प्रतिनिधानों की उत्पत्ति होती है। दुर्खीम के अनुसार, धार्मिक विश्वास, धार्मिक अनुष्ठान, संस्कार, ज्ञान की श्रेणियाँ, समय, स्थान आदि का वर्गीकरण सामूहिक प्रतिनिधान हैं। किसी देश का झण्डा, धार्मिक ग्रन्थ जैसे—बाइबिल, रामायण, गीता, गुरु ग्रन्थ, धार्मिक स्थान—मन्दिर, गिरजाघर, मस्जिद, मठ आदि सामूहिक प्रतिनिधानों के उदाहरण हैं। दुर्खीम का मानना है कि किसी समाज को समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से समझने के लिए उसके सामाजिक प्रतिनिधानों का अध्ययन करना परम आवश्यक है।

सामाजिक तथ्य
(Social Fact)

दुर्खीम ने समाजशास्त्र को प्राकृतिक विज्ञानो के समान स्तर प्रदान करने के लिए अनेक प्रमाण प्रस्तुत किए उनमे से सामाजिक तथ्य की अवधारणा प्रमुख स्थान रखती है। आपने कहा कि जिस प्रकार प्राकृतिक विज्ञान तथ्यो का अध्ययन करते है उसी प्रकार समाजशास्त्र को भी सामाजिक तथ्यो का अध्ययन करना चाहिए। आपने कहा कि सामाजिक तथ्य वस्तुएँ हैं तथा इनकी दो विशेषताएँ हैं—बाह्यता और बाध्यता।

बाह्यता से अर्थ है कि सामाजिक तथ्य का अस्तित्व व्यक्ति के बाहर विद्यमान होता है तथा ये व्यक्ति से स्वतन्त्र होते हैं। बाध्यता के विषय मे दुर्खीम का मानना है कि सामाजिक तथ्य समूह की चेतना के द्वारा बनते हैं इसलिए वे व्यक्ति पर नियन्त्रण रखते हैं।

दुर्खीम ने सामाजिक तथ्यो को समाजशास्त्र की विषय वस्तु बताया है। आप सभी मानवीय व्यवहारो, विचारो, भावनाओ, सामूहिक प्रतिनिधानो आदि को सामाजिक तथ्य मानते है। दुर्खीम ने सामाजिक तथ्यो की निम्न परिभाषा दी है, "सामाजिक तथ्य व्यवहार (विचार, अनुभव या क्रिया) का वह पक्ष है जिसका निरीक्षण वस्तुपरक रूप से सम्भव है और जो एक विशेष तरीके से व्यवहार करने को मजबूर करता है।" आपका कहना है कि जिस प्रकार से वस्तु का अवलोकन, निरीक्षण, परीक्षण, वर्गीकरण तथा विश्लेषण सम्भव है उसी प्रकार से सामाजिक तथ्यो का भी सम्भव है क्योकि आप सामाजिक तथ्यो को वस्तु मानते है।

दुर्खीम ने सामाजिक तथ्यो के आधार पर महत्त्वपूर्ण त्रिनिबन्धो—'समाज मे श्रम का विभाजन', 'आत्महत्या' और 'धार्मिक जीवन के प्रारम्भिक स्वरूप' को प्रस्तुत किया है। आपका कहना है कि जिस प्रकार प्राकृतिक विज्ञानो मे सिद्धान्तो का निर्माण करने के लिए तथ्यो का अध्ययन किया जाता है उसी प्रकार समाजशास्त्र मे भी सामाजिक तथ्यो का अध्ययन समाज से सम्बन्धित सिद्धान्तो का निर्माण करने के लिए किया जाना अत्यावश्यक है।

इमाइल दुर्खीम : एक संक्षिप्त परिचय
(1858-1917)

1. जीवन-चित्रण (Background)
   1 फ्रांस के यहूदी परिवार मे जन्म—1858।
   2 कानून एवं निश्चयात्मक दर्शन में प्रशिक्षित।
   3 ज्ञान प्राप्ति का प्रचलन।
   4 फ्रांस में सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक अव्यवस्था।
2. उद्देश्य (Aims)
   मनोवैज्ञानिक व्याख्याओ की तुलना मे सामाजिक घटनाओ तथा सामाजिक समस्याओ पर इनके प्रभावो को समझना।
3. अभिग्रह (Assumptions)
   1. सामूहिक अन्तर्विवेक (चेतना) विद्यमान होता है, पूर्ण योग से अधिक होता है।
   2 सामाजिक तथ्य वास्तविक होते हैं।

3 अनुरूपता या सादृश्यता से निबद्धता आती है।

4 श्रम के विभाजन से निबद्धता आती है।

5 शक्ति सामूहिक विचारों पर आधारित होती है।

6 सामाजिक तथ्य सामाजिक आवश्यकताओं का प्रतिनिधित्व करते हैं।

7 जनसंख्या-आकार, सामाजिक घनत्व और श्रम के विभाजन में परिवर्तन।

8 विपथगमन समाज के लिए प्रकार्यात्मक होता है।

4. कार्य प्रणाली (Methodology)

1 'सामाजिक तथ्य' वस्तुएँ हैं जो मापे जा सकते हैं।

2 प्रस्थापनाएँ तथ्यात्मक सामग्री (इतिहास) पर आधारित होती है।

3 तुलना।

4 सहवर्ती विचरण द्वारा प्रमाण।

5. प्रारूप (Typology)

यान्त्रिक एवं जैविक एकात्मकता।

6. समस्याएँ (Issues)

1 'सामूहिक अन्तर्विवेक' का अस्तित्व।

2 जनसख्या प्रभाव की प्रासंगिकता।

3 'सामाजिक तथ्यों' का मापन।

4 'सामाजिक तथ्य' किसका प्रतिनिधित्व करते हैं?

अभ्यास प्रश्न

निबन्धात्मक प्रश्न

1 इमाइल दुर्खीम के जीवन एवं कार्यों पर एक संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये।

2 इमाइल दुर्खीम के समाजशास्त्रीय योगदान की विवेचना कीजिए।

लघुउत्तरात्मक प्रश्न

निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिए :—

1 इमाइल दुर्खीम के विचारों पर अन्य विद्वानों का प्रभाव

2 समाज में श्रम-विभाजन

3 धर्म का सिद्धान्त

4 सामूहिक प्रतिनिधित्व की अवधारणा

5 सामूहिक चेतना की अवधारणा

6 सामाजिक तथ्य की अवधारणा

7 आत्महत्या का सिद्धान्त

8 दुर्खीम की प्रमुख कृतियों मे से किसी एक का संक्षिप्त वर्णन कीजिए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1 दुर्खीम किस देश के निवासी थे?

(अ) जर्मनी (ब) अमेरिका
(स) फ्रांस (द) इंग्लैंड
[उत्तर- (स)]

2 'आत्महत्या का समाजशास्त्रीय सिद्धान्त' किस विद्वान ने प्रतिपादित किया है?

(अ) स्पेन्सर (ब) मार्क्स
(स) वेबर (द) दुर्खीम
[उत्तर- (द)]

3 'दा डिविजन ऑफ लेबर इन सोसायटी' पुस्तक के रचयिता कौन हैं?

(अ) मर्टन (ब) दुर्खीम
(स) आगस्ट कॉम्ट (द) मेक्स वेबर
[उत्तर- (ब)]

4 'सामाजिक तथ्य' की अवधारणा किस विद्वान ने दी है?

(अ) दुर्खीम (ब) मैकीयर
(स) घुर्ये (द) श्रीनिवास
[उत्तर- (अ)]

5 'यांत्रिक एव सावयवी एकता' की अवधारणा के निर्माता कौन हैं?

(अ) दुबे (ब) योगेन्द्र सिंह
(स) डी पी मुकर्जी (द) इमाइल दुर्खीम
[उत्तर- (द)]

6 निम्नलिखित के उपयुक्त जोड़े बनाइए

(1)	दा डिविजन ऑफ लेबर इन सोसाइटी	(क) 1992
(2)	दा रूल्स ऑफ सोशियोलॉजिकल मैथड	(ख) 1893
(3)	दा स्युसाइड	(ग) 1897
(4)	दा एलॉमेन्ट्री फार्म्स ऑफ द रिलिजियस लाइफ	(घ) 1895

[उत्तर- (1) ख, (2) घ, (3) ग, (4) क]

7 दुर्खीम का जन्म कब हुआ था?

(अ) 1858 (ब) 1818
(स) 1864 (द) 1838
[उत्तर- (अ)]

8 दुर्खीम का देहान्त कब हुआ था?

(अ) 1885 (ब) 1920
(स) 1917 (द) 1912
[उत्तर- (स)]

□

अध्याय-2

दुर्खीम : सामाजिक तथ्य
(Durkheim : Social Fact)

दुर्खीम ने समाजशास्त्र को प्राकृतिक विज्ञानो के समान स्तर प्रदान करने के लिए अनेक सिद्धान्त, अवधारणाएँ, कार्य-प्रणाली तथा प्रारूप आदि प्रतिपादित किये हैं। इनमे सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य आपके द्वारा प्रतिपादित 'सामाजिक तथ्य' की अवधारणा है। जिस प्रकार से प्राकृतिक विज्ञानो मे भौतिकशास्त्र तथा रसायनशास्त्र आदि विज्ञानों का स्थान है, उसी प्रकार से आपने सामाजिक विज्ञानो में 'सामाजिक तथ्य' की अवधारणा की सहायता से समाजशास्त्र को वैसा स्थान तथा महत्त्व दिलवाने का प्रयास किया। आपने इस अवधारणा के द्वारा समाजशास्त्र को एक विशिष्ट, स्वतन्त्र तथा सुनिश्चित विज्ञान के रूप मे प्रतिष्ठित करने का जीवनपर्यन्त प्रयास किया। आपकी विभिन्न पुस्तको तथा लेखो से स्पष्ट होता है कि आपने समाजशास्त्र के विषय-क्षेत्र तथा विषय-सामग्री पर भी विशेष प्रकाश डाला है। आपके अनुसार समाजशास्त्र की विषय सामग्री या विषयवस्तु सामाजिक तथ्य है। दुर्खीम ने सामाजिक तथ्य के विभिन्न पक्षो पर विस्तार से अपनी विश्वविख्यात कृति—**दा रूल्स ऑफ सोशियोलॉजिकल मेथड, 1895** मे प्रकाश डाला है। इसका हिन्दी अनुवाद—**'समाजशास्त्रीय पद्धति के नियम'** है। दुर्खीम ने इस पुस्तक को उस समय लिखा था जब समाजशास्त्र की विषय-सामग्री तथा वैज्ञानिक अध्ययन प्रणाली सुनिश्चित नहीं थी। आपने समाजशास्त्र को एक विशिष्ट सामाजिक विज्ञान का प्रतिष्ठित स्थान तथा सम्मान दिलवाने के लिए इस पुस्तक मे समाजशास्त्र की विषय-सामग्री तथा वैज्ञानिक पद्धति का विस्तार से वर्णन किया है। दुर्खीम ने इस पुस्तक मे सामाजिक तथ्यों को समाजशास्त्र की विषय-वस्तु के रूप मे प्रस्तुत करने के साथ-साथ उसके कई पहलुओं पर प्रकाश डाला है, जो इस पुस्तक के निम्न वर्णित अध्यायो से स्वयं स्पष्ट हो जाता है—

अध्याय	विषय
I	सामाजिक तथ्य किसे कहते हैं?
II	सामाजिक तथ्यो के प्रेक्षण के नियम
III	सामान्य तथा व्याधिकीय तथ्यो मे भेद करने के नियम
IV	सामाजिक प्रकारो के वर्गीकरण करने के नियम
V	सामाजिक तथ्यों की व्याख्या के नियम
VI	समाजशास्त्रीय प्रमाणो की स्थापना से सम्बन्धित नियम
VII	निष्कर्ष

सामाजिक तथ्य से सम्बन्धित उपर्युक्त पृष्ठभूमि, इतिहास, सामान्य परिचय तथा महत्व के बाद अब सामाजिक तथ्य का अर्थ, परिभाषा, विशेषताएँ, अवलोकन के नियम, वर्गीकरण, प्रकार तथा प्रमाणो के नियम आदि की विवेचना की जाएगी।

कर्त्तव्यो आदि की याद दिलाते हैं तथा कहते हैं कि उसे उनका पालन करना चाहिए। इन्हीं को दुर्खीम ने सामाजिक तथ्य कहा है जो व्यक्ति के बाहर विद्यमान होते हैं।

सामाजिक तथ्य की इस बाह्यता को दुर्खीम ने निम्न प्रकार से भी स्पष्ट किया है। आपका कहना है कि चेतना को दो भागो मे बाँटा जा सकता है—वैयक्तिक चेतना और सामूहिक चेतना। दुर्खीम का मत है कि वैयक्तिक चेतना का भौतिक आधार संवेदनाएँ हैं। अनेक स्नायुकोषो की परस्पर क्रियाओ के द्वारा सवेदनाएँ उत्पन्न होती हैं। आपका मानना है कि प्रसार और सयोग की क्रियाओं के कारण तत्त्वो की संरचना और स्वरूप बदल जाता है। सवेदनाओ के प्रसार और सयोग से प्रतिभाओ का जन्म होता है। प्रतिभाओं के प्रसार और सयोग अथवा सम्मिलन और सगठन से व्यक्ति के विचार जन्म लेते हैं।

व्यक्ति के विचार ही वैयक्तिक चेतना बन जाते हैं, जब व्यक्ति भाषा के द्वारा वैयक्तिक चेतना (विचारो) को दूसरे व्यक्तियो तक पहुँचाता है। दूसरो के वैयक्तिक विचारो (चेतनाओ) को सुनता है। समाज के विभिन्न सदस्यो मे परस्पर वैयक्तिक चेतनाओ का स्थानान्तरण, प्रसार और संयोग होता है जिसके परिणामस्वरूप एक नवीन चेतना का जन्म होता है। इसी नवीन चेतना को दुर्खीम सामूहिक चेतना कहते हैं, जो व्यक्ति के बाहर होती है। क्योंकि सामूहिक चेतना सामाजिक तथ्य हैं इसलिए सामाजिक तथ्य भी व्यक्त के बाहर ही विद्यमान होते हैं।

(2) बाध्यता (Constraint)—दुर्खीम के अनुसार बाध्यता सामाजिक तथ्य की दूसरी प्रमुख विशेषता है। सामाजिक तथ्य व्यक्ति पर बाध्यतामूलक प्रभाव डालते हैं, जिससे व्यक्ति और समूह के व्यवहार समाजसम्मत बने रहते हैं। दुर्खीम ने निम्न शब्दो मे सामाजिक तथ्य की बाध्यता की इस विशेषता को व्यक्ति किया है, "एक सामाजिक तथ्य बाह्य दबाव की शक्ति से पहिचाना जाता है।"

सामाजिक तथ्य व्यक्ति पर बाहरी दबाव डालने की क्षमता रखते हैं। दुर्खीम के अनुसार, "एक सामाजिक तथ्य कार्य करने का वह प्रत्येक तरीका है... जो व्यक्ति पर बाहरी दबाव डालने की क्षमता रखता है।" व्यक्ति सामाजिक तथ्यो का पालन करने के लिए मजबूर होता है। अगर व्यक्ति सामूहिक चेतना के परिणाम—सामाजिक तथ्यो का पालन नहीं करे तो समाज उसे दण्ड देता है। इसलिए सामाजिक तथ्य व्यक्ति पर नियन्त्रण, दबाव तथा प्रभाव रखते हैं। सामाजिक तथ्यो का निर्माण व्यक्तिगत चेतना से नहीं होता है। ये सामूहिक चेतना के परिणाम होते हैं। इसी कारण ये तथ्य व्यक्ति पर प्रभाव एवं दबाव डालते हैं। सामाजिक तथ्यो की विशेषता सामाजिक दबाव, प्रभाव या नियन्त्रण है जो व्यक्ति से सर्वोपरि तथा श्रेष्ठ होती है। व्यक्ति को इनका पालन करना होता है।

समाज के कानून, आचार, नैतिकता, प्रथाएँ, परम्पराएँ आदि सामाजिक तथ्य है। जब व्यक्ति इनका उल्लघन करता है तब उसे इनकी बाध्यता या दबाव का अनुभव होता है। दुर्खीम ने सामाजिक तथ्य की बाध्यता की विशेषता निम्न प्रकार से स्पष्ट की है, "इस प्रकार के विचार तथा व्यवहार व्यक्ति के बाह्य मात्र ही नहीं होते हैं अपितु अपनी दबाव शक्ति के कारण, व्यक्ति की इच्छा से स्वतन्त्र वे अपने आपको उस पर लागू करते हैं। निस्सन्देह जब मैं उन्हें स्वीकार कर लेता हूँ और उनके अनुरूप आचरण करता हूँ, तब यह दबाव कम प्रतीत होता है।" दुर्खीम ने आगे लिखा है, "तथापि यह दबाव इन तथ्यो की अन्तर्निहित विशेषता

होती है और इसका परिणाम यह होता है कि जब मैं इनका विरोध करने का प्रयास करता हूँ तो ये अपना और भी अधिक दबाव डालते हैं।''

कानून एक सामाजिक तथ्य है। अगर व्यक्ति अपनी इच्छा-पूर्ति कानून का उल्लंघन करके करता है तो उस व्यक्ति को बीच ही में ऐसा करने से रोका जायेगा। कार्य पूरा हो जाता है तो कानून के उल्लंघन द्वारा हानि को पूरा करने के लिए व्यक्ति पर दबाव डाला जाता है। ऐसा नहीं होने की स्थिति में व्यक्ति को दण्ड दिया जाता है। दुर्खीम ने अनेक उदाहरण देकर सामाजिक तथ्य की बाध्यता की विशेषता को बार-बार समझाया है। आपने लिखा है कि जो नैतिक मूल्यों का उल्लंघन करते है, उन पर चेतन प्रतिबन्ध लगाती है। उल्लंघन करने पर दण्ड भी दिया जाता है। यदि व्यक्ति अपने समाज की परिपाटियों का उल्लंघन करता है, अपनी वेश-भूषा, प्रचलित रीति-रिवाजों को नहीं मानता है तो उसका उपहास होता है, उसकी आलोचना की जाती है तथा उसे समाज से अलग कर दिया जाता है। ये सब कुछ अप्रत्यक्ष दबाव होते हैं, लेकिन प्रभावपूर्ण होते हैं जिनके कारण सामाजिक तथ्यों का पालन किया जाता है। व्यक्ति सामाजिक तथ्यों का विरोध तथा उल्लंघन करने में भले ही सफलता प्राप्त करले परन्तु उसके लिए उसे सर्वदा संघर्ष करना पड़ता है।

दुर्खीम लिखते हैं, ''यदि मैं इन नियमों से अपने आपको स्वतन्त्र कर भी लेता हूँ तथा सफलता से इनका उल्लंघन करता हूँ तो भी मैं सर्वदा इनसे संघर्ष करने के लिए बाध्य किया जाता हूँ। अन्त में निष्प्रभावित होकर भी वे अपने दबाव का अपने प्रतिरोध द्वारा हमें अनुभव करा देते हैं।'' आपने सामाजिक तथ्य की यह विशेषता एक बार फिर निम्न शब्दों में व्यक्त की है, ''इनमें (सामाजिक तथ्यों में) कार्य करने, सोचने, अनुभव करने के तरीके शामिल हैं, जो व्यक्ति के लिए बाहरी होते हैं तथा जो अपनी दबाव की शक्ति के माध्यम से व्यक्ति को नियन्त्रित करते हैं।''

दुर्खीम का मानना है कि दबाव सामाजिक तथ्य की अपरिहार्य विशेषता है। यह दबाव प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष किसी भी रूप में हो सकता है। आप लिखते हैं, ''एक सामाजिक तथ्य बाह्य दबाव की शक्ति से पहचाना जाता है जिसका प्रयोग यह व्यक्ति पर करता है या व्यक्तियों पर प्रयोग कर सकने के योग्य है और इस शक्ति की उपस्थिति इसके लिए विशिष्ट अनुमति से या इसका उल्लंघन करने वाले व्यक्ति के प्रतिरोध से जानी जाती है।''

दुर्खीम ने समाजीकरण और शिक्षा के द्वारा सामाजिक तथ्य की प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष बाध्यता को स्पष्ट किया है। आपका कहना है कि समाजीकरण और शिक्षा के द्वारा बच्चों को जन्म से ही धीरे धीरे एक प्रक्रिया के रूप में सामाजिक प्राणी बनाया जाता है। उसे मानव समाज की संस्कृति सिखाई जाती है। समाज की परम्पराएँ, रीति-रिवाज, नियम, व्यवहार करने के तरीके, समय पर खाना-पीना, सोना-बैठना आदि सिखाया जाता है, बच्चा इनको धीरे-धीरे सीख लेता है। उसके व्यवहार प्रतिबन्धित हो जाते हैं। समाजीकरण के द्वारा बच्चे का ऐसा विकास किया जाता है कि बड़ा होने पर वह समाज के नियमों का पालन करता है। धीरे-धीरे ये सब कुछ सीखे हुए व्यवहार कार्य करने के तरीके, आधार आदि उसकी आदतें बन जाती हैं। ये सब कुछ सीखे हुए मूल्य आदर्श परम्पराएँ, नियम, रीति-रिवाज आदि जो सामाजिक तथ्य हैं बच्चे के बड़े होने पर उसके कार्य करने के तरीकों को नियन्त्रित करते हैं। उस पर समाजसम्मत कार्य करने के लिए दबाव डालते हैं। ये दबाव प्रत्यक्ष या

अप्रत्यक्ष, औपचारिक या अनौपचारिक किसी भी प्रकार के हो सकते हैं। जब व्यक्ति इनका उल्लघन करता है तब उसे इन सामाजिक तथ्यो के दबाव का अनुभव होता है। यह दबाव बहुत प्रभावशाली होता है।

सामाजिक तथ्य की उपर्युक्त दो विशेषताओ के अतिरिक्त निम्नलिखित कुछ और भी विशेषताएँ हैं, जिनकी विवेचना इसको समझने के लिए आवश्यक है।

(3) अधि-वैयक्तिक (Super-Individual)—सामाजिक तथ्य मे सामाजिकता का गुण निहित होता है। सामाजिक तथ्यो की उत्पत्ति, विकास तथा निरन्तरता आदि समाज पर आधारित होती है। सामाजिक तथ्यो की उत्पत्ति सामूहिक चेतना के द्वारा होती है। इन तथ्यो का सम्बन्ध व्यक्तिगत चेतना से नहीं होकर समाज, सामूहिक प्रतिनिधान, सामूहिक चेतना, सामूहिक अन्तर्विवेक आदि से होता है। दुर्खीम ने सामाजिक तथ्यो को व्यक्ति और वैयक्तिक चेतना से उच्च और बाहर माना है क्योकि सामाजिक तथ्य व्यक्ति के जीवन को नियन्त्रित और निर्देशित करते हैं। सामाजिक तथ्यो के अनुसार ही व्यक्ति को समाज मे अपना जीवन यापन करना होता है। सामाजिक तथ्य किसी एक व्यक्ति के नहीं होते अपितु सम्पूर्ण समाज के होते हैं। यद्यपि सामाजिक तथ्यो का निर्माण व्यक्तियो की सवेदनाओ, उनके प्रसार और सयोग की क्रियाओ से होता है। इसके उपरान्त भी सामाजिक तथ्यो की निरन्तरता तथा निर्भरता व्यक्ति-विशेष पर निर्भर नहीं होती है, बल्कि यह तो सम्पूर्ण समाज की धरोहर है जो व्यक्ति की चेतना तथा सामाजिक क्रियाओ को नियन्त्रित तथा निर्देशित करती है। प्रथाएँ, रूढियाँ परम्पराएँ आदि सामाजिक तथ्य किसी व्यक्ति-विशेष द्वारा नहीं, अपितु सम्पूर्ण समूह द्वारा निर्मित होती हैं। यह बात भले ही है कि किसी का अनुभव, सहयोग इन्हे आगे बढाने मे सहायक रहा हो। लेकिन यह अक्षरश: सत्य है कि सामाजिक तथ्य अनेक व्यक्तियो की अन्त क्रिया एव विचार-विनिमय के माध्यम से एक पीढी से दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित होते हैं। सामाजिक तथ्यो का निर्माण, विकास, परिमार्जन, सशोधन एव परिवर्धन होना एक स्वाभाविक क्रिया है, जिसे नियन्त्रित करने की क्षमता किसी व्यक्ति मे नहीं हो सकती। इसी मे दुर्खीम ने सामाजिक तथ्यो को अधिवैयक्तिक कहा। वे इनको पूर्ण रूप से सामाजिक हैं तथा मनोवैज्ञानिकता से स्वतन्त्र।

(4) सामाजिकता (Sociability)—चूँकि सामाजिक तथ्य मानव की आवश्यकताओ के अनुरूप होते हैं, साथ ही वे समाज की उपज होते हैं, अत: सामाजिक तथ्यो की प्रकृति सामाजिक होती है। सामाजिक तथ्य व्यक्ति-विशेष के नहीं होते हैं, वरन् वे सम्पूर्ण समाज के होते है। वे समाज को सम्पूर्ण जीवन-विधि का प्रतिनिधित्व करते हैं, इनका जन्म सामाजिक आवश्यकताओं के परिणामस्वरूप होता है। जनरीति, प्रथा, रूढियाँ, सस्थाएँ, कानून, आधार, नैतिक्ता, धर्म, परम्पराएँ आदि सामाजिक तथ्य के उदाहरण हैं। ये समाज की विशेषताओं को प्रकट करते हैं, इसलिए दुर्खीम कहते हे कि सामाजिक तथ्य व्यक्तिगत नहीं हैं, अपितु इनमे सामाजिकता का गुण निहित होता है।

(5) सार्वभौमिकता एवं विशिष्टता (Universality and Uniqueness)—सामाजिक तथ्यों की एक विशेषता इनकी सार्वभौमिकता का लक्षण है जिससे तात्पर्य है कि ससार मे जहाँ-जहाँ मानव समाज है, वहाँ-वहाँ सामाजिक तथ्य भी विद्यमान हैं। इतना ही नहीं, बल्कि ये सम्पूर्ण समाज तथा सभी समूहो मे विद्यमान होते हैं। शिक्षा तथा सामाजीकरण

की प्रक्रिया के द्वारा सामाजिक तथ्य समाज के प्रत्येक व्यक्ति को भी सिखाये जाते हैं। इस प्रकार से सामाजिक तथ्य व्यक्तियों तथा समूहों के बीच पाये जाते हैं जो समाज मे सन्तुलन, समन्वय, एकता तथा व्यवस्था पैदा करते हैं तथा उसे नियन्त्रित और संचालित करते है। दुर्खीम के अनुसार सामाजिक तथ्य सम्पूर्ण मानव समाज में विद्यमान होते हैं अर्थात् सार्वभौमिकता सामाजिक तथ्य की एक विशिष्ट विशेषता है।

(6) कार्य करने, सोचने और अनुभव करने के तरीके है (Ways of acting, thinking and feeling)—सामाजिक तथ्य की एक विशेषता यह है कि ये समाज तथा समूह के सोचने और अनुभव करने के तरीके हैं। दुर्खीम के अनुसार, "सामाजिक तथ्य कार्य करने, सोचने और अनुभव करने के तरीके हैं . " मानव समाज एक ऐसा समाज है, जिसके पास सामाजिक तथ्य हैं जो समाज के व्यक्तियों की आवश्यकताओं और उद्देश्य, उनको पूरा करने के संस्थागत साधनों आदि को निश्चित करते हैं। समाज मे व्यक्ति के सांस्कृतिक लक्ष्य तथा संस्थागत साधनों को सामाजिक तथ्य ही निश्चित करते हैं कि क्या उचित है? क्या अनुचित है? क्या समाजसम्मत है? तथा क्या बुरा या समाज-विरोधी है? व्यक्ति सामाजीकरण की प्रक्रिया के द्वारा काम करने, सोचने तथा अनुभव करने के तरीके सीखता है। व्यवहार करना सीखता है। समाज की प्रथाएँ, नियम, कानून, परम्पराएँ, संस्थाएँ आदि व्यक्ति तथा समूह के काम करने, सोचने, अनुभव करने आदि को संचालित, नियन्त्रित तथा निर्देशित करते हैं। क्योंकि ये सब सामाजिक तथ्य हैं।

(7) सामाजिक तथ्य सीखे जाते है (Social facts are learned)—दुर्खीम का मानना है कि सामाजिक तथ्य (सामाजिक प्रतिनिधान) सामाजीकरण के द्वारा सीखे जाते हैं। इससे सामाजिक तथ्य की यह विशेषता स्पष्ट होती है कि सामाजिक तथ्य सीखे जाते हैं, ये शारीरिक विशेषताओं के समान वंशानुक्रमण द्वारा प्राप्त नहीं होते। मनुष्य जन्म के समय किसी भी सामाजिक तथ्य को नहीं जानता। दुर्खीम के अनुसार व्यक्ति का धीरे-धीरे सामाजीकरण होता है और वह अपने समाज के व्यवहार-प्रतिमानों को सीखता है और सीखे हुए व्यवहार-प्रतिमान ही सामाजिक तथ्य हैं। दुर्खीम इन्हे सामूहिक प्रतिनिधान, सामूहिक चेतना, सामूहिक अन्तर्विवेक आदि नामो से पुकारता है। सामाजिक तथ्य केवल वे सीखे हुए व्यवहार होते हैं, जो किसी समूह या समाज के सदस्यो द्वारा स्वीकृत तथा मान्यता-प्राप्त होते हैं। दुर्खीम ने सामाजिक तथ्यों के सीखने की विशेषता के सन्दर्भ मे एक सामाजीकरण का सिद्धान्त भी प्रतिपादित किया है जो समाजशास्त्र मे सामाजिक प्रतिनिधानो के सिद्धान्त के नाम से विख्यात है।

दुर्खीम के अनुसार प्रथाएँ, परम्पराएँ, मूल्य, व्यवहार प्रतिमान तथा सामाजिक मानदण्ड सामूहिक प्रतिनिधान इसलिए हैं कि ये सम्पूर्ण समूह तथा समाज द्वारा निर्मित होते हैं और समाज का प्रत्येक सदस्य इनका पालन करता है। दुर्खीम के अनुसार सामाजिक प्रतिनिधान सामाजिक तथ्य हैं। व्यक्ति सामाजिक प्रतिनिधानो अर्थात् सामाजिक तथ्यो को सीखता रहता है और उसके सामाजीकरण की प्रक्रिया चलती रहती है। दुर्खीम के अनुसार सामाजिक प्रतिनिधानो का आन्तरीकरण ही सामाजीकरण है। निष्कर्षत: दुर्खीम के अनुसार सामाजिक तथ्यो की एक प्रमुख समाजशास्त्रीय विशेषता इनका सीखा जाना है।

सामाजिक तथ्यो की प्रमुख समाजशास्त्रीय विशेषताएँ—बाह्यता, बाध्यता, अधि-वैयक्तिकता, सामाजिकता, सार्वभौमिकता आदि हैं। दुर्खीम के अनुसार सामाजिक तथ्य

समाज के समाजशास्त्रीय अध्ययन मे महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। इसलिए एक समाजशास्त्र के विद्यार्थी को सामाजिक तथ्यो का अवलोकन करना आना चाहिए। दुर्खीम ने इसके निम्न नियम बताये हैं।

II. सामाजिक तथ्यों के अवलोकन के नियम
(Rules for the Observation of Social Facts)

दुर्खीम ने 'सामाजिक तथ्यो के अवलोकन के नियम' अपनी पुस्तक—'समाजशास्त्रीय पद्धति के नियम' के द्वितीय अध्याय मे दिये हैं। आपका कहना है कि सामाजिक तथ्यो का अध्ययन उसी प्रकार से करना चाहिए जिस प्रकार से प्राकृतिक विज्ञानो में तथ्यो का अध्ययन किया जाता है। दुर्खीम का मत था कि समाजशास्त्र एक विज्ञान के रूप में तब तक प्रतिष्ठित नहीं हो सकता जब तक यह वैज्ञानिक विधियो को नहीं अपनाता है। समाजशास्त्र को विज्ञान बनाने के लिए आपने कहा कि हमे अपने समाजशास्त्रीय अध्ययनो मे समस्या का निर्माण, तथ्यो का अवलोकन, निरीक्षण, परीक्षण, वर्गीकरण, विश्लेषण आदि के अनुसार अध्ययन या अनुसन्धान करना चाहिए। ऐसा करने पर ही समाजशास्त्र प्राकृतिक तथा अन्य भौतिक विज्ञानो की तरह एक सुनिश्चित वस्तुपरक अध्ययन करने वाला विज्ञान बन पायेगा।

दुर्खीम ने समाजशास्त्र को तथ्यो पर आधारित विज्ञान बनाने के लिए ही समाजशास्त्र की अध्ययन-वस्तु सामाजिक तथ्य बताई। सामाजिक तथ्यो के वस्तुनिष्ठ तथा प्रमाणित अध्ययन पर जोर दिया। परीक्षण, निरीक्षण, वर्गीकरण, विश्लेषण आदि से सम्बन्धित नियम तथा अनुसन्धान की प्रक्रिया एव चरणो को सुनिश्चित तथा स्पष्ट किया। आपने सामाजिक तथ्यो के वैज्ञानिक अध्ययन के विभिन्न पक्षो को बताया ही नहीं बल्कि अपने विनिबन्धो तथा अध्ययनो में उनका पालन करके व्यावहारिक पक्ष की सत्यता को भी सिद्ध किया। दुर्खीम ने समाजशास्त्र को प्राकृतिक विज्ञानो जैसा बनाने के लिए समाजशास्त्र की अध्ययन वस्तु सामाजिक तथ्य की विवेचना करने के बाद इन तथ्यो के वैज्ञानिक अवलोकन, परीक्षण निरीक्षण, वर्गीकरण आदि करने के लिए निम्नांकित नियम प्रतिपादित किये है। आपका कहना है कि सामाजिक तथ्यो का अवलोकन या प्रेक्षण करते समय निम्न चार नियमो का पालन करना चाहिए तभी समाजशास्त्र एक विज्ञान की श्रेणी में आ पायेगा—

1 सामाजिक तथ्यो को वस्तु जैसा समझे
2 सभी पूर्व-धारणाओं का उन्मूलन
3 विषय-सामग्री की परिभाषा
4 वैयक्तिक तथ्यो तथा सामाजिक तथ्यो की पृथकता।

अब हम एक-एक करके इनका सक्षिप्त अध्ययन करेगे।

1 सामाजिक तथ्यों को वस्तु जैसा समझें (Consider Social Facts as Things)—दुर्खीम ने समाजशास्त्र को विज्ञान बनाने के लिए अध्ययन पद्धति मे तथ्यो के अवलोकन पर विशेष जोर दिया है। समाजशास्त्र मे सामाजिक तथ्यो के अवलोकन के सम्बन्ध में आपने पहिला नियम "सामाजिक तथ्यो को वस्तु जैसा समझे" बताया है। पुस्तक के दूसरे अध्याय 'सामाजिक तथ्यो के प्रेक्षण (अवलोकन) के नियम' की पहली पक्ति म दुर्खीम ने लिखा है, **"प्रथम तथा सर्वाधिक मौलिक नियम है—सामाजिक तथ्यो पर**

वस्तुओं के रूप में विचार किया जाए।" आपका कहना है कि सामाजिक तथ्यों का अवलोकन भौतिक तथ्यो की तरह से करना चाहिए। आप चाहते हैं कि सामाजिक तथ्यो को वस्तु मानकर उनका वैज्ञानिक अध्ययन करना चाहिए, तभी समाजशास्त्र मे वस्तुपरक तथा वास्तविक अध्ययन सम्भव हो पायेगे। दुर्खीम के समय तक समाजशास्त्र की विषय-वस्तु को विचार तथा अवधारणा मानकर अध्ययन किया जाता था। रॉबर्ट बीरस्टीड ने इसी सत्य को निम्न शब्दो मे व्यक्त किया है, "अभी तक अर्थात् दुर्खीम के समय तक समाजशास्त्र वस्तुओ की अपेक्षा अवधारणाओ से सम्बन्धित रहा है।" दुर्खीम का मत है कि जब तक समाजशास्त्री समाजशास्त्र की अध्ययन-सामग्री का अध्ययन विचार या अवधारणा मानकर करेगा, तब तक वह वस्तुपरक अध्ययन नहीं कर सकता।

दुर्खीम ने सामाजिक तथ्यो को वस्तु मानकर अध्ययन करने का आग्रह केवल इसलिए किया था जिससे अध्ययन वास्तविक तथा वस्तुपरक बन जाए और वैज्ञानिक के विचारो और मानसिक क्रियाओ का प्रभाव समाप्त हो जाए। आपने लिखा है, "ज्ञान के वे सभी विषय 'वस्तु' हैं जो कि केवल मानसिक क्रियाओ द्वारा नहीं जाने जा सकते, बल्कि उनको मालूम करने के लिए हमे निरीक्षण और प्रयोग के द्वारा मस्तिष्क के बाहर से आँकडे प्राप्त करने होगे।"

दुर्खीम का मत है कि जब हम सामाजिक तथ्यों को वस्तु मानकर अवलोकन तथा विश्लेषण करेगे तो वैज्ञानिक के व्यक्तिगत विचारो तथा मूल्यो का अध्ययन पर प्रभाव नहीं पडेगा। ऐसा करने से ही समाजशास्त्रीय अध्ययन तटस्थ, निष्पक्ष तथा वस्तुपरक हो पाएँगे और समाजशास्त्र एक वास्तविक विज्ञान के रूप मे स्थापित हो पाएगा। दुर्खीम के अनुसार वस्तु निम्न है, "वह सब जो दिया हुआ है, वह सब जिसका अवलोकन किया जा सकता है, उसमे एक वस्तु की विशेषताएँ हैं।"

दुर्खीम का सदैव इस वास्तविकता पर विशेष जोर तथा आग्रह रहा है कि सामाजिक घटनाओं को मनोवैज्ञानिक तथ्यों की सहायता से नहीं समझना चाहिए। आपका कहना है कि सामाजिक तथ्यो का मनोवैज्ञानिक तथ्यो तथा व्यक्तिगत चेतना से स्वतन्त्र रखकर अध्ययन करना चाहिए। दुर्खीम सामाजिक तथ्यो को व्यक्तिगत चेतना से स्वतन्त्र मानते हैं और इसलिए इन्होंने सामाजिक तथ्य की दो विशेषताओ—बाह्यता और बाध्यता पर जोर दिया है। इन दो विशेषताओं के आधार पर ही आपने सामाजिक तथ्यो को वस्तु के रूप मे मानने, देखने, अवलोकन करने तथा निष्कर्ष निकालने पर जोर देते हुए समाजशास्त्र को प्राकृतिक विज्ञानो जैसा वस्तुनिष्ठ, वास्तविक, पक्षपातरहित विज्ञान के रूप मे स्थापित करने का श्रीगणेश किया था। आप चाहते थे कि समाजशास्त्र की विषय-वस्तु का अध्ययन करते समय समाजशास्त्री को अपनी सभी पूर्व-धारणाओ से स्वतन्त्र होना चाहिए यह तभी हो सकता है जब वह प्राकृतिक वैज्ञानिको की तरह से सामाजिक तथ्यो का अध्ययन करे तथा स्वयं की पूर्व-धारणाओ, विचारो, मतो से स्वतन्त्र रहे। इसको दुर्खीम ने निम्न नियम के अन्तर्गत स्पष्ट किया है।

2. पूर्व-धारणाओं का उन्मूलन (Eradication of Pre-conception)—सामाजिक अध्ययनो मे एक आधारभूत कठिनाई यह होती है कि अध्ययन कर्ता, वैज्ञानिक तथा अध्ययन की वस्तु दोनो मानव होते हैं। जब वैज्ञानिक (जो एक मानव है) समाज तथा

व्यक्तियो का अध्ययन करता है तो वैज्ञानिक मानव की स्वयं की कुछ पूर्व धारणाएँ, सस्कृति, विश्वास, धर्म, मूल्य आदि हैं, बीच मे आ जाते हैं। ये उसे सामाजिक अध्ययनो को निष्पक्ष तथा तटस्थ रूप से अध्ययन नहीं करने देते हैं। सामाजिक वैज्ञानिक अपनी संस्कृति, समाज तथा धारणाओ के सन्दर्भ मे सामाजिक तथ्यो का अवलोकन, परीक्षण तथा विश्लेषण करता है जो अवैज्ञानिक तथा पक्षपातपूर्ण है। इसी सन्दर्भ में दुर्खीम का कहना है कि समाजशास्त्री तथा सामाजिक वैज्ञानिको को समाज का अध्ययन करते समय विषय-वस्तु से सम्बन्धित जितनी भी धारणाएँ, मान्यताएँ, पूर्वाग्रह, कल्पनाएँ आदि उसके मस्तिष्क मे हैं उन्हे निकाल देना चाहिए। दुर्खीम ने, **"सभी पूर्व-धारणाओं का उन्मूलन"** अवलोकन के दूसरे नियम के अन्तर्गत विस्तार मे स्पष्ट किया है कि सामाजिक तथ्यो का अवलोकन करते समय समाजशास्त्रियो को अपनी व्यक्तिगत पूर्व धारणाओ से सतर्क रहना चाहिए। दुर्खीम का मत है कि समाजशास्त्री सामाजिक तथ्यो का अवलोकन करने मे जितना अधिक अपने को पूर्व-धारणाओ से स्वतन्त्र रखेगा उतना ही अधिक वह सामाजिक तथ्यो का अवलोकन वस्तुनिष्ठ तथा वैज्ञानिक रूप से कर पाएगा। अवलोकन करते समय वैज्ञानिक के विचार, धर्म, नैतिकता आदि से जितना अधिक सम्बन्धित और प्रभावित रहेगे उतना ही अधिक ये विचार तटस्थ अध्यन तथा वस्तुनिष्ठ अवलोकन मे कठिनाई पैदा करेगे। दुर्खीम ने यह बात निम्न शब्दो मे व्यक्त की है, "यह भावात्मक प्रकृति तथ्यो को समझने और उनकी व्याख्या करने की हमारी विधि को दूषित कर देती है।"

दुर्खीम लिखते हैं कि व्यक्तिपरक दृष्टि से बचने के लिए सामाजिक तथ्यो को एक बाहरी वस्तु मानकर उसका प्रत्यक्ष अवलोकन करना चाहिए तभी सत्य सामने आएगा तथा वास्तविकता स्पष्ट होगी। उसे वैज्ञानिक दृष्टिकोण, मान्यताओं तथा सत्य को ही महत्त्व देना चाहिए। आपका कहना है कि मानव का स्वभाव है कि जिन विषयों से उसका लगाव होता है उनके विरोध मे वह कुछ भी देखना, सुनना तथा जानना नहीं चाहता है। चूँकि वैज्ञानिक भी एक मानव है इसलिए उसे इस प्रकार के स्वाभाविक लक्षणो के प्रति सतर्क रहना चाहिए। इसलिए दुर्खीम ने सामाजिक तथ्यो के अवलोकन का दूसरा नियम 'पूर्व-धारणाओ का उन्मूलन' बताया है।

3. विषय-सामग्री की परिभाषा (Definition of the Subject-matter)—दुर्खीम ने सामाजिक तथ्यो के अवलोकन का तीसरा नियम विषय-सामग्री अथवा विषय-वस्तु की परिभाषा बताया है। समाजशास्त्री जिस तथ्य या सामग्री का अवलोकन करना चाहता है उसकी सुनिश्चित, स्पष्ट तथा सीमित परिभाषा देनी चाहिए तभी वह वस्तुपरक और वैज्ञानिक अवलोकन कर पाएगा। दुर्खीम ने इस नियम के सम्बन्ध मे लिखा है, "अतः समाजशास्त्री का प्रथम कार्य उन वस्तुओ की परिभाषा देना होना चाहिए जिनका वह अध्ययन करता है ताकि उसकी विषय-सामग्री का पता लग जाए। यह सभी प्रमाणो तथा पुनर्परीक्षाओं की सर्वप्रथम तथा सर्वाधिक अपरिहार्य दशा है।"

दुर्खीम का कहना है कि समाजशास्त्री अपने अध्ययन की सामग्री जैसे सामाजिक तथ्यो तथा वस्तुओ की स्पष्ट परिभाषा दे जो उसके शोध से सम्बन्धित हैं तथा जिनका वह अवलोकन करना चाहता है या अध्ययन करना चाहता है। आपका आग्रह है कि वैज्ञानिक परिभाषा देते समय बाहरी विशेषताओ पर विशेष ध्यान दे। परिभाषा मे उन विशेषताओ का

स्पष्ट उल्लेख होना चाहिए जिनको देखा, परखा तथा जाँचा जा सके। ऐसा करने से वैज्ञानिक कम समय मे सामाजिक तथ्यो का अवलोकन कर सकेगा तथा इधर-उधर भटकने से बचेगा। दुर्खीम का कथन है कि पूर्व-परिभाषाएँ वैज्ञानिक के अनुसन्धान मे मार्गदर्शन करती है। वैज्ञानिक केवल यथार्थ और प्रमाणित तथ्यो का अवलोकन करेगा। वैज्ञानिक इच्छाएँ और पूर्व-धारणाएँ भी अध्ययन को प्रभावित नहीं करेगी। आपका सुझाव है कि सभी सामाजिक विज्ञानो को अध्ययन की घटनाओ को स्पष्ट रूप से परिभाषित करना चाहिए तथा अध्ययन और अवलोकन के क्षेत्र को सुनिश्चित तथा निर्धारित करना चाहिए। निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि दुर्खीम ने अध्ययन की सामग्री की परिभाषा का नियम स्पष्ट करके अनुसन्धान के लिए कई लाभ प्रदान किए है, जिससे वैज्ञानिक के लिए अध्ययन की घटना, तथ्य, क्षेत्र तथा बाहरी विशेषताएँ सुनिश्चित हो जाती हैं। वस्तुनिष्ठ अध्ययन के अवसर बढ जाते है। वैज्ञानिक को पूर्व-धारणाओं का अध्ययन मे प्रवेश प्रतिबन्धित हो जाता है तथा अध्ययन पक्षपात रहित होता है।

4. वैयक्तिक तथा सामाजिक तथ्यों की पृथक्ता (Separation of Individual and Social Facts)—दुर्खीम ने सामाजिक तथ्यो के अवलोकन से सम्बन्धित चौथा और अन्तिम नियम "सामाजिक तथ्यो का वैयक्तिक अभिव्यक्तियो से स्वतन्त्र अनुसन्धान" का दिया है। दुर्खीम ने इस नियम को निम्न प्रकार से दिया है, "जब-जब समाजशास्त्री सामाजिक तथ्यो की किसी व्यवस्था को अन्वेषण के लिए स्वीकार करे तब-तब उसका यह प्रयास होना चाहिए कि वह ऐसे पहलू से विचार करे जो उनकी व्यक्तिगत अभिव्यक्तियो से स्वतन्त्र हो।" यह सर्व विदित है कि जब वैज्ञानिक सामाजिक घटनाओ का अध्ययन करता है तो वह अपनी व्यक्तिगत विशेषताओं के सन्दर्भ मे तथ्यों की व्याख्या कर बैठता है। यह मानव की कमजोरी है जो वैज्ञानिक बनने पर भी बनी रहती है। दुर्खीम सामाजिक वैज्ञानिको को इस कमजोरी से अवगत कराना चाहते हैं, सतर्क रहने को कहते हैं। इसीलिए आपने सामाजिक तथ्यो के अवलोकन से सम्बन्धित एक नियम प्रतिपादित करके सामाजिक वैज्ञानिको को आगाह किया है कि वे अवलोकन, वर्णन, व्याख्या तथा विश्लेषण करते समय व्यक्तिगत अभिव्यक्तियो, धारणाओ, भावनाओ आदि को अलग रखे। उन्हे अन्वेषण मे कोई स्थान नहीं दे। सामाजिक घटनाएँ, सामाजिक तथ्य आदि जिस प्रकार के हैं उनका ज्यो-का त्यो अवलोकन, वर्गीकरण तथा विश्लेषण करे। इस प्रकार से अध्ययन करने पर ही सामाजिक अन्वेषणो मे वैज्ञानिकता आ सकती है। वैज्ञानिक को पूर्ण रूप से प्रयास करना चाहिए कि सामाजिक तथ्यो के अध्ययन मे उसकी व्यक्तिगत विशेषताएँ, जैसे—दृष्टिकोण, मूल्य, आदर्श, जीवन चित्रण आदि वैयक्तिक अभिव्यक्ति प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से प्रवेश कर जाती है। इसीलिए दुर्खीम ने इस नियम को प्रतिपादित किया है।

दुर्खीम ने सामाजिक तथ्यो के अध्ययन से सम्बन्धित उन नियमो को प्रतिपादित किया है जो अध्ययन की वस्तु तथा वैज्ञानिक के मानव होने के कारण वस्तुनिष्ठ अध्ययन की सम्भावना मे वृद्धि करते हैं। वैज्ञानिक की पूर्व-धारणाओ का उन्मूलन, वैयक्तिक अभिव्यक्ति को अलग रखना, सामाजिक तथ्यो की परिभाषा तथा बाह्य विशेषताओ का अवलोकन सभी इस बात को स्पष्ट करते हैं कि सामाजिक अनुसन्धान मे वैज्ञानिक मानव होता है जो मानव से सम्बन्धित समाज का अध्ययन करते समय अनेक व्यक्तिगत विशेषताओ से प्रभावित रहता है

तथा वस्तुनिष्ठ अध्ययन नहीं कर पाता है। दुर्खीम का कथन है कि अगर वैज्ञानिक उपर्युक्त नियमो का कड़ाई से पालन करे तो सामाजिक तथ्यो का अध्ययन वस्तुनिष्ठ होगा।

III. सामान्य तथा व्याधिकीय तथ्यों में भेद करने के नियम
(Rules for Distinguishing between the Normal and the Pathological Facts)

दुर्खीम ने आलोच्य पुस्तक मे सामाजिक तथ्यो के अवलोकन के नियमो के निर्धारण के पश्चात् तीसरे अध्याय में सामाजिक तथ्यो के दो प्रकारों—सामान्य और व्याधिकीय तथ्यो मे भेद या अन्तर करने के नियमो की विवेचना की है जो इस प्रकार है। दुर्खीम का कहना है कि सामाजिक तथ्यो का अवलोकन करते समय दो प्रकार के तथ्य सामने आते हैं। कुछ तथ्य वे होते हैं जो समाज द्वारा स्वीकृत प्रतिमानो के अनुकूल होते हैं। इन समाज-समस्त तथ्यो को दुर्खीम ने **सामान्य तथ्य** की संज्ञा दी है। इन सामान्य तथ्यो के विपरीत अवलोकन के समय कुछ ऐसे तथ्य सामने आते हैं जो सामाजिक प्रतिमानो के विरुद्ध होते हैं जिन्हे दुर्खीम ने **'असामान्य'** या **'व्याधिकीय तथ्य'** की संज्ञा दी है।

(1) सामान्य तथ्य (Normal Facts)—दुर्खीम ने सामान्य तथ्यो की परिभाषा देते हुए लिखा है कि सामान्य तथ्य वे सामाजिक तथ्य है जो समाज के स्वीकृत प्रतिमानो के अनुकूल होते है। आपने आगे लिखा है कि सामान्य तथ्य सामाजिक जीवन के स्वास्थ्य में वृद्धि करते हैं।

(2) व्याधिकीय तथ्य (Pathological Facts)—दुर्खीम के अनुसार असामान्य तथ्य या व्याधिकीय तथ्य वे सामाजिक तथ्य हैं जो समाज के स्वीकृत प्रतिमानो के विरुद्ध होते हैं। व्याधिकीय तथ्य जैसा कि नाम से भी स्पष्ट होता है ये समाज मे व्याधि पैदा करते हैं तथा समाज के स्वास्थ्य के लिए हानिकारक होते हैं।

दुर्खीम का मत है कि समाजशास्त्र की विषय-वस्तु की परिभाषा करते समय इन दोनो प्रकार के तथ्यो को इसलिए सम्मिलित करना चाहिए क्योंकि सामान्य तथ्य सामाजिक जीवन के स्वास्थ्य मे वृद्धि करते हैं तथा व्याधिकीय तथ्य समाज के स्वास्थ्य के लिए हानिकारक होते हैं। सामाजिक व्यवस्था को समझने के लिए इन दोनो प्रकार के तथ्यो का अवलोकन, वर्गीकरण तथा विश्लेषण आवश्यक है।

दुर्खीम ने सामान्य तथा व्याधिकीय तथ्यो मे अन्तर करने के निम्नलिखित नियम दिए हैं—

1. व्यापकता (Extensiveness)—दुर्खीम ने सामान्य तथा व्याधिकीय तथ्यों में अन्तर करने का पहिला नियम व्यापकता का बताया है। आपके अनुसार व्यापकता अन्तर करने का वैज्ञानिक मापदण्ड है। जो तथ्य समाज मे व्यापक रूप से या अधिकता से विद्यमान हैं वे सामान्य तथ्य होते हैं। दुर्खीम के अनुसार, **"हम उन सामाजिक दशाओं को सामान्य कहेगे जो सर्वाधिक व्यापक है और दूसरी को अस्वस्थ या व्याधिपूर्ण।"** किसी सामाजिक तथ्य की सामान्यता का लक्षण उसकी व्यापकता से मापा जा सकता है। जब कोई तथ्य समाज के लिए विशेष उपयोगी होता है, तो उसकी आवृत्ति अधिक होती है। ऐसा तथ्य ही सामान्य तथा स्वास्थ्यवर्धक होता है। दुर्खीम ने लिखा है कि व्यापकता का गुण

समाज के तथ्यों की सामान्यता का लक्षण होता है। आपने स्पष्ट किया है कि जो तथ्य समाज मे व्यापक रूप से पाए जाते हैं वे तथ्य ही सामान्य तथ्य की श्रेणी मे गिने जाते है। सामाजिक घटनाएँ अनेक बातो मे अलग-अलग रूपो मे प्रकट होती हैं। ऐसा होने के उपरान्त भी इनके मौलिक गुण बने रहते है। आपका कहना है कि इनमे परिवर्तन भी बहुत कम होते हैं। समय तथा स्थान के कारण इनमे यदा-कदा परिवर्तन हो भी सकता है। दुर्खीम का मत है, "हम उन सामाजिक दशाओ को सामान्य कहेगे जो सबसे अधिक व्यापक हैं तथा दूसरी को अस्वस्थ अथवा व्याधिपूर्ण।"

दुर्खीम के अनुसार, तथ्य की व्यापकता का गुण समय तथा स्थान सापेक्ष भी होता है। एक सामाजिक व्यवहार एक समाज मे एक काल मे मान्य हो सकता है तथा वही व्यवहार दूसरे काल मे अमान्य हो सकता है। इसी प्रकार से एक स्थान पर कोई व्यवहार उचित तथा दूसरे स्थान पर अनुचित करार दिया जा सकता है। स्वतन्त्रता-प्राप्ति से पहिले जाति व्यवस्था मे विवाह, व्यवसाय आदि वशानुगत थे। कोई व्यक्ति परम्परागत व्यवसाय छोड नही सकता था। आज ऐसा नहीं है। युद्ध मे दुश्मनो की हत्या करना पाप नही है। जो तथ्य व्यापक होते हैं जिनकी आवृत्ति अधिक होती है, समाज द्वारा मान्य होते है, स्वीकृत प्रतिमानो के अनुसार होते है, वे सामान्य तथ्य होते हैं, तथा वे तथ्य व्यापक या व्याधिकीय होते हैं जिनकी आवृत्ति न्यून होती है, समाज द्वारा अस्वीकृत होते हैं, स्वीकृत प्रतिमानो के विपरीत होते हैं।

2. उपयोगिता (Utility)—जो सामान्य तथ्य जितना व्यापक होगा यह उतना ही उपयोगी अथवा लाभदायक होगा। ऐसा भी है कि जो तथ्य जितना उपयोगी होगा वह उतना ही व्यापक भी होगा। व्यापकता और उपयोगिता दोनो ही गुण सामान्य तथ्य के लक्षण हैं जो सामान्यतया साथ-साथ मिलते हैं। परन्तु ऐसा होना कोई वैज्ञानिक नियम नहीं है। दुर्खीम का कहना है कि व्यापकता उपयोगिता को स्पष्ट अवश्य करती है। इसी प्रकार अधिक आवृत्ति का होना भी तथ्य को महत्त्वपूर्ण बना देता है। दुर्खीम ने व्यापकता, उपयोगिता तथा आवृत्ति के सम्बन्ध मे निम्न सम्भावनाएँ भी व्यक्त की हैं—

1. सामान्य तथ्य अधिक व्यापक होते हैं।
2. सामान्य तथ्य अधिक उपयोगी होते हैं।
3. कभी-कभी प्रकट होने वाले व्याधिकीय तथ्य कम उपयोगी होते हैं।
4. यह आवश्यक नहीं है कि प्रत्येक सामान्य तथ्य अनिवार्य रूप से अधिक उपयोगी हो।
5. यह भी आवश्यक नहीं है कि जो तथ्य उपयोगी हो वे सामान्य तथ्य हो।

दुर्खीम ने ये विचार निम्न शब्दो मे व्यक्त किए हैं, "यदि यह सत्य है कि जो कुछ सामान्य है वह आवश्यक हुए बिना उपयोगी हो तो यह सत्य नहीं है कि जो कुछ उपयोगी है वह सब सामान्य है।"

3. घटना-क्रम का नियम (Law of Course of Events)—दुर्खीम ने सामान्य तथा व्याधिकीय सामाजिक तथ्यो मे भेद करने का तीसरा नियम घटनाक्रम बताया है। इस नियम के अनुसार आपका कहना है कि सामान्य तथ्य की पुष्टि करना आवश्यक है। इसके लिए पूर्व मे घटी हुई घटनाओं के निष्कर्षों के आधार पर सामान्य तथ्य को प्रमाणित करना

चाहिए। दुर्खीम का कहना है कि जो घटना किसी समाज मे भूतकाल में घटी हो उस घटना के कारणों तथा परिस्थितियो का अन्वेषण करना चाहिए। अन्वेषण के निष्कर्षों के आधार पर अध्ययन करना चाहिए कि क्या वे भूतकाल की परिस्थितियाँ तथा कारण वर्तमान मे भी विद्यमान है? अगर वे परिस्थितियाँ वर्तमान मे विद्यमान है तो उन तथ्यो को सामान्य तथ्य मानना चाहिए। यदि वे परिस्थितियाँ बदल गई हैं तो उनको व्याधिकीय तथ्य समझना चाहिए। दुर्खीम के अनुसार पूर्व मे घटी हुई घटनाओ के निष्कर्षों के आधार पर सामान्य तथ्य की पुष्टि करना अनिवार्य है। इसे घटनाक्रम के निष्कर्षों का नियम भी कह सकते हैं।

4. समाज के विकास का आधार (Basis of Development of Society)—दुर्खीम ने एक नियम सामान्य तथा व्याधिकीय तथ्यो में अन्तर करने के लिए समाज के विकास के आधार से सम्बन्धित बताया है। इस नियम के अन्तर्गत यह अध्ययन किया जाता है कि जिस समाज मे जो सामाजिक तथ्य विद्यमान है उस समाज का विकास कितना हुआ है? दुर्खीम का कथन है कि एक सामाजिक तथ्य किसी विशिष्ट समाज के विकास के विशिष्ट स्तर से सम्बन्धित होता है। आपका कहना है कि जब कोई तथ्य समाज के विकास के स्तर के अनुरूप होता है तो वह सामान्य तथ्य है और अगर उसके अनुरूप नहीं है तो व्याधिकीय तथ्य कहलाएगा।

इस प्रकार से दुर्खीम ने सामाजिक तथ्यो के दोनो क्षेत्रो—सामान्य तथा व्याधिकीय के नियमो की व्याख्या की है। आपने समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से अपराध पर भी प्रकाश डाला है। आपने तथ्यो का सम्बन्ध समाज के विकास के आधार पर समाज के विभिन्न प्रकारो से भी बताया है। इसलिए तथ्यो के अध्ययन मे समाज के वर्गीकरण का भी महत्त्व बढ़ जाता है। इसकी भी दुर्खीम ने विवेचना की है।

IV. सामाजिक प्रकारों के वर्गीकरण के नियम
(Rules for the Classification of Social Types)

दुर्खीम ने आलोच्य पुस्तक के चौथे अध्याय मे सामाजिक प्रकारो (समाजो) के वर्गीकरण करने के नियमो की विवेचना निम्न प्रकार से की है। आपका कहना है कि सामाजिक अन्वेषण मे वर्गीकरण का विशेष महत्त्व होता है। इसी महत्त्व के कारण आपने समाजो के विकास के आधार पर इनके वर्गीकरण के नियमो को प्रतिपादित किया है। आप समाजों को एक दूसरे से बिल्कुल पृथक् इकाइयाँ मानते हैं। आपका यह भी मत है कि समाजों की अपनी विशिष्टताएँ होती हैं। दुर्खीम का कहना है कि समाजो के अध्ययन के आधार पर सामान्य नियम बनाए जा सकते है। आप समाजो की विशिष्टताओ को भी मान्यता प्रदान करते हैं।

1 वर्गीकरण की पद्धति (Method of Classification)—दुर्खीम ने समाजो के वर्गीकरण की प्रक्रिया निम्न प्रकार बताई है। आपका कहना है कि सर्वप्रथम विभिन्न प्रकार के समाजो की प्रमुख तथा महत्त्वपूर्ण विशेषताओ का अवलोकन तथा अध्ययन करना चाहिए। समाजो के महत्त्वपूर्ण लक्षणो को चुनना चाहिए तथा सामान्य विशेषताओ के अध्ययन मे समय व्यर्थ नहीं करना चाहिए। दुर्खीम ने समाजो के वर्गीकरण मे विशेषताओ के महत्त्व को निम्न शब्दो मे व्यक्त किया है—

"अतः हमे अपने वर्गीकरण के लिए सर्वाधिक आवश्यक विशेषताओं का चयन करना चाहिए।"

दुर्खीम ने सभी समाजों की समस्त विशेषताओं के स्थान पर समाज के प्रकारों की विशिष्ट विशेषताओं को वर्गीकरण का आधार निश्चित किया है। आपका कथन है कि वैज्ञानिक अध्ययन में वर्गीकरण का विशेष महत्त्व होता है जो अध्ययन को क्रमबद्ध तथा व्यवस्थित करता है। इसलिए समाजों के अध्ययन में भी समाजों की समानताओं तथा भिन्नताओं के आधार पर वर्गीकरण करना चाहिए। दुर्खीम ने समाजों की आवश्यक विशेषताओं के अध्ययन का आधार भी वर्णित किया है तथा समाजशास्त्र में इनके अध्ययन के लिए एक विशिष्ट शाखा 'सामाजिक रचनाशास्त्र' (Social Morphology) का सुझाव भी दिया है। आपने लिखा है, **"समाजशास्त्र का वह भाग जिसका कार्य सामाजिक प्रारूपों की रचना और वर्गीकरण का अध्ययन करना है 'सामाजिक रचनाशास्त्र' कहा जा सकता है।"**

आपका कहना है कि समाज की रचना कुछ अंगों से मिलकर होती है। ये विभिन्न अंग जिन लक्षणों तथा प्रकृति के होते हैं उन्हीं के अनुसार समाज की रचना तथा प्रकृति बनती है। आपने समाजों के वर्गीकरण का आधार सरलता माना है।

वर्गीकरण का आधार—सरलता (Basis of Classification— Simplicity)— दुर्खीम ने स्पेन्सर की तरह समाजों के वर्गीकरण का आधार सरलता माना है। स्पेन्सर ने कहा है कि वर्गीकरण को सरलतम समाजों से प्रारम्भ करना चाहिए। लेकिन आपने सरलतम समाज की परिभाषा नहीं दी। दुर्खीम ने समाजों का वर्गीकरण सरलतम समाजों से प्रारम्भ करने का सुझाव दिया है तथा सरल समाज की निश्चित परिभाषा भी दी है। आपने सरलता के आधार पर समाजों का वर्गीकरण किया है, जो निम्न चार प्रकार के हैं—

1. सरल समाज (Simple Society)—दुर्खीम के अनुसार सरल समाज वह समाज है जिसमें इकाइयाँ भिन्न-भिन्न नहीं होती हैं। इन समाजों की इकाइयों में समानता होती है। श्रम का विभाजन, विशेषीकरण आदि नहीं होते हैं। वह स्वयं में पूर्ण इकाई होते हैं। ये समाज जीवों की संरचना जैसे होते हैं। दुर्खीम के शब्दों में, **"अतः सरल समाज वह समाज है जिसमें उससे और अधिक सरल समाज उसमें विद्यमान नहीं होते हैं और जिसके वर्तमान स्वरूप में न केवल एक ही खण्ड विद्यमान होता है, बल्कि उसमें पहिले से भी किसी प्रकार के उपखण्डों की उपस्थिति के निशान नहीं मिलते हैं।"** इन समाजों को और छोटी-छोटी इकाइयों में विभाजित नहीं किया जा सकता है। ये आत्म-निर्भर तथा एक पूर्ण इकाई होते हैं। दुर्खीम ने ऐसे समाजों का उदाहरण—'गोत्र-समूह' दिया है। ये मिलकर बहुखण्डीय या जटिल समाजों का निर्माण करते हैं।

2. बहुखण्डीय सरल समाज (Simple Polysegmental Society)—जब कई गोत्र-समूह मिलकर किसी समाज का निर्माण करते हैं तो ऐसे समाज को दुर्खीम बहुखण्डीय सरल समाज कहते हैं। इनको मिश्रित समाज भी कहा जा सकता है। इनका निर्माण करने वाले प्रत्येक खण्ड (गोत्र-समूह) सरल समाज होते हैं। दुर्खीम ने आस्ट्रेलिया की जनजातियों, इराक्विस जनजातियों, प्राचीन एथेन्स के समूहों को ऐसे समाज बताया है। कई गोत्र-समूह में उप-जाति तथा उप-जातियों से जाति-व्यवस्था वाले समाज—ग्रामों का निर्माण होता है, उन्हें भी बहुखण्डीय सरल समाज कह सकते हैं।

3. साधारण मिश्रित बहुखण्डीय समाज (Simple Compounded Polysegmental Society)—जब कुछ बहुखण्डीय सरल समाज परस्पर मिलकर एक

जटिल मिश्रित समाज का निर्माण करते हैं तो इससे जो अधिक विकसित समाज बनता है, उसे दुर्खीम साधारण मिश्रित बहुखण्डीय समाज कहते हैं। कबाइली जनजातियाँ इसके उदाहरण हैं। दुर्खीम ने उन जनजातियों को जिन्होने रोम के नागरिक राज्य का निर्माण किया था, साधारण मिश्रित बहुखण्डीय समाज की श्रेणी मे रखा है।

4. दोहरे मिश्रित बहुखण्डीय समाज (Doubly Compounded Polysegmental Society)—दुर्खीम ने इन समाजो को जटिलतम समाज बताया है। ये समाज के विकास के क्रम मे उच्चतम श्रेणी के समाज हैं। इनका निर्माण साधारण मिश्रित बहुखण्डीय समाजों के मिश्रण या योग से होता है। बड़े-बड़े नगर, महानगर, राजधानियाँ ऐसे समाजो के उदाहरण हैं।

V. सामाजिक तथ्यों की व्याख्या के नियम (Rules for the Explanation of Social Facts)

अपनी आलोच्य पुस्तक के पाँचवें अध्याय मे दुर्खीम ने 'सामाजिक तथ्यो की व्याख्या के नियम' की विवेचना की है। इसमें समाजशास्त्रीय अध्ययन के चरणो मे वर्गीकरण के चरण के बाद तथ्यो का विश्लेषण और व्याख्या के चरण को रखा है। तथ्यो का विश्लेषण और व्याख्या तथ्यो के वर्गीकरण पर आधारित होता है। वर्गीकरण के द्वारा तथ्यो का परस्पर गुण सम्बन्ध, संगठन, कारणीय प्रभाव आदि का विश्लेषण किया जाता है। इनकी सहायता से तथ्यो का वर्णन और व्याख्या सरल तथा तार्किक हो जाती है।

व्याख्या के द्वारा तथ्यो को स्पष्ट किया जाता है। उन्हे समझने का प्रयास किया जाता है। कुछ विद्वान तथ्यों की व्याख्या के अन्तर्गत तथ्यो के लाभो तथा उपयोगिताओ पर प्रकाश डालते हैं। कॉम्ट ने विकास की व्याख्या कल्याणकारी और सुधारात्मक प्रभावो के आधार पर की है। स्पेन्सर ने व्याख्या के अन्तर्गत परिवार, सरकार इत्यादि के लाभो का वर्णन किया है। दुर्खीम के अनुसार तथ्यो के लाभ या उपयोगिता पर प्रकाश डालना तथ्यो की व्याख्या नहीं है। आपके अनुसार तथ्यो की व्याख्या के अन्तर्गत तथ्यो की उत्पत्ति और प्रकृति का कारणीय वर्णन करना चाहिये। समाजशास्त्री को तथ्यो की व्याख्या सामाजिक जीवन की आवश्यकताओ की पूर्ति के सन्दर्भ मे करनी चाहिए। दुर्खीम के कथनानुसार तथ्य को उत्पन्न करने वाले कारणों तथा कारको का अन्वेषण करना चाहिए। आपका कहना है कि सामाजिक तथ्यो का कारणीय सम्बन्ध सामाजिक आवश्यकताओ की पूर्ति के साथ होता है जिसे दुर्खीम सामाजिक प्रकार्य कहते हैं। दुर्खीम ने सामाजिक तथ्यो की व्याख्या के सम्बन्ध में अपने विचार निम्न रूप से व्यक्त किये हैं—

"अतः जब किसी सामाजिक घटना की व्याख्या की जाती है तो हमें उसकी उत्पत्ति के मुख्य कारक तथा उसके द्वारा सम्पन्न होने वाले प्रकार्य की अलग-अलग खोज करनी चाहिये।" दुर्खीम ने कारण एवं प्रकार्य मे परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध बताया है, जो इन्होने निम्न कथन मे स्पष्ट किया है—**"परिणामतः किसी सामाजिक तथ्य की व्याख्या करने मे केवल उस कारण को स्पष्ट करना ही पर्याप्त नहीं है, जिस पर वह निर्भर करता है, हमें अधिकतर मामलों मे सामाजिक व्यवस्था की स्थापना में इसके प्रकार्यों को भी स्पष्ट करना चाहिए।"**

दुर्खीम के द्वारा तथ्यो की व्याख्या के लिए दिये गये नियम सार रूप मे निम्नलिखित हैं—

1 किसी सामाजिक तथ्य के निर्णायक कारण का अन्वेषण उसके पूर्ववर्ती सामाजिक तथ्यो मे किया जाना चाहिए। व्यक्तिगत चेतना की अवस्थाओ मे नहीं।
2 किसी सामाजिक तथ्य के प्रकार्य का अन्वेषण किसी सामाजिक लक्ष्य के साथ उसके सम्बन्ध मे किया जाना चाहिए।
3 किसी भी प्रकार से महत्त्वपूर्ण समस्त सामाजिक प्रक्रियाओ की सर्वप्रथम उत्पत्ति का अन्वेषण सामाजिक समूह की आन्तरिक संरचना में किया जाना चाहिए।

VI. समाजशास्त्रीय प्रमाणों की स्थापना से सम्बन्धित नियम (Rules Relative to Establishing Sociological Evidences)

दुर्खीम ने आलोच्य पुस्तक के छठे अध्याय मे समाजशास्त्रीय प्रमाणो की स्थापना से सम्बन्धित नियमो की विवेचना की है। समाजशास्त्रीय अन्वेषण का यह अन्तिम चरण है जिसमे सामाजिक नियमो या निष्कर्षों को स्थापना की जाती है। अन्वेषण म ऐतिहासिक, प्रयोगात्मक और तुलनात्मक विधियों का मुख्य रूप से प्रयोग होता है। दुर्खीम समाजशास्त्रीय नियमो की स्थापना के लिए विधि को उपयुक्त मानते हैं तथा ऐतिहासिक और प्रयोगात्मक विधियो को अनुपयुक्त। दुर्खीम तुलनात्मक विधि को 'अप्रत्यक्ष प्रयोगात्मक विधि' भी कहते हैं। आपके अनुसार तुलनात्मक विधि भौतिक विज्ञानो की प्रयोगात्मक विधि के समकक्ष है और इसके द्वारा वस्तुपरक निष्कर्षो को प्रतिपादित किया जा सकता है। आपका कहना है कि तुलनात्मक विधि मे 'सदैव ही एक विशिष्ट परिणाम से सम्बन्धित एक विशिष्ट कारण होता है' नियम का ध्यान रखा जाता है। अगर किसी एक परिणाम के कई कारक हैं अथवा एक कारक के कई परिणाम हैं तो इसका तात्पर्य यह है कि अध्ययन मे कहीं कोई कमी है अथवा उनमे पूर्ण गुण सम्बन्ध की खोज करना शेष है।

आप लिखते हैं कि अगर आत्महत्या के कई कारण हैं तो इसका अर्थ यह भी हो सकता कि आत्महत्या भी कई प्रकार की हैं जिनका तुलनात्मक विधि से ही पता लगाया जा सकता है। आपने तुलनात्मक विधि का समाजशास्त्रीय अन्वेषण मे महत्व निम्न शब्दो मे व्यक्त किया है—

"हम देख चुके है कि समाजशास्त्रीय व्याख्या के अन्तर्गत केवल कारणत्व के सम्बन्धों की स्थापना की जाती है, यह किसी घटना को उसके कारण से या किसी कारण को उसके परिणामों से सम्बन्धित करने का कार्य है। इसके अतिरिक्त क्योंकि सामाजिक घटना स्पष्ट रूप से परीक्षणकर्ता के नियन्त्रण से स्वतन्त्र होती है, तुलनात्मक विधि ही समाजशास्त्र के लिए एकमात्र उपयुक्त विधि है।"

VII. निष्कर्ष (Conclusion)

दुर्खीम ने आलोच्य पुस्तक के सातवे अध्याय 'निष्कर्ष' मे सामाजिक तथ्य से सम्बन्धित सभी पूर्व छः अध्यायों के आधार पर निम्न तीन निष्कर्ष दिये हैं—

1 स्वतन्त्र वैज्ञानिक पद्धति का निर्माण (Construction of Independent Scientific Method)—दुर्खीम ने आलोच्य पुस्तक 'समाजशास्त्रीय पद्धति के नियम' मे

समाजशास्त्र के लिए एक स्वतन्त्र वैज्ञानिक पद्धति को प्रतिपादित किया है। आपने समाजशास्त्र को दार्शनिक व्याख्या से अलग करके इसे भौतिक विज्ञान के समान विज्ञान बनाने का प्रयास किया है।

2. वस्तुनिष्ठ पद्धति (Objective Method)—दुर्खीम ने आलोच्य पुस्तक मे समाजशास्त्र के लिए जिस अध्ययन पद्धति का निर्माण किया है, वह वस्तुनिष्ठ है। इसमें पक्षपात आने की सम्भावनाएँ नहीं हैं। ऐसा करने के लिए ही आपने सामाजिक तथ्यो को सामाजिक वस्तुओ के रूप मे मानकर अध्ययन करने का आग्रह किया है। वैज्ञानिक द्वारा पूर्व-धारणाओ के उन्मूलन पर जोर दिया है। तथ्यो का अध्ययन बाह्यता तथा बाध्यता के अवलोकन द्वारा करने की वकालत की है।

3. समाजशास्त्रीय पद्धति (Sociological Method)—दुर्खीम ने सामाजिक तथ्य की परिभाषा, विशेषताएँ, अवलोकन के नियम, प्रकार, वर्गीकरण, व्याख्या के नियम आदि के द्वारा समाजशास्त्रीय अध्ययन की पद्धति को वस्तुनिष्ठ बनाने का प्रयास किया है। आपने समाजशास्त्रीय अध्ययन और व्याख्या को मनोवैज्ञानिक आधार तथा व्याख्या से स्वतन्त्रता प्रदान की है। आपने सामाजिक तथ्य की व्याख्या को सामाजिक आधार प्रदान किया है तथा पूर्व के मनोवैज्ञानिक आधारो से स्वतन्त्रता प्रदान की है। समाजशास्त्र की विषय सामग्री को भी दुर्खीम ने स्पष्ट किया है। आपने समाजशास्त्र की विषय सामग्री सामाजिक तथ्य बताये हैं। आपका कहना है कि अब समय आ गया है जबकि समाजशास्त्र को यथार्थ एव वस्तुनिष्ठ विज्ञान के रूप मे प्रकट होना चाहिए। दुर्खीम ने जो समाजशास्त्र के अध्ययन की पद्धति विकसित की थी उसे उन्होंने इस पद्धति के आधार पर विश्वविख्यात अध्ययन भी समाजशास्त्र को प्रदान किये हैं।

आलोचनात्मक मूल्यॉकन (Critical Evaluation)—दुर्खीम ने 'समाजशास्त्रीय पद्धति के नियम' पुस्तक मे समाजशास्त्र विषय के अनेक पहलुओ पर प्रकाश डाल कर इस विषय को विज्ञान जगत में प्रतिष्ठित स्थान प्रदान करवाया है। आपकी यह कृति समाजशास्त्र विषय की एक अनमोल कृति है, फिर भी अनेक समाजशास्त्रियो—टार्डे, सोरोकिन, रेमण्ड, एरन, बीरस्टीड, वाइन, रेनल्फ आदि ने आपके द्वारा प्रतिपादित अवधारणाओ, वर्गीकरणो, व्याख्याओ, नियमो आदि की कटु आलोचनाएँ की हैं, जो निम्न हैं—

1. गेब्रिल टार्डे—आपका मत है कि दुर्खीम ने अपने अध्ययनो मे केवल समाज को महत्वपूर्ण माना है व्यक्ति की उपेक्षा की है। आपका तथा सोरोकिन का मत है कि व्यक्ति के बिना समाज की कल्पना करना असम्भव है। इस सम्बन्ध मे सोरोकिन ने टार्डे के आलोचनात्मक कथन को उद्धृत किया है, जो निम्न है—

"मै मानता हूँ कि मेरे लिए यह समझना कठिन है कि व्यक्तियों को निकाल देने के बाद समाज जैसी वस्तु शेष रह जायेगी। यदि किसी विश्वविद्यालय के छात्रों तथा अध्यापको को अलग कर दिया जाये तो मैं नहीं समझता कि वहाँ नाम के अतिरिक्त भी शेष कुछ रह जायेगा।"

2. सोरोकिन—सोरोकिन भी टार्डे के मत का समर्थन करते हुए लिखते हैं, **"संक्षिप्त में दुर्खीम की यह वास्तविकता वैज्ञानिकतानुसार गलत है तथा इसे त्याग देना चाहिए, यह कुछ नहीं है केवल एक अनुचित रहस्यवाद है।"**

टार्डे और **सोरोकिन** की उपर्युक्त आलोचनाएँ एक सीमा तक उपयुक्त हो सकती हैं। वास्तविकता यह है कि दुर्खीम ने मानव को समाज से बिल्कुल पृथक् नहीं किया है। उनका कथन तो यह है कि समाज व्यक्तियों से मिलकर बनता है, परन्तु समाज व्यक्तियों का मात्र योग नहीं है बल्कि योग से अधिक है।

3. **रेमण्ड एरन**—रेमण्ड एरन, जो टार्डे तथा अनेक समाजशास्त्रियों ने दुर्खीम की 'बाध्यता' अवधारणा की कटु आलोचना की है। एरन ने बाध्यता शब्द की निम्न शब्दों में आलोचना की है—

''दुर्खीम ने 'बाध्यता' शब्द का प्रयोग अत्यन्त दोषपूर्ण रूप से किया है। कभी-कभी तो यह समझने में कठिनाई उत्पन्न होने लगती है कि क्या केवल बाध्यता ही सामाजिक घटनाओं या तथ्यों का सारतत्त्व है, या केवल उनकी बाह्य विशेषता है जो कि उन्हें समझने में सहायता करती है।''

4. **टार्डे**—आपने भी 'बाध्यता' शब्द पर आपत्ति उठाई है। आपका कहना है कि स्वतन्त्र सहयोग, स्वतन्त्र अनुकरण, स्वतन्त्र समझौता आदि में बाध्यता या दबाव नहीं है। ये सब सामाजिक तथ्य हैं, परन्तु इनकी विशेषता स्वतत्रता है बाध्यता या दबाव नहीं है। इस प्रकार सामाजिक तथ्य की विशेषता बाध्यता का होना आवश्यक नहीं है। स्वतन्त्रता भी सामाजिक तथ्य की विशेषता होती है।

5. **एमिल बेनौयत—स्मुलियन**—आपका कहना है कि दुर्खीम ने सामाजिक तथ्य को वस्तु मानने का आग्रह किया है लेकिन 'वस्तु' शब्द का दुर्खीम ने कभी भी स्पष्ट, सुनिश्चित तथा सीमित अर्थ नहीं बताया है। आपने इसे चार भिन्न-भिन्न अर्थों में प्रयुक्त किया है। एमिल बेनौयत—स्मुलियन ने इसकी निम्न शब्दों में आलोचना की है—

''इस सूत्र का इच्छित अर्थ कभी स्पष्ट नहीं हुआ है, क्योंकि दुर्खीम ने 'वस्तु' शब्द को चार भिन्न अर्थों में, जो कि एक-दूसरे के बहुत निकट नहीं हैं, प्रयोग किया है।''

6. **कैटलिन**—आपने दुर्खीम द्वारा प्रतिपादित 'सामूहिक चेतना' की अवधारणा की आलोचना की है। कैटलिन का कहना है कि दुर्खीम ने अपने मनमाने तरीके से समाजशास्त्र और मनोविज्ञान को सामूहिक चेतना की अवधारणा के आधार पर पृथक् किया है तथा इनके क्षेत्र अलग दिये हैं। मनमाने ढग से पृथक् करना अवैज्ञानिक है।

7. **रेमण्ड एरन**—आपका कहना है कि दुर्खीम ने जो सामान्य तथ्य तथा व्याधिकीय तथ्य का भेद किया है, वह त्रुटिपूर्ण है। दुर्खीम विशुद्ध वैज्ञानिक बन रहना चाहते थे। वैज्ञानिक वह जो 'क्या है?', 'क्यों है?', 'कैसे है?' और 'क्या होगा?' का अध्ययन करता है। लेकिन दुर्खीम इस बात पर भी आग्रह करते थे कि **''क्या होना चाहिए?''** का भी अध्ययन समाजशास्त्री को करना चाहिए। 'क्या होना चाहिए'—का अध्ययन उपयोगितावादी करते हैं। इस प्रकार दुर्खीम भी उपयोगितावादी बन गये। एरन ने यह वस्तुस्थिति अग्रलिखित रूप में व्यक्त की है—

"इस अन्तर का महत्त्व दुर्खीम की सुधारवादी योजना से सम्बन्धित है, जैसा कि हम जानते हैं, वह विशुद्ध वैज्ञानिक होना चाहता था, परन्तु यह विचार उसे यह कहने से नहीं रोक सका कि समाजशास्त्र एक घण्टे के परिश्रम के योग्य भी नहीं होगा, यदि उसके द्वारा हम समाज को सुधारने मे समर्थ नहीं होते। वह इस वैषयिक और वैज्ञानिक अध्ययन के आधार पर व्यावहारिक योजनाएँ बनाने की आशा रखता था।"

8. वाइन—आपने दुर्खीम के सामाजिक तथ्यो की व्याख्या के नियमो की कटु आलोचना निम्न शब्दो मे की है—"**अन्य सभी प्रकार की सामग्री की उपेक्षा करके सामाजिक तथ्यों की व्याख्या दूसरे सामाजिक तथ्यों के द्वारा करने के प्रयत्न का असफल होना निश्चित है।**" वाइन का मत है कि अन्य कारक भी प्रभाव डालते हैं जिनकी दुर्खीम अवहेलना करते हैं।

9. रेनल्फ—रेनल्फ का मत है कि दुर्खीम ने सामाजिक तथ्य की तथा उनसे सम्बन्धित सूचना एकत्र करने के लिए कोई निश्चित, विश्वसनीय और प्रमाणित विधि स्पष्ट रूप से प्रदान नहीं की है। आपका कहना है कि दुर्खीम ने अनुमान या कल्पना का प्रयोग करने पर बल दिया। कल्पना के आधार पर सामाजिक तथ्यों की दूसरे सामाजिक तथ्यो के द्वारा व्याख्या करना वैज्ञानिकता नहीं है।

10. **समाज का त्रुटिपूर्ण वर्गीकरण (Faulty Classification of Society)**—अनेक समाजशास्त्रियो ने दुर्खीम द्वारा प्रतिपादित समाज के वर्गीकरण को त्रुटिपूर्ण तथा अवैज्ञानिक बताया है। दुर्खीम ने इस वर्गीकरण में सामाजिक विकास के इतिहास तथा दार्शनिक परिप्रेक्ष्य से असहमति रखते हुए मध्यम मार्ग स्वीकार किया है।

11 **सामान्य तथ्य की त्रुटिपूर्ण व्याख्या (Faulty explanation of General Facts)**—एरन तथा अनेक समाजशास्त्रियो ने दुर्खीम के द्वारा प्रतिपादित सामान्य तथ्य की व्याख्या पर आपत्ति उठाई है। दुर्खीम ने सामान्य तथ्य के लिए कहा है कि वे समाज के लिए उपयोगी हैं तथा साथ ही आपने अपराध को भी एक सामान्य तथ्य बताकर विवाद खड़ा कर दिया है। जहाँ दुर्खीम अपराध को समाज में नैतिकता, कानून और एकता के विकास में सहायक मानते हैं, वहीं अनेक समाजशास्त्री इससे सहमत नहीं हैं। दुर्खीम के अनुसार तो समाज मे चोरी, हिंसा, बेईमानी, काला बाजारी आदि को प्रोत्साहन देना चाहिए जिससे समाज मे नये-नये कानून बनेगे, । इस मत से शायद ही कोई सहमत होगा। दुर्खीम की सामान्य एवं व्याधिकीय सामाजिक तथ्यो की व्याख्या, आलोचनाओ और आक्षेपो को प्रोत्साहित करती है।

निष्कर्षत: यह कहा जा सकता है कि दुर्खीम के द्वारा प्रतिपादित सामाजिक तथ्य के विभिन्न पक्षो की आलोचना के उपरान्त भी दुर्खीम ने समाजशास्त्र मे प्रत्यक्षवादी पद्धति के विकास को ठोस आधार प्रदान करने मे अमूल्य योगदान दिया है। आपने अपने समकालीन तथा वर्तमान समय के सामाजिक वैज्ञानिको को क्रमबद्ध तथा व्यवस्थित आनुभविक अन्वेषण की पद्धति तथा सिद्धान्त प्रदान किये हैं। आपने समाजशास्त्र को विषय-वस्तु, सामाजिक तथ्य, अवलोकन विधि, वर्गीकरण, व्याख्या, प्रमाणो की स्थापना आदि से सम्बन्धित नियम

देकर इस विषय की सेवा की है। रॉबर्ट बीर्स्टिट ने दुर्खीम के इस योगदान की निम्न शब्दों मे प्रंशसा की है—

''दुर्खीम, वास्तविक अर्थ में, समाजशास्त्र के विज्ञान की स्थापना की दिशा में विश्वव्यापी आन्दोलन का प्रणेता था और पद्धति पर उसकी पुस्तक एक घोषणा-पत्र थी जिसने समस्त पाठकों के समक्ष घोषित किया कि समाजशास्त्र का विज्ञान केवल सम्भव ही नहीं था, वरन् यह आवश्यक भी था।'

अभ्यास प्रश्न

निबन्धात्मक प्रश्न

1 दुर्खीम के अनुसार 'सामाजिक तथ्य' की परिभाषा दीजिए तथा इसकी विशेषताओं पर प्रकाश डालिए।

2 दुर्खीम ने सामाजिक तथ्यो के अवलोकन के नियम कौन-कौन से बताये हैं? विवेचना कीजिए।

3 सामान्य तथा व्याधिकीय तथ्यो मे भेद करने के नियम कौन-कौन से हैं? प्रकाश डालिए।

4. सामाजिक प्रकारो के वर्गीकरण के नियम एवं सामाजिक तथ्यो की व्याख्या के नियमो पर प्रकाश डालिए।

5. दुर्खीम द्वारा सामाजिक तथ्यो से सम्बन्धित निष्कर्षों की विवेचना कीजिए।

लघुउत्तरात्मक प्रश्न

1 सामाजिक तथ्य किसे कहते हैं। परिभाषित कीजिए।

2 सामाजिक तथ्य की प्रमुख दो विशेषताएँ बताइए।

3 दुर्खीम द्वारा बताए गए तथ्यों की व्याख्या के चार नियम बताइए।

4 सामाजिक तथ्य के अवलोकन के किसी एक नियम का वर्णन कीजिए।

5 दुर्खीम के द्वारा प्रतिपादित सामाजिक तथ्य की कोई दो कमियो का वर्णन कीजिए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1 सामाजिक तथ्य की अवधारणा किसने दी है?

(अ) मार्क्स (ब) मर्टन

(स) दुर्खीम (द) रैमण्ड एरन

[उत्तर- (स)]

2 'दा रूल्स ऑफ सोशियोलॉजिकल मेथड' के लेखक कौन हैं?

(अ) श्रीनिवास (ब) दुर्खीम

(स) वेबर (द) मार्क्स

[उत्तर- (ब)]

3 निम्नांकित में से सत्य कथन का चयन कीजिए—

(1) सामाजिक तथ्य व्यक्ति से बाहर होते हैं।

(2) सामाजिक तथ्य व्यक्ति पर दबाव नहीं डालते हैं।

(3) मेक्स वेबर ने सामाजिक तथ्य की अवधारणा दी है।

(4) सामाजिक तथ्य सीखे जाते हैं।

(5) सामाजिक तथ्य कार्य करने, सोचने, और अनुभव करने के तरीके हैं।

(6) सामाजिक तथ्य की प्रकृति सामाजिक नहीं होती है।

[उत्तर- (1), (4), (5)]



अध्याय-3

दुर्खीम : श्रम-विभाजन
(Durkheim : Division of Labour)

'दा डिविजन ऑफ लेबर इन सोसायटी' दुर्खीम की विश्वविख्यात प्रथम कृति है। इसमे आपने श्रम के विभाजन से सम्बन्धित विभिन्न पहलुओ की विवेचना की है। सर्वप्रथम यह ग्रन्थ फ्रांसीसी भाषा मे 1893 मे 'De la division du travail social' शीर्षक से प्रकाशित हुआ था। इसका अंग्रेजी मे अनुवाद 'The Division of Labour in Society' शीर्षक मे हुआ है। यह विनिबन्ध दुर्खीम ने अपनी डॉक्टरेट की उपाधि के लिए लिखा था। दुर्खीम ने इस पुस्तक मे श्रम-विभाजन से सम्बन्धित अनेक महत्त्वपूर्ण समाजशास्त्रीय अवधारणाएँ, प्रारूप, सिद्धान्त, वर्गीकरण आदि प्रतिपादित किए हैं। इसमे प्रस्तुत विचारो तथा निष्कर्षों का प्रभाव आपकी बाद की कृतियो तथा विचारो मे भी देखा जा सकता है। रेमण्ड ऐरन का मत है कि दुर्खीम के समाजशास्त्रीय चिन्तन मे प्रमुख केन्द्र श्रम-विभाजन की समस्या ही रहा है। 'समाज मे श्रम-विभाजन' विनिबन्ध में श्रम-विभाजन से सम्बन्धित विभिन्न पक्षों की विवेचना 17 अध्यायो मे की गई है। इस पुस्तक की पाठ योजना निम्नानुसार है—

(I) प्रस्तावना (Introduction)—सर्वप्रथम दुर्खीम ने 'प्रस्तावना' शीर्षक के अन्तर्गत समस्या की व्याख्या की है। आपने समाज मे श्रम-विभाजन के विकास का संक्षिप्त इतिहास और समस्या का वर्णन किया है। पुस्तक की पाठ योजना भी दी है।

(II) खण्ड प्रथम—श्रम-विभाजन का प्रकार्य (The Function of the Division of Labour)—इस प्रथम खण्ड मे सात अध्याय हैं। इन अध्यायो मे आपने कार्यो को निर्धारित करने की विधि, यान्त्रिक एकता, जैविक एकता और जैविक एकता का विकास आदि का वर्णन किया है। जैविक एकता, सविदात्मक एकता की व्याख्या की है। इसमे आपने मुख्य रूप से सामाजिक एकता और श्रम-विभाजन के सम्बन्धो की व्याख्या की है।

(III) खण्ड द्वितीय—कारण एवं दशाएँ (Causes and Conditions)—इस खण्ड के पाँच अध्यायो मे आपने श्रम-विभाजन और सुख, श्रम-विभाजन के कारण, द्वैतीयक कारक, वशानुक्रमण और परिणाम आदि का वर्णन और व्याख्या की है।

(IV) खण्ड तृतीय—असामान्य स्वरूप (Abnormal Forms)—पुस्तक के तीसरे खण्ड मे कुल तीन अध्याय हैं। जिनमे आपने श्रम-विभाजन के कुछ असामान्य स्वरूपो की विवेचना की है।

(V) निष्कर्ष (Conclusion)—इस कृति के अन्तिम भाग मे आपने प्रस्तावना मे जो व्यावहारिक समस्याएँ उठाई थीं उनका हल प्रस्तुत किया है। आपने अपने अध्ययन के निष्कर्ष प्रस्तुत किए हैं। दुर्खीम ने प्रस्तावना मे लिखा है कि हमे श्रम-विभाजन का अध्ययन

वस्तुपरक तथ्य मानकर करना चाहिए। इनका अवलोकन तथा तुलना करनी चाहिए तथा हम देखेगे कि इन अवलोकनो के परिणाम उन अर्थों से भिन्न मिलेगे जो हमको बताए गए हैं। अब हम दुर्खीम के दृष्टिकोण से श्रम-विभाजन को समझने के लिए उनके द्वारा दिए गए विभिन्न तथ्यों, जानकारियो, व्याख्याओ, निष्कर्षों आदि का अध्ययन करेगे।

I. श्रम-विभाजन के प्रकार्य
(The Functions of the Division of Labour)

दुर्खीम ने सर्वप्रथम प्रकार्यवादी दृष्टिकोण से श्रम-विभाजन के प्रकार्यों पर प्रकाश डाला है। आपने श्रम-विभाजन को सामाजिक तथ्य बताया है। पुस्तक के प्रथम खण्ड में श्रम-विभाजन के प्रकार्य, प्रकार्य की समाजशास्त्रीय परिभाषा, श्रम-विभाजन का सभ्यता के साथ सम्बन्ध, नवीन समूहो का निर्माण, सामाजिक एकता तथा इसके प्रकार—यान्त्रिक एवं सावयवी एकता तथा इनके लक्षणो, भिन्नताओ आदि पर प्रकाश डाला है। इस खण्ड के अन्त मे श्रम-विभाजन के विभिन्न प्रभावो तथा परिणामों की भी विवेचना की है।

प्रकार्य की समाजशास्त्रीय परिभाषा (Sociological Definition of Function)—दुर्खीम ने 'प्रकार्य' शब्द के निम्न दो अर्थ स्पष्ट किए हैं। (1) प्रकार्य का अर्थ गति-व्यवस्था से है अर्थात् क्रिया से है, और (2) प्रकार्य का दूसरा अर्थ क्रिया के द्वारा पूर्ण होने वाली आवश्यकता से है। इस पुस्तक मे आपने प्रकार्य की अवधारणा का दूसरा अर्थ लगाया है। इन्होने प्रकार्य को सामान्य अर्थ अर्थात् प्रभाव या परिणाम के रूप में प्रयुक्त नहीं किया है। आपने लिखा है, "हम इस अवधारणा का प्रयोग दूसरे अर्थ मे करेगे।" आपके अनुसार श्रम-विभाजन के प्रकार्य से अर्थ है कि **श्रम-विभाजन की प्रक्रिया समाज के लिए किन-किन आवश्यकताओं की पूर्ति करती है।** दुर्खीम ने लिखा है कि, जीव मे पाचन क्रिया, श्वसन क्रिया आदि शरीर की आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए कार्य करती हैं। इसी प्रकार हम श्रम-विभाजन के कार्यों को समाज की आवश्यकताओ को पूर्ति के सन्दर्भ में अध्ययन करेंगे। आपने 'प्रकार्य' शब्द का यही अर्थ लगाया है।

श्रम-विभाजन एवं नैतिकता (Division of Labour and Morality)—दुर्खीम ने श्रम-विभाजन और नैतिकता मे परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध बताया है। आप समाज को एक नैतिक वास्तविकता मानते है। समाज की व्यवस्था, एकता, निरन्तरता आदि के लिए नैतिक व्यवस्था को अत्यावश्यक मानते हैं। नैतिकता के अभाव मे समाज विघटित हो जाता है। समाज का अस्तित्व नैतिक व्यवस्था पर टिका होता है। दुर्खीम का मत है कि सभी सामाजिक तथ्यो का मौलिक प्रकार्य नैतिक होना चाहिए।

दुर्खीम ने लिखा है कि नैतिकता व्यवहार के वे नियम हैं जो मानव के आचरण पर अनिवार्य रूप से लागू होते हैं और जिनके साथ समूह की अभिमति जुड़ी हुई होती है। आपका मत है कि नैतिक तथ्य मानव के आचरण से सम्बन्धित होते हैं। क्योंकि श्रम-विभाजन को प्रकृति नैतिक है इसी कारण श्रम-विभाजन का प्रकार्य समाज मे नैतिक तथ्यो को उत्पन्न करना तथा नैतिक कार्यों को सम्पन्न करना है। आपने लिखा है, "**नैतिकता न्यून अपरिहार्य है, अत्यावश्यक है, प्रतिदिन का भोजन है, जिसके बिना समाज बना नहीं रह सकता है।**

सभ्यता का विकास— श्रम-विभाजन का प्रकार्य नहीं—

दुर्खीम का मत है कि श्रम-विभाजन का प्रकार्य सभ्यता का विकास करना नहीं है। आपका कहना है कि श्रम-विभाजन सभ्यता के विकास का स्रोत है। श्रम-विभाजन का अर्थ प्रकार्य के रूप मे लगाना त्रुटिपूर्ण है। अन्य विद्वान् यह मानते हैं कि श्रम-विभाजन से सभ्यता का विकास होता है। वे कहते हैं कि श्रम-विभाजन से समाज मे विशेषीकरण आता है। इससे उत्पादन-शक्ति मे विकास तथा वृद्धि होती है। भौतिक विकास होता है। सुख-सुविधाओं की वृद्धि होती है। इसके साथ-साथ बौद्धिक प्रगति तथा ज्ञान का प्रसार होता है। दुर्खीम का मत है कि बौद्धिक तथा भौतिक प्रगति आदि श्रम-विभाजन के स्रोत से उत्पन्न होते हैं। ये इस प्रक्रिया के परिणाम हैं। आपका कहना है कि न तो स्रोत का अर्थ ही प्रक्रिया है और न ही परिणाम का अर्थ प्रक्रिया। अतः श्रम-विभाजन का प्रकार्य सभ्यता का विकास करना नहीं है।

सभ्यता के विकास के प्रकार (Types of the Development of the Civilization)—इमाइल दुर्खीम ने सभ्यता के निम्न तीन प्रकार के विकास बताए हैं—

1 औद्योगिक या आर्थिक विकास,
2 कलात्मक विकास और
3 वैज्ञानिक विकास।

1. औद्योगिक या आर्थिक विकास (Industrial or Economic Development)— अधिकतर समाजशास्त्री सभ्यता का प्रमुख लक्षण आर्थिक विकास को मानते हैं। मोटर, रेल, तार तथा अन्य मशीनें आजकल बहुत उपयोगी वस्तुएँ मानी जाती हैं। दुर्खीम इसे नैतिकता का तत्त्व नहीं मानते हैं। आपका मत है कि आर्थिक तथा औद्योगिक विकास से बड़े-बड़े औद्योगिक केन्द्र विकसित होते हैं। जहाँ आत्म-हत्याएँ और अपराधो में वृद्धि हो जाती है। वहाँ नैतिक उन्नति नहीं होती है।

2. कलात्मक विकास (Artistic Development)—कला का विकास सभ्यता से सम्बन्धित अवश्य है परन्तु कला से नैतिकता का विकास नहीं होता है। दुर्खीम के अनुसार कला विलासिता तथा उद्देश्यहीन श्रम है जो रागात्मक प्रवृत्तियो को विकसित करती हैं। आप कला को नैतिक तथ्य न मानकर नैतिक संकट मानते हैं। आप मानते हैं कि कलाकृतियों के द्वारा नैतिक मूल्यो को अभिव्यक्त किया जा सकता है लेकिन कला स्वयं नैतिक तथ्य नहीं हो सकती है। आप कला का विकास उत्तेजक विकास का पर्याय ही मानते हैं।

3. वैज्ञानिक विकास (Scientific Development)—समाज मे प्रत्येक सदस्य का कर्तव्य है कि वह ज्ञान और बुद्धि का विकास करे तथा वैज्ञानिक सत्य की खोज करे। इस अर्थ के फलस्वरूप दुर्खीम विज्ञान को नैतिकता का तत्त्व मानते हैं। लेकिन इसे भी केवल आंशिक मानते हैं। दुर्खीम सभ्यता के इन तीनो प्रकारो—औद्योगिक या आर्थिक, कलात्मक और वैज्ञानिक विकास को नैतिक विकास नहीं मानते हैं, जबकि नैतिकता को समाज के लिए विशेष महत्त्वपूर्ण मानते हैं जो आपके निम्न कथन से स्पष्ट होता है—

"नैतिकता सबसे न्यून अपरिहार्य, अत्यन्त आवश्यक है, दैनिक भोजन है जिसके बिना समाज बना नहीं रह सकता है।"

श्रम-विभाजन के प्रकार्य
(Functions of the Division of Labour)

दुर्खीम ने श्रम-विभाजन के दो महत्त्वपूर्ण प्रकार्य बताए हैं जो समाज की निरन्तरता और अस्तित्व के लिए अत्यावश्यक हैं—(1) समाज मे नवीन समूहों का निर्माण करना, तथा (2) समूहो में सामाजिक एकता पैदा करना।

1. नवीन समूहों का निर्माण (Creation of New Groups)—दुर्खीम का मत है कि श्रम-विभाजन से समाज में अनेक नए-नए समूहो का निर्माण होता है। आपका कहना है कि समाज मे जनसंख्या की वृद्धि होती है। सर्वप्रथम जनसंख्या की वृद्धि से श्रम का विभाजन होता है। इससे विशेषीकरण आता है। विशेषीकरण समाज में नए-नए व्यावसायिक तथा विशेषीकृत समूहो का निर्माण करता है। समाज परिवर्तनशील है। उसमे परिवर्तन होते हैं। इससे आवश्यकताओ मे वृद्धि होती है। इनको पूरा करने के लिए नए-नए समूह जन्म लेते हैं। समाज मे जनसख्या की वृद्धि से नए-नए समूहो का निर्माण होना अवश्यंभावी है। श्रम-विभाजन ही इन समूहो मे एकता पैदा करता है।

2. नवीन समूहों में एकता पैदा करना (To Create Unity in New Groups)—दुर्खीम श्रम-विभाजन का दूसरा और महत्त्वपूर्ण कार्य नवीन समूहो मे एकता पैदा करना मानते हैं। आपका मत है कि नए-नए समूहों में परस्पर एकता का होना समाज के अस्तित्व के लिए आवश्यक है। श्रम-विभाजन ही नए समूहो के निर्माण के साथ-साथ परस्पर एकता पैदा करता है जो समाज को व्यवस्था तथा सन्तुलन को बनाए रखता है। दुर्खीम के अनुसार इन विभिन्न नवीन समूहो मे परस्पर एकता एक नैतिक आवश्यकता है जो श्रम-विभाजन द्वारा पूर्ण की जाती है।

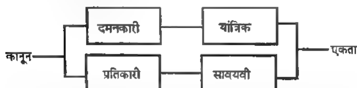
श्रम-विभाजन का महत्त्वपूर्ण कार्य नैतिक एकता उत्पन्न करना है। आपका कहना है कि विभिन्न नवीन समूह विशिष्ट कार्य करते हैं। वे अन्य कार्यों के लिए अन्य विशिष्ट समूहो पर निर्भर हो जाते हैं। इससे समूहो मे परस्पर निर्भरता बढ़ जाती है। बाध्य होकर उन्हे परस्पर सहयोग करना पडता है। यह सहयोग सामाजिक समूहों मे परस्पर नैतिक एकता पैदा करता है। दुर्खीम के अनुसार श्रम-विभाजन ही नवीन समूहो का निर्माण तथा उनमे एकता पैदा करने का कार्य करता है।

दुर्खीम ने लिखा है कि समानता और भिन्नता दोनों ही आकर्षण के कारण होते हैं। ये कारण श्रम-विभाजन की प्रक्रिया के द्वारा एकता पैदा करते हैं। आपने लिखा है कि हम उनसे मित्रता रखते हैं जो हमसे समानता रखते हैं तथा उनसे भी जो हमारे से भिन्न हैं। आपने लिखा है, **"एक से परों वाली चिड़ियाँ एक झुण्ड बना कर रहती है।" 'चोर-चोर मौसेरे भाई', 'चोर का साथी गिरहकट'**, 'Like seeks like' आदि उदाहरण इस तथ्य को स्पष्ट करते हैं कि समानता मे एकता होती है। दुर्खीम ने असमानता से भी एकता पैदा होने के उदाहरण दिये हैं। स्त्री-पुरुष मे प्रेम तथा विवाह जो वैवाहिक एकता का उदाहरण है जिसका कारण लिंग भेद पर आधारित श्रम-विभाजन है। आपके अनुसार श्रम-विभाजन का उद्देश्य समाज के कार्यों को व्यवस्थित करके एकता पैदा करना तथा उसे बनाए रखना है।

कानून—एकता का मापन
(Law—Measurement of Solidarity)

दुर्खीम ने लिखा है कि सामाजिक एकता पूर्णरूप से नैतिक घटना है जिसका प्रत्यक्ष एवं सुनिश्चित रूप से न तो अवलोकन ही कर सकते हैं और न ही माप सकते हैं। लेकिन सामाजिक एकता का मापन श्रम-विभाजन के प्रकार तथा इससे सम्बन्धित कानून व्यवस्था के प्रकार एवं इनकी तुलना के द्वारा किया जा सकता है। हमे नैतिक अमूर्त तथ्यो की कुछ बाहरी प्रत्यक्ष विशेषताओ को आधार के रूप में लेना होगा। दुर्खीम ने लिखा है, ये दिखाई देने वाले प्रतीक कानून हैं। आपने सामाजिक एकता को मापने के लिए प्रत्यक्ष प्रतीक के रूप मे वैधानिक कानून का चयन किया है। वैधानिक कानून सम्बन्धित समाज के सदस्यो के पारस्परिक सम्बन्धो को व्यक्त करते हैं। दुर्खीम ने स्पष्टीकरण दिया है कि सदस्यो में जितने अधिक घनिष्ठ सम्बन्ध होगे उनके समूह मे उतनी ही अधिक एकता होगी। आपने ये भी लिखा है कि कानूनी-व्यवस्था का रूप सामाजिक एकता को व्यक्त करता है। कानून बाहरी लक्षण है जिसको मापा जा सकता है। आपके अनुसार कानून और सामाजिक एकता सीधे सम्बन्धित हैं। किसी समाज मे जिस प्रकार की सामाजिक एकता होगी उसी प्रकार की उस समाज मे कानून व्यवस्था भी होगी। दुर्खीम ने कानून का वर्गीकरण किया है। साथ-साथ सामाजिक एकता का भी वर्गीकरण किया है। इनमे परस्पर सह-सम्बन्ध का अध्ययन करके स्पष्ट किया है कि जितने प्रकार की कानून व्यवस्था होती है उतने ही सामाजिक एकता के प्रकार भी होते हैं। समाज के कानून की माप ही समाज की एकता की माप है।

दुर्खीम ने कानून के प्रमुख दो प्रकार—(1) दमनकारी कानून तथा (2) प्रतिकारी कानून बताए है। कानून के प्रकारो से सम्बन्धित क्रमशः एकता के भी दो प्रकार बताए हैं—(1) यांत्रिक एकता और (2) सावयवी एकता। ये परस्पर सम्बन्धित हैं। इन्हे अग्र चित्र द्वारा प्रदर्शित किया जा सकता है।



1. दमनकारी कानून एवं यांत्रिक एकता (Repressive Law and Mechanical Solidarity)—दुर्खीम ने लिखा है कि जिस समाज मे दमनकारी कानून होते हैं वहाँ पर सामाजिक एकता का प्रकार यांत्रिक होता है। इनमे आपने निम्न परस्पर सम्बन्ध बताया है। आपका कहना है कि दमनकारी कानून वे सार्वजनिक कानून होते हैं जो व्यक्ति एव समाज के पारस्परिक सम्बन्धो को व्यवस्थित रखते हैं। इस कानून व्यवस्था मे समाज तथा समूह के हितो का विशेष ध्यान रखा जाता है। दुर्खीम ने दमनकारी कानून के दो प्रकार बताए हैं। (i) दण्डकारी कानून (Penal law) का कार्य समाज मे कष्ट देने, नुकसान या हानि पहुँचाने, हत्या करने तथा स्वतन्त्रता आदि का हनन करना है। ये कानून यांत्रिक एकता वाले समाजो मे पाये जाते हैं। (ii) व्याप्त कानून (Diffused law) नैतिकता के आधार पर सम्पूर्ण समाज मे व्याप्त होते हैं।

दुर्खीम ने कहा है कि समाज में जैसी कानून व्यवस्था होती है उसी के अनुसार समाज मे सामाजिक एकता का प्रकार भी होता है। इसी नियम के अनुसार आपने बताया कि जिस समाज मे दमनकारी कानून व्यवस्था होती है उन समाजो मे सामाजिक एकता का प्रकार यांत्रिक एकता का होता है। दमनकारी कानून व्यवस्था वाले समाजो की जीवन-शैली विचारो, विश्वासो आदि मे समानता मिलती है। ऐसे समाजो में सामुदायिक सम्पत्ति, परम्परा का प्रभुत्व तथा जनमत मे एकरूपता आदि मिलती है। ये सभी लक्षण दमनकारी कानून तथा यान्त्रिक एकता को प्रकट करते हैं।

2. प्रतिकारी कानून एवं सावयवी एकता (Restitutive Law and Organic Solidarity)—दुर्खीम ने कानून का दूसरा प्रकार प्रतिकारी कानून बताया है। प्रतिकारी कानून वह कानून है जो समाज के सदस्यो के सम्बन्धो मे उत्पन्न असन्तुलन को सामान्य स्थिति प्रदान करता है। यह सामूहिक हित की रक्षा करने के लिए नहीं होता हैं बल्कि यह स्थिति को सामान्य रखने का प्रयास करता है। इस प्रतिकारी कानून के कई उप-प्रकार हैं, जैसे—दीवानी कानून, व्यावसायिक कानून, संवैधानिक कानून, प्रशासनिक कानून आदि। प्रतिकारी कानून जिस समाज मे होता है उन समाजो मे सावयवी एकता होती है। प्रतिकारी कानून श्रम-विभाजन और विभिन्नताओ से सम्बन्धित होता है। इस प्रकार श्रम-विभाजन सावयवी एकता का स्रोत है। दुर्खीम ने दोनो प्रकार के कानूनो के साथ-साथ यान्त्रिक एकता एवं सावयवी एकता की विवेचना की [redacted] जो अग्रलिखित है।

यांत्रिक-एकता
(Mechanical Solidarity)

दुर्खीम ने प्रथम प्रकार की एकता को **'यांत्रिक एकता'** कहा है जो प्राचीन, सरल, सादे, छोटे, अविकसित, आदिम और पिछड़े समाजो में पाई जाती है। इन समाजों के सदस्यों मे सभी क्षेत्रो में समानताएँ पाई जाती हैं जो सामाजिक एकता का आधार होती हैं। ये समाज मे छोटे होते हैं। अर्थात् इनकी जनसख्या एव जनसंख्या का घनत्व बहुत कम होता। ये छोटे-से भौगोलिक क्षेत्र में बसे होते हैं। इनकी आवश्यकताएँ बहुत सीमित होती हैं तथा एक जैसी होती हैं। व्यक्ति का व्यक्तित्व स्वतन्त्र नहीं होता है। वह समूह के व्यक्तित्व मे घुल-मिल जाते हैं। इनमे एकता का कारण सभी क्षेत्रो में एकरूपता का होना है। इसलिए दुर्खीम ने एकरूपता पर आधारित एकता को यांत्रिक एकता बताया है। इन समाजो में श्रम के विभाजन के अभाव अथवा न्यूनतम या अल्प होने के कारण विभिन्न क्षेत्रो मे एकरूपता होती है।

यांत्रिक एकता की विशेषताएँ (Characteristics of Mechanical Solidarity)—दुर्खीम ने श्रम के विभाजन के अभाव अथवा अल्पता के कारण इन आदिम समाजो की यान्त्रिक एकता की जो विशेषताएँ बताई हैं उन्हे निम्नांकित शीर्षकों के अन्तर्गत क्रमबद्ध तथा व्यवस्थित रूप में देखा जा सकता है।

1. मानव व्यवहार और मनोविज्ञान (Human Behaviour and Psychology)—यान्त्रिक एकता वाले आदिम समाजो के व्यक्तियो की मानसिक, नैतिक और सामाजिक घटनाओं के क्षेत्रो में एकरूपता व्याप्त होती है। उनके विश्वास, धारणाएँ, मत, तरीके, व्यवहार आदि-आदि सब कुछ एक जैसे होते हैं। दुर्खीम ने लिखा है कि इन यान्त्रिक

एकता वाले समाजो के व्यक्तियो में भिन्नता केवल आनुवांशिकता के कारण होती है। इन आदिम समाजो मे परम्परा का प्रभुत्व होता है। वैयक्तिकता और व्यक्तिवाद का पूर्णतः अभाव पाया जाता है।

2. कानून, नैतिकता और सामाजिक नियन्त्रण (Law, Morality and Social Control)—दुर्खीम का मत है कि यांत्रिक एकता का आधार सामाजिक अन्तर्विवेक और सामाजिक चेतना की एकरूपता होती है। यह शक्तिशाली, सर्वसम्मत तथा अव्यक्तिवादी होती है। सामाजिक नियन्त्रण का उद्देश्य समूह के नैतिक मूल्यों तथा नैतिक अन्तर्विवेक को पुनः स्थापित करना होता है। न्याय का उद्देश्य भी यही होता है तथा वह अपराधी द्वारा क्षतिग्रस्त की क्षति पूर्ति नहीं करवाता है।

3. एकात्मता और सामाजिक बन्धन (Solidarity and Social Ties)—इन समाजो मे जनसख्या के अल्प होने तथा श्रम-विभाजन की अल्पता के फलस्वरूप इनमे यांत्रिक एकता मिलती है। यह व्यक्तियो की सादृश्यता या सजातीयता पर आधारित होती है। बन्धन जो इनको एक सुदृढ़ एकता मे बाँधते हैं, वे सशक्त जनमत की सर्व-सम्मति होती है। यह भी व्यक्तियो की मानसिक और नैतिक एकरूपता पर आधारित होती है।

4. राजनैतिक शासन-प्रणाली (Political Regime)—इन समाजों मे सभी महत्वपूर्ण न्याय के कार्य तथा सामाजिक मामले सारा समाज मिलकर निपटाता है। शासन करना, नियम बनाना आदि कार्य सम्पूर्ण समूह अपने सदस्यों की सार्वजनिक सभा में मिलकर करते हैं। यह पचायत के रूप में सगठित होते हैं। समाज का कोई भी मामला व्यक्तिगत नहीं होता है। उसकी चर्चा तथा मामले का निर्णय सामूहिक रूप से तय किया जाता है।

5. आर्थिक संगठन (Economic Organisation)—इनकी आर्थिक सभरणात्मक होती है। व्यक्ति मुश्किल से ही अपनी आवश्यक आवश्यकताएँ—भोजन, वस्त्र और आवास की पूर्ति कर पाता है। सम्पत्ति सामूहिक होती है। विशेषीकरण का अभाव होता है। उत्पादन मे श्रम के विभाजन का अभाव होता है। सभी परिवार अपनी आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए सभी कार्य करते हैं। वर्ग नहीं होते हैं। सभी समान होते हैं। मालिक-मजदूर के सम्बन्ध नहीं मिलते हैं। सम्पत्ति सामुदायिक होती है।

6. धर्म एवं विचारधारा (Religion and Ideology)—दुर्खीम ने निष्कर्ष प्रस्तुत किया कि इन आदिम समाजों में यांत्रिक एकता का मुख्य कारण धर्म एव इनकी विचारधारा है। इन समाजो के लोग अवैयक्तिक टोटेम शक्तियों मे विश्वास करते हैं। ये सामूहिक होती है। टोटेम व्यक्तित्व और वैयक्तिकता से स्वतन्त्र होती है। इनमे स्थानीय एव जनजातीय भक्तिवाद मिलता है। सदस्यों मे वैयक्तिकता का अभाव होता है। इसे पवित्र शक्ति मे विश्वास तथा अभिव्यक्ति में देखा जा सकता है।

दुर्खीम के अनुसार यांत्रिक एकता और दमनकारी कानून मे परस्पर सम्बन्ध है। आपने इनके परस्पर सम्बन्धो की व्याख्या की है जिसमे 'अपराध', 'दण्ड', और 'सामूहिक-चेतना' पर अलग से प्रकाश डाला है। आदिम समाजो मे दमनकारी कानून का प्रभुत्व होता है

और उनमे यात्रिक एकता होती है। इसी सन्दर्भ मे दुर्खीम ने अपराध तथा दण्ड की निम्न व्याख्या प्रस्तुत की है—

1. अपराध (Crime)—दुर्खीम ने अपराध की व्याख्या करते हुए लिखा है कि सभी समाजो में अपराध के लिए दण्ड दिया जाता है। अपराध को सामूहिक चेतना का उल्लघन माना जाता है। इसे सामाजिक नैतिकता के विरुद्ध आचरण माना जाता है। यात्रिक एकता वाले समाजो मे अपराध का निर्धारण दमनकारी कानून व्यवस्था के द्वारा किया जाता है। इन कानूनो के पीछे समूह की मान्यता होती है। दुर्खीम ने इन समाजो मे अपराध किसे कहते है? यह समझाया है। आपका कहना है कि ये लोग अपराध उन कार्यों को मानते हैं जिसे समूह के सदस्य अनुचित समझते हैं तथा वे कार्य जो सामूहिक भावना को चोट पहुँचाते हैं। आपने निम्न शब्दो मे अपराध की परिभाषा दी है—

"एक क्रिया अपराध है, जब वह सामान्य अन्तर्विवेक की शक्तिशाली और निश्चित अवस्थाओ पर आघात करती है।"

दुर्खीम के अनुसार सामूहिक चेतना, सामूहिक भावना, सामूहिक अन्तर्विवेक आदि के विरुद्ध कोई भी असामाजिक क्रिया अथवा कृत्य अपराध है।

2. दण्ड (Punishment)—जब कोई व्यक्ति समाज-विरोधी कार्य करता है तो समाज उसे दण्ड देता है। दुर्खीम का मत है कि दण्ड का उद्देश्य प्रतिशोध लेना है। अपराध को यो भी परिभाषित किया जा सकता है कि जिस कार्य के लिए समाज दण्ड देता है वहीं कार्य अपराध कहलाता है। जब व्यक्ति समाज के मूल्यो या समाजसम्मत नियमो अथवा अपेक्षित व्यवहार का उल्लघन करता है तो वह दण्डनीय कार्य है जिसकी समाज कभी भी स्वीकृति नहीं देता है बल्कि प्रतिशोध लेता है, जो दण्ड का रूप ले लेता है। आदिम समाजों मे दण्ड का उद्देश्य समाज के मूल्यो को पुनः स्थापित करना तथा अपराधी को कुचलना है। अपराध तथा अपराधी दोनो का दमन करना है।

दुर्खीम ने अपराध के विघटनकारी कार्यों के अतिरिक्त उसके अप्रत्यक्ष सगठनात्मक कर्मो पर भी प्रकाश डाला है। आपका कहना है कि अपराध की उपयोगिता यह है कि इसके विरुद्ध समूह के लोग सगठित होकर इसका विरोध करते हैं। लोगो मे मानसिक एकता शक्तिशाली हो जाती है। दुर्खीम ने लिखा है, **"अपराध उत्तेजित अन्तर्विवेक को एक-दूसरे के निकट ला देता है और उन्हे एकाग्र कर देता है।"** दण्ड सामूहिक अन्तर्विवेक को पुष्ट करता है। दण्ड के द्वारा सामूहिक चेतना तथा सामाजिक व्यवस्था पुनः स्थापित होती है। उसे बल मिलता है। दूसरो को कानून के विरुद्ध कार्य करने की हिम्मत नहीं होती है। दुर्खीम ने *यात्रिक एकता तथा दमनकारी कानून के घनिष्ठ सम्बन्धो* को निम्न शब्दो मे व्यक्त किया है, **"एक ऐसी सामाजिक एकता का अस्तित्व है जो अन्तर्विवेक की उन निश्चित अवस्थाओं में से उत्पन्न होती है जो किसी समाज के सदस्यों के लिए सामान्य है। इसी को वास्तव में दमनकारी कानून व्यक्त करता है, कम-से-कम उस सीमा तक जहाँ तक कि यह अनिवार्य है।"**

इसी को दुर्खीम यांत्रिक एकता कहते हैं जो दमनकारी कानून से सम्बन्धित हैं। आपने दमनकारी कानून के बिल्कुल विपरीत प्रतिकारी कानून बताया है तथा यांत्रिक एकता से बिल्कुल भिन्न सावयवी एकता को प्रतिपादित किया है जिसकी विवेचना प्रस्तुत है।

सावयवी एकता
(Organic Solidarity)

दुर्खीम ने द्वितीय प्रकार की एकता को 'सावयवी एकता' कहा है जो यांत्रिक एकता से बिल्कुल विपरीत होती है। यह सावयवी एकता जटिल, विकसित, आधुनिक और प्रौद्योगिक समाजो मे विद्यमान होती है, जैसे—नगर, महानगर, औद्योगिक केन्द्र आदि। इन समाजो के सदस्यो मे सभी क्षेत्रो में विभिन्नताएँ पाई जाती हैं तथा प्रतिकारी कानून व्यवस्था मिलती है। इन समाजो मे भिन्नता का कारण श्रम-विभाजन और विशेषीकरण का होना है। ये सावयवी एकता वाले समाज आकार मे बडे होते है। इनकी जनसख्या तथा जनसख्या का घनत्व यांत्रिक एकता वाले समाजो की तुलना मे बहुत अधिक होता है। ये बडे भौगोलिक क्षेत्र मे बसे होते हैं। इन समाजो के सदस्यो की आवश्यकताएँ बहुत अधिक होती हैं तथा भिन्न-भिन्न होती हैं। सभी अपनी आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए एक-दूसरे पर निर्भर होते हैं। व्यक्तियो का स्वतन्त्र व्यक्तित्व होता है। इससे सामूहिक भावना, सामूहिक चेतना आदि का प्रभाव कम हो जाता है। विभिन्न व्यक्ति एक-दूसरे से अप्रत्यक्ष रूप से परस्पर निर्भर और सम्बन्धित होते हैं।

दुर्खीम का मत है कि यांत्रिक एकता से सावयवी एकता का विकास निम्न क्रम मे होता है। जब जनसख्या बढती है तो समाज के सदस्यो मे श्रम विभाजन होता है। श्रम-विभाजन सदस्यो के अस्तित्व को बनाए रखने के लिए आवश्यक हो जाता है। श्रम-विभाजन के फलस्वरूप भिन्न भिन्न व्यक्ति भिन्न-भिन्न कार्य करते हैं। जो जिस कार्य को बार-बार करता है तो वह उस कार्य को करने मे दक्ष हो जाता है। समाज मे विशेषीकरण का विकास होता है। व्यक्ति समाज के सदस्यों की किसी एक आवश्यकता की पूर्ति के लिए कार्य करता है तथा अपनी अन्य सभी आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए समाज के दूसरे सदस्यो पर निर्भर रहता है। इससे सभी सदस्यो की एक-दूसरे पर निर्भरता बढ जाती है। दुर्खीम ने लिखा है कि यही निर्भरता सदस्यों को परस्पर एक-दूसरे से सहयोग करने के लिए बाध्य करती है। यह सहयोग ही जटिल समाजो मे सावयवी एकता पैदा करता है। इसे निम्न उदाहरण द्वारा भी समझाया जा सकता है। यह विशिष्ट प्रकार की सावयवी एकता जटिल जीव-प्राणियो के शरीर के विभिन्न अगो मे मिलती है। जीवो के बने रहने तथा जीवित रहने के लिए विभिन्न अगो मे श्रम-विभाजन, विशेषीकरण, निर्भरता तथा सहयोग मिलता है। शरीर के विभिन्न अग—आँख, नाक, मुँह, पेट, सिर, फेफड़े दिल तथा पैर आदि शरीर के लिए विशिष्ट कार्य करते हैं। सम्पूर्ण शरीर इन विभिन्न अगो पर निर्भर करता है तथा प्रत्येक अग सम्पूर्ण शरीर पर तथा परस्पर एक दूसरे पर आश्रित रहता है। यह सावयवी एकता कहलाती है। दुर्खीम उन **समाजों की एकता को सावयवी एकता कहते हैं, जिनमें श्रम-विभाजन, विशेषीकरण, निर्भरता तथा सहयोग के गुण मिलते है।** आपने समाज की सावयवी एकता को स्पष्ट करने के लिए उसकी विशेषताओ का वर्णन किया है, जो अग्रलिखित हैं—

1. मानव व्यवहार और मनोविज्ञान (Human Behaviour and Psychology)—सावयवी एकता वाले जटिल समाजो में व्यक्तियो की मानसिक, नैतिक और सामाजिक एकरूपता का लोप हो जाता है। समाज के सदस्यो को वैयक्तिकता और विशिष्टता मे वृद्धि हो जाती है। उनके विश्वास, धारणाएँ, मत, तरीके, पसन्द, नैतिकता मे कम-से-कम समानता पाई जाती है। दुर्खीम के अनुसार इस वैयक्तिकता का कारण श्रम-विभाजन है। विशेषीकरण के कारण परम्पराओं मे कमी आ जाती है। व्यक्तियो की भूमिका तथा प्रस्थिति के निर्धारण मे आनुवांशिकता का महत्त्व बहुत कम हो जाता है। समाज में प्रस्थिति प्रदत्त से अर्जित मे परिवर्तित हो जाती है। व्यवसाय और सामाजिक स्थिति पिता से पुत्र को हस्तान्तरित करने तथा जाति के प्रतिबन्धो मे परिवर्तन हो जाता है। परम्परागत बन्धन टूट जाते हैं। उनको तोड़ने मे श्रम-विभाजन सहायक सिद्ध होता है।

2. कानून, नैतिकता और सामाजिक नियन्त्रण (Law, Morality and Social Control)—दुर्खीम का मत है कि श्रम-विभाजन के प्रभाव से सार्वजनिक तथा सामान्य सामाजिक चेतना तथा सामाजिक अन्तर्विवेक की एकरूपता में कमी आ जाती है। अपराधी क्रियाओ को अब समाज-विरोधी नहीं माना जाकर केवल व्यक्ति की हानि समझा जाने लगता है। समाज के सदस्यो मे धार्मिक लक्षणो, विचारो, विश्वासो मे कमी आने लग जाती है। कानून मे दमनात्मक लक्षणो मे दिन-प्रतिदिन कमी आती है। अब सम्पूर्ण समूह के नैतिक अन्तर्विवेक तथा चेतनता को दण्ड के द्वारा पुनः स्थापित करने पर जोर नहीं दिया जाता है। इसके परिणामस्वरूप दमनात्मक दण्ड मे कमी आ जाती है। अब अपराधी केवल हानि पहुँचने वाले व्यक्ति की हानि की पूर्ति करता है। सामाजिक नियन्त्रण, सामूहिक उत्तरदायित्व के दृष्टिकोण शिथिल हो जाते हैं। इनकी कठोरता मे कमी आ जाती है। परिवर्तन के फलस्वरूप केवल कुछ सार्वजनिक क्षेत्रो के व्यवहार ही निश्चित रह पाते हैं। अन्य क्षेत्रो में, विशेष रूप से निजी क्षेत्रो मे, प्रत्येक सदस्य को इच्छानुसार व्यवहार करने की स्वतन्त्रता होती है। वैयक्तिक स्वतन्त्रता मे अपार वृद्धि हो जाती है। इसके परिणामस्वरूप समझौते के कानून मे भी वृद्धि हो जाती है। विभिन्न व्यक्ति परस्पर सम्बन्धो को स्वतन्त्र सविदा या समझौते के अनुसार स्थापित करते हैं।

3 एकात्मकता और सामाजिक बन्धन (Solidarity and Social Ties)—दुर्खीम लिखते हैं कि सावयवी एकता वाले समाज मे व्यक्तियों में एकरूपता तथा सजातीयता विद्यमान नहीं होती है। इसलिए एकरूपता पर आधारित सामाजिक एकता तथा सामाजिक बन्धन भी शिथिल हो जाते हैं। सामाजिक बन्धन की भूमिका एकरूपता नहीं निभाती है। आप लिखते हैं कि अगर समाज मे इन बन्धनो को निभाने की भूमिका को दूसरा नहीं लेता है तो, समाज मे अव्यवस्था फैल सकती है। समूह की एकता नष्ट हो जाती है। दुर्खीम के अनुसार श्रम-विभाजन ही वह नया बन्धन है, जो व्यक्तियो मे एकता बनाये रखने की भूमिका निभाता है। अब समूह की सुदृढ एकता का आधार व्यक्तियो की पारस्परिक निर्भरता है। यह श्रम के विभाजन का परिणाम ही है जिसके कारण विशेषीकरण मे वृद्धि होती है। प्रत्येक को एक-दूसरे की आवश्यकता होती है। क्योकि प्रत्येक व्यक्ति केवल एक विशिष्ट कार्य ही सम्पन्न करता है। कार्य सभी के सहयोग से सम्पन्न होते है। इसलिए सभी

परस्पर सहयोग करते है। दुर्खीम का मत है कि इस प्रकार से श्रम-विभाजन के परिणामस्वरूप यांत्रिक एकता का रूपान्तरण सावयवी एकता मे हो जाता है।

4. राजनैतिक शासन-प्रणाली (Political Regime)—सावयवी एकता वाले समाजो की एक विशेषता यह भी है कि इनमें राजनैतिक कार्यो का विशेषीकरण हो जाता है। न्यायपालिका, कार्यपालिका तथा व्यवस्थापिका के द्वारा विभिन्न राजनैतिक कार्यों को सम्पन्न किया जाता है। अब राजनैतिक पद पिता से पुत्र को वशानुगत के रूप मे हस्तान्तरित नहीं होते है। वशानुगत राजनैतिक पदो की प्रवृत्ति मे कमी आ जाती है। सरकार तथा नागरिको के पारस्परिक सम्बन्ध समझौतो के अनुसार निर्धारित होते हैं। साराशत: कहा जा सकता है कि अब सार्वजनिक सभा मे समूह के सभी सदस्य राजनैतिक कार्यों को मिलकर नहीं करते हैं। सम्पूर्ण राजनैतिक व्यवस्था औपचारिक स्वरूप मे विकसित हो जाती है जो सावयवी एकता वाले समाज की विशिष्टता है।

5. आर्थिक संगठन (Economic Organisation)—सावयवी एकता की विशेषता सम्भरणात्मक आर्थिकी से आर्थिकी अधिशेष मे परिवर्तन होना भी है। इसे बचत की आर्थिकी भी कहते हैं। परम्परागत व्यवसायो के महत्त्व मे कमी आ जाती है। व्यक्तिगत सम्पत्ति का महत्त्व बढ जाता है। आर्थिक व्यक्तिवाद मे वृद्धि हो जाती है। 'बन्द-अर्थ-व्यवस्था' के स्थान पर 'खुली अर्थ-व्यवस्था' का विकास हो जाता है जिसमे प्रत्येक व्यक्ति अपनी इच्छानुसार योग्यता, कार्य-कुशलता, ईमानदारी के आधार पर कोई भी व्यवसाय कर सकता है। दुर्खीम ने लिखा है कि श्रम-विभाजन के कारण वंशानुगत सामाजिक प्रस्थिति तथा वशानुगत विशिष्ट क्षमताओं का ह्रास हो जाता है।

6. धर्म एवं विचारधारा (Religion and Ideology)—श्रम-विभाजन का प्रभाव धर्म तथा विचारधारा की अनेक विशेषताओ पर पडता है। इनमें अनेक परिवर्तन दृष्टिगोचर होते हैं। बहु-ईश्वरवाद तथा एक-ईश्वरवाद का सक्रमण हो जाता है। इन महानगरीय तथा जटिल समाजो मे ईश्वर का वैयक्तिकीकरण तथा निर्जीकरण हो जाता है। धर्म का क्षेत्र भी लघु से वृहद् हो जाता है तथा धर्म का सार्वभौमिकरण हो जाता है। जनजातीय समाजो मे विद्यमान स्थानीय तथा जनजातीय भक्तिवाद का ह्रास हो जाता है। समाज के स्थानीय धार्मिक विश्वासो का स्थान विश्ववाद तथा अन्तर्राष्ट्रीयवाद ले लेता है। इस प्रकार विचारधारा मे विश्व के स्तर की भावनाओं का विकास हो जाता है।

यांत्रिक एकता एवं सावयवी एकता में अन्तर
(Difference between Mechanical Solidarity and Organic Solidarity)

इमाइल दुर्खीम ने लिखा है कि जिन समाजों मे श्रम के विभाजन का अभाव अथवा अल्पता होती है, उन समाजों मे यांत्रिक एकता होती है। श्रम-विभाजन की इस कमी के प्रभाव उन समाजो के विभिन्न क्षेत्रो पर पडते हैं। इसी प्रकार आपका कहना है कि समय के साथ-साथ श्रम का विभाजन बढता है, इसमे वृद्धि होती है। आप आगे लिखते हैं कि यह एक ऐतिहासिक प्रवृत्ति और प्रक्रिया है। जब श्रम का विभाजन अधिक हो जाता है तब सावयवी एकता का विकास हो जाता है। श्रम-विभाजन के प्रभाव समाज के विभिन्न क्षेत्रों पर

पड़ते हैं। दुर्खीम का मानना है कि सामाजिक जीवन का आधार सामाजिक एकता है। यह एक नैतिक तथा परिवर्तनशील सामाजिक तथ्य है। यह दो प्रकार की होती है, जिसकी विस्तार से विवेचना उपर्युक्त पृष्ठो मे की जा चुकी है। दुर्खीम के अनुसार यांत्रिक एकता तथा सावयवी एकता मे सामाजिक घटनाओ और क्षेत्रो मे अग्रलिखित अन्तर मिलते हैं, जो सलग्न चार्ट द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है—

अन्तर के आधार (Basis of Difference)	यांत्रिक एकता (श्रम-विभाजन का अभाव या अल्पता)	सावयवी एकता (श्रम-विभाजन की अधिकता)
1. मानव व्यवहार और मनोविज्ञान (Human Behaviours and Psychology)	व्यक्तियो की मानसिक, नैतिक और सामाजिक एकरूपता। उनके विश्वास, धारणाएँ, मत, तरीके, व्यवहार आदि-आदि एक जैसे होते हैं। भिन्नता केवल आनुवंशिकता के कारण होती है। परम्परा का प्रभुत्व, वैयक्तिकता और व्यक्तिवाद का अभाव।	व्यक्तियों की मानसिक, नैतिक और सामाजिक एकरूपता का लोप। उनकी वैयक्तिकता और विशिष्टता मे वृद्धि। उनकी पसन्द, विश्वास, मत, नैतिकता में कम-से-कम समानता। श्रम का विशेषी-करण वैयक्तिकता का कारण। विशेषीकरण से परम्पराओ मे कमी। आनुवंशिकता भूमिका के निर्धारण मे कम-से-कम महत्त्वपूर्ण। यह व्यवसाय और सामाजिक स्थिति को पिता से पुत्र को हस्तान्तरित करने तथा जाति के बन्धनो को तोडने मे सहायक होते हैं।
कानून, नैतिकता और सामाजिक नियन्त्रण (Law, Morality and Social Control)	सामाजिक अन्तर्विवेक और सामाजिक चेतना की एकरूपता का आधार है जो शक्तिशाली, सर्वसम्मत तथा अव्यक्तिवादी है। अपराध वह क्रिया है जो शक्तिशाली तथा गहरी सामाजिक अन्तर्विवेक के विरुद्ध है तथा इसके लिए कठोर दमन आवश्यक है। फौजदारी कानून-दमन और दण्ड का प्रभुत्व दीवानी कानून पर होता है। न्याय का उद्देश्य समूह के नैतिक अन्तर्विवेक को पुनःस्थापित करना होता है न कि अपराधो द्वारा क्षति-	सार्वजनिक तथा सामान्य सामाजिक चेतना तथा अन्तर्विवेक मे कमी। अपराधो के विरोध मे कमी होना जिससे सामान्य सामाजिक अन्तर्विवेक मे भी कमी। अपराधी क्रियाओ को केवल सदस्यो की हानि समझना। उनमे धार्मिक लक्षणो की गिरावट। इसके फलस्वरूप कानून में दमनात्मक लक्षणो को दिन-प्रतिदिन कमी होना। अब सम्पूर्ण समूह के नैतिक अन्तर्विवेक को दण्ड द्वारा पुनः स्थापित करने की आवश्यकता नहीं होने के कारण दण्ड मे भी कमी। अपराधी केवल क्षतिग्रस्त की हानि की पूर्ति करता है। सामाजिक नियन्त्रण न्यून कठोर तथा अधिक शिथिल। केवल

	ग्रस्त की क्षति-पूर्ति करना।	कुछ सार्वजनिक क्षेत्रों के व्यवहार निश्चित। अन्य क्षेत्रों मे प्रत्येक को इच्छानुसार व्यवहार की स्वतन्त्रता। वैयक्तिक स्वतन्त्रता और संविदा कानून मे वृद्धि तथा सम्बन्धो का आधार पक्षों मे स्वतन्त्र संविदा का होना।
3 एकात्मकता और सामाजिक बन्धन (Solidarity and Social Ties)	"यांत्रिक एकात्मकता" व्यक्तियो की सादृश्यता (सजातीयता) पर आधारित होती है। वे बन्धन जो इनको एक सुदृढ़ एकता मे बाँधते हैं, यही सशक्त जनमत की सर्वसम्मति होती है जो व्यक्तियो की मानसिक और नैतिक एकरूपता पर आधारित होते हैं।	क्योंकि व्यक्तियो मे अब सजातीयता विद्यमान नही होती है इसलिए वह अब सामाजिक बन्धन की भूमिका नहीं निभाती है। अगर समाज मे कोई नया बन्धन नहीं होता तो समूह की एकता भी नष्ट हो जाती। श्रम का विभाजन ही वह नया बन्धन है। अब समूह की सुदृढ़ एकता का आधार विजातीय व्यक्तियो की अनात्म-निर्भरता है, जो श्रम के विभाजन का परिणाम है। प्रत्येक को एक-दूसरे की आवश्यकता है और बिना सहयोग के उनका जीना असम्भव क्योंकि हर कोई काम का केवल एक विशिष्ट कार्य ही करता है। इस प्रकार से यांत्रिक एकता का रूपान्तरण जैविक एकता मे हो जाता है।
4. राजनैतिक शासन-प्रणाली (Political Regime)	सभी महत्त्वपूर्ण सामाजिक मामले एवं न्याय के कार्य, जैसे—नियम बनाना, शासन करना आदि सम्पूर्ण समूह द्वारा अपने सदस्यों को सार्वजनिक सभा मे किये जाते हैं।	राजनैतिक कार्यों का विशेषीकरण, वंशानुगत राजनैतिक पदो की प्रवृत्ति मे कमी। सरकार तथा नागरिकों के समझौतों के सम्बन्ध।
5. आर्थिक संगठन (Economic Organisation)	सामुदायिक सम्पत्ति।	व्यक्तिगत सम्पत्ति, आर्थिक व्यक्तिवाद, संविदागत सहयोग, "खुली अर्थव्यवस्था" प्रणाली जिसमे प्रत्येक कोई भी व्यवसाय कर सकता है। श्रम के विभाजन के कारण वंशानुगत सामाजिक प्रस्थिति तथा वंशानुगत विशिष्ट क्षमताओं का ह्रास।

6. धर्म एवं विचार-धारा (Religion and Ideology)	अवैयक्तिक टोटेम शक्तियो मे विश्वास जो व्यक्तित्व या वैयक्तिकता से स्वतन्त्र होती हैं। सदस्यो में वैयक्तिकता का अभाव होता है जो पवित्र शक्ति मे वैयक्तिकता के अभाव के द्वारा अभिव्यक्त होता है। स्थानीय एवं जनजातीय भक्तिवाद।	बहु-ईश्वरवाद तथा एक ईश्वर-वाद का सक्रमण। ईश्वर का वैयक्ति-कोकरण तथा निजोकरण के साथ-साथ धर्म का सार्वभौमिकीकरण। स्थानीय एवं जनजातीय भक्तिवाद का ह्रास और विश्ववाद या अन्तर्राष्ट्रीयवाद मे वृद्धि।

स्रोत : पिटिरिम सोरोकिन : कॉनटेम्पोरेरी सोशियोलॉजिकल थ्योरिज, पृ 468-470

पूर्वोक्त तालिका मे वर्णित अन्तरो को निम्नलिखित रूप मे प्रस्तुत किया जा सकता है—

1. श्रम-विभाजन (Division of Labour)—यान्त्रिक एकता वाले समाज में श्रम-विभाजन का अभाव होता है अथवा यह अल्प मात्रा मे होता है, जबकि सावयवी एकता मे समय के साथ-साथ श्रम का विभाजन बढ़ता जाता है। यह एक ऐतिहासिक प्रवृत्ति और प्रक्रिया है, जिसके परिणामस्वरूप अन्य सभी क्षेत्रो मे विकास और प्रभावो मे वृद्धि होती है।

2. विशेषीकरण (Specialization)—यान्त्रिक एकता वाले समाज मे विशेषीकरण का अभाव अथवा अल्पता होती है। सावयवी एकता मे विशेषीकरण अधिक होता है जो श्रम-विभाजन के कारण विकसित होता है।

3. निर्भरता (Interdependence)—यान्त्रिक एकता वाले समाज मे व्यक्ति अपनी आवश्यकताओ के सम्बन्ध में आत्म-निर्भर होते हैं, सावयवी एकता समाज में आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए एक-दूसरे पर निर्भर होते हैं।

4. एकता का आधार (Basis of Solidarity)—यान्त्रिक वाले समाज एकता का आधार समाज के सदस्यो की सभी क्षेत्रो मे समरूपता या एकरूपता है, जबकि सावयवी एकता का आधार विशेषीकरण और निर्भरता पर आधारित सहयोग जिसके द्वारा अपनी आवश्यकताओ की पूर्ति कर पाते हैं। यान्त्रिक एकता का आधार समानता है तथा सावयवी एकता का आधार विशिष्ठता तथा भिन्नता है।

5. कानून (Law)—यान्त्रिक एकता में दमनकारी कानून का प्रभुत्व होता है तथा सावयवी एकता समाज मे प्रतिकारी कानून का। दमनकारी कानून सामूहिक चेतना को पुनः स्थापित करता है। प्रतिकारी कानून क्षतिग्रस्त की हानि को पूर्ण करवाता है।

6. व्यक्ति के समाज से सम्बन्ध (Relation of Man with Society)—यान्त्रिक एकता वाले समाज मे व्यक्ति का समाज से सीधा सम्बन्ध होता है तथा समाज के उद्देश्यो, मूल्यो, चेतना, प्रतिनिधान, विचारधारा से भी व्यक्ति का सीधा व प्रत्यक्ष सम्बन्ध होता है। व्यक्ति अपनी क्रियाओ मे समाज का प्रत्यक्ष ध्यान रखता है। सावयवी एकता मे व्यक्ति और समाज मे परस्पर सम्बन्ध प्रत्यक्ष न होकर अप्रत्यक्ष होता है। विशेषीकरण के परिणामस्वरूप विभिन्न व्यक्ति एक-दूसरे पर निर्भर होते हैं।

7. व्यक्ति का विकास (Development of the Individual)—यांत्रिक एकता वाले समाज मे व्यक्ति का अस्तित्व महत्त्वपूर्ण नहीं होता है। व्यक्ति के विकास मे यह एकता बाधक होती है। परम्पराएँ, रूढियाँ, सामान्य भावनाएँ आदि व्यक्ति पर पूर्ण नियन्त्रण रखती हैं। व्यक्ति अपना जीवन समाज के लिए जीता है। सावयवी एकता वाले समाज मे व्यक्ति पूर्ण स्वतन्त्र होता है। वह जैसे चाहे वैसे विकास कर सकता है। व्यक्तित्व के गुणों को महत्त्व दिया जाता है।

■ **सादृश्यता (Analogy)**—दुर्खीम ने यात्रिक एकता को असावयवी या वस्तु तथा सावयवी एकता को जीवो के समान माना है। आपका कहना है कि जिस प्रकार से असावयवी और अचेतन वस्तुओ की सरचना तथा सगठन का निर्माण विभिन्न लेकिन एक-से तत्त्वों के परस्पर एक-दूसरे मे घुल-मिल जाने पर होता है। इन निर्जीव तत्त्वों का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं होता है। श्रम-विभाजन नहीं होता है। उनमे क्रिया साथ-साथ होती है। उसी के सादृश्य पर यात्रिक एकता वाले सामाजिक सगठन मे सभी सदस्य घुले-मिले होते हैं। उनका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं होता है। ये सब एक से होते हैं। उनमे श्रम विभाजन तथा विशेषीकरण नहीं होता है।

9. अपराध (Crime)—यात्रिक एव सावयवी एकता मे एक बड़ा अन्तर अपराधो के स्वरूप तथा अपराधो की सख्या मे मिलता है। यात्रिक एकता-अपराधों के प्रकार अधिक होते हैं। व्यक्ति के समाजसम्मत आचरण से मामूली अलगाव भी अपराध माना जाता है। इसमे अपराधो की सख्या अधिक होती है। सावयवी एकता वाले समाज मे छोटी-मोटी भूल पर कोई ध्यान नहीं देता है। धार्मिक अपराध तो लगभग समाप्त हो जाते हैं। परिवार तथा विवाह से सम्बन्धित नियमो का उल्लघन ही अपराध माना जाता है। सावयवी एकता मे अपराधो के प्रकार यात्रिक एकता से बिल्कुल भिन्न होते हैं। यात्रिक एकता मे अपराध समाज विरोधी होते हैं तथा सावयवी एकता मे व्यक्ति-विरोधी।

10. सामाजिक संरचना (Social Structure)—यांत्रिक एकता वाले समाजो की सामाजिक सरचना का आधार नातेदारी—विवाह, रक्त और गोद सम्बन्धो पर आधारित होता है, जैसे—परिवार, सयुक्त-परिवार, वश-समूह, गोत्र-समूह आदि। ये बहिर्विवाही और अन्तर्विवाही समूह होते हैं। आर्थिक दृष्टिकोण से सब समान होते हैं। सावयवी एकता वाले समाजों मे सामाजिक सरचना का आधार नातेदारी पर कम आश्रित होता है तथा द्वैतीयक समूहो पर अधिक आधारित होता है। समाज मे विशेषीकरण के फलस्वरूप सरचना का आधार अर्जित विशेषता पर आधारित होता है। समाज मे वर्ग-व्यवस्था होती है। आर्थिक भिन्नता अधिक मिलती है। यात्रिक एकता वाले समाजो की सामाजिक सरचना समानता पर आधारित होती है तथा सावयवी एकता मे भिन्नता तथा निर्भरता प्रमुख आधार होते हैं।

11. धर्म (Religion)—यात्रिक एकता वाले समाज धर्म प्रधान होते हैं। समाज तथा व्यक्ति को सभी बातो का निर्देशन, सचालन, नियन्त्रण आदि धर्म करता है। धर्म उनकी सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, सास्कृतिक आदि सभी क्रियाओ का निर्धारण करता है। सावयवी एकता वाले समाजो मे धर्म का प्रभाव लगभग बहुत कम हो जाता है। इसका स्थान दूसरी विशिष्ट सस्थाएँ तथा समितियाँ ले लेती हैं।

12. भावना/नियम (Feelings/Law)—यात्रिक एकता वाले समाज मे व्यक्ति की सभी क्रियाओं मे सामूहिक भावनाओं का प्रभुत्व होता है। भावनाओ का प्रभाव इतना

अधिक होता है कि व्यक्ति का व्यक्तिगत-जीवन सामूहिक-जीवन बन जाता है। वह समुदाय के लिए जीता है। सावयवी एकता वाले समाजो मे सामूहिक भावना का स्थान नियम ले लेते हैं। व्यक्ति का जीवन नियमो पर आधारित होता है न कि भावना पर।

13. समाजों के प्रकार (Types of Society)—यांत्रिक एकता वाले समाजो के उदाहरण हैं—कबीले, आदिम समाज, घुमन्तू समाज, गिरिजन समाज, जनजातियाँ, चारागाही समाज, आखेटक एव भोजन एकत्र करने वाले समाज। यात्रिक एकता वाले समाजो के उदाहरण हैं—कस्बाई समाज, नगरीय समाज, महानगरीय समाज, औद्योगिक समाज आदि।

इन उपर्युक्त वर्णित भिन्नताओ के अतिरिक्त और भी अनेक लक्षण तथा आधार हैं जो यात्रिक एकता तथा सावयवी एकता मे भिन्नता स्पष्ट करते हैं, जैसे— शिक्षा-संचार तथा यातायात के साधन, व्यवसाय, आर्थिक उत्पादन, उपभोग, विनिमय, वितरण, सामाजिक प्रस्थिति—प्रदत्त तथा अर्जित, सम्पत्ति, वस्तु विनिमय तथा मुद्रा विनिमय, सस्कृति आदि। यात्रिक एकता वाले समाजो मे अशिक्षा, यातायात तथा सचार के साधनों का अभाव, परम्परागत व्यवसाय, परिवार उत्पादन, उपभोग तथा विनिमय की इकाई, सामूहिक सम्पत्ति की प्रधानता, वस्तु विनिमय का प्रचलन तथा नकद मुद्रा का अभाव आदि विशेषताएँ मिलती हैं। इसके विपरीत सावयवी एकता वाले समाज में साक्षरता, उन्नत यातायात तथा संचार के साधन, अर्जित प्रस्थिति पर आधारित व्यवसाय, व्यक्तिगत सम्पत्ति, परिवार केवल उपभोग की इकाई नकद मुद्रा विनिमय का प्रचलन आदि विशेपताएँ मिलती हैं।

दुर्खीम का उद्‌विकासीय सिद्धान्त
(Durkheim's Evolutionary Theory)

दुर्खीम ने समाज के उद्‌विकास की व्याख्या श्रम-विभाजन और सामाजिक एकता के प्रकारो के आधार पर की है। आपका मत है कि समाज का विकास यात्रिक एकता से सावयवी एकता की ओर क्रम मे होता है। इस विकास का कारण श्रम-विभाजन है। प्रारम्भ में समाज मे श्रम-विभाजन का अभाव होता है। समाज की जनसख्या भी कम होती है। जनसख्या का घनत्व कम होता है। धीरे-धीरे समाज की जनसख्या मे वृद्धि होती है। उसके घनत्व मे भी वृद्धि होती है। समाज के सदस्यो की आवश्यकताएँ भी बढ़ती है। प्रारम्भ में समाज सरल, सादे तथा सीधे होते हैं। उनमे यात्रिक एकता होती है। यात्रिक एकता वाले समाजो की सभी विशेषताओ की प्रधानता होती है, जैसे—दमनकारी कानून का प्रचलन होता है। सामूहिक प्रतिनिधान तथा सामूहिक चेतना का प्रभुत्व होता है। यात्रिक एकता से समाज सावयवी एकता की विशेषताओं वाले समाजो मे परिवर्तन तथा विकास एक ऐतिहासिक तथ्य है। दुर्खीम स्पेन्सर की भाँति यह मानते हैं कि समाज सरलता से जटिलता मे विकसित होता है। समाज के विभिन्न गुणो मे समानता से विभिन्नता में परिवर्तन होता है। आत्मनिर्भरता से पारस्परिक निर्भरता मे परिवर्तन होता है। इस प्रकार समाज यात्रिक एकता से सावयवी एकता श्रम-विभाजन की वृद्धि के फलस्वरूप परिवर्तन होता है। सामाजिक परिवर्तन एक कालक्रमिक प्रक्रिया है। इसमे समय के साथ-साथ श्रम-विभाजन मे वृद्धि होती है। दुर्खीम इसे ऐतिहासिक घटना मानते हैं। श्रम-विभाजन के कारण विशेषीकरण आता है, जो समाज में परिवर्तन लाता है। विशेषीकरण से समाज की विभिन्न इकाइयो मे पारस्परिक निर्भरता बढ़ती है जो समाज को सावयवी एकता वाले समाज में विकसित और परिवर्तित कर देती है।

दुर्खीम के अनुसार श्रम-विभाजन आदि सामाजिक तथ्य हैं। इनका सामाजिक परिवर्तन में प्रभाव पडता है। आपका मत है कि श्रम-विभाजन से मानव के सुख मे वृद्धि होती है। आपके अनुसार सामाजिक परिवर्तन समाज के विभिन्न गुणो, जो यांत्रिक एकता वाले समाज मे पाए जाते है, मे होता है। समाज के यांत्रिक एकता वाले गुणो से सावयवी एकता के गुणों मे परिवर्तन का प्रदर्शन सलग्न चार्ट **'यांत्रिक एकता और सावयवी एकता में अन्तर'** मे किया गया है। यही दुर्खीम का सामाजिक परिवर्तन का उद्‌विकासीय सिद्धान्त है।

श्रम-विभाजन के कारण
(Causes of Division of Labour)

दुर्खीम ने श्रम-विभाजन के कारणो की विवेचना अपनी पुस्तक के द्वितीय खण्ड मे की है। आपने श्रम-विभाजन के दो कारण माने हैं। ये निम्न हैं—

(1) प्राथमिक कारण—1 1 जनसख्या मे वृद्धि, और

(2) द्वितीय कारण—

2 1 सामूहिक चेतना का ह्रास, और

2 2 पैतृकता का घटता प्रभाव।

1.1 जनसंख्या में वृद्धि (Population Growth)—दुर्खीम का मत है कि श्रम-विभाजन का प्राथमिक कारण जनसख्या मे वृद्धि होना है। आपने जनसख्या की वृद्धि दो प्रकारो की बताई हैं—(1) जनसख्या के आकार मे वृद्धि, तथा (2) जनसंख्या के घनत्व मे वृद्धि। आपने अपने निम्न कथन मे स्पष्ट किया है कि जनसंख्या और श्रम-विभाजन किस प्रकार परस्पर सम्बन्धित हैं—

"श्रम-विभाजन समाजों की जटिलता और घनत्व के साथ सीधे अनुपात में विचरण करता है, और यदि सामाजिक विकास के दौरान यह निरन्तर वृद्धि करता है तो इसका कारण यह है कि समाज नियमित रूप से अधिक घने और सामान्यत. अधिक जटिल हो जाते हैं।"

आपने लिखा है कि जनसंख्या के बढने या घटने का समाजो के श्रम-विभाजन के बढने या घटने के साथ सीधा सम्बन्ध होता है। घनत्व बढेगा तो समाजो की जटिलता भी बढेगी। यह बढने की प्रक्रिया समाजो के विकास के साथ-साथ निरन्तर चलती रहती है। आपने यह भी बताया है कि जनसंख्या के आकार तथा घनत्व मे वृद्धि के कारण खण्डात्मक समाज मिश्रित समाज मे बदल जाते हैं। यातायात के साधनो की सुविधा का प्रभाव भी समाज की जटिलता तथा विशेषीकरण पर पडता है। लोगो को आने-जाने की सुविधा मिलने से ये एक स्थान पर केन्द्रित होने लगते हैं। इसी सन्दर्भ मे दुर्खीम ने जनसख्या के घनत्व के दो प्रकार बताए हैं—(1) भौतिक घनत्व तथा (2) नैतिक घनत्व। शारीरिक दृष्टि से लोग एक स्थान पर केन्द्रित होते है उससे जो जनसख्या का घनत्व बढ़ता है उसे आप भौतिक घनत्व कहते हैं। इसको बढाने मे यातायात के साधनो का प्रभाव पडता है। आपका मत है कि नैतिक घनत्व मे समाज के सदस्यो के सम्बन्धो, सामाजिक क्रियाओ और प्रतिक्रियाओ की वृद्धि को देखा जाता है। यह भौतिक घनत्व के बढने से बढता है। जब नैतिक घनत्व बढता है तो समाज की जटिलता भी बढ़ती है। साराशत: यह कहा जा सकता है कि जनसख्या की वृद्धि के दूरगामी प्रभाव पडते हैं जिससे समाज सरल अवस्था तथा यांत्रिक एकता से जटिल अवस्था तथा सावयवी एकता मे परिवर्तित हो जाता है। जनसंख्या के बढने से अस्तित्व के

लिए संघर्ष, श्रम का विभाजन, भौतिक घनत्व तथा नैतिक घनत्व मे वृद्धि आदि तथा समाज की सामाजिक सरचना मे जटिलता में वृद्धि होती है।

द्वैतीयक कारक (Secondary Factors)—ये दो प्रकार के होते हैं। दुर्खीम ने इनकी निम्न व्याख्याएँ की हैं—

2 1. सामूहिक चेतना का ह्रास (Decline in the Collective Consciousness)—दुर्खीम का मत है कि सामूहिक चेतना के कम होने से व्यक्तिगत चेतना मे वृद्धि होती है जो श्रम-विभाजन मे वृद्धि करती है। दुर्खीम के अनुसार सामूहिक चेतना को श्रम-विभाजन का द्वैतीयक कारक बताया गया है जो श्रम-विभाजन पर विपरीत प्रभाव डालता है। सामूहिक चेतना प्रबल होगी तो श्रम-विभाजन मे वृद्धि नहीं होगी। सामूहिक चेतना के घटने और कमजोर पडने पर श्रम-विभाजन मे वृद्धि होती है। इन गुण सम्बन्धों को आपने निम्न शब्दों मे व्यक्त किया है—

"यह देखा जा सकता है कि श्रम-विभाजन की प्रगति उतनी ही अधिक कठिन और धीमी होगी, जितनी सशक्त और निश्चित सामूहिक चेतना होगी। इसके विपरीत, यह उतनी ही तीव्र होगी जितनी व्यक्ति अपने व्यक्तिगत पर्यावरण के साथ सामजस्य करने मे समर्थ है।"

2 2. पैतृकता का घटता प्रभाव (Decreasing Influence of Hereditary)—दुर्खीम ने पैतृकता को दूसरा द्वैतीयक कारक बताया है। आपने कहा कि पैतृकता जब प्रभावशाली होती है तो सामाजिक परिवर्तन की गति कम होती है। आपका पैतृकता से तात्पर्य है कि समाज मे व्यवसाय कार्यों का बँटवारा आदि प्रदत्त होते हैं। व्यक्ति के जन्म के आधार पर निश्चित होते हैं। अर्थात् व्यक्ति वही व्यवसाय करता है जो उसके पिता तथा पूर्वज करते आए हैं। इस प्रकार समाज मे पैतृकता के कठोर होने के कारण व्यवसाय तथा कार्यों का बँटवारा प्रतिबन्धित होता है जो सामाजिक परिवर्तन मे बाधक होता है। इससे श्रम-विभाजन मे वृद्धि नहीं होती है। दुर्खीम ने इन्हीं वास्तविकताओ के आधार पर निम्न निष्कर्ष दिए हैं। आपका मत है कि पैतृकता जितनी अधिक प्रभावशाली होगी समाज मे श्रम-विभाजन मे वृद्धि तथा परिवर्तन उतना ही कम होगा। पैतृकता के घटने तथा कमजोर होने पर परिवर्तन तीव्र होंगे। लोग परम्परागत व्यवसाय त्याग कर अन्य व्यवसाय करेंगे। श्रम-विभाजन मे वृद्धि भी तेजी से होगी। आधुनिकीकरण भी पैतृकता के प्रभाव को घटाता है। निष्कर्षतः दुर्खीम का मत है कि पैतृकता के प्रभाव के बढने से श्रम-विभाजन नही बढता है तथा पैतृकता के घटने से श्रम-विभाजन बढता है। इनमें परस्पर विपरीत सम्बन्ध है। एक के घटने से दूसरा बढता है।

श्रम-विभाजन के परिणाम
(Consequences of Division of Labour)

दुर्खीम ने श्रम-विभाजन के प्रमुख आठ परिणामो का उल्लेख किया है जो निम्न है—

1. प्रकार्यात्मक स्वतन्त्रता एव विशेषीकरण (Functional Freedom and Specialization)—दुर्खीम ने श्रम-विभाजन का एक महत्त्वपूर्ण परिणाम यह बताया है कि इसके द्वारा कार्यों का विभाजन होता है, उससे विशेषीकरण मे वृद्धि होती है। व्यक्ति कार्यों के चुनाव करने के लिए भी स्वतन्त्र होता है। इस पर पैतृकता का बन्धन नहीं रहता है। आपने इस परिणाम के निम्न चार कारण बताए हैं। व्यक्ति विशिष्ट कार्य करता है। अपनी शारीरिक

क्षमता का निशिष्ट कार्य करने के लिए जितना अधिक उपयोग करता है उसकी क्षमता मे उतना अधिक निखार आता है। एक शारीरिक क्षमता तो परिष्कृत हो जाती है तथा शेष शारीरिक क्षमताएँ शिथिल हो जाती हैं। व्यक्ति जब निश्चित कार्य करता है तो उसके प्रकार्य का एक निश्चित रूप बन जाता है। उसकी क्रिया का विशेषीकरण हो जाता है। व्यक्ति कार्य का चुनाव करने तथा त्यागने के लिए स्वतन्त्र होता है। उसे इस नए समाज मे परम्परागत बन्धन से मुक्ति प्राप्त होती है। वह जब चाहे इच्छानुसार व्यवसाय चुने या त्यागे। दुर्खीम के अनुसार प्रकार्य सामाजिक सरचना से स्वतन्त्र होते है। व्यवसायो को चुनने तथा त्यागने की स्वतन्त्रता होती है जिससे गतिशीलता बढ जाती है। श्रम-विभाजन के कारण प्रकार्यों मे विशिष्टता आ जाती है। दुर्खीम ने निष्कर्ष निकाला कि ये सब श्रम-विभाजन के परिणाम समाज की प्रगति के प्रतीक हैं। आप स्पेन्सर की भाँति इस मत के हैं कि प्रकार्यात्मक जटिलता ही प्रगति की आधारशिला है। आपने इसे समाज तथा संस्कृति के विकास से सम्बन्धित पाया है।

2. **सभ्यता का विकास** (Development of Civilization)—दुर्खीम ने श्रम-विभाजन का दूसरा महत्त्वपूर्ण परिणाम सभ्यता का विकास बताया है। आपने लिखा है कि जनसंख्या के आकार और जनसख्या के घनत्व मे वृद्धि से समाज मे श्रम-विभाजन मे वृद्धि होती है जिसका परिणाम सभ्यता का विकास होता है। आपने यह परिणाम निम्न कथन मे स्पष्ट किया है, **"सभ्यता स्वयं उन परिवर्तनों का आवश्यक परिणाम है जो समाजों के आकार तथा घनत्व में उत्पन्न होते है।"** जनसख्या की वृद्धि से व्यक्तियो के पारस्परिक सम्बन्ध जटिल हो जाते हैं। व्यक्ति कठोर परिश्रम करता है। क्षमताओ का अधिकतम उपयोग करता है। इसी के फलस्वरूप सभ्यता और संस्कृति का विकास होता है। दुर्खीम के अनुसार सभ्यता श्रम-विभाजन का लक्ष्य नही है। सभ्यता तो श्रम-विभाजन का एक महत्त्वपूर्ण परिणाम है।

3. **सामाजिक प्रगति** (Social Progress)—परिवर्तन अवश्यम्भावी है। समाज हमेशा गतिशील रहता है। समाज कोई वस्तु नहीं है। यह तो एक प्रक्रिया है जो हमेशा चलती रहती है। दुर्खीम का मत है कि परिवर्तन से ही समाज की प्रगति होती है। आपने श्रम-विभाजन को परिवर्तन का कारण माना है तथा परिवर्तन को प्रगति का कारण। इस प्रकार प्रगति श्रम-विभाजन का परिणाम है। दुर्खीम लिखते हैं कि श्रम-विभाजन मे वृद्धि नहीं होगी तो परिवर्तन रुक जाएगा। परिवर्तन रुक जाएगा तो समाज की प्रगति भी रुक जाएगी। इस प्रकार से श्रम-विभाजन का परिणाम प्रगति है जो अवश्यम्भावी है।

4. **सामाजिक परिवर्तन एवं व्यक्तिगत परिवर्तन** (Social Change and Individual Change)—दुर्खीम ने सामाजिक परिवर्तन और व्यक्तिगत परिवर्तन की व्याख्या श्रम-विभाजन के आधार पर की है। आपका मत है कि जनसख्या के घनत्व, जनसख्या के आकार मे वृद्धि से जो परिवर्तन आते हैं वे श्रम-विभाजन मे वृद्धि करके समाज की संरचना और सामाजिक सम्बन्धो मे परिवर्तन करते हैं। इसके प्रभाव व्यक्ति पर भी पडते हैं। व्यक्ति के विचार, दृष्टिकोण, व्यवसाय को चुनने की स्वतन्त्रता, व्यक्तिवाद की भावना आदि मे भी परिवर्तन आते हैं। परन्तु वे परिवर्तन श्रम-विभाजन के परिणाम हैं क्योंकि श्रम-विभाजन तो विशेषीकरण, पारस्परिक निर्भरता आदि का कारण है। ये कारण समाज तथा व्यक्ति मे परिवर्तन लाते हैं, इसलिए श्रम-विभाजन के परिणाम कहलाते है। दुर्खीम के अनुसार यह

चौथा परिणाम है जो समाज तथा व्यक्ति का विकास भी है। सामाजिक परिवर्तन से ही व्यक्ति मे भी परिवर्तन आते हैं।

5. नवीन समूहों की उत्पत्ति और अन्तर्निर्भरता (Origin of New Groups and Interdependence)—दुर्खीम ने श्रम-विभाजन का एक और महत्त्वपूर्ण परिणाम समाज मे नए-नए समूहो की उत्पत्ति तथा उन समूहो मे परस्पर निर्भरता बताया है। आपने लिखा है कि श्रम-विभाजन से समाज मे विशेषीकरण आता है। एक विशेष कार्य को करने के लिए विशेष व्यक्तियो का समूह सगठित होकर उस कार्य को सम्पन्न करता है। इस प्रकार से समाज मे जितना अधिक श्रम-विभाजन होगा उतने ही अधिक विशिष्ट समूह समाज में बन जाते हैं। क्योकि ये समूह समाज मे अलग-अलग कार्य करते हैं इसलिए जो विशिष्ट कार्य एक विशिष्ट समूह करता है उस पर अन्य सभी आवश्यकताओं के लिए अन्य सभी विशिष्ट समूह निर्भर हो जाते हैं तथा वह समूह अपनी सभी अन्य आवश्यकताओ के लिए अन्य समूहो पर निर्भर हो जाता है। इस प्रकार से श्रम-विभाजन के प्रभाव के परिणामस्वरूप समाज मे अनेक नए-नए समूहो का निर्माण होता है और उनमें परस्पर निर्भरता भी बढती जाती है।

6. व्यक्तिवादिता का विकास (Development of Individualism)—दुर्खीम ने श्रम-विभाजन के अनेक परिणाम बताए हैं उनमे से एक परिणाम व्यक्तिवादी विचारधारा बताया है। श्रम-विभाजन से समाज मे सामूहिक चेतना तथा सामूहिक प्रतिनिधान का प्रभाव शिथिल होता जाता है तथा व्यक्तिगत चेतना में वृद्धि होती है। व्यक्तित्व का महत्त्व बढता है। समूहवाद का ह्रास होता है। व्यक्तिगत विचार, दृष्टिकोण तथा स्वतन्त्रता बढती है। इन सबका परिणाम व्यक्तिवादी विचारधारा को उन्नत तथा विकसित करने मे स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है।

7. प्रतिकारी कानून और नैतिक दबाव (Restitutive law and Moral Pressure)—श्रम-विभाजन का एक महत्त्वपूर्ण परिणाम दमनकारी कानून से प्रतिकारी कानून के परिवर्तन के रूप मे देख सकते हैं। जब समाज मे श्रम-विभाजन का अभाव होता है अथवा अल्प श्रम-विभाजन होता है तब समाज मे प्रतिकारी कानून व्यवस्था होती है तथा सामूहिक चेतना का वर्चस्व होता है। लेकिन जब श्रम-विभाजन मे वृद्धि होती है तो व्यक्तियो में विशेषीकरण बढ़ता है। इसके कारण समझौते के सम्बन्धो का विकास होता है। पारस्परिक सम्बन्ध जटिल बन जाते हैं। सामूहिक उत्तरदायित्व के स्थान पर व्यक्तिगत उत्तरदायित्व बढ जाते हैं। व्यक्तिवाद का महत्त्व बढ जाता है। व्यक्तियो के सम्बन्धो तथा अपराधो को नियन्त्रित, निर्देशित तथा सचालित करने के लिए दमनकारी कानून का स्थान प्रतिकारी कानून ले लेता है। सामूहिक हितो से सम्बन्धित नैतिकता का भी विकास होता है इससे व्यक्तिगत स्वतन्त्रता, स्वार्थ आदि पर नियन्त्रण रखा जाता है। इस प्रकार से श्रम-विभाजन का एक परिणाम प्रतिकारी कानून का महत्त्व बढ़ना तथा नैतिकता का विकास होना है।

8. सावयवी सामाजिक एकता (Organic Social Solidensity)—दुर्खीम ने श्रम-विभाजन का सबसे महत्त्वपूर्ण परिणाम समाज में सावयवी एकता की स्थापना बताया है। वास्तविकता तो ये है कि श्रम-विभाजन के सारे परिणामो को व्याख्या इस एक परिणाम 'सावयवी एकता' के अन्तर्गत की जा सकती है, जो इस प्रकार है। आपका मत है कि श्रम-विभाजन के अभाव अथवा अल्पता की स्थिति में समाज में यांत्रिक एकता होती है। जैसे-जैसे श्रम-विभाजन में वृद्धि होती है वैसे-वैसे समाज मे विशेषीकरण, पारस्परिक निर्भरता,

अन्योन्याश्रितता तथा सहयोग बढ़ता है। इसी सहयोग के परिणामस्वरूप समाज मे सावयवी एकता स्थापित होती है जिससे समाज के विभिन्न व्यक्तियो, समूहो या अगो मे परस्पर प्रकार्यात्मक निर्भरता, संगठन एवं सहयोग मिलता है। इसी को दुर्खीम ने श्रम-विभाजन का परिणाम सावयवी सामाजिक एकता कहा है।

श्रम-विभाजन के असामान्य स्वरूप
(Abnormal Forms of Divsion of Labour)

दुर्खीम ने आलोच्य पुस्तक के तीसरे और अन्तिम खण्ड में श्रम-विभाजन के तीन महत्त्वपूर्ण असामान्य स्वरूपो की विवेचना की है। आपका मत है कि जहाँ श्रम-विभाजन के अनेक संगठनात्मक परिणाम हैं वहाँ कुछ व्याधिकीय परिणाम भी हैं। दुर्खीम ने श्रम-विभाजन के व्याधिकीय परिणाम उनको कहा है जो समाज में एकता पैदा नहीं करते हैं। आपने निम्नांकित श्रम-विभाजन के असामान्य स्वरूपो का उल्लेख किया है—

1 आदर्शहीन श्रम-विभाजन,
2 बलात् श्रम-विभाजन, और
3 व्यक्तिगत कार्य की अपर्याप्तता।

1. आदर्शहीन श्रम-विभाजन (Idealless Division of Labour)—जब समाज मे श्रम-विभाजन विभिन्न सामाजिक कार्यो मे तालमेल तथा परस्पर सामंजस्य स्थापित नहीं करता है तब यह एक-दूसरे के कार्य तथा विकास मे बाधाएँ उत्पन्न करता है। दुर्खीम के अनुसार ऐसा विशेष रूप से आर्थिक क्षेत्रो तथा विज्ञान के क्षेत्रो में अव्यवस्थित श्रम-विभाजन के फलस्वरूप होता है। दुर्खीम ने उस श्रम-विभाजन को आदर्शहीन श्रम-विभाजन कहा है जो श्रम-विभाजन विभिन्न प्रकार्यों मे असामंजस्य उत्पन्न करता है। यह आदर्शहीन श्रम-विभाजन आर्थिक क्षेत्र तथा वैज्ञानिक क्षेत्र में पाया जाता है।

1.1. आर्थिक क्षेत्र में आदर्शहीन श्रम-विभाजन (Idealless Division of Labour in Economic Field)—जब उत्पादन के संगठनो, औद्योगिक केन्द्रों, कारखानो आदि मे श्रम-विभाजन होता है तो उससे विशेषीकरण आता है जो उत्पादन में लगे मालिक और मजदूरो मे सघर्ष पैदा कर देता है। इनमे परस्पर, व्यापारिक तथा अन्य झगड़े होते हैं। इस प्रकार श्रम-विभाजन आर्थिक क्षेत्रों तथा विभिन्न सामाजिक इकाइयो में तनाव, संघर्ष तथा असन्तुलन पैदा कर देता है। लाभ के स्थान पर हानि होती है। सामाजिक सावयवी एकता पर आघात लगता है। सहयोग का स्थान पारस्परिक सघर्ष, हड़ताल, तालाबन्दी आदि ले लेते हैं। इसी को दुर्खीम ने आर्थिक क्षेत्र मे आदर्शहीन श्रम-विभाजन कहा है।

1.2. वैज्ञानिक क्षेत्र में आदर्शहीन श्रम-विभाजन (Idealless Division of Labour in Scientific Field)—दूसरा आदर्शहीन श्रम-विभाजन आपने वैज्ञानिक क्षेत्र मे बताया है। पहिले सभी विज्ञान परस्पर सम्बन्धित थे। अलग-अलग नहीं थे। परन्तु अब विज्ञानो मे श्रम-विभाजन के फलस्वरूप बहुत अधिक विशेषीकरण आ गया है। एक वैज्ञानिक अब केवल एक विज्ञान अथवा उसकी भी एक शाखा मात्रा से जुड़ा हुआ है। इसने विज्ञानो मे परस्पर दूरियाँ बढ़ा दी हैं। सावयवी एकता स्थापित नहीं होने के कारण विभिन्न विज्ञानो के सम्बन्ध टूट गए हैं। दुर्खीम के अनुसार श्रम-विभाजन ने विज्ञान मे सघर्ष, तथा दूरियाँ बढ़ा दी हैं।

2. बलात् श्रम-विभाजन (Forced Division of Labour)—दुर्खीम का मत है कि बाहर से थोपा गया श्रम-विभाजन बलात् श्रम-विभाजन है। व्यक्ति को अपनी रुचि के अनुसार कार्य को चुनने तथा त्यागने की स्वतन्त्रता नहीं होती है। उससे शक्ति से काम लिया जाता है। वह पूर्व निश्चित कार्यों को करने के लिए बाध्य रहता है। आपका मत है कि श्रम-विभाजन से एकता स्थापित करना सरल कार्य नहीं है। यह तभी स्थापित हो सकती है जब समाज के सभी लोगो को उनकी योग्यता, कार्यकुशलता, रुचि आदि के अनुसार व्यवसाय मिले जो जाति-व्यवस्था तथा वर्ग-व्यवस्था मे भी नहीं मिलता है। यह श्रम-विभाजन का दुष्कार्य है जिसे बलात् श्रम-विभाजन भी कहते हैं।

3. व्यक्तिगत कार्य की अपर्याप्तता (Insufficientness of Individual Work)—दुर्खीम के अनुसार श्रम-विभाजन का तीसरा असामान्य कार्य समाज के सदस्यों को पर्याप्त मात्रा में कार्य प्रदान नहीं कर पाना है। श्रम-विभाजन समाज में एकता पैदा नहीं कर सकता जब तक कि कार्य करने वालो को काफी काम न दिया जाए। व्यक्ति की क्रियाओ के लिए पर्याप्त सामग्री प्राप्त होनी चाहिए। श्रम-विभाजन के कारण ऐसा नहीं हो पाता है। व्यावसायिक और औद्योगिक सस्थाओं मे श्रम का विभाजन ठीक से नहीं होता है। लोगों मे असन्तोष होता है। अनुपयोगी कार्यों की अधिकता होती है। कार्यों का विभाजन अनुपयोगी होता है। इससे व्यवस्था स्थापित न होकर अव्यवस्था बनी रहती है। जब श्रम-विभाजन अव्यवस्था और असन्तुलन पैदा करता है और सावयवी एकता पैदा नहीं कर पाता है तो यह व्यक्तिगत कार्य की अपर्याप्तता कहलाती है। श्रम-विभाजन आवश्यक नहीं है कि एकता तथा सगठन ही पैदा करे। यह असगठन, असन्तुलन तथा अव्यवस्था भी फैलाता है।

आलोचनात्मक मूल्याँकन
(Critical Evaluation)

'समाज मे श्रम-विभाजन' दुर्खीम की प्रथम कृति है। इसमे कमियो का होना स्वाभाविक है। इस विनिबन्ध की आलोचना विभिन्न समाजशास्त्रियों—गिन्सबर्ग, बीरस्टीड, मर्टन, बोगार्डस, रेमण्ड एरन आदि ने की है। इन विभिन्न विद्वानो ने दुर्खीम के इस शोध प्रबन्ध का कई बिन्दुओं—तथ्यों, अवधारणाओं, पद्धति, वर्गीकरण, कारणो, प्रभावो, सिद्धान्त तथा निष्कर्षों के आधार पर मूल्यांकन तथा आलोचना की है, जो निम्न प्रकार है—

1. अस्पष्ट तथ्य (Vague Facts)—दुर्खीम ने दावा किया है कि आपका अध्ययन समाजशास्त्रीय है तथा इसमे जो तथ्य दिये गये हैं, वे समाजशास्त्रीय हैं। परन्तु अनेक समाजशास्त्रियो का कहना है कि आप स्पष्ट रूप से सामाजिक तथ्यो तथा मनोवैज्ञानिक तथ्यो मे अन्तर नहीं कर पाये हैं। दुर्खीम के एकता तथा सामाजिक एकता का अन्तर अवैज्ञानिक है। एकता एक मानसिक सत्य तथा तथ्य है। एकता भावात्मक तथ्य है न कि समाजशास्त्रीय।

2. अस्पष्ट अवधारणाएँ (Vague Concepts)—दुर्खीम द्वारा इस अध्ययन मे प्रयुक्त अवधारणाएँ—प्रकार्य, एकता, खण्डात्मक समाज, सामूहिक चेतना आदि की मर्टन, रेमण्ड, एरन आदि ने आलोचनाएँ की हैं। मर्टन का मत है कि दुर्खीम ने उद्देश्य के स्थान पर प्रकार्य शब्द का प्रयोग किया है, वह अनुपयुक्त है। इसी प्रकार एकता की अवधारणा को दुर्खीम ने विकसित किया है तथा इसे सामाजिक तथ्य कहा है। वास्तव में यह मनोवैज्ञानिक अवधारणा है। आपने यान्त्रिक एकता वाले समाजो को खण्डात्मक समाज कहा है। एरन ने आपत्ति उठाई

है और कहा है कि आदिम समाजो तथा यान्त्रिक एकता वाले समाजो को खण्डात्मक समाज कहना अवैज्ञानिक तथा त्रुटिपूर्ण है। जाति-व्यवस्था तथा वर्ग-व्यवस्था वाले समाज खण्डात्मक समाज हैं।

सामूहिक चेतना की अवधारणा की भी समाजशास्त्रियो ने आलोचना की है। सामूहिक-चेतना समूह-मन का पर्यायवाची है तथा यह एक मनोवैज्ञानिक अवधारणा है न कि समाजशास्त्रीय अवधारणा है।

3. अव्यावहारिक अध्ययन पद्धति (Unworkable Method of Study)—मर्टन और बर्गेस दुर्खीम द्वारा काम मे ली गई अध्ययन पद्धति से असहमत हैं। आप दोनो की आपत्ति है कि दुर्खीम ने श्रम-विभाजन और सामाजिक एकता के अध्ययन मे भौतिक विज्ञान की अध्ययन पद्धति का मनमाने ढँग से प्रयोग किया है, वह अवैज्ञानिक तथा अविश्वसनीय तथा अप्रमाणित प्रयोग है।

4. त्रुटिपूर्ण दृष्टिकोण (Faulty Perspective)—एमिल बेनौयत—स्मुलियन, मर्टन आदि समाजशास्त्रियो ने दुर्खीम के समूहवादी दृष्टिकोण की कटु आलोचना की है। इन्होंने कहा कि दुर्खीम अपने इस सम्पूर्ण विनिबन्ध मे यह सिद्ध करने का पूर्ण प्रयास करते हैं कि समाज सब कुछ है, सर्वोपरि है। समाज व्यक्ति का निर्माण करता है। व्यक्ति का अस्तित्व समाज के लिए कुछ नहीं है। यह धारणा तथा दृष्टिकोण अवैज्ञानिक तथा तर्कहीन है। टार्डे ने आपत्ति उठाई है कि दुर्खीम का यह दृष्टिकोण अतिवादी है तथा भ्रामक है। टार्डे ने लिखा है, "मैं मानता हूँ कि मेरे लिए यह समझना कठिन है कि व्यक्तियों को निकाल देने के बाद समाज जैसी कोई वस्तु शेष रह जायेगी। यदि किसी विश्वविद्यालय के छात्रो तथा अध्यापकों को अलग कर दिया जाये तो मै नही समझता कि वहाँ नाम के अतिरिक्त भी कुछ शेष रह जायेगा।"

सोरोकिन, टार्डे के मत का समर्थन करते हैं तथा लिखते हैं, "संक्षिप्त में दुर्खीम की यह वास्तविकता वैज्ञानिकतानुसार गलत है तथा इसे त्याग देना चाहिए, यह कुछ नहीं है, केवल एक अनुचित रहस्यवाद है।" मर्टन आदि अनेक विद्वानो ने भी दुर्खीम के इस दृष्टिकोण को त्रुटिपूर्ण बताया है।

5. अतार्किक वर्गीकरण (Illogical Classification)—मर्टन, स्मुलियन, बीरस्टीड आदि समाजशास्त्री दुर्खीम द्वारा प्रतिपादित वर्गीकरणों को अनुचित, अतार्किक और अस्पष्ट मानते हैं।

5.1. मर्टन तथा **स्मुलियन** दुर्खीम द्वारा प्रतिपादित व्यक्तिगत नैतिकता तथा सामूहिक नैतिकता के वर्गीकरण को अस्पष्ट मानते हैं तथा लिखते है कि नैतिकता तो नैतिकता है उसको व्यक्तिगत तथा सामूहिक मे बाँटा नहीं जा सकता है। जो कुछ व्यक्ति के प्रति नैतिकता का कर्तव्यपूर्ण आचरण है वह अन्ततोगत्वा व्यक्ति को समाज के प्रति ही तो नैतिकता को प्रकट करता है।

5.2. बीरस्टीड ने दुर्खीम के प्राचीन तथा आधुनिक समाजो के किये गये वर्गीकरण पर आपत्ति उठाई है। बीरस्टीड का विरोध यह है कि इन दोनो प्रकार के समाजों के वर्गीकरण के आधार—समानता तथा विभेद उचित नहीं हैं। आपका मत है कि सभी समाजो में समानता और भिन्नता के लक्षण कुछ मात्रा में अवश्य पाये जाते हैं।

5.3. **मर्टन तथा स्मुलियन** की आपत्ति है कि दुर्खीम ने कानून और एकता के विभिन्न प्रकारों या वर्गीकरणों में विश्वसनीय सम्बन्ध स्थापित नहीं किया है। यह दुर्खीम की कमी रही है।

5.4. अनेक समाजशास्त्रियों की आपत्ति है कि दुर्खीम ने यांत्रिक एकता एवं सावयवी एकता की जो विशेषताएँ बताई हैं वे विकसित तथा ग्रामीण समाजों में भी मिलती हैं। इसलिए इनका 'एकता के दो प्रकार' या स्वरूप भी पूर्ण स्पष्ट नहीं हैं।

6. कारणों पर आपत्ति (Objection on Causes)—अनेक समाजशास्त्रियों—सोरोकिन, मर्टन, एरन, गिन्सबर्ग, बोगार्डस और स्मुलियन आदि ने दुर्खीम द्वारा प्रतिपादित श्रम-विभाजन के सिद्धान्त के कारणों पर आपत्ति उठाई है। इन विद्वानों का मत है कि दुर्खीम ने श्रम-विभाजन का प्राथमिक कारण जनसख्या का आकार और जनसंख्या का घनत्व में वृद्धि को माना है लेकिन ये कारण जैविक हैं। इस प्रकार से इन जैविक कारणों पर आधारित व्याख्या भी जीवशास्त्रीय व्याख्या हो जाती है न कि समाजशास्त्रीय। एमिल बेनौयत-स्मुलियन ने निम्न शब्दों में अपनी आपत्ति व्यक्त की है—

"स्पष्ट रूप से यह (श्रम-विभाजन) समाजशास्त्रीय की अपेक्षा एक जीवशास्त्रीय व्याख्या है।"

7. कारणों और परिणामों में अस्पष्टता (Vagueness in Causes and Result)—दुर्खीम ने अपनी पुस्तक मे श्रम-विभाजन के महत्त्वपूर्ण आठ परिणामो का उल्लेख किया है। लेकिन आपने स्पष्ट रूप मे श्रम-विभाजन को विभिन्न परिणामो का कारण निश्चित करके व्याख्या को अस्पष्ट तथा अवैज्ञानिक बना दिया है। आप सभ्यता और प्रगति को श्रम-विभाजन का परिणाम मानते हैं, लेकिन कोई भी सम्प्रदाय इसको नहीं मानता है। सभ्यता और संस्कृति तथा समाज की प्रगति के अनेक कारण हैं। श्रम-विभाजन को इसका एकमात्र कारण मानना गलत है। सोरोकिन का मत है कि समाज से सम्बन्धित एक कारण को विभिन्न परिणामों के लिए उत्तरदायी ठहराना अवैज्ञानिक तथा तर्कहीन है। क्योंकि सामाजिक व्यवस्था में अनेक कारक परस्पर अन्योन्याश्रित होते हैं। यही आलोचना श्रम-विभाजन के अन्य परिणामों—प्रकार्यात्मक स्वतन्त्रता, सामाजिक तथा व्यक्तिगत परिवर्तन, व्यक्तिवादी विचारधारा, प्रतिकारी कानून और नैतिक दबाव एवं सावयवी सामाजिक एकता के सम्बन्ध में भी विद्वानों ने की है।

8. उद्विकासीय सिद्धान्त की आलोचना (Criticism of Evolutionary Theory)—मर्टन ने दुर्खीम के सामाजिक उद्विकासीय सिद्धान्त की आलोचना की है। आपका कहना है कि दुर्खीम ने विकास के क्रम मे एक छोर पर प्राचीन या यांत्रिक एकता वाले समाजो को रखा है तथा दूसरे छोर पर आधुनिक या सावयवी एकता वाले समाजों को रखा है। दुर्खीम ने समाजों का उद्विकास रेखीय, सरल से जटिल, समानता से विभिन्नता आदि के द्वारा समझाया है। इसका कारण श्रम-विभाजन बताया है। अनेक विद्वानों ने मत व्यक्त किया है कि सामाजिक परिवर्तन अनेक कारणों से होता है। मर्टन ने भी यही आपत्ति उठाई है। सोरोकिन का कथन है कि सामाजिक परिवर्तन का एक कारकीय सिद्धान्त हो ही नहीं सकता है। सामाजिक परिवर्तन श्रम-विभाजन के अतिरिक्त अनेक कारणों का परिणाम होता है। सामाजिक परिवर्तन की व्याख्या मैकीवर, मजूमदार, मदान, मैलिनोव्स्की,

रेडक्लिफ-ब्राउन आदि के अनुसार, उद्विकासीय सिद्धान्त से नहीं की जा सकती है, जो दुर्खीम ने की है। यह सत्य तथा प्रमाणित नहीं है।

दुर्खीम की उपर्युक्त आलोचनाओं का यह अर्थ कदापि नहीं लगा लेना चाहिए कि उनका श्रम-विभाजन का सिद्धान्त निरर्थक तथा अनुपयोगी है। आपकी यह कृति समाजशास्त्र मे एक अमूल्य योगदान मानी जाती रही है और भविष्य मे भी मानी जाती रहेगी। इस सन्दर्भ मे जॉर्ज सिम्सन का निम्न कथन विचारणीय है, आपने दुर्खीम की इस आलोच्य पुस्तक के आमुख मे दिया है—

"उस व्यक्ति (दुर्खीम) की प्रथम महान् रचना है जिसने लगभग चौथाई शताब्दी तक फ्रांसीसी विचारधारा पर नियन्त्रण किया है और जिसका प्रभाव भी घटने के स्थान पर बढ़ रहा है, यह पुस्तक आज भी ऐतिहासिक और प्रसंग के दृष्टिकोण से उन सभी को पढ़नी चाहिए जो सामाजिक विचारधारा के ज्ञान तथा सामाजिक समस्याओं में रुचि रखते हैं।"

अभ्यास प्रश्न

निबन्धात्मक प्रश्न

1. 'समाज मे श्रम-विभाजन' पर एक निबन्ध लिखिये। (राज 1993)
2. दुर्खीम के अनुसार 'श्रम-विभाजन' का अर्थ बताइये तथा श्रम-विभाजन के प्रकार्यों पर प्रकाश डालिए।
3. यांत्रिक एकता और सावयवी एकता की विशेषताएँ बताइये।
4. दुर्खीम के 'श्रम-विभाजन' के सिद्धान्त की विवेचना कीजिए।
5. दुर्खीम के 'यांत्रिक एकता' एवं 'सावयवी एकता' की अवधारणाओं की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए। (राज वि 1996)
6. 'यान्त्रिक एकता और सावयवी एकता' पर लेख लिखिये।
7. दुर्खीम के अनुसार कानून किस प्रकार से एकता का माप है? व्याख्या कीजिये।

लघुउत्तरात्मक प्रश्न

निम्न पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये—

1. दुर्खीम का उद्विकासीय सिद्धान्त
2. दुर्खीम के श्रम-विभाजन के सिद्धान्त की आलोचना
3. श्रम-विभाजन के प्राथमिक और द्वैतीयक कारण
4. श्रम-विभाजन के परिणाम
5. श्रम-विभाजन के असामान्य स्वरूप
6. कानून एव एकता
7. यान्त्रिक एकता
8. सावयवी एकता
9. यान्त्रिक एव सावयवी एकता में कोई तीन अन्तर।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1 'दा डिविजन ऑफ लेवर इन सोसायटी' के रचयिता कौन हैं?

(अ) कार्ल मार्क्स (ब) मैक्स वेबर

(स) इमाइल दुर्खीम (द) स्पेन्सर

[उत्तर- (स)]

2 समाज मे श्रम विभाजन का अध्ययन दुर्खीम ने कब लिया?

(अ) 1893 (ब) 1895

(स) 1912 (द) 1897

[उत्तर- (अ)]

3 निम्न मे से सत्य कथन का चयन कीजिए—

(1) मार्क्स ने 'दा डिविजन ऑफ लेवर इन सोसायटी' लिखी है।

(2) दुर्खीम ने श्रम-विभाजन का अध्ययन 1893 मे किया था।

(3) 'यान्त्रिक एकता' श्रम-विभाजन के अभाव के कारण उत्पन्न होती है।

(4) श्रम-विभाजन की अधिकता के कारण यान्त्रिक एकता पैदा होती है।

(5) श्रम-विभाजन के अभाव या अल्पता वाले समाजो मे सामुदायिक सम्पत्ति की व्यवस्था होती है।

(6) स्थानीय एव जनजातीय भक्तिवाद श्रम-विभाजन के अभाव वाले समाजो मे विद्यमान होता है।

[उत्तर- सत्य कथन—(2), (3), (5), (6)]



अध्याय-4

दुर्खीम : आत्महत्या
(Durkheim : Suicide)

दुर्खीम की तीसरी विश्वविख्यात कृति आत्महत्या Le Suicide, 1897 है। इस ग्रन्थ मे तीन खण्ड हैं। सर्वप्रथम 'प्रस्तावना' लिखी गई है जिसमे इसे वैषयिक आधार पर परिभाषित करते हुए वैषयिक और सामाजिक प्रकृति मे अन्तर स्पष्ट किया गया है। अन्य विद्वानो के आत्महत्या के सिद्धान्तो को व्याख्या प्रथम खण्ड मे की गई है। आत्महत्या के सामाजिक कारकों की व्याख्या द्वितीय खण्ड मे की गई है। आत्महत्या के सामाजिक तत्त्व की व्याख्या, आत्महत्या के साथ सामाजिक घटनाओ का सम्बन्ध तथा कुछ व्यावहारिक परिणामो व समस्याओं की विवेचना कृति के तृतीय खण्ड में गई है।

एक प्रश्न यह उपस्थित होता है कि इस ग्रन्थ के लिखने का उद्देश्य क्या था? इसका उत्तर यह है कि दुर्खीम ने अपने प्रथम ग्रन्थ 'समाज मे श्रम-विभाजन' मे समाजशास्त्रीय क्षेत्र मे कुछ नवीन सैद्धान्तिक प्रश्न उठाये हैं। दूसरी कृति "समाजशास्त्रीय पद्धति के नियम" मे सामाजिक तथ्यो की विशेषताओ और पद्धतिशास्त्र के सम्बन्ध मे अपने विचारों को व्यक्त किया है। इन विचारो की पुष्टि के लिए किसी प्रमाणित तथ्य की आवश्यकता थी जिसकी पूर्ति 'आत्महत्या' द्वारा की गई है। दुर्खीम ने आत्महत्या की समाजशास्त्रीय व्याख्या की है। आपकी मान्यता है कि आत्महत्या की वैज्ञानिक एव वास्तविक व्याख्या वैयक्तिक जैविक कारणो जैसे—वशानुक्रमण निर्धनता, प्रेम में असफलता, निराशा, मानसिक कारण आदि के आधार पर नहीं की जा सकती है क्योंकि आत्महत्या एक सामाजिक घटना है इसलिए इसके कारको की खोज भी समाज मे ही की जानी चाहिए।

दुर्खीम का मानना है कि मनुष्य से अधिक शक्तिशाली शक्ति जो स्वय मनुष्य के लिए उपयोगी और लाभदायक है और नैतिक आधार पर मनुष्य को अनुशासित भी करती है वह केवल समाज है। समाज व्यक्ति का प्रेरणा-स्रोत है अत: जब कोई व्यक्ति आत्महत्या करने के लिए विवश होता है तो उस समय भी समाज ही दु:खी व्यक्ति की चेतना मे उपस्थित रहता है। यह समाज है जो वैयक्तिक इतिहास से अधिक इस एकाकी क्रिया को सचालित एव नियन्त्रित करता है।

समाज मे कुछ ऐसी शक्तियाँ हे जो व्यक्ति को आत्महत्या के लिए प्रेरित करती हैं। दुर्खीम वेज्ञानिक अनुसन्धान की व्यावहारिक उपयोगिता को महत्त्वपूर्ण मानते हे ओर आत्महत्या व अन्य वैयक्तिक कारणो की उत्पत्ति को सामाजिक जीवन की परिस्थितियो मे मानते हैं और उनका उपचार भी सामाजिक जीवन मे ही सम्भव मानते हैं।

इस प्रकार 'आत्महत्या' दुर्खीम की महत्त्वपूर्ण कृति है। इसमे एक ओर आत्महत्या की सामाजिक व्याख्या करके दुर्खीम को समाजशास्त्रीय मान्यताओ को सैद्धान्तिक आधार

प्रदान किया गया है साथ ही व्यक्तिगत जीवन की तुलना मे सामूहिक जीवन को श्रेष्ठता प्रदान की गई है और दूसरी ओर उनके समाजशास्त्रीय पद्धति के उपयोग का सफल प्रदर्शन किया गया है। इस पुस्तक के महत्त्व को बीरस्टीड ने इस रूप मे व्यक्त किया है, **''यह समाजशास्त्रीय अनुसन्धान की महानतम कृतियों में से एक तथ्यपरक कृति है। समाजशास्त्र में अनुसन्धान का इतिहास, वास्तव में इस पुस्तक से प्रारम्भ होता है और यद्यपि इसके प्रकाशन के पश्चात् सत्तर वर्षों में इसके निष्कर्षों में परिष्कार किया गया है, इसका महत्त्व कम नहीं हुआ है।''**

आत्महत्या की परिभाषा
(Definition of Suicide)

दुर्खीम ने अपनी कृति 'सुसाइड' में आत्महत्या को निम्न प्रकार से परिभाषित किया है—

''आत्महत्या' शब्द मृत्यु की उन समस्त घटनाओं के लिये प्रयुक्त किया जाता है, जो स्वयं मरने वाले की सकारात्मक अथवा नकारात्मक क्रिया का प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष परिणाम होती है, जिसके भावी परिणाम को वह (मरने वाला व्यक्ति) जानता है।'' उपर्युक्त परिभाषा केवल 'मानव' से सम्बन्धित है, पशुओ की आत्महत्या से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। इस परिभाषा के आधार पर आत्महत्या से सम्बन्धित कुछ विशेषताएँ उभर कर आती हैं जो निम्नलिखित हो सकती हैं—

आत्महत्या की विशेषताएँ (Characteristics of Suicide)—(1) क्रिया का परिणाम (Result of Action)—ऐसी मृत्यु को ही आत्महत्या की श्रेणी में रखा जायेगा जो मरने वाले व्यक्ति की क्रिया का परिणाम होती है। अर्थात् क्रिया और परिणाम मे कार्यकारण सम्बन्ध होता है भले हो यह सम्बन्ध प्रत्यक्ष हो अथवा अप्रत्यक्ष। **क्रिया-सकारात्मक भी हो सकती है और नकारात्मक भी हो सकती है।**

(2) सकारात्मक और नकारात्मक क्रिया (Positive and Negative Action)—सकारात्मक क्रिया से तात्पर्य इस प्रकार के कार्य से होता है, जो स्पष्ट रूप से मृत्यु का कारण हो, जबकि नकारात्मक क्रिया में मृत्यु का कारण अस्पष्ट रहता है। उदाहरणार्थ—यदि कोई देशभक्त दुश्मन के हाथो मे जाने के पूर्व स्वय आत्महत्या कर लेता है अथवा कुण्ठित व्यक्ति जीवन से निराश होकर आत्महत्या कर लेता है। प्रथम आत्महत्या के उदाहरण में कारण स्पष्ट है, जबकि दूसरे मे मृत्यु का कारण अस्पष्ट है। दूसरे शब्दो में, प्रथम मे क्रिया सकारात्मक है और दूसरे मे क्रिया नकारात्मक है।

(3) तार्किक क्रिया (Logical Action)—आत्महत्या की एक विशेषता यह है कि यह तार्किक क्रिया है अर्थात् **व्यक्ति आत्महत्या सोच-समझकर व इच्छापूर्वक करता है और अपनी क्रिया के परिणाम को भी जानता है।** उदाहरण के लिए यदि कोई व्यक्ति डूबने की इच्छा से पानी मे गिरता है तो यह आत्महत्या का उदाहरण है किन्तु वह व्यक्ति अनजाने या धोखे से पानी में गिरकर डूब जाता है तो यह दुर्खीम के मत मे आत्महत्या नहीं है। कहने का आशय यह है कि वही मृत्यु आत्महत्या की श्रेणी में आयेगी, जिसमे व्यक्ति क्रिया के परिणाम को जानते हुए भी आत्महत्या करता है। इसी कारण दुर्खीम ने बलिदानो को भी आत्महत्या में सम्मिलित किया है।

(4) क्रिया के परिणाम से अवगत (Acquainted with Consequences of Action)—आत्महत्या की एक विशेषता यह है कि यदि व्यक्ति अपनी क्रिया के विषय में पहले से ही अवगत है और उसके उपरान्त भी वह अपने कार्यों को यथावत् करता रहता है तो यह भी आत्महत्या ही कहलायेगी। अर्थात् यदि व्यक्ति किसी क्रिया के परिणाम के विषय मे पहले ही जानता है और फिर भी वह उसी घातक क्रिया को करता रहता है तो यह आत्महत्या ही है। उदाहरणार्थ—दुर्खीम के मत में यदि कोई विद्वान् अपने अध्ययन के प्रति अत्यधिक सचेष्ट रहने के कारण अपने भोजन की उपेक्षा करता है और अति-परिश्रम के कारण मृत्यु को प्राप्त हो जाता है तो यह भी आत्महत्या ही है क्योंकि अत्यधिक परिश्रम एवं भोजन की उपेक्षा ने उसे इतना अधिक थका दिया कि वह जीवित न रह सका और उसकी मृत्यु हो गई।

(5) सामाजिक तथ्य (Social Fact)—आत्महत्या की एक विशेषता यह है कि आत्महत्या एक सामाजिक तथ्य है। दुर्खीम का मानना है कि आत्महत्या व्यक्तिगत-मनोवैज्ञानिक नहीं है, अपितु यह एक ऐसा तथ्य है, जो अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रखता है और जिसकी पृथक् प्रकृति है जो सामाजिक है। यह कोई व्यक्तिगत अथवा अचानक होने वाली घटना नहीं है। इसका उदाहरण देते हुए दुर्खीम की मान्यता है कि समाजो मे होने वाली आत्महत्याओ की वार्षिक दर मे कोई विशेष परिवर्तन नहीं होता है। यह तो समाज की दशाओ से सम्बन्धित है। यह व्यक्तियो की आकस्मिक क्रियाओ से सम्बन्धित नहीं है, बल्कि देश के राष्ट्रीय स्वभाव से सम्बन्धित है।

दुर्खीम ने आत्महत्या के अन्तर्गत उन्हीं तथ्यों को स्वीकार किया है जिनके कोई सामाजिक परिणाम अवश्य होते हैं। व्यक्तिगत दशाएँ भी भिन्न-भिन्न व्यक्तियों को आत्महत्या के लिए प्रेरित कर सकती हैं किन्तु ये किसी बडे समूह मे आत्महत्या की प्रवृत्ति को जन्म नहीं देतीं अर्थात् उनके कोई सामाजिक परिणाम नहीं होते है। अत: उन्हे मनोविज्ञान से सम्बन्धित माना जायेगा, समाजशास्त्र से उनका सम्बन्ध नहीं है। किन्तु जब आत्महत्या के कारण समूह को प्रभावित करते है तभी उनका अध्ययन समाजशास्त्र से सम्बन्धित होता है और समाजशास्त्रियों को इसका अध्ययन करना चाहिए।

1. आत्महत्या से सम्बन्धित असामाजिक कारक (Non-Social Factors Related to Suicide)

दुर्खीम ने आत्महत्या से सम्बन्धित कुछ असामाजिक कारको पर भी प्रकाश डाला है जिसमें उन्होने 'मनोजैविकीय और प्राकृतिक' दो कारको पर आधारित सिद्धान्तो की विवेचना की है और बताया है कि शारीरिक और मानसिक स्थितियाँ भी व्यक्ति को आत्महत्या करने के लिए प्रेरित करती हैं—इनको विस्तार से निम्नलिखित प्रकार से देखा जा सकता है।

दुर्खीम ने असामाजिक कारको को दो प्रकार का माना है—

(1) मनोजैविकीय कारक एवं (2) प्राकृतिक कारक।

मनोजैविकीय कारको के दो प्रकार हैं—मनोविकृत दशाएँ और (2) सामान्य मनोजैविकीय दशाएँ। अब सर्वप्रथम मनोजैविकीय कारको के प्रथम प्रकार, मनोविकृत दशाओ का वर्णन किया जा रहा है—

1.1 मनोविकृत अवस्थाएँ और आत्महत्या
(Psychopathic States and Suicide)

दुर्खीम के मत मे 'मनोविकृत अवस्थाएँ' आत्महत्या के असामाजिक कारक हैं क्योकि आत्महत्या को प्राय: मनोवैज्ञानिक एवं जैविकीय कारको के आधार पर ही देखा जाता है किन्तु कुछ विद्वानो के मत मे 'प्राकृतिक पर्यावरण' भी आत्महत्याओ के लिए उत्तरदायी है। दुर्खीम का मानना है कि सम्भव हैं कुछ व्यक्तियो की शारीरिक और मानसिक स्थिति प्रत्यक्ष रूप से उन्हे आत्महत्या करने के लिए प्रेरित करती हो अथवा यह भी हो सकता है कि जलवायु, तापमान आदि पर्यावरण सम्बन्धी तत्त्व भी अप्रत्यक्ष रूप से व्यक्ति को आत्महत्या करने के लिए प्रेरित करते हो, किन्तु दुर्खीम के मत मे मनोवैज्ञानिक व प्राकृतिक स्थितियो मे आत्महत्या की वास्तविक प्रेरक शक्ति नही होती। वह प्रेरक शक्ति तो सामाजिक दशाओ मे ही होती है। दुर्खीम ने 'मनोजैविकीय' कारको मे मानसिक विकृतियो और सामान्य जैविकीय कारको का आत्महत्या के साथ सम्बन्धो को स्थापित करने वाले सिद्धान्तो का विश्लेषण किया है, जो अग्रलिखित है।

1.1.1. उन्माद और आत्महत्या
(Insanity and Sucide)

दुर्खीम के मत मे उन्माद या पागलपन एक बीमारी है। इस रोग की मात्रा भिन्न भिन्न समाजो मे भिन्न भिन्न होती है। उन्माद को मानसिक अलगाव (Mental Alienation) कहा जा सकता है। दुर्खीम ने आत्महत्या को उन्माद का परिणाम मानने वाले विद्वानो के सिद्धान्तो का परीक्षण किया। इनमे दो सिद्धान्त प्रमुख हैं—(1) एस्क्विरोल ने कहा है, **''आत्महत्या मानसिक अलगाव की सभी विशेषताओ को प्रकट करती है। एक व्यक्ति उन्माद की अवस्था में ही आत्महत्या का प्रयास करता है और आत्महत्या करने वाले मानसिक अलगाव के रोगी होते है।''** जबकि (2) **वार्डिन ने आत्महत्या को ही विशेष प्रकार का उन्माद कहा है।** वार्डिन के अनुसार प्रत्येक आत्महत्या एक उन्माद है और प्रत्येक आत्महत्या करने वाला उन्मादी अथवा पागल है। दुर्खीम ने दोनो का परीक्षण किया है, जो निम्न है—

(i) आत्महत्या एक उन्माद (Suicide as Insanity)—दुर्खीम ने वार्डिन के कथन ''आत्महत्या एक उन्माद'' का परीक्षण करके बताया कि यदि आत्महत्या उन्माद का ही एक स्वरूप है तो यह एक ऐसा विशेष उन्माद है जो केवल एक क्रिया से ही सम्बन्धित है, क्योंकि शेष समस्त क्रियाओ मे आत्महत्या करने वाला व्यक्ति सामान्य दिखाई देता है। अन्य समस्त क्रियाओ मे सामान्य व्यवहार रखने वाला व्यक्ति यदि किसी एक विशेष क्रिया मे असामान्य प्रदर्शित करता है तो इस प्रकार के रोग को **'एक-विषयी उन्माद'** कहा जाता है अर्थात् दुर्खीम के मत मे, **''एक-विषयोन्मादी वह रोगी है जिसका मस्तिष्क एक को छोडकर शेष समस्त पक्षो में पूर्णतया स्वस्थ है। उसमे स्पष्ट रूप से स्थित केवल एक दोष होता है।''** उदाहरण के लिए, सब प्रकार से स्वस्थ दिखाई देने वाला व्यक्ति अपने सभी सामान्य व्यवहारो को करता हुआ यदि चोरी करने मे विशेष आनन्द की प्राप्ति करता है और बिना किसी विशेष कारण के चोरी करने मे विशेष रूप से प्रवृत्त हो जाता है तो उस व्यक्ति को **''एक-विषयोन्मादी''** (Monomaniac) कहा जायेगा। वार्डिन आदि के मत मे

आत्महत्या भी एक ही विशिष्ट उन्माद है जिसमें व्यक्ति के मन में स्वयं को समाप्त करने की इच्छा जागृत हो जाती है। इस प्रकार 'एक-विषयोन्माद' एक ऐसा प्रबल संवेग है जो इतना तीव्र व प्रबल होता है कि किसी विशेष क्षण मे मस्तिष्क इस संवेग के अधीन होकर क्रिया कर देता है। किन्तु दुर्खीम इस मत का खण्डन करते हुए तर्क देते हैं कि 'एक-विषयोन्माद' का रोगी अत्यधिक शिथिल और निराश रहता है और उसमे विचार और क्रिया के बीच का सन्तुलन समाप्त हो जाता है। उस व्यक्ति की सम्पूर्ण बौद्धिकता ही उससे प्रभावित हो जाती है और एक से अधिक सवेग उसे प्रभावित करते हैं, केवल एक संवेग ही नहीं। इस प्रकार एक पक्ष मे भी पागलपन या उन्माद तभी दिखाई देता है जब सम्पूर्ण मानसिक जीवन उन्माद से प्रभावित हो। अत: 'एक-विषयोन्माद' कोई रोग है ही नहीं इस दृष्टि से आत्महत्या भी 'एक-विषयोन्मादी' नहीं हो सकती।

(ii) उन्माद के परिणाम के रूप में आत्महत्या (Suicide as a Result of Insanity)—यह सिद्धान्त उन्माद के परिणाम को आत्महत्या मानता है। इस सिद्धान्त के अनुसार आत्महत्या करने वाले व्यक्ति उन्मादी होते है। मानसिक अलगाव आत्महत्या का प्रमुख कारण है। एस्क्विरोल इस मत के समर्थक हैं। दुर्खीम इस सिद्धान्त को भी अस्वीकार करते हैं। उनके मत मे कुछ उन्मादी व्यक्तियो के द्वारा आत्महत्या कर लेने के आधार पर ही इसे सामान्य नियम नही बनाया जा सकता इसके लिए विशेष अध्ययन व परीक्षण करने आवश्यक हैं। अत: इस मत का भी खण्डन करते हुए दुर्खीम ने पागलपन अथवा उन्माद से सम्बन्धित आत्महत्याओ को निम्नलिखित चार प्रकार का बताया है।

उन्माद से सम्बन्धित आत्महत्याएँ—ये निम्नलिखित चार प्रकार की हैं—

1.1.1. उन्मत्त आत्महत्या (Hallucination Suicide)—इस प्रकार की आत्महत्या मतिभ्रम अथवा विभ्रांति के कारण होती है। रोगी किसी काल्पनिक भय या अपमान से बचने के लिए आत्महत्या कर लेता है। कभी-कभी व्यक्ति ऐसा अनुभव करता है कि कोई रहस्यात्मक शक्ति या मायावी शक्ति उसे मरने की आज्ञा दे रही है और आदेश के पालनार्थ वह आत्महत्या कर लेता है। वास्तव मे इस प्रकार की आत्महत्या उन्माद के रोग के कारण होती है। विभिन्न प्रकार की भावनाएँ रोगी के मस्तिष्क को प्रभावित करती रहती है। इसी विचार शृखला मे आत्महत्या का विचार भी आता है, यदि आत्महत्या का विचार एक बार मे सफल नहीं हो पाता तो व्यक्ति पुनः उस विचार को ही त्याग देता है। इस प्रकार उन्माद की स्थिति मे की जाने वाली आत्महत्या उन्माद का ही परिणाम है। वार्डिन ने एक व्यक्ति के विषय मे बताया है कि वह उसी रोग के वशीभूत होकर आत्महत्या करने के लिए पानी मे उतरा—पानी कम होने के कारण गहरे पानी की खोज करने लगा। तभी एक कस्टम अधिकारी ने उसे तुरन्त नदी से बाहर आने की धमकी दी अन्यथा वह उसे गोली मार देगा। बस, वह व्यक्ति तुरन्त बाहर निकला और उसने आत्महत्या का विचार ही त्याग दिया। विचार-परिवर्तन का यह बड़ा सटीक दृष्टात है।

1.1 2. अवसादपूर्ण आत्महत्या (Melancholy Suicide)—अत्यधिक निराशा शोक अथवा दुःख इस प्रकार की आत्महत्या का कारण होता है। रोगी स्वय को सबसे अलग समझने लगता है, जीवन अन्धकारपूर्ण लगता है, किसी प्रकार की खुशी उसे प्रभावित नही करती। मन मे बडा कष्ट अनुभव होता है—इस प्रकार के लक्षण वाले व्यक्ति बडी चतुराई से,

शान्ति [redacted] विचारपूर्वक आत्महत्या करते है—आत्महत्या करने मे शीघ्रता नहीं करते। इनका रोग स्थाई होता है। दुर्खीम ने फैलेट द्वारा प्रस्तुत एक लडकी का उदाहरण दिया है जो चौदह वर्ष तक अपने गाँव मे रहने के बाद पढने गई। वह वहाँ पर बडी उदास व खिन्न रहने लगी और मरने की इच्छा से नदी मे डूबने को चल दी—किन्तु 'आत्महत्या एक अपराध है।' यह पता लगने के बाद वह रुक गई और पुन: एक वर्ष बाद उसने आत्महत्या करने के कई प्रयास किए।

1.1.3. सम्मोहित अथवा बाध्यता-मनोग्रस्ति आत्महत्या (Obsessive Suicide)—इस प्रकार की आत्महत्या मे रोगी के मन पर हर समय आत्महत्या का विचार छाया रहता है। मृत्यु की इच्छा से उसका मस्तिष्क सम्मोहित रहता है। मरने का कोई कारण सम्मुख न होने पर भी मरने की इच्छा व्यक्ति को प्रेरित करती रहती है। वह इस इच्छा को दबाने की कोशिश भी करता है और अत्यधिक दु:खी रहता है। अन्त मे वह आत्महत्या कर लेता है। प्रियरे डी बिसमांट ने एक ऐसे रोगी का उदाहरण दिया है जो शारीरिक, मानसिक व पारस्परिक स्थितियो से प्रसन्न होते हुए भी मृत्यु के विचार से निरन्तर ग्रसित रहता था।

1.1.4. आवेगपूर्ण अथवा स्वचालित आत्महत्या (Impulsive or Automatic Suicide)—इस प्रकार की आत्महत्या का कोई वास्तविक अथवा काल्पनिक कारण नहीं होता है। इसमे मृत्यु का विचार अचानक एक आवेग के रूप मे रोगी के मन मे उत्पन्न हो जाता है और इस इच्छा की पूर्ति के लिए तुरन्त ही वह आत्महत्या कर लेता है। यह सब कुछ ही पला मे घट जाता है। किसी कब्र के समीप से गुजरने पर, तलवार या चाकू आदि को देखने पर अचानक ही व्यक्ति आत्महत्या की तीव्र इच्छा कर लेता है और आत्महत्या कर भी लेता है।

उपर्युक्त चारो प्रकार की आत्महत्याएँ बिना किसी वास्तविक प्रेरणा के होती हैं। दुर्खीम का मानना है कि अनेको आत्महत्याएँ इस प्रकार की होती हैं जो उपर्युक्त मे से किसी प्रकार म सम्मिलित नहीं होतीं। अधिकाश आत्महत्या के साथ वास्तविक प्रेरणाओ का सम्बन्ध होता है। अत: उन्माद ही आत्महत्या का एकमात्र कारण नहीं माना जा सकता।

स्नायुदोष और आत्महत्या
(Neurasthania and Suicide)

स्नायुदोष अथवा नाडी-दौर्बल्य भी एक मानसिक रोग है। इसकी विशेषता यह होती है कि इसमे व्यक्ति न तो पूर्णतया मनोविकृत होता है और न ही पूर्णतया सन्तुलित। दुर्खीम इसे उन्माद का प्रारम्भिक स्वरूप कहते हैं जिसमें सामान्य-सी घटनाओं पर ही रोगी उत्तेजित हो उठता है। सामान्य-सी बात पर अत्यधिक कष्ट का अनुभव करना तथा सामान्य घटना को अति आनन्ददायी मानना अर्थात् हर्ष और विषाद की अस्थिर उत्तेजनाएँ व्यक्ति के मानसिक सन्तुलन को विकृत कर देती हैं और रोगी अपने जीवन मे बडी परेशानी का अनुभव करता है, अन्त में परेशान होकर आत्महत्या कर लेता है।

उन्माद और स्नायुदोष के सिद्धान्तों की आलोचना (Criticism of the theories of Insanity and Neurasthania)—दुर्खीम ने स्नायुदोष को आत्महत्या का मूल कारण नहीं माना है। उनके मत में स्नायुरोग आत्महत्या का कारण तभी बन सकता है, जब सामाजिक परिस्थितियाँ उसमे विशेष रूप से सहायक रही हो। दुर्खीम के मत में आत्महत्या

की घटनाओ, स्नायुदोष या मनोविकृति के रोगियों की संख्या के अनुपात मे यदि समानता पाई जाए तभी मनोविकृति का आत्महत्या का कारण माना जा सकता है। साथ ही सामाजिक परिस्थितियों के अभाव मे भी मनोविकृति की संख्या के अनुरूप आत्महत्या की दर घटती अथवा बढ़ती रहती है। तभी इन दोनो मे सह-सम्बन्ध माना जा सकता है, किन्तु वास्तविकता इसके विपरीत है। दुर्खीम ने धार्मिक भिन्नता, लैगिक भिन्नता, आयु भिन्नता और देश-काल ■ परिस्थिति की भिन्नता के आधार पर आँकड़े एकत्र करके परीक्षण किया है और यह सिद्ध किया है कि आत्महत्या और उन्माद अथवा स्नायुदोष मे कोई कार्य-कारण सम्बन्ध नहीं है। दुर्खीम के मत मे उन्मादी दोष से प्रभावित स्त्रियाँ अधिक होती हैं। कॉच और मायर (Koch and Mayer) ने भी इस मत की पुष्टि करते हुए बताया है कि ग्यारह देशों के अध्ययन के आधार पर 1000 पुरुषो मे 1 18 एव 1000 स्त्रियो मे 1 30 व्यक्ति उन्मादी अथवा स्नायुदोष से पीडित रहते हैं, किन्तु दुर्खीम ने 12 देशो के आँकड़े एकत्र करके प्रमाणित किया है कि आत्महत्या प्रमुखतया पुरुषों की क्रिया है। स्त्रियाँ और पुरुषो मे आत्महत्या का अनुपात 1: 4 है। निष्कर्ष निकलता है कि उन्माद अथवा स्नायुदोष आत्महत्या का मुख्य कारण नहीं है। दुर्खीम ने धर्म, आयु एव कालक्रम के अनुसार परीक्षण करके भी इसकी पुष्टि की है। अत: दुर्खीम के मतानुसार, **"स्नायुदोष स्वयं में एक बहुत सामान्य मनोभूमि है, जो किसी विशेष क्रिया को जन्म नहीं देती है, वरन् परिस्थितियों के अनुसार विभिन्न स्वरूपों में प्रकट हो सकती है।"**

1.1.3 मद्यपान और आत्महत्या
(Alcoholism and Suicide)

कुछ विद्वानों द्वारा मद्यपान को आत्महत्या का कारण माना गया है, परन्तु दुर्खीम ने मद्यपान के अपराधियो की संख्या और आत्महत्या की व्याख्या का तुलनात्मक अध्ययन करके स्पष्ट किया है कि मद्यपान और आत्महत्या मे कोई गुण-सम्बन्ध नही है। दुर्खीम ने जर्मनी और फ्रांस में इस प्रकार के अध्ययन किए है। उसने पोजेन (Posen) नामक प्रान्त का भी अध्ययन किया और बताया कि वहाँ सबसे कम आत्महत्याएँ होती है, जबकि सर्वाधिक शराब पीने का वहाँ प्रचलन है। जर्मनी के दक्षिण प्रान्त मे लोग सबसे कम शराब पीते हैं, और आत्महत्या की दर भी वहाँ कम है। अतः आत्महत्या का कारण मद्यपान नहीं माना जा सकता।

आलोचना (Criticism)—दुर्खीम के विचार मे आत्महत्या की व्याख्या मद्यपान की मनोविकृति के परिणामस्वरूप नहीं की जा सकती। न तो आत्महत्या स्वय उन्माद का स्वरूप है और न ही मद्यपान की मनोवृत्ति आत्महत्या के लिए उत्तरदायी है। यद्यपि यह सम्भव है कि मद्यपान से उन्मत्त हो सकेगा किन्तु केवल मद्यपान ही प्रमुख कारण नहीं है। दुर्खीम के मत में, **"वास्तव में समान परिस्थितियों में उन्मक्त व्यक्ति स्वस्थ मनुष्य की अपेक्षा आत्महत्या के प्रति अधिक झुकता है, परन्तु ऐसा वह अनिवार्य रूप से अपनी दशा के कारण नहीं करता है। उसको वह शक्ति अन्य कारकों के प्रभाव के माध्यम से ही क्रियाशील होती है जिनकी खोज की जानी चाहिए।"**

1.2. सामान्य मनोजैविकीय कारक और आत्महत्या
(General Psycho-Biological Factor and Suicide)

आत्महत्या के असामाजिक कारको मे मानसिक रोग के अतिरिक्त दूसरे कारक सामान्य मनोजैविकीय भी महत्त्वपूर्ण माने जा सकते हैं। आत्महत्या मानसिक व्याधियो का

ही परिणाम नहीं हो सकती, बल्कि आत्महत्या के लिए उत्तरदायी कारक मनोजैविकीय भी हो सकते हैं, जिनमे प्रजाति और पैतृकता भी माने जा सकते हैं, क्योंकि मनुष्य की शारीरिक और मानसिक स्थिति उसको आत्महत्या करने के लिए प्रेरित करती है अत: वे लक्षण मनोजैविकीय हो सकते हैं। मनोजैविकीय कारक निम्नलिखित दो प्रकार के हैं—(1) प्रजाति और (2) पैतृकता। इनको क्रम से इस रूप में देखा जा सकता है—

1.2.1. प्रजाति और आत्महत्या
(Race and Suicide)

प्रजाति को *आत्महत्या का कारण मानने के पूर्व इसका अर्थ जानना आवश्यक है।*

प्रजाति का अर्थ (Meaning of the Race)—दुर्खीम के अनुसार, ''आधुनिक अर्थ मे प्रजाति उन व्यक्तियों का समूह है, जो सामान्य शारीरिक लक्षणो से युक्त हैं। ये सामान्य लक्षण यौन-संसर्ग के आधार पर पैतृकता से प्राप्त होते हैं।''

क्वाटरेफेन, प्रिचर्ड और व्रोका आदि मनीषियो की प्रजाति सम्बन्धी परिभाषाओ के आधार पर दुर्खीम ने प्रजाति की दो प्रमुख विशेषताएँ बताई हैं—

(1) प्रजाति उन व्यक्तियो का समूह है, जो एक-दूसरे के समान हैं, तथा

(2) प्रजाति से सम्बन्धित ये समानताएँ पैतृकता पर आधारित होती है।

दुर्खीम ने इन विशेषताओ के आधार पर प्रजाति को राष्ट्रीयता का समानार्थक बताया है। इस प्रकार विभिन्न राष्ट्रो के लोग भी पैतृक समानता रखते हैं क्योंकि वे बहुत समय से परस्पर घनिष्ठतया सम्बन्धित हैं। परस्पर सम्पर्क के कारण विभिन्न प्रजातियो के व्यक्ति इस प्रकार एक-दूसरे से मिल गए हैं कि अब कोई भी प्रजाति शुद्ध नहीं रह गई है। अत: आधुनिक समय मे प्रजाति किसी निश्चित तथ्य का प्रतीक नहीं रह गई है अथवा यह कहा जा सकता है कि प्रजाति और राष्ट्रीयता दोनो समान हैं।

आलोचना (Criticism)—दुर्खीम ने मौरसेलि द्वारा बताई गई चार प्रजातियो का अध्ययन किया है—(1) जर्मन प्रजाति प्ररूप, (2) कैल्टो प्रजाति परूप, (3) स्लाव प्ररूप और (4) यूराल प्रजाति प्ररूप। दुर्खीम ने पहले तीन प्रजाति समूहों का आत्महत्या की दर के आधार पर वर्गीकरण किया है और निष्कर्ष निकाला है कि प्रजातीय लक्षणो के आधार पर आत्महत्या के सम्बन्ध को स्थापित नहीं किया जा सकता। आत्महत्या की दर का अन्तर राष्ट्रीता के कारण होता है, न कि प्रजाति के कारण। दुर्खीम प्रजाति और आत्महत्या के सम्बन्ध को अस्वीकार करते हैं और आत्महत्या मे कमी अथवा अधिकता का कारण लोगों की बाह्य परिस्थिति में अन्तर का आना मानते हैं। दुर्खीम ने कद के आधार पर अध्ययन किया और पाया कि यदि किसी प्रजाति मे ऊँचे कद वाले लोगो की तुलना मे नीचे कद वाले लोग कम या अधिक आत्महत्या करते हैं तो विभिन्न क्षेत्रो मे आत्महत्या की दर का कारण उन क्षेत्रो की सभ्यता, भौगोलिक पर्यावरण एव इनकी सामाजिक परिस्थितियो का अन्तर माना जा सकता है। इस प्रकार दुर्खीम के मत मे प्रजाति आत्महत्या का कारक नहीं है।

1.2.2. पैतृकता और आत्महत्या
(Heredity and Suicide)

कुछ वैज्ञानिक पैतृकता को आत्महत्या का कारण मानते हैं। पैतृक-आत्महत्या से तात्पर्य यह है कि आत्महत्या करने वालों के बच्चे भी इसलिए आत्महत्या करते हैं, क्योंकि

उनके माता-पिता के आत्महत्या के लक्षण उनमें भी पैतृकता से आ जाते हैं। गाल तथा एस्क्विरोल आदि विद्वानों ने अपने इस तथ्य की पुष्टि में कुछ उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। गाल के अनुसार पेरिस के एक धनी जमींदार ने आत्महत्या की और उसके सात बच्चे थे जो सभी आत्महत्या करके ही मृत्यु को प्राप्त हुए। एस्क्विरोल ने भी ऐसा ही उदाहरण दिया है—एक व्यापारी के भी पाँच बच्चों में से चार ने आत्महत्या की और पाँचवें ने कई बार आत्महत्या का प्रयास किया।

आलोचना (Criticism)—दुर्खीम के मत में पैतृकता को आत्महत्या का कारण मानना ठीक नहीं है क्योंकि आत्महत्या के गुणों का हस्तान्तरण नहीं होता है। दुर्खीम का मानना है कि यदि पैतृकता ही आत्महत्या की प्रवृत्ति का आधार है तो स्त्री-पुरुष एवं प्रत्येक आयु के लोगों पर समान रूप से इसका प्रभाव पड़ना चाहिए किन्तु उन्होंने आयु और लिंग से सम्बन्धित आँकड़े प्रस्तुत करके इन दोनों के सम्बन्ध के सिद्धान्त का खण्डन किया है। आत्महत्या एक संक्रामक घटना है। उन्मादी अथवा स्नायुदोष का रोगी अपने परिवार वालों की आत्महत्या का स्मरण करके वैसा कर सकता है, किन्तु इसका कारण मानसिक दुर्बलता के कारण संक्रामक आक्रमण है, पैतृकता नहीं। एक अस्पताल में 15 रोगियों ने एक अन्धेरे स्थान पर फाँसी लगाकर एक के बाद एक करके आत्महत्या की और जब वह फाँसी का फन्दा वहाँ से हटा लिया गया तो आत्महत्या भी नहीं हुई। इससे निष्कर्ष निकलता है कि न तो प्रजातीय लक्षण और न ही पैतृकता आत्महत्या का कारण है, बल्कि मनोवैज्ञानिक प्रवृत्तियाँ भी सामाजिक परिस्थितियों के सन्दर्भ में ही आत्महत्या के लिए उत्तरदायी होती हैं।

2. प्राकृतिक अथवा भौगोलिक दशाएँ और आत्महत्या
(Natural or Geographical Conditions and Suicide)

प्राकृतिक पर्यावरण भी विशेष प्रकार के रोगों को जन्म देता है। अतः प्राकृतिक दशाओं के प्रभाव से भी आत्महत्याएँ हो सकती हैं। इनमें जलवायु और तापमान आत्महत्या का कारण हो सकता है। दुर्खीम के मत में भौगोलिक दशाएँ स्वयं में आत्महत्या के लिये उत्तरदायी नहीं है, किन्तु इन भौगोलिक अथवा प्राकृतिक कारकों का प्रभाव सामाजिक दशाओं पर पड़ता है और ये सामाजिक दशाएँ व्यक्ति को आत्महत्या करने के लिये प्रेरित करती हैं। इन प्राकृतिक अथवा भौगोलिक दशाओं में जलवायु और तापमान को लिया गया है, जिसकी व्याख्या निम्नलिखित प्रकार से की जा सकती है—

2.1. जलवायु और आत्महत्या
(Climate and Suicide)

मौरसिल ने आत्महत्या के लिए जलवायु को कारक माना है। उनके अनुसार 47° तथा 57° अक्षांश और 20° तथा 40° देशान्तरों के बीच का क्षेत्र आत्महत्या के लिये सर्वाधिक अनुकूल होता है। इस क्षेत्र में अधिकतर समशीतोष्ण जलवायु पाई जाती है, जो आत्महत्या के लिये उत्तरदायी है। इस प्रकार मौरसिल आत्महत्या के लिये समशीतोष्ण जलवायु को सर्वाधिक उपयुक्त मानते हैं, किन्तु दुर्खीम इस विचार से सहमत नहीं हैं। वे इस तथ्य का खण्डन करते हैं।

आलोचना (Criticism)—दुर्खीम की मान्यता है कि आत्महत्याएँ सभी प्रकार की जलवायु में होती हैं। भारत में भी जहाँ बहुत गर्मी पड़ती है, किसी समय अधिक

आत्महत्याएँ होती रही हैं। इटली मे जब रोमन साम्राज्य यूरोप की सभ्यता का केन्द्र था, तब वहाँ बहुत आत्महत्याएँ होती थीं। अतः समशीतोष्ण जलवायु आत्महत्या की दर का कारण नहीं है, अपितु इसमे विकसित होने वाली विशिष्ट सभ्यता और उसका वितरण ही आत्महत्या का कारण हो सकता है। उनका कहना है, **"लोगों मे आत्महत्या की प्रवृत्ति के कारण की खोज जलवायु के रहस्यात्मक प्रभाव में नहीं, बल्कि इस सभ्यता की प्रकृति में, विभिन्न देशों में इसके वितरण की पद्धति में की जानी चाहिये।"**

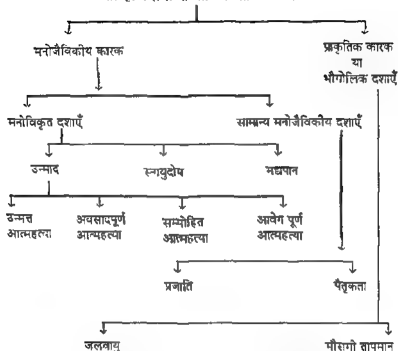
दुर्खीम के मत मे आत्महत्या की दर में कमी अथवा वृद्धि वास्तव मे सामाजिक कारको का परिणाम है। उन्होने बताया कि सन् 1870 तक इटली के उत्तरी भाग में अधिक आत्महत्याएँ होती थीं, परन्तु इसके पश्चात् केन्द्रीय भाग मे अधिक आत्महत्याएँ होने लगीं, फिर दक्षिणी भाग मे आत्महत्या की दर बढ गई। बाद मे उत्तरी केन्द्रीय क्षेत्रो का अन्तर कम होकर पुनः एकबार केन्द्रीय क्षेत्र मे ही सर्वाधिक आत्महत्याएँ होने लगीं। इस समस्त परिवर्तन का कारण जलवायु नहीं, वरन् सन् 1870 में रोम की विजय के बाद इटली की राजधानी का केन्द्रीय भाग मे आ जाना था, जिसके फलस्वरूप सभी वैज्ञानिक, औद्योगिक और कलात्मक क्रियाएँ इस क्षेत्र मे आ गईं और आत्महत्या की दरो में वृद्धि हो गई। इस प्रकार आत्महत्या का कारण जलवायु न होकर सामाजिक है।

2.2. मौसमी तापमान और आत्महत्या (Seasonal Temperature and Suicide)

प्रायः मौसम को भी आत्महत्या का कारण माना जाता है और यह सोचा जाता है कि जब आकाश मे अन्धेरा हो, तापमान बहुत कम हो, नमी अधिक हो, प्राकृतिक वातावरण मे निराशा प्रतीत होती हो तो इस निराशापूर्ण वातावरण मे मनुष्य के मन मे विषाद उत्पन्न हो जाता है, जो उसे जीवन के प्रति उदासीन बना देता है। मॉण्टेस्क्यू के मत में ठण्डे और कुहावृत देश आत्महत्या के अनुकूल होते हैं। अतः पतझड के मौसम में अधिक आत्महत्याएँ होनी चाहिए, परन्तु दुर्खीम इस विचार से सहमत नहीं है। उनका कहना है कि, **"अधिकतम आत्महत्या न तो सर्दियों में होती है और न पतझड़ में, बल्कि मधुर मौसम में होती है। जब प्रकृति सर्वाधिक मुस्कराती है और तापमान सर्वाधिक सौम्य होता है। मनुष्य जीवन को तब त्यागना पसन्द करता है, जब वह सबसे कम कठिन होता है।"** गर्मियो मे अधिक आत्महत्याएँ की जाती हैं। दुर्खीम के मत मे गर्मा और सर्दी की आत्महत्याओ का अनुपात 6 : 4 है।

आलोचना (Criticism)—दुर्खीम ने सात प्रमुख राज्यों में ग्रीष्म, बसन्त, पतझड और शीत ऋतुओ में होने वाली आत्महत्याओं का अध्ययन किया है और बताया है कि प्रत्येक देश मे विभिन्न ऋतुओ मे सर्वाधिक सख्या मे आत्महत्याएँ ग्रीष्म ऋतु मे और सबके कम शीत ऋतु मे होती हैं। फिर भी दुर्खीम आत्महत्या का कारण गरमी को नहीं मानते हैं। उनका कहना है कि यदि गर्मी आत्महत्या का कारण है तो गरम देशो में अधिक आत्महत्याएँ होनी चाहिये, परन्तु यूरोप के दक्षिणी भागों मे आत्महत्याएँ उत्तरी देशो की तुलना में कम हैं। **अतः थर्मामीटर के परिवर्तन और आत्महत्या में परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं है।**

उपर्युक्त वर्णित आत्महत्या के असामाजिक एवं प्राकृतिक अथवा भौगोलिक कारकों को एक तालिकानुसार निम्न प्रकार से स्पष्ट किया जा सकता है—



आत्महत्या का वास्तविक आधार सामाजिक क्रिया है
(The Real basis of Suicide is Social Activity)

सामाजिक क्रिया मे होने वाले परिवर्तन ही आत्महत्या के लिए उत्तरदायी हैं। तापमान, मौसम और महीनों के अनुसार सामाजिक क्रिया की मात्रा एवं गति में परिवर्तन होता रहता है। जब दिन लम्बे होते है तो आत्महत्या अधिक होती है और दिन जब छोटे होने लगते हैं तो आत्महत्या की दर कम होती जाती है। दुर्खीम के मत मे आत्महत्या और दिन की लम्बाई का कुछ सम्बन्ध है। मुख्यत: आत्महत्याएँ दिन मे ही होती हैं अत: दिन की लम्बाई के बढने के साथ-साथ आत्महत्या की मात्रा मे परिवर्तन हो जाता है, किन्तु दिन मे *आत्महत्या अधिक होने का कारण तापमान नहीं है, बल्कि इसका कारण यह* है कि दिन मे सामाजिक जीवन अधिक सक्रिय हो जाता है। इस तीव्रता और गहनता के कारण ही आत्महत्याएँ दिन मे अधिक होती हैं। प्रात: व दोपहर के बाद सामाजिक क्रियाएँ अधिक होती हैं। इस कारण आत्महत्या भी इन्हीं समयो मे होती है। रात्रि विश्राम का काल

होता है। अतः जीवन इस समय निष्क्रिय हो जाता है और तब आत्महत्याएँ भी कम होती हैं।

दुर्खीम इस मान्यता को सप्ताह के आधार पर भी लेते हैं। ग्युरी (Guerry) ने जो सप्ताह सम्बन्धी विवरण दिया है उसके आधार पर दुर्खीम ने निष्कर्ष निकाला है कि शुक्रवार को अच्छा दिन नहीं समझा जाता, क्योंकि इस दिन व्यापारिक जीवन मे शिथिलता आ जाती है, सामाजिक क्रिया भी शिथिल हो जाती है। शनिवार की शाम तक यह शिथिलता बढ़कर, रविवार को पूर्णतया बढ जाती है और क्रियाएँ रुक जाती हैं। अतः रविवार को आत्महत्याएँ कम होती हैं, किन्तु रविवार को स्त्रियो की सक्रियता बढ़ जाती है अतः स्त्रियो मे आत्महत्याएँ उस दिन अधिक होती हैं।

मौसम के अनुसार भी आत्महत्याएँ घटती-बढ़ती है। सर्दी के दिनो मे सामाजिक जीवन निष्क्रिय हो जाता है, बसन्त के समय में सक्रियता बढ जाती है। अन्त.क्रिया तेज हो जाती है और जून और जुलाई मे आत्महत्याओ की सख्या मे और भी वृद्धि हो जाती है क्योकि इस मौसम में गाँवो मे सक्रियता बढ जाती है। अगस्त में सामाजिक क्रिया कम होने से आत्महत्याएँ भी कम होती हैं।

अतः दुर्खीम के मत में—आत्महत्या का घटना-बढ़ना भौगोलिक परिवर्तनो पर निर्भर नहीं है, वरन् सामाजिक क्रिया की तीव्रता एवं मंदता पर निर्भर करता है। यद्यपि सामाजिक क्रिया की ये दशाएं भौगोलिक दशाओ से ही प्रभावित होती हैं।

अनुकरण और आत्महत्या
(Imitation and Suicide)

अनुकरण को एक मानसिक प्रक्रिया कहा जाता है जो व्यक्ति को दूसरों के समान क्रिया के लिए प्रवृत्त करती है।

अनुकरण को तीन अर्थों में प्रयुक्त किया जाता है—

(1) अनुकरण का एक अर्थ तो यह होता है—जिसमें किसी समान कारण से प्रभावित होकर किसी सामाजिक समूह के लोग एक सगठित चेतना के रूप में समान रूप से सोचते या अनुभव करते हैं।

(2) इसका दूसरा अर्थ वह प्रेरणा है जिसके द्वारा व्यक्ति समाज में प्रचलित विचारो, प्रथाओ अथवा क्रियाओ के अनुरूप व्यवहार करता है।

(3) अनुकरण का तीसरा अर्थ वह है, जिसमे किसी देखी हुई अथवा जानी हुई घटना अथवा क्रिया को व्यक्ति स्वय करता है।

दुर्खीम ने तीसरे अर्थ को स्वीकार किया है जिसमे किसी क्रिया को देखकर व्यक्ति स्वय उसी प्रकार की क्रिया करता है—जैसे—हँसते व्यक्ति को देखकर स्वयं हँस देना, रोते को देखकर रो देना आदि अनुकरण के उदाहरण हैं जिसमे अनुकरण के लिए ही अनुकरण किया जाता है। यह एक यान्त्रिक प्रवृत्ति है और मूल क्रिया की प्रतिध्वनि है जिसका कोई बाह्य कारण नहीं होता। इस रूप मे अनुकरण एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है और यदि व्यक्ति इसी अनुकरण के आधार पर आत्महत्या कर लेता है तो आत्महत्या का आधार मनोवैज्ञानिक और असामाजिक भी हो सकता है—इसके लिए अनुकरण के सिद्धान्त की परीक्षा ली जा सकती है।

अनुकरण सिद्धान्त का परीक्षण
(Examination of Imitation Theory)

अनुकरण के सिद्धान्त का निम्नलिखित आधारों पर परीक्षण किया जा सकता है—

(i) आत्महत्या की संक्रामक प्रवृत्ति—अनुकरण को संक्रामक प्रकृति वाला माना जाता है—अर्थात् संक्रामक रोग के समान अनुकरण व्यक्तियों मे फैलता है। पाइनेल ने इसके अनेक उदाहरण दिये हैं, जैसे—स्टेम्पस् के एक पुजारी ने आत्महत्या की तो कुछ दिन पश्चात् अन्य लोगो ने भी आत्महत्याएँ कीं। जेरूशलम के आक्रमण के समय अनेक यहूदियो ने आत्महत्या करली। इस आधार पर पाइनेल आत्महत्या को संक्रामक रोग के समान मानते है, किन्तु दुर्खीम इस सिद्धान्त का खण्डन करते है। उनका मानना है कि संक्रामक रोग सामूहिक रूप मे फैलता है और एक से दूसरे को लगता है, किन्तु आत्महत्या की प्रकृति उस प्रकार की नहीं है, यह तो सामाजिक परिस्थिति मे उत्पन्न सामूहिक मनःस्थिति का परिणाम होती है।

(ii) आत्महत्या का भौगोलिक वितरण और अनुकरण (Geographical Distribution of Suicide and Imitation)—दुर्खीम के मत में अनुकरण का प्रभाव तभी समझा जा सकता है, जब यह पता लग जाये कि किस क्षेत्र का अनुकरण हो रहा है। यदि आत्महत्या का कारण अनुकरण की मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति है तो एक क्षेत्र मे होने वाली आत्महत्याओ की दर बढनी चाहिये, भले ही उनका सामाजिक पर्यावरण अलग रहा हो। अनुकरण-केन्द्र की स्थापना करने के लिये दुर्खीम ने तीन मापदण्डो का निर्धारण किया है—

(1) उस क्षेत्र मे अन्य क्षेत्रो की तुलना मे आत्महत्या की प्रवृत्ति अधिक तीव्र होनी चाहिये।

(2) इन क्षेत्रो की ओर आस-पास के लोगो का ध्यान निरन्तर बना रहना चाहिये।

(3) इस केन्द्र के निकटतम स्थान मे आत्महत्या का अधिक अनुकरण होना चाहिये फिर प्रभाव कम होता जाना चाहिये।

दुर्खीम ने अनेक प्रयोगों के आधार पर यह निष्कर्ष दिया है कि आत्महत्या के अनुकरण मे कोई निश्चित केन्द्र नहीं है। यदि किन्हीं क्षेत्रो मे आत्महत्या की दर में निकटता आती है तो उसका कारण सामाजिक हो सकता है। इस प्रकार दुर्खीम यहाँ भी सामाजिक कारणो को महत्त्व देते हैं।

पाल ने अपने अध्ययन के आधार पर यह सिद्ध किया है कि आत्महत्या उन्हीं लोगो के द्वारा की जाती है जिनमे इस प्रकार की प्रवृत्ति पहले से ही विद्यमान होती है। दुर्खीम ने भी आत्महत्या की संक्रामक-प्रकृति के विचार को अस्वीकृत किया है और यह माना है कि अनुकरण आत्महत्या का मौलिक कारण नहीं है। यह केवल उस अवस्था को प्रकट करता है, जो इस क्रिया का वास्तविक संचालक कारक है। निष्कर्षतः आत्महत्या अनुकरण का परिणाम नहीं है।

आत्महत्या के प्रकार
(Types of Suicide)

जैसा कि पूर्व पृष्ठो के आधार पर यह स्पष्ट हो चुका है कि आत्महत्या की प्रवृत्ति को मनोजैविकीय अथवा प्राकृतिक पर्यावरण के आधार पर स्पष्ट रूप से नहीं समझा जा

सकता है, अपितु यह एक सामाजिक घटना है, जिसका प्रकटीकरण व्यक्तिगत रूप मे होता है। विभिन्न प्रकार के सामाजिक, आर्थिक कारण आत्महत्याओं के लिये उत्तरदायी होते हैं। आत्महत्याओं को विशेषता की समानता एवं भिन्नता के आधार पर दुर्खीम ने उनके प्रकारों का निर्धारण किया है। उनके मत में आत्महत्या के प्रकारों का वर्गीकरण उनको उत्पन्न करने वाले सामाजिक कारको के वर्गीकरण के आधार पर किया जाना चाहिये। इस दृष्टि से जितने प्रकार के सामाजिक कारक होगे उतनी ही प्रकार की आत्महत्याएँ होगी। दुर्खीम आत्महत्या के प्रकारो में धर्म, परिवार, राजनीति, व्यवसाय आदि सामाजिक तत्त्वो को महत्त्वपूर्ण मानते हैं। अब आगे के पृष्ठो में आत्महत्या के प्रकारो पर प्रकाश डाला जायेगा। दुर्खीम ने प्रमुख रूप से तीन प्रकार की आत्महत्याओ का वर्णन किया है, जो इस प्रकार हैं—

1 अहंवादी आत्महत्या,
2 परार्थवादी आत्महत्या, तथा
3 आदर्शहीन आत्महत्या।

(1) अहंवादी आत्महत्या
(Egoistic Suicide)

दुर्खीम का मानना है कि सामाजिक परिस्थितियाँ विशिष्ट भावात्मक स्थितियों को जन्म देती हैं जिसके फलस्वरूप व्यक्ति आत्महत्या करता है। अहंवादी आत्महत्या का मूल कारण सामाजिक समूहो मे विघटन का होना है। दुर्खीम का कहना है कि व्यक्ति के व्यक्तिगत जीवन और सामाजिक जीवन में जब असन्तुलन हो जाता है और व्यक्ति स्वय को समाज के साथ आवद्धित नहीं पाता है तो अतिशय वैयक्तिकता (Intense Individualization) की स्थिति आ जाती है। इसे इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है कि यदि कोई विशिष्ट सामाजिक समूह सगठित है, उसके सदस्यों की समूह के साथ एकात्मकता है, वे समूह के आदर्शों के अनुरूप आचरण करते हैं व सामूहिक जीवन के प्रति लगाव रखते हैं, तो उसके सदस्यो मे परस्पर व समूह के प्रति प्रेम व रुचि बनी रहती है, किन्तु यदि ऐसी स्थिति उत्पन्न हा जाए कि समूह के सदस्य सामूहिक गतिविधियो के प्रति उदासीन हो जाये, उसमे रुचि लेना छोड दे, उसके प्रति आकर्षण न रखे, तो सामाजिक समूह विखण्डित हो जाते हैं। उनमे असंगठन व विघटन की स्थिति हो जाती है और फिर उस समूह के व्यक्तियो का निजी जीवन के प्रति भी लगाव व झुकाव नहीं रहता, उस स्थिति मे अधिक आत्महत्याएँ होती हैं।

दुर्खीम के मत मे जब सामाजिक समूहो मे एकीकरण होता है तो आत्महत्या की दर कम होती है और सामाजिक समूहो मे विघटन होने पर आत्महत्याएँ अधिक होती हैं। जब समूह में एकीकरण का अभाव हो जाता है तो व्यक्ति समाज से अलग हटकर केवल अपने आप पर निर्भर हो जाता है अर्थात् समूह जितना दुर्बल होता है, व्यक्ति उस पर उतना ही कम आश्रित रहता है और स्वय पर उतना ही अधिक निर्भर रहता है, ऐसी स्थिति में वह अपने निजी हितो की पूर्ति मे सहायक होने वाले आचरणो का ही पालन करता है। अतः दुर्खीम का मानना है, **"यदि हम इस अवस्था को, जिसमे व्यक्तिगत अहम् की शक्ति सामाजिक अहम् की तुलना में अधिक बढ़ जाती है, अहम्वाद कहने के लिये सहमत हों तो हम अतिशय व्यक्तिवाद से उत्पन्न होने वाली आत्महत्या के विशिष्ट प्रकार को 'अहम्वादी आत्महत्या' कह सकते हैं।"**

सामूहिक शक्ति की प्रबलता के कारण व्यक्ति सामाजिक कर्त्तव्यों को भली-भाँति निभाता है व नियमों का पालन करता है इससे सामूहिक एकीकरण बना रहता है किन्तु इसके अभाव में वह स्वतन्त्र होकर अपनी इच्छानुसार आचरण करता है और अपना भाग्य *निर्माता भी स्वयं बन जाता है और इसी से अपने जीवन को समाप्त करने का भी उसको* अधिकार हो जाता है। संगठित समूहों में जो भावनाएँ व विचार सामूहिक शक्ति पर निर्भर करते हैं, उनमे परस्पर विचारो का आदान-प्रदान होता है और सामान्य भावनाओं व लक्ष्यों के आधार पर जीवन के प्रति व्यक्ति का जो लगाव होता है, वह असंगठित सामाजिक समूहों में नहीं पाया जाता। असंगठित समूह के सदस्य जीवन की कठिनाइयों को चुपचाप, अकेले रहकर सहन करने में सक्षम नहीं हो पाते। परिणामस्वरूप आत्महत्या कर लेते हैं क्योंकि उनका इनका कोई लक्ष्य नहीं रह पाता, उनको जीवन असह्य लगने लगता है। अत: यह कहा जा सकता है कि **अतिशय व्यक्तिवादिता आत्महत्या का कारण है।**

अहंवादी आत्महत्या का समाज से सम्बन्ध (Relation of Egoistic Suicide with Society)—दुर्खीम ने समाज और जीवन में सम्बन्ध स्थापित किया है। उनका मानना है कि सभ्य मनुष्य की क्रियाएँ सामूहिक जीवन से उत्पन्न होती हैं और इन क्रियाओं का उद्देश्य भी सामूहिक होता है। व्यक्ति के व्यक्तिगत जीवन मे ये क्रियाएँ समाज का प्रतिनिधित्व करती हैं। जितना अधिक व्यक्ति समाज से सबद्ध रहता है, वह उतना ही अधिक सामाजिक क्रियाओं में भाग लेता है और समाज से जितनी पृथकता होती है, जीवन के प्रति भी व्यक्ति का लगाव उतना हो कम हो जाता है। अर्थात् समाज ही व्यक्ति के जीवन का स्रोत है। मनुष्य में जीवन के प्रति संदेह या अलगाव उत्पन्न करने के कारण प्रमुखतया धार्मिक विश्वासों के प्रति सन्देह का होना, स्वयं अपने जीवन के प्रति सन्देह का होना तथा अपने परिवार और समुदाय से पृथकता का बढ़ना है। सामाजिक पक्ष के तिरोहित होते ही व्यक्ति अस्थिर प्रकृति का, उद्देश्य-विहीन और रिक्त हो जाता है, वह सोचता है कि अब उसका जीवित रहना व्यर्थ है। इस प्रकार असंगठन, असन्तुलन, एकीकरण का अभाव, जीवन के प्रति निराशावादी दृष्टिकोण आदि व्यक्ति की सामाजिक पृथकता के परिणाम हैं। जब व्यक्ति का अहम् उसे समाज से अलग कर देता है तो वह स्वयं को लक्ष्यविहीन मानकर आत्महत्या कर लेता है।

दुर्खीम के मत में इसे 'अहंवादी आत्महत्या' इसलिए कहा गया है, क्योंकि वैयक्तिकता, अहम् और सामाजिक पृथकता आत्महत्या के जन्मदाता हैं। इस प्रकार दुर्खीम के मत मे अहंवादी आत्महत्या सामाजिक संगठन के अभाव मे होती है। व्यक्ति के जीवन को प्रभावित करने वाले मुख्यतया तीन सामाजिक समूह हैं— (1) धार्मिक समूह, (2) परिवार और (3) राजनैतिक समूह। दुर्खीम ने तीनों समूहों की संगठनात्मक स्थिति के आधार पर अहम्वादी आत्महत्या के कारणों की व्याख्या की है। तीनों का अभाव आत्महत्या की दरों मे वृद्धि का कारण होता है। इस सम्बन्ध मे तीन निष्कर्ष भी प्रस्तुत किये हैं—

(क) आत्महत्या धार्मिक समाज के एकीकरण की मात्रा के साथ विपरीत दिशा में विचरण करती है।

(ख) आत्महत्या पारिवारिक समाज के एकीकरण की मात्रा के साथ विपरीत दिशा मे विचरण करती है।

(ग) आत्महत्या राजनैतिक समाज के एकीकरण की मात्रा के साथ विपरीत दिशा में विचरण करती है।

इन तीनो की व्याख्या निम्नांकित पक्तियो मे की जा सकती है—

(1) धर्म और अहंवादी आत्महत्या (Religion and Egoistic Suicide)— दुर्खीम ने यूरोप के विभिन्न धर्मों के अनुयायियो के आँकडो को प्रस्तुत करते हुए यह निष्कर्ष दिया है कि जिन धार्मिक समूहो मे व्यक्तिगत स्वतन्त्रता अधिक होती है व एकीकरण कम होता है वहाँ आत्महत्याएँ अधिक होती है और जिन धार्मिक सगठनो मे व्यक्तिगत निर्णय की स्वतन्त्रता कम होती है, वहाँ एकीकरण की मात्रा अधिक होती हैं, वहाँ आत्महत्याएँ कम होती हैं। इसे प्रोटेस्टेण्ट और कैथोलिक धर्म का उदाहरण देकर स्पष्ट किया जा सकता है। प्रोटेस्टेण्ट सम्प्रदाय मे व्यक्तिगत स्वतन्त्रता अधिक होने से एकीकरण की मात्रा कम होती है। अतः आत्महत्याएँ यहाँ अधिक होती हैं, जबकि कैथोलिक सम्प्रदाय मे प्रोटेस्टेण्ट की तुलना मे एकीकरण की अधिकता होती है। इस कारण आत्महत्याएँ वहाँ कम होती हैं, अतः दुर्खीम ने निष्कर्ष दिया है, **"बिना किसी अपवाद के सब जगह अन्य धर्मावलम्बियों की तुलना मे प्रोटेस्टेण्ट अधिक आत्महत्या करते हैं।"** दुर्खीम ने बताया है कि यहूदियो मे भी आत्महत्या की प्रवृत्ति प्रोटेस्टेण्टो से कम होती ह। प्रोटेस्टेण्टो और कैथोलिक दोनो ही नैतिक आधार पर आत्महत्या को दण्डनीय मानते हैं तथा इसे पाप कर्म मानते है फिर भी इन दोनो मे आत्महत्या का अन्तर है, इसका कारण यह है कि प्रोटेस्टेण्ट सम्प्रदाय परम्परा और रूढियो की मान्यताओ को स्वीकार नहीं करता, वह नवीन विश्वासो व मान्यताओ को स्वीकार करता है जबकि कैथोलिक सम्प्रदाय प्राचीन विश्वासो, मान्यताओ से बँधा हुआ है। यह सम्प्रदाय रूढिवादी है, इसमे तर्क और परीक्षण के लिए कोई स्थान नहीं है।

दुर्खीम के अनुसार—कैथोलिक चर्च की तुलना मे प्रोटेस्टेण्ट चर्च कम दृढ़ता के साथ सगठित है जिसके परिणामस्वरूप प्रोटेस्टेण्ट लोग अधिक आत्महत्याएँ करते है।

यहूदी लोगों के प्रति अन्य लोगो के मन मे सामान्य विरोध है इससे वे अपना पृथक् जीवन जीते हैं, हर यहूदी के आचार-विचार समान हैं। उनमे न व्यक्तिगत भिन्नता है, न ही वे व्यक्तिगत निर्णय लेते हैं। उनमे धार्मिक सुदृढ़ता और नियन्त्रण अधिक है, इसलिए उनमे आत्महत्या की दर कम होती है।

दुर्खीम ने फ्रास, जर्मनी, नार्वे, स्वीडन, डेनमार्क व स्पेन आदि देशो से सकलित आँकडो के आधार पर यह निष्कर्ष दिया है कि **प्रोटेस्टेण्ट सम्प्रदाय मे शिक्षा का प्रसार अधिक है।** इसलिए उनमे कैथोलिको की तुलना मे आत्महत्याएँ अधिक होती हैं। इसका कारण यह है कि स्वतन्त्र निर्णय का आधार ज्ञान और शिक्षा है और शिक्षा से सामान्य विश्वास कमजोर हो जाते हैं। अतः शिक्षा और ज्ञान या बौद्धिक क्रिया—उच्च व्यवसाय और सम्पन्न वर्ग को भी जन्म देती है। **मौरसेलि ने बताया है कि शिक्षा और ज्ञान के क्षेत्र मे विद्यमान लोगों में आत्महत्या की दर सबसे अधिक थी। स्त्रियाँ पुरुषो की तुलना मे कम आत्महत्याएँ करती है क्योंकि वे पुरुषो से कम पढ़ी-लिखी होती हैं।** उच्च वर्ग के व्यक्ति भी अधिक आत्महत्या करते हैं।

शिक्षित लोग अधिक आत्महत्या करते हैं इसका कारण यह हो सकता है कि शिक्षा परम्परागत विश्वासों को शिथिल बना देती है और नैतिक व्यक्तिवाद को जन्म देती है। शिक्षा का प्रसार बौद्धिक विचारों की स्वतन्त्रता को जन्म देता है जिसके कारण धार्मिक समाज का संगठन कमजोर हो जाता है, उनकी एकता विखंडित हो जाती है और **यही कमजोरी या विखंडन वास्तव में अहंवादी आत्महत्या का वास्तविक कारण है।**

दुर्खीम का कहना है, "*मस्तिष्क की ये सामूहिक अवस्थाएँ* जितनी अधिक और मजबूत होती हैं, धार्मिक समुदाय का संगठन उतना ही अधिक सुदृढ़ होता है और उतना ही अधिक उसका संरक्षणात्मक मूल्य होता है।"

अन्त में यह कहा जा सकता है कि अहंवादी आत्महत्या धर्म से सम्बन्धित है अर्थात् (1) **जहाँ धार्मिक समाज में एकीकरण की मात्रा अधिक होती है व व्यक्तिगत स्वतन्त्रता कम होती है वहाँ आत्महत्या की दर कम होती है और जहाँ व्यक्तिगत स्वतन्त्रता अधिक होती है और एकीकरण की मात्रा कम होती है वहाँ आत्महत्याएँ अधिक होती है।** (2) साथ ही शिक्षा व ज्ञान की अधिकता से आत्महत्या की दरों में वृद्धि होती है, तथा (3) उच्च वर्गों में आत्महत्याएँ अधिक होती हैं।

(2) परिवार और अहंवादी आत्महत्या—समाज का संगठन और एकीकरण व्यक्तियों को जीवित रहने की प्रेरणा देता है। जो परिवार जितना अधिक संगठित होता है उसमें आत्महत्या की दर उतनी ही कम होती है और विघटित परिवार, जहाँ प्रत्येक व्यक्ति अपने निजी अहम् पर जीता है, वहाँ आत्महत्या की दर ऊँची होती है। दुर्खीम ने विभिन्न देशों के आँकड़े एकत्र करके अध्ययन किया है, जिसमें उन्होंने वैवाहिक स्थिति, आयु व लिंग आदि के साथ आत्महत्या के सम्बन्ध को स्थापित किया है।

विवाहित व्यक्तियों की तुलना में अविवाहित व्यक्ति अधिक आत्महत्या करते हैं। अविवाहित व्यक्ति सुविधापूर्ण जीवन जीते हैं, उनकी जिम्मेदारियाँ भी कम होती हैं। परिणामस्वरूप आत्महत्या करने में भी उन्हें कोई हिचक नहीं होती। साथ ही 16 वर्ष से कम आयु के अविवाहित कम आत्महत्या करते हैं इसका कारण उनकी अपरिपक्वता या अवयस्कता हो सकता है। दुर्खीम ने *वैवाहिक स्थिति और आत्महत्या के सह-सम्बन्ध* **के आधार पर निम्नलिखित निष्कर्ष दिये है—**

(i) **शीघ्र विवाह विशेषकर, पुरुषों के शीघ्र विवाह से आत्महत्या की दर बढ़ जाती है।**

(ii) **20 वर्ष के बाद अविवाहित व्यक्तियों की तुलना में विवाहित (पुरुष और स्त्री) व्यक्तियों में आत्महत्या की दरों में कमी आने लगती है।**

उपर्युक्त निष्कर्षों से स्पष्ट होता है कि विवाहित पुरुषों में आत्महत्या की दर कम होती है। इसके दो कारण हो सकते हैं—(1) पारिवारिक वातावरण का प्रभाव और (2) जीवन-साथी का चुनाव। दुर्खीम का मानना है कि पारिवारिक पर्यावरण अधिक प्रभावपूर्ण कारण है। स्त्रियों की तुलना में पुरुषों को विवाह का लाभ अधिक होता है। पारिवारिक जीवन स्त्री और पुरुष की नैतिक रचना पर भिन्न-भिन्न प्रभाव डालता है। मोरसेलि ने विधवा स्त्रियों के सम्बन्ध में भी आँकड़े प्रस्तुत किये हैं और बताया है कि विधवा स्त्रियाँ अधिक आत्महत्या करती हैं क्योंकि विधुरों की तुलना में उनकी स्थिति अधिक दयनीय होती है।

उनके समक्ष अनेक नैतिक व आर्थिक कठिनाइयाँ होती हैं। दुर्खीम का मत इससे कुछ भिन्न है। उनका मानना है कि विधवाएँ पुनर्विवाह के प्रति अनिच्छा रखती हैं जबकि विधुर पुनर्विवाह मे अधिक रुचि रखते हैं—यदि वैधव्यता स्त्रियो के लिए कष्टदायी होती तो उनमे भी स्वाभाविक रूप से पुनर्विवाह के प्रति रुचि होनी चाहिए थी अत: वैवाहिक चुनाव का सिद्धान्त पुरुष और स्त्रियो दोनो पर लागू नहीं होता, वास्तव मे विवाहित पुरुषो मे आत्महत्या की दर कम होने का कारण परिवार है जिसमे माता-पिता व बच्चे सम्मिलित रहते हैं।

आत्महत्या की दर तब कम हो जाती है, जब परिवार मे सदस्यों की सख्या बढ जाती है। इस प्रकार पारिवारिक समूह आत्महत्या को रोकने मे सहायक होते हैं। दुर्खीम का मानना है कि मनुष्यों का मूल्य सम्पत्ति के आधार पर नहीं आँका जा सकता। अत: परिवार के आकार का बढ़ना मनुष्यो को जीने की इच्छा को बढ़ाता है न कि मुसीबत को पैदा करता है। जब परिवार के सदस्य सम्मिलित होकर पारिवारिक गतिविधियो मे निरन्तर भागीदार रहते हैं तो आत्महत्या से बचाव होता रहता है। परिवार जितनी अधिक दृढ़ता के साथ सगठित होगा, आत्महत्याएँ उतनी ही कम होगी। निष्कर्षत: **परिवार आत्महत्या के विरुद्ध एक शक्तिशाली सुरक्षा है।** इस प्रकार आत्महत्या पारिवारिक सगठन की मात्रा के साथ विपरीत दिशा मे विचरण करती है।

(ii) राजनैतिक समाज और आत्महत्या (Political Society and Suicide)—संगठन की एकता का आत्महत्या के साथ सम्बन्ध राजनीति के स्तर पर भी देखा जा सकता है। दुर्खीम के विचार मे प्रारम्भिक अवस्था मे प्रत्येक समाज मे बहुत कम आत्महत्याएँ होती है, किन्तु जैसे-जैसे समाज विकसित होता जाता है, उसमे असगठन बढता जाता है और उसमे आत्महत्या की दर भी बढती जाती है। दुर्खीम ने इस सम्बन्ध मे यूनान और रोम के समाजो के आधार पर इस कथन की पुष्टि की है। फ्रास मे क्रान्ति के समय सामाजिक अव्यवस्था हो गई थी, सामाजिक जीवन अस्त-व्यस्त हो गया था, उस समय वहाँ अचानक आत्महत्या की दरो मे वृद्धि हो गई थी। राजनैतिक उथल-पुथल आत्महत्या की दरो मे वृद्धि कर देती है किन्तु **मौरसेलि** इस बात को नहीं मानते, उन्होने इस तथ्य से सम्बन्धित अध्ययन के परिणामो को प्रस्तुत किया है कि आत्महत्या राजनैतिक उथल-पुथल का कारण नहीं है।

इस सम्बन्ध मे दुर्खीम का मानना है कि सभी राजनैतिक सकट एक-सा प्रभाव नहीं छोडते। आत्महत्याओ की दर केवल ऐसी सकटपूर्ण घटनाओ में कम होती है जो भावनाओं को उत्तेजित करती हैं। किसी समुदाय के एकीकरण की मात्रा आत्महत्या की दर को निश्चित करती है। राजनैतिक सकट जन-मानस को उत्तेजित करते है और उस समय व्यक्ति सकटो से अपने आपको सुरक्षित करने के लिए और अधिक सगठित हो जाते है, जिसके परिणामस्वरूप आत्महत्याएँ कम होती हैं। इस प्रकार आत्महत्या की दर का कारण केवल क्रान्ति अथवा सकट नहीं है। राजनैतिक सकट तो आत्महत्याओ की दरो मे कमी करते हैं। दुर्खीम कहते है, **"बडे-बड़े सामाजिक उपद्रव और बड़े-बड़े प्रसिद्ध युद्ध सामूहिक भावनाओं को जाग्रत करते है, दलगत भावना और देशभक्ति, राजनैतिक और राष्ट्रीय आस्था—दोनों को उत्तेजित करते है और एक ही लक्ष्य की दिशा में एकाग्रतापूर्ण**

क्रिया अस्थाई रूप से ही सही, समाज में अधिक दृढ़ एकीकरण उत्पन्न कर देती है।" निष्कर्षत: संकट से उत्पन्न एकीकरण की दृढ़ता के कारण आत्महत्या की दर को कम करने पर इसका सीधा प्रभाव पड़ता है।

(2) परार्थवादी आत्महत्या
(Altruistic Suicide)

जिस प्रकार जब मनुष्य समाज से पृथक् हो जाता है, तो उसे अपने अन्दर आत्महत्या का सामना करने की शक्ति का कम अनुभव होता है, उसी भाँति जब सामाजिक एकीकरण अत्यधिक सुदृढ़ हो जाता है और व्यक्ति को अपने व्यक्तित्व का कोई मूल्य ही नहीं दिखाई देता, केवल समाज उसकी प्रत्येक क्रिया को यंत्र की भाँति निर्देशित करता रहता है उसके व्यक्तिगत हित, रुचियाँ या विचार पूर्णरूप से अचेतन होकर सामूहिक विचार और सामूहिक रुचि व हितों का अनुसरण करते हैं तो ऐसी स्थिति मे होने वाली आत्महत्याओं को दुर्खीम ने परार्थवादी आत्महत्या कहा है। इस प्रकार परार्थवादी आत्महत्या प्रथम प्रकार की अहम्वादी आत्महत्या का विपरीत रूप है। परार्थवादी आत्महत्या उस स्थिति में की जाती है जब व्यक्ति और समाज परस्पर इतनी घनिष्ठता से सम्बद्ध हो जाते है कि समाज या समूह व्यक्ति के व्यक्तित्व को पूर्णतया मूल्यहीन कर देते हैं, वह जो कुछ क्रियाएँ करता है सब कुछ समाज या समूह की दृष्टि से करता है, वह केवल समूह का सदस्य रह जाता है, इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं, उसे समूह के लिए अपने आपको त्यागना भी पड़ सकता है, ऐसी स्थिति मे दुर्खीम के मतानुसार, आत्महत्या ही एक विकल्प रह जाता है, जिसे परार्थवादी आत्महत्या कहा गया है।

दुर्खीम ने इस प्रकार की आत्महत्या के अनेक उदाहरण दिये हैं—भारत मे सन्यासी प्राणायाम करके समाधिस्थ हो जाया करते थे। सती प्रथा के अन्तर्गत स्त्रियाँ पति की मृत्यु के उपरान्त स्वय भी उसकी चिन्ता मे जलकर मर जाया करती थीं। गाँव मे किसी मुखिया की मृत्यु के पश्चात् उसके अनुयायी भी आत्महत्या कर लेते थे। डेनमार्क के सैनिक वृद्धावस्था अथवा रोग के कारण चारपाई पर मरना अपमानजनक मानकर, उससे पूर्व ही आत्महत्या कर लेते थे। दुर्खीम के मत मे भारतवर्ष तो परार्थवादी आत्महत्या का प्रमुख केन्द्र रहा है। यहाँ की संस्कृति मे एक निश्चित आयु प्राप्त कर लेने के पश्चात् और अपने कर्तव्यों से मुक्ति पा लेने के बाद व्यक्ति प्राणायाम करके समाधिस्थ हो जाता था। बुद्ध को निर्वाण प्राप्ति के लिए आत्मदाह की स्वीकृति दी गई थी। बार्थ ने अपनी कृति 'भारत के धर्म' मे लिखा है कि दक्षिण भारत के जैनियो मे भूखे रहकर धार्मिक आत्महत्याएँ करने का प्रचलन था। बनारस मे 'काशी करवट' की क्रिया प्रसिद्ध है जिसमे साधक मुक्ति पाने के उद्देश्य से आरे पर अपने शरीर को रख देता था और टुकड़े कट-कटकर गंगा की लहरो मे समा जाते थे। यद्यपि दुर्खीम ने 'काशी करवट' की चर्चा नहीं की किन्तु उन्होने गंगा के जल मे आत्महत्या करके मुक्ति पाने की क्रिया के विषय में लिखा है। जापान अमिदा आदि स्थानों पर आत्मबलि की प्रथा है। 'बलि-प्रथा' भी परार्थवादी आत्महत्या ही है, हर समाज मे यह प्रथा प्रचलित है। भीलों मे शिव के समक्ष 'बलि' दी जाती है। इन सभी उदाहरणो से स्पष्ट होता है कि परार्थवादी आत्महत्या बहुत पहले से प्रचलित हैं जिसमे व्यक्ति अपने स्वत्व को भुलाकर समाज अथवा ईश्वर के समक्ष स्वय को विलीन करके उसी मे एकाकार हो जाता है।

दुर्खीम ने उस अवस्था को 'परार्थवादी अवस्था' कहा है जिसमें व्यक्तिवादी मनोवृत्ति का पूर्ण अभाव होता है, सामूहिक पर्यावरण सामाजिक हित से प्रेरित होता है तथा सामाजिक संगठनो की अतिशय दृढता होती है। इस अवस्था से उत्पन्न होने वाली आत्महत्याएँ ही परार्थवादी आत्महत्याएँ हैं। चूँकि इन आत्महत्याओ मे **कर्त्तव्य** को प्रमुखता दी जाती है अत: इन्हें **कर्त्तव्य प्रधान परार्थवादी आत्महत्या** कहा जायेगा। दुर्खीम का मानना है कि **परार्थवादी मनोवृत्ति में अवैयक्तिकता अपने चरमोत्कर्ष पर होती है, परार्थवाद उग्र हो जाता है।**

दुर्खीम इस प्रकार की आत्महत्या मे शहीदो को भी सम्मिलित करते हैं। उन्हे आत्महत्या की इच्छा करने मे बलिदान का सुख मिलता है अत: समाज बलिदानो को महत्त्व देता है। दुर्खीम ने परार्थवादी आत्महत्याओं को तीन भागों में बाँटा है—

(अ) कर्त्तव्य प्रधान परार्थवादी आत्महत्या (Duty promiment Altruistic Suicide)—इसमें व्यक्ति समाज के आदेश के सम्मुख नतमस्तक होकर, सामाजिक कर्त्तव्य को अनिवार्य समझकर आत्महत्या करने के लिए प्रेरित होता है।

(ब) वैकल्पिक परार्थवादी आत्महत्या—इस प्रकार की आत्महत्या मे व्यक्ति बाध्य होकर आत्महत्या नहीं करता, वरन् समाज मे प्रतिष्ठा प्राप्त करने के उद्देश्य से आत्महत्या करता है।

(स) उग्र या तीव्र परार्थवादी आत्महत्या—इसमे सामाजिक पर्यावरण व्यक्ति को मानवेतर शक्ति के समक्ष स्वत्वहीन कर देता है। वह एक महान् व्यक्तित्व मे अपने को विलीन करने के लिए आत्महत्या करता है।

अहम्वादी और परार्थवादी आत्महत्या में अन्तर (Distinction Between Egoistic and Altruistic Suicides)—अहम्वादी आत्महत्या और परार्थवादी आत्महत्या मे निम्नलिखित अन्तर हो सकता है—

(1) अहम्वादी आत्महत्या मे समाज व्यक्ति को आत्महत्या करने के लिए बाध्य नहीं करता, अपितु समाज से अलगाव व्यक्ति को इतना अधिक निराश बना देता है कि मरने के अतिरिक्त वह और कुछ कर ही नहीं पाता। जबकि परार्थवादी आत्महत्या मे समाज प्रत्यक्षत. ऐसी स्थितियाँ उत्पन्न कर देता है, जो व्यक्ति को स्वय को समाप्त करने के लिए बाध्य कर देती हैं। अर्थात् आत्महत्या उसके लिए कर्त्तव्य बन जाती है।

(2) अहम्वादी आत्महत्या का प्रमुख कारण अतिशय वैयक्तिकता है, जबकि परार्थवादी आत्महत्या का मूल कारण अतिन्यून वैयक्तिकता है।

(3) अहम्वादी आत्महत्या इसलिए की जाती है क्योंकि समाज ने व्यक्ति को सामाजिक जीवन से पलायन कर जाने की छूट दे दी है। वह समाज की चिन्ता न करके, अपनी स्वतत्र इच्छा का अनुगमन कर सकता है। जबकि परार्थवादी आत्महत्या मे समाज पूर्ण रूप से व्यक्ति को अपने चगुल मे ले लेता है, उसे अपना दास बना देता है।

(4) अहम्वादी आत्महत्या मे व्यक्ति इसलिए निराश और दु खी होता है क्योंकि उसे अपने अतिरिक्त ससार मे और कुछ भी दिखाई नहीं देता है। जबकि परार्थवादी आत्महत्या में व्यक्ति इसलिए निराशा ओर दु.खी होता है क्योंकि उसे अपने व्यक्तित्व मे कुछ भी सत्य दिखाई नहीं देता है बल्कि समाज ही उसके लिए सब कुछ होता है।

(5) अहवादी आत्महत्या मे क्रियाशीलता का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है, व्यक्ति मे मानसिक बोझ और व्याकुलता छा जाती है, जबकि परार्थवादी आत्महत्या व्यक्ति तीव्र उत्साह और शक्ति के साथ इस जीवन-लीला को समाप्त कर सत्यम्-शिवम्-सुन्दरम् की ओर उन्मुख हो जाता है।

(6) अहम्वादी आत्महत्या मे नैतिक चेतना का अभाव होता है, जबकि परार्थवादी आत्महत्या नैतिक चेतना से सम्बन्धित होती है, उसमें त्याग और समर्पण की भावना रहती है।

(7) दुर्खीम ने दोनो की मन.स्थिति का विश्लेषण इस प्रकार किया है, "एक जीवन से इसलिए पृथक् है, क्योकि ऐसा कोई लक्ष्य न देखकर, जिससे वह अपने को सम्बन्धित कर सके, वह स्वय को व्यर्थ और उद्देश्यहीन अनुभव करता है, दूसरा इसलिए क्योकि उसके सामने लक्ष्य होता है, परन्तु वह इस जीवन के बाहर कहीं होता है, जिसे प्राप्त करने मे यह जीवन उसे एक बाधा प्रतीत होती है।" इसमे प्रथम स्थिति अहम्वादी की है और दूसरी परार्थवादी की।

सैनिक जीवन और परार्थवादी आत्महत्या (Military-life and Altruistic Suicide)—दुर्खीम ने परार्थवादी आत्महत्या का सम्बन्ध विशेष रूप से सैनिक जीवन से जोड़ा है। अनेक देशो के आँकड़ो के आधार पर उन्होने यह सिद्ध किया है कि नागरिको की तुलना मे सैनिको मे आत्महत्याओ की प्रवृत्ति अधिक पाई जाती है। दोनो की आत्महत्या की दर की तुलना करके दुर्खीम ने यह सिद्ध किया है कि सेवा की अवधि बढ़ने के साथ आत्महत्या की दर बढ जाती है।

दुर्खीम सैनिको मे आत्महत्या की प्रवृत्ति की अधिकता के निम्न कारण नहीं मानते हैं—(1) सैनिक अधिकारियो के अविवाहित होने को इसका कारण नहीं मानते हैं, (2) मद्यपान को इसका कारण नहीं मानते हैं, (3) सैनिक जीवन के साथ अनुकूलन की कठिनता को भी वे आत्महत्या का कारण नहीं मानते हैं, (4) उनके मत मे सैनिक जीवन की कठोरता और अनुशासन भी आत्महत्या का कारण नहीं है।

दुर्खीम के मत मे वे सैनिक आत्महत्या करते हैं जिनकी रुचि इस सेवा मे अधिक होती है व जो जीवन के लिए सर्वाधिक योग्य होते हैं। अत: **सैनिको में आत्महत्या का कारण उनकी सामाजिक दशाओं में खोजा जाना चाहिये, जिनमें वे रहते हैं और जिनके प्रभाव से उनकी मानसिक स्थितियों का निर्माण होता है।** दुर्खीम के मत मे **सैनिको का प्रथम गुण अवैयक्तिकता** है। वे केवल अधिकारियो के आदेश का पालन करते हैं, सोच-विचार या तर्क-वितर्क के लिए वहाँ कोई गुंजाइश नहीं होती। अनुशासन उनके लिए सर्वोपरि है। सेवा मे स्वतन्त्र क्रिया का अवसर सबसे कम होता है और अवैयक्तिकता की स्थिति अधिक होती है इसी कारण सैनिको मे परार्थवादी आत्महत्या की दर अधिक होती है। सेना के अधिकारी मे भी यद्यपि समर्पण का भाव अधिक होता है किन्तु उसमे वैयक्तिकता अधिक होती है, अपने जीवन को वह अधिक मूल्यवान समझता है अतः उसमे बलिदान करने की प्रवृत्ति कम होती है। इसी कारण **अधिकारियों में अराजपत्रित अधिकारियो की तुलना में परार्थवादी आत्महत्या की प्रवृत्ति कम होती है।** दुर्खीम का मानना है कि **नागरिकों में अतिशय व्यक्तिवाद के कारण आत्महत्याएँ** होती है और

सैनिकों में परार्थवाद के कारण। सैनिकों में परार्थवादी आत्महत्या का मुख्य कारण सामाजिक पर्यावरण है।

अन्तत: परार्थवादी आत्महत्या उन क्रियाओ मे व्यक्त होती है जिनकी प्रशंसा की जाती है, जिनके प्रति आदर व्यक्त किया जाता है। इसी कारण लोग इसे आत्महत्या न मानकर त्याग और बलिदान मानते हैं क्योंकि इनमे ईश्वर की प्राप्ति की भावना, निर्वाण की प्राप्ति, धर्मानुराग, आदर्श प्रेम व सामाजिक अपमान से बचाव आदि का भाव-निहित होता है, किन्तु दुर्खीम का मानना है कि चूँकि ये बलिदान त्याग और विरक्ति की भावना से किए जाते हैं, अत: इन्हें परार्थवादी आत्महत्या कहना ही उचित है।

(३) आदर्शहीन आत्महत्या
(Anomic Suicide)

प्रत्येक समाज मे मनुष्यो के व्यवहारो को नियन्त्रित करने के लिए कुछ विशिष्ट साधन या पद्धतियाँ विद्यमान हैं। प्रत्येक समाज के कुछ सामाजिक नियम होते हैं, प्रथाएँ व कानून होते हैं जो व्यवहार-नियन्त्रण के आधार-तत्त्व हैं। इन नियमो का पालन जब तक समाज भली-भाँति करता रहता है, तब तक समाज मे व्यवस्था और एकरूपता विद्यमान रहती है, परन्तु जब सब लोग अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति अपने तरीके से करने लगते हैं, सामाजिक नियमो मे शिथिलता आने लगती है तो समाज मे अव्यवस्था फैल जाती है, इससे समाज पर अनेक संकट आ जाते हैं। समाज की ऐसी अवस्था, जिसमे समाज के सदस्यो के समक्ष कोई आदर्श नियम नहीं होते हैं, सामूहिक एकरूपता समाप्त हो जाती है, समाज के सदस्य दिशाहीन होकर मनमाना व्यवहार करने लगते हैं, समाज की उस स्थिति को दुर्खीम ने 'आदर्शहीनता' की स्थिति कहा है। इस **आदर्शहीन सामाजिक अवस्था के परिणामस्वरूप जो आत्महत्या की जाती है, दुर्खीम उन्हे 'आदर्शहीन आत्महत्या' कहते है।**

(i) आर्थिक सकट और आत्महत्या (Economic Crisis and Suicide)—प्राय: यह देखा गया है कि आर्थिक सकटो की स्थिति में आत्महत्या की प्रवृत्ति बढ जाती है। अनेक अध्ययनों के आधार पर यह निष्कर्ष निकला है कि आर्थिक व व्यापारिक हानि अथवा दिवालियापन व्यक्ति को आत्महत्या के लिए प्रेरित करते है। इस व्याख्या को दुर्खीम स्वीकार नहीं करते हैं कि **निर्धनता की वृद्धि आत्महत्या की दर में वृद्धि करती है।** उनका मानना है कि यदि निर्धनता आत्महत्या की प्रेरणा देती है तो सुविधाएँ बढने से आत्महत्या की दर कम होनी चाहिए, किन्तु अनेक अध्ययनों के आधार पर यह सत्य प्रतीत नहीं होता। उन्होंने सन् 1870 से 1889 तक की अवधि में रोम की आर्थिक प्रगति की व्याख्या करते हुए कहा कि जब आर्थिक क्रिया तीव्र हो जाती है, व्यापार बढता है, औद्योगिक उन्नति होती है, तो लोगो का जीवन अधिक सुविधापूर्ण हो जाता है, ऐसी स्थिति में आत्महत्याएँ भी बढ जाती हैं। वास्तव मे आर्थिक परेशानी आत्महत्या को प्रेरित नहीं करती, बल्कि उसे सुरक्षा प्रदान करती है।

आर्थिक सकट और आर्थिक सम्पन्नता दोनो ही असामान्य अवस्थाएँ हैं अथवा संक्राति के काल हैं। प्रत्येक सक्रांति काल में सामूहिक व्यवस्था मे उथल-पुथल हो जाती है। अधिक सम्पन्नता अथवा अधिक विपन्नता दोनो ही स्थितियाँ आदर्शहीनता को जन्म देती हैं

जो आत्महत्या को प्रेरित करती हैं। जब आदर्श समाप्त हो जाते है। सामाजिक दशाएँ असामान्य हो जाती है, तब उस वातावरण से प्रेरित आत्महत्याएँ दुर्खीम के मतानुसार आदर्शहीन आत्महत्याएँ हैं।

जब व्यक्ति की आवश्यकताएँ सीमित होती हैं और साधनो के अनुरूप होती हैं तो व्यक्ति सुखी रहता है। यदि आवश्यकताएँ साधनो को तुलना मे बढ़ जाती हैं तो प्राणी को कष्ट का अनुभव होता है। अत: दुर्खीम का मानना है कि इच्छाओ को सीमित रखना चाहिए, किन्तु व्यक्ति का उन पर नियन्त्रण नहीं रहता अत: समाज को इस कार्य मे सहायता करनी चाहिए, जिससे व्यक्ति का सामंजस्य स्थिति के साथ बना रहे। समाज ही एक ऐसी नैतिक शक्ति है जो व्यक्ति से श्रेष्ठ है, और व्यक्ति उसकी सत्ता को स्वीकार करता है। जब व्यक्ति को अपनी स्थिति से सन्तोष हो जायेगा तो उसके मन में सुख व शान्ति हो जायेगी, किन्तु यह अनुशासन तभी लाभदायक हो सकेगा जब व्यक्ति इसे न्यायसंगत समझें। जबरदस्ती से लादा गया अनुशासन तो व्यक्ति में असन्तोष उत्पन्न करेगा। आकांक्षाओं पर व्यक्ति का नियन्त्रण न रहने से असन्तोष की वृद्धि होती है, परिणामस्वरूप आत्महत्याओं मे भी वृद्धि होती है। इसके विपरीत निर्धनता व्यक्ति की इच्छाओं को सीमित कर देती है अतः वह व्यक्ति को आत्महत्या के विरुद्ध सुरक्षा प्रदान करती है। दुर्खीम निर्धनता को प्रभावकारी बताते हुए कहते हैं, "यह (निर्धनता) वास्तव में **आत्मसंयम की शिक्षा का सर्वोत्तम साधन है। निरन्तर अनुशासन के लिए बाध्य करते हुए यह व्यक्ति को शान्ति से सामूहिक अनुशासन को स्वीकारने के लिए तैयार करती है, जबकि सम्पन्नता, व्यक्ति को प्रोत्साहित करते हुए सदैव विद्रोह की भावना को जागृत कर सकती है जो** अनैतिकता का स्रोत है।" क्योंकि निम्न वर्ग के मनुष्यो की इच्छाएँ सीमित होती हैं जबकि सम्पन्न व्यक्तियो को इच्छाएँ असीमित होती हैं और उन्हे पूरा करने के लिए वह निरन्तर भागता रहता है इससे उसे निराशाएँ घेर लेती है जो आत्महत्या की ओर ले जाती है। **अतः आदर्शहीन आत्महत्या नियन्त्रणहीनता और उससे उत्पन्न पीड़ा का परिणाम है।**

(ii) वैवाहिक जीवन और आदर्शहीन आत्महत्या (Marital-life and Nomuless Suicide)—दुर्खीम के अनुसार वैवाहिक जीवन मे भी आदर्शहीनता की स्थिति आ जाती है। आपके अनुसार निम्न परिस्थितियो मे आत्महत्या की सम्भावनाएँ बढ़ जाती हैं—

(अ) वैधव्य (Widowhood)—जब पति या पत्नी मे से किसी एक की मृत्यु हो जाती है तो परिवार मे आदर्शहीनता आ जाती है। वैधव्यपूर्ण जीवन नई परिस्थितियो के साथ अनुकूलन नहीं कर पाता और आत्महत्या की ओर उन्मुख हो जाता है।

(ब) विवाह-विच्छेद (Divorce)—**बर्टिलन** ने विवाह-विच्छेद का आत्महत्या के साथ सम्बन्ध स्वीकार किया है लेकिन दुर्खीम का कहना है कि विवाह-विच्छेद ही आत्महत्या का कारण नहीं है वास्तव मे असन्तुलित पारिवारिक जीवन ही विवाह-विच्छेद और आत्महत्या को प्रेरणा देता है।

(4) घातक आत्महत्या
(Fatalistic Suicide)

उपर्युक्त तीन प्रकार की आत्महत्याओं का वर्णन करने के उपरान्त दुर्खीम के मत मे कुछ ऐसी आत्महत्याएँ हैं जो उपर्युक्त की कोटि मे नही आतीं। निम्नलिखित आत्महत्याओ को इसमे सम्मिलित किया जा सकता है।

विवाह (Marriage)—विशेष रूप से एक-विवाह के आदर्श के कारण नवयुवक पति और नि.सन्तान विवाहित स्त्री को आंतरिक कुण्ठा का शिकार होना पडता है। एक-विवाह का बन्धन पुरुष की काम-प्रवृत्ति को सीमित कर देता है जो उसे आत्महत्या की ओर प्रेरित कर देता है। उसी भाँति सन्तानहीन विवाहित स्त्री माँ बनना चाहती है परन्तु एक-विवाह का बन्धन उसे अन्य व्यक्ति तक जाने नहीं देता (उस स्थिति में जब विवाहित पुरुष इस कार्य मे असमर्थ हो), तब निराश होकर वह आत्महत्या की ओर उन्मुख हो उठती है। मालिक के अत्याचार से पीडित मजदूर भी आत्महत्या की ओर प्रवृत्त हो सकते हैं। उपर्युक्त स्थितियो मे व्यक्ति को आत्महत्या की ओर प्रेरित करने वाले प्रमुख तत्त्व—**(1) अत्यधिक नियन्त्रण, (2) अत्यधिक आदर्शवादिता एवं (3) कठोर नियमबद्धता है।**

अत्यधिक कठोर नियन्त्रण, आदर्शवादिता एव नियमबद्धता व्यक्ति को कुंठित बना देती है, वह उनसे स्वतन्त्र होना चाहता है और जब उससे बाहर आने का कोई मार्ग नहीं सूझता तो व्यक्ति आत्महत्या की ओर अग्रसित होता है। दुर्खीम इस प्रकार की आत्महत्या को 'घातक आत्महत्या' कहते हैं। उनका कथन है, **"यह आत्महत्या अतिशय नियन्त्रण के कारण उन व्यक्तियों के द्वारा की जाती है, जिनके भविष्य दमनकारी अनुशासन के द्वारा निर्दयतापूर्वक अवरुद्ध कर दिए गए हैं, और जिनकी कामनाओं का गला उग्रता से दबा दिया गया है।"**

व्यावहारिक निष्कर्ष
(Practical Conclusions)

दुर्खीम ने आत्महत्या की समस्या के व्यावहारिक निष्कर्षों पर विचार किया है। आधुनिक समाजो को आत्महत्या को असामान्य और व्याधिकीय तथ्य मानकर उसे रोकने का प्रयास करना चाहिए अथवा उसे सामाजिक तथ्य समझकर चलते रहने देना चाहिए? इस सम्बन्ध मे दुर्खीम ने अपने निम्न निष्कर्ष प्रस्तुत किए हैं—

आत्महत्या एक व्याधिकीय प्रघटना (Suicide is a Pathological Phenomenon)—प्रत्येक समाज मे आत्महत्या के तीनो प्रकारो (अहवादी, परार्थवादी और आदर्शहीन) मे से कोई-न-कोई थोडी बहुत मात्रा में हर समय विद्यमान रहता है। ये तीनों एक सामूहिक विषाद को जन्म देते हैं। दुर्खीम के मत मे अबाध आनन्द ही सामान्यता का लक्षण नहीं है। मनुष्य बिल्कुल शोकहीन होकर जीवन का आनन्द नहीं ले सकता। दुर्खीम का कहना है कि, **"अत्यधिक हर्षपूर्ण नैतिकता अमर्यादित नैतिकता है।"** (Too cheerful Morality is a loose Morality) सामाजिक जीवन मे आशा और निराशा दोनों ही महत्त्वपूर्ण होती हैं। अधिक धर्मपरायण समाजो मे आदिम समाजो की तुलना मे आनन्द कम होता है, चिन्ताएँ अधिक होती हैं। यह चिन्ता एक सामूहिक मिजाज के रूप मे विद्यमान रहती है, जिसकी अभिव्यक्ति समाज के कुछ व्यक्तियो के माध्यम से होनी चाहिए। ऐसे व्यक्तियो मे आत्महत्या का विचार शीघ्र पनपता है।

दुर्खीम के मत मे आत्महत्या सार्वभौमिक, सार्वकालीन घटना होते हुए भी निरपेक्ष रूप से सामान्य तथ्य नहीं कही जा सकती। आत्महत्या उन व्याधिकीय दशाओ का परिणाम है जो प्रगति के साथ-साथ बढती हैं, परन्तु यह उसकी आवश्यक दशा नहीं है। आधुनिक युग की व्याधिकीय सामाजिक दशाएँ ही वास्तव मे आत्महत्या की वृद्धि का मुख्य स्रोत हैं।

आत्महत्या के निराकरण के उपाय
(Solutions for Eradicating Suicide)

दुर्खीम ने आत्महत्या के निराकरण के कतिपय सुझाव दर्शाए हैं—

(1) दुर्खीम का मत है कि आत्महत्या करने वाले को कठोरता से दण्डित करने के स्थान पर नैतिक दण्ड दिया जाना चाहिए। आत्महत्यारे को अन्तिम संस्कार से वंचित करके नागरिक, राजनैतिक और पारिवारिक अधिकार छीनकर आत्महत्याओ को कम किया जा सकता।

(2) मौरसेलि और फ्रेंक आदि के मत मे आत्महत्या की दर को कम करने का सर्वोत्तम साधन शिक्षा हो सकती है। परन्तु दुर्खीम का मानना है कि शिक्षा स्वय समाज के जीवन से सम्बन्धित होती है। यदि समाज का वातावरण दूषित है, तो स्कूल का कृत्रिम वातावरण इसमे सुधार नहीं कर सकता। अत: शिक्षा में सुधार के लिए समाज को सुधारना आवश्यक है। क्योंकि शिक्षा समाज का प्रतिरूप है।

(3) आत्महत्या को कम करने के लिए दुर्खीम के मत में सामाजिक समूहों को पर्याप्त निरन्तरता की पुनर्स्थापना करना है जिससे ये व्यक्ति पर पहले जैसा नियन्त्रण रख सके और उनमे स्वय वह अपने को बन्धा हुआ अनुभव करे। किन्तु दुर्खीम के मत में यह कार्य न तो राजनैतिक सस्था कर सकती है और न धर्म, क्योंकि आधुनिक व्यक्तिवादी दृष्टिकोण ने इन्हें कमजोर बना दिया है। परिवार भी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा नहीं सकता। इसमें तो केवल व्यावसायिक समूह का निगम सहायक हो सकता है, व उन्हे प्रभावित कर सकता है। दुर्खीम ने आत्महत्याओ की वृद्धि का कारण सामूहिक जीवन मे उत्पन्न होने वाले दोषों को बताया है, जिन्हे दूर करके ही नैतिक शक्ति को प्रगति की जा सकती है।

निष्कर्षत: आत्महत्याओ को रोकने के लिए स्थानीय समूहो का पुनर्निर्माण कराना आवश्यक है जो स्वतन्त्र सत्ता रखते हुए भी केन्द्रीय राजसत्ता के अधीन हो जिसे दुर्खीम ने विकेन्द्रीकरण कहा है। संक्षेप में आत्महत्या के निराकरण के उपायो मे दुर्खीम विकेन्द्रीकरण को आवश्यक मानते हैं।

समालोचनात्मक मूल्यांकन (Critical Evaluation)—'आत्महत्या' को दुर्खीम की एक अनुपम कृति माना जा सकता है जो सैद्धान्तिक और पद्धतिशास्त्रीय मान्यताओं पर आधारित है। इस कृति मे सैद्धान्तिक रूप से वह सिद्ध करना चाहते थे कि सामाजिक तथ्य वैयक्तिक चेतना से ऊपर एक पृथक् और स्वतन्त्र अस्तित्व रखते हैं। उन्होने आत्महत्या जैसे व्यक्तिगत तथ्य को भी सामाजिक तथ्य के रूप में प्रमाणित करने का प्रयास किया, किन्तु दुर्खीम की इस कृति की भी कुछ विद्वानो द्वारा समालोचना की गई।

स्टेनमेटज ने लिखा है, "मैं जो आँकडे एकत्र करने मे सफल हुआ हूँ, उनसे यह प्रतीत होता है कि सभ्य लोगो की तुलना मे वन्य मनुष्यो मे आत्महत्या अधिक होती है।"

जिलबोर्ग ने एक लेख मे लिखा है, "आत्महत्या के साख्यिकीय आँकडे जिस रूप मे आज सकलित किए गए हैं, बहुत कम विश्वसनीय हैं।" जिलबोर्ग के अनुसार आत्महत्या इतनी पुरानी घटना है, जितनी मानव जाति। दुर्खीम के द्वारा यूरोपियन और अमेरिकन समाज के साख्यिकीय आँकडो का भण्डार प्रस्तुत किए जाने के बाद भी यह कहना सरल है कि अनेक आत्महत्याओ का रिकॉर्ड कोष के बाहर था और अनेक आत्महत्याओं का रिकॉर्ड था ही नहीं।

अत: आत्महत्या की व्याख्या केवल आँकड़ों के आधार पर करना उतना सरल नहीं था, जितना दुर्खीम ने अनुभव किया था। जिलबोर्ग ने दुर्खीम द्वारा प्रस्तुत 'सभ्यता के विकास' और 'आत्महत्या की वृद्धि' को भी पक्षपातपूर्ण निष्कर्ष मानकर अमान्य सिद्ध किया है। उनका कहना है, "जहाँ तक आत्महत्या का सम्बन्ध है, आज का मनुष्य अपने पूर्वजो से वास्तव मे कम है।"

हैरीवान्स के अनुसार, "आत्महत्या के सिद्धान्त में दुर्खीम ने व्यक्तिगत प्रेरणा और सास्कृतिक कारको को कोई महत्त्व नहीं दिया है जो आत्महत्या करने के लिए व्यक्ति को प्रेरित करते हैं।"

दुर्खीम के आत्महत्या के सिद्धान्त के लिए कहा गया है कि इसमे मानव की जैविकीय प्रेरणाओ की उपेक्षा की गई है, इस कारण उनकी विवेचना सन्देहास्पद हो गई है। स्वयं इसके अनुवादक 'जार्ज सिम्पसन' ने भी लिखा है कि "दुर्खीम प्रेरणा-विश्लेषण और सवेगात्मक जीवन की मौलिक विशेषताओ की व्याख्या से सम्बन्धित आधुनिक विकास से अनभिज्ञ थे।" किन्तु उन्होने मनोव्याधिकीय तत्त्वो को आत्महत्या की प्रेरणा का आधार बताया है, अत: उपर्युक्त आरोप तर्कसगत नहीं माना जा सकता।

रेमण्ड एरन ने "**मनोवैज्ञानिक-पृष्ठभूमि-समाजशास्त्रीय निर्धारण**" सूत्र को दुर्खीम के विश्लेषण का मुख्य आधार बताया। इसके उपरान्त भी यह कहा जा सकता है कि दुर्खीम द्वारा वर्णित आत्महत्या की व्याख्या में सामूहिक चेतना एव एक प्रत्यक्ष वास्तविकता के रूप मे आवश्यक रूप से समाज का विश्लेषण किया गया।

बार्नेस ने कहा है कि दुर्खीम ने सामाजिक कारकों की प्रधानता सिद्ध करने के प्रयत्न में अन्य अनेक महत्त्वपूर्ण कारको की अवहेलना करने के दोष का स्वयं को भागी बना लिया है, "आत्महत्या के सिद्धान्त मे उसने व्यक्तिगत प्रेरणा तथा सास्कृतिक कारको को कोई महत्त्व नहीं दिया है, जो व्यक्ति को आत्महत्या करने को प्रेरित करते हैं।"

दुर्खीम की इस रूप में समालोचना की जाती है कि अनुभव-सिद्ध और तथ्यात्मक समाजशास्त्र की स्थापना करने की लगन में उन्होने सामाजिक घटनाओ की अमूर्त प्रकृति को समझते हुए भी उन्हे गणनात्मक बनाने का प्रयास किया है और इस प्रयास के कारण वह अपने विषय की सम्पूर्णता की व्याख्या करने का दावा करने मे अक्षम रहे हैं।

इस कृति के विषय में यह भी कहा जाता है कि यद्यपि आधुनिक समाज के नैतिक अभाव की चर्चा करना उपयुक्त है किन्तु आत्महत्या की सामाजिकता को सिद्ध करने के लिए समाज की प्रकृति, सामूहिक चेतना आदि अवधारणाओं की जो व्याख्या की गई है वह भाषा शैली और स्पष्टीकरण के वैशिष्ट्य गाम्भीर्य आदि के उपरान्त भी उपयोगी नहीं सिद्ध हो सकी है।

दुर्खीम का यह ग्रन्थ इन उपर्युक्त समालोचनाओ के उपरान्त भी न केवल आत्महत्या की विवेचना करता है, अपितु समाजशास्त्र की अनेक समस्याओ पर भी प्रकाश डालता है। **वीर्सटेट** का यह कथन है, "यह एक वास्तविकता है कि दुर्खीम का यह ग्रन्थ केवल आत्महत्या का अध्ययन नहीं, यह हमारा तथा उन समाजो का भी अध्ययन है जिनमें हम रहते हैं। यदि यह केवल आत्महत्या के विषय में है तो यह इस घटना के अध्ययन मे प्रथम श्रेणी रखेगा। किन्तु यह ग्रन्थ मनुष्य और समाज के सम्बन्ध मे और उनके पारस्परिक

सम्बन्धो के विषय मे भी है और इसीलिए समाजशास्त्र के इतिहास मे एक शास्त्रीय ग्रन्थ के रूप मे इसका और भी ऊँचा स्थान है।'' निष्कर्षत: यह ग्रन्थ समाजशास्त्रियो के लिए मार्ग प्रशस्त करता है। आधुनिकता मे सभ्यता और प्रगति के व्याधिकीय परिणामो की ओर सकेत करके व्यावसायिक सगठनो के विकास के द्वारा सामूहिक जीवन का नियन्त्रण करके उन समस्याओं के व्यावहारिक समाधान प्रस्तुत करता है।

अभ्यास प्रश्न

निबन्धात्मक प्रश्न

1 आत्महत्या की परिभाषा दीजिए। इसकी विशेषताओं पर प्रकाश डालिए।

2 आत्महत्या से सम्बन्धित मनोजैविकीय कारणों पर प्रकाश डालिए।

3 आत्महत्या के प्राकृतिक कारणो की व्याख्या कीजिए।

4 आत्महत्या के असामाजिक कारको को स्पष्ट कीजिए।

[redacted] सिद्ध कीजिए कि आत्महत्या का वास्तविक आधार सामाजिक क्रिया है।

6 अहवादी आत्महत्या का वर्णन कीजिए।

7 आत्महत्या के प्रकारो को स्पष्ट करते हुए परार्थवादी आत्महत्या पर प्रकाश डालिए।

8 दुर्खीम के आत्महत्या विषयक ग्रन्थ का समालोचनात्मक मूल्यांकन कीजिए।

लघुउत्तरात्मक प्रश्न

निम्न पर सक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिए :—

1 आत्महत्या की परिभाषा दीजिए।

2. आत्महत्या की कोई दो विशेषताएँ बताइए।

3 उन्माद और आत्महत्या

4 स्नायुदोष और आत्महत्या

5 पैतृकता और आत्महत्या

6 अनुकरण और आत्महत्या

7 दुर्खीम द्वारा बताए गए आत्महत्या के प्रकार

[redacted] धर्म और अहंवादी आत्महत्या

9. परार्थवादी आत्महत्या

10 आदर्शहीन आत्महत्या

11. घातक आत्महत्या

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. परार्थवादी आत्महत्या का सिद्धान्त किस वैज्ञानिक से सम्बन्धित है?

(अ) मार्क्स (ब) पुर्ये

(स) मर्टन (द) दुर्खीम

[उत्तर- (द)]

2 Le Suicide आत्महत्या शोध-ग्रन्थ का लेखक कौन है?

(अ) दुर्खीम (ब) वेबर

(स) मार्क्स (द) कोई नहीं

[उत्तर- (अ)]

3 निम्नलिखित मे से सत्य कथन का चयन कीजिए—

(1) अतिशय व्यक्तिवादिता अहंवादी आत्महत्या का कारण है।

(2) मार्क्स ने परार्थवादी आत्महत्या की अवधारणा प्रतिपादित की थी।

(3) आदर्शहीन आत्महत्या का प्रकार दुर्खीम ने बताया था।

(4) आत्महत्या धार्मिक समाज के एकीकरण की मात्रा के साथ विपरीत दिशा मे विचरण करती है।

(5) दुर्खीम के अनुसार प्रोटेस्टेण्ट लोग कम आत्महत्या करते हैं।

(6) पुरुषों के शीघ्र विवाह से आत्महत्या की दर घट जाती है।

(7) निर्धनता की वृद्धि आत्महत्या की दर मे वृद्धि करती है।

(8) आदर्शहीन आत्महत्या नियंत्रणहीनता और उससे उत्पन्न पीड़ा का परिणाम है।

[उत्तर- सत्य कथन— 1, 3, 4, 6, 8]



अध्याय-5

मैक्स वेबर—जीवन चित्रण एवं प्रमुख रचनाएँ
(Max Weber—Life Sketch and Major Works)
(1864-1920)

मैक्स वेबर सुविख्यात जर्मन समाजशास्त्री एवं राजनैतिक-अर्थशास्त्री हैं। प्रारम्भ से ही आप बहुमुखी प्रतिभा के धनी और असाधारण रूप मे प्रतिष्ठा प्राप्त व्यक्ति रहे हैं। आपकी चिन्तन शक्ति और बौद्धिक प्रतिभा का परिचय आपकी कृतियों से भलीभाँति हो जाता है। वैज्ञानिक दृष्टिकोण आपकी विशेषता मानी जाती रही है। इसी के कारण वे अपनी सामाजिक विचारधारा को तत्कालीन अन्य विद्वानों की तुलना में अधिक प्रभावशाली ढँग से सम्प्रेषित कर सके। उन्होने समाजशास्त्रीय अध्ययन-पद्धति मे 'आदर्श प्रारूप' के वैज्ञानिक सिद्धान्त को विकसित किया और ''धर्म का समाजशास्त्र'' नामक सामाजिक विचारधारा का प्रतिपादन किया। आपने सामाजिक वर्ग और स्थिति के विषय मे भी नवीन विचार प्रस्तुत किये। इस प्रकार विश्व की सामाजिक विचारधाराओं के क्षेत्र मे आपका अमूल्य योगदान रहा है।

मैक्स वेबर ने समाजशास्त्र को नवीन दृष्टिकोण प्रदान किया। आपके विचार मे समाजशास्त्र-सामाजिक क्रियाओं का अर्थपूर्ण बोध करने वाला विज्ञान है और समाज सामाजिक अन्तःक्रियाओं की अर्थपूर्ण अभिव्यक्ति है। इस प्रकार मैक्स वेबर ने समाजशास्त्र को विज्ञान के रूप मे प्रतिष्ठित करने के लिए आजीवन प्रयास किया तथा सामाजिक वर्ग, सत्ता, सामाजिक क्रिया और अधिकारी तन्त्र आदि पर अपने मौलिक विचार प्रस्तुत किये। इस रूप में समाजशास्त्र मे मैक्स वेबर को आजीवन स्मरण किया जाता रहेगा।

मैक्स वेबर का जीवन-चित्रण
(Life Sketch of Max Weber)

मैक्स वेबर का जन्म जर्मनी के बर्लिन प्रदेश मे स्थित इरफुर्ट थूरिंगिया नामक प्रदेश मे 21 अप्रैल, 1864 मे एक सम्पन्न परिवार मे हुआ था। उनके पिता तत्कालीन राजनीति मे उदारदल के नेता के रूप मे वर्षों रहे, साथ ही वे एक प्रतिष्ठित वकील और वस्त्र-व्यवसायी परिवार के थे। बर्लिन की नगर सरकार मे भी वे कार्यरत रहे और न्यायाधीश के रूप मे भी प्रतिष्ठित रहे। मैक्स वेबर को भी अपने पिता के समय के अनेक राजनीतिज्ञों व सामाजिक कार्यकर्त्ताओं से मिलने का अवसर मिला था। अतः वे भी प्रारम्भ से ही राजनेताओं के आदर्शों, विचारों व प्रेरणाओं से बहुत कुछ सीखते व अनुभव करते रहे। वे अनेक नवीन स्थानों का भ्रमण सपरिवार करते रहे। इसमें उनको अनेक नवीन अनुभव होते रहे तथा बहुत कुछ सीखने को मिला।

वेबर की माता हेलन फालनस्टेन एक उच्च घराने की महिला थीं। वे बड़े पवित्र विचारों वाली, सुसंस्कृत और धार्मिक दृष्टिकोण वाली थीं और पति के

विचार रखती थीं। माता ने वेबर का पालन-पोषण बडी सम्पन्नता के साथ किया। वेबर पर अपने परिवार के वातावरण का प्रभाव पड़ा और बाल्यकाल से ही आप कानून और राजनीति का ज्ञान प्राप्त करने लगे। जन्म के प्रथम तीस वर्ष मैक्स वेबर अपने माता-पिता के घर ही रहे। सन् 1882 मे 17 वर्ष की आयु मे उन्होने अपनी स्कूली शिक्षा समाप्त की और वे '*हाइडलबर्ग विश्वविद्यालय*' मे कानून की शिक्षा प्राप्त करने के लिए भर्ती हुए। 1883 में एक वर्ष के लिए सैनिक प्रशिक्षण के लिए वे स्टासबर्ग गये। इसके पश्चात् सन् 1885, 87 और 1888 मे पुन: सैनिक प्रशिक्षण के लिये गये। सन् 1886 मे उन्होने बर्लिन और गाटिंगन विश्वविद्यालयों मे दो वर्ष पढने के बाद सन् 1886 मे कानून की परीक्षा पास की। वे प्रारम्भ से ही प्रतिभाशाली शिक्षार्थी रहे थे। वेबर ने 1889 मे सर्वप्रथम **''मध्ययुगीन व्यापारिक संगठनों के इतिहास के लिए देन''** नामक शोध कार्य प्रस्तुत किया जिसमे अनेक कानून सिद्धान्तो की विवेचना की गई थी। इस शोध कार्य को समाप्त करने के उपरान्त वे जर्मनी की कचहरियो में वकालत करने के लिये आवश्यक प्रशिक्षण लेने लगे। बाद में वे बर्लिन विश्वविद्यालय में ही कानून के प्राध्यापक के रूप मे कार्यरत हुए। सन् 1891 में मैक्स वेबर ने **''रोम का खेतिहर इतिहास तथा सार्वजनिक और वैयक्तिक कानून के लिये इसकी महत्ता''** नामक ग्रन्थ की रचना की। उन्होने रोम के सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक विकासों का भी विश्लेषण किया। **'थियोडोर मोयसन'**, **'गोल्ड स्मिथ'**, **'साइवल'**, **'डिलथे'** आदि प्रसिद्ध विद्वानो के सम्पर्क मे भी वे रहे। विश्वविद्यालय जाने के पूर्व ही वे प्रमुख विचारक—काम्ट और स्पाइलोज के विचारो से भी अवगत हो चुके थे। सन् 1891 मे उन्होने **'मेरियन श्निटजर'** (Marrianne Shintzer) के साथ विवाह किया और अपने माता-पिता का घर छोडकर अन्यत्र रहने लगे। 1892 मे उन्होने 900 पृष्ठो की एक वृहद् पुस्तक लिखी जो **''एलबी नदी के पूर्वी प्रान्तो के खेतिहर मजदूरों के अध्ययन''** से सम्बन्धित थी।

1894 में वेबर **'फ्रेलबर्ग विश्वविद्यालय'** मे अर्थशास्त्र के प्रोफेसर के पद पर नियुक्त हुए। वहाँ पर 1895 में उनका उद्घाटन भाषण **'राष्ट्रीय राज्य और आर्थिक नीति'** विषय पर हुआ। 1896 मे उन्होने **'हाइडेलबर्ग'** की नियुक्ति को स्वीकार कर लिया और प्रोफेसर के रूप मे कार्य-भार सँभाल लिया। सन् 1897 में 33 वर्ष की आयु मे वेबर गम्भीर रूप से बीमार हो गये परिणामस्वरूप उनका बौद्धिक कार्य कुछ समय के लिए बिल्कुल छूट गया। 4 वर्ष तक वे अत्यन्त अस्वस्थ रहने के कारण गहन चिन्ता से पीड़ित रहे। अत: कभी-कभी वे किन्हीं भिन्न बातो में रुचि नहीं लेते थे और अकेले ही खिड़की के सहारे बैठकर अन्तरिक्ष की ओर निहारते रहते थे। करीब 4 वर्ष बाद धीरे-धीरे उनके स्वास्थ्य मे कुछ सुधार हुआ तब उन्होने हर प्रकार की पुस्तकों के पढने का अभ्यास प्रारम्भ कर दिया। स्वस्थ होने के पश्चात् सन् 1901 मे उन्होने पुन: अपना बौद्धिक कार्य प्रारम्भ कर दिया। बीच-बीच मे उन्हे यह कार्य छोड़ना भी पड़ता था। 1903 मे वे सामाजिक विज्ञान और सामाजिक कल्याण के **'अभिलेखागार'** के सहायक सम्पादक बने और पुन: बौद्धिक जगत् से जुड गये। 1904 मे उन्होने सयुक्त राज्य अमेरिका की यात्रा और विश्व मेले के सम्बन्ध में आयोजित **'कान्फ्रेस ऑफ आर्ट्स एण्ड साइन्स'** के निमन्त्रण को स्वीकारा।

वेबर नियमित रूप से अपनी बौद्धिक सेवाओ को देने में सक्षम न थे फिर भी शिक्षा मन्त्रालय से मिलकर **'हाइडेलबर्ग विश्वविद्यालय'** ने उनके लिए उचित आर्थिक व्यवस्था की। आपने हालैण्ड, इटली, बेल्जियम और अमेरिका की यात्राएँ कीं। अमरीका मे

रहकर वे वहाँ की सभ्यता से प्रभावित हुए और अपने तीन महीने के प्रवास के दौरान उन्होने वहाँ पर प्रोटेस्टेण्ट एथिक्स तथा पूँजीवाद, नौकरशाही एवं राजनैतिक संरचना में राष्ट्रपति की भूमिका आदि अनेक विषयो पर लेखन कार्य किया। 1907 में उत्तराधिकार मे कुछ सम्पत्ति मिल जाने के कारण वे आत्मनिर्भर हो गए। सन् 1918 मे उन्होंने पुन: **'वियना विश्वविद्यालय'** मे एक अतिथि आचार्य पद पर कार्य किया। 1919 मे वे **'म्यूनिख विश्वविद्यालय'** मे **'लूजो ब्रेन्टानो'** के उत्तराधिकारी के रूप मे अर्थशास्त्र के नियमित आचार्य बन गये। वे **"वारसाई मे जर्मन युद्ध विश्रान्ति आयोग"** और **"वेमर संविधान"** का मसविदा तैयार करने वाले 'आयोग के सलाहकार' भी इसी बीच रहे। मात्र 56 वर्ष की आयु मे निमोनिया के कारण उनका देहावसान सन् 1920 की जून मे हो गया।

मैक्स वेबर का जीवन संघर्ष
(Life Struggle of Max Weber)

मैक्स वेबर का जीवन बड़ा संघर्ष व तनावों से भरा हुआ था। ये तनाव उनके प्रत्येक क्षेत्र, जैसे—राजनैतिक, शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक और घरेलू से सम्बन्धित थे। इन तनावों का प्रभाव उनकी कृतियो पर भी पड़ा। वेबर के तनावो का प्रमुख कारण अपने परिवार के साथ उनके सम्बन्ध थे। 4 वर्ष की अवस्था मे ही उन्हे मैनिनजाइटिस का आक्रमण पड़ा। उनके परिवार का वातावरण भी उत्तेजनापूर्ण था। पुस्तको के प्रति उनके असीम लगाव ने उन्हे बाल्यावस्था से ही अपनी अन्य वस्तुओ से पृथक् कर दिया। वे अध्यापकों की अध्ययन-विधि का प्रारम्भ से ही विरोध करने लगे। घर मे रहकर वे माता की व्यक्तिगत पवित्रता व पिता की सन्तोष की भावना से घृणा करने लगे तथा 13 वर्ष की आयु से ही ऐतिहासिक निबन्धो का लेखन करने लगे। बाद में वे दार्शनिक रचनाएँ भी लिखने लगे तथा उग्र और आलोचक बन गये। 18 वर्ष की आयु में 'हाइडेलबर्ग विश्वविद्यालय' में जर्मन छात्रो के द्वन्द्व के तरीको, शौक-मौज शराब आदि के सेवन को उन्होंने भी अपना लिया और इसका परिणाम यह हुआ कि दिखावट-पसन्द नवयुवक हो गये। घर आने पर उनकी माता उनके इस व्यवहार को देखकर अपना क्रोध न रोक सकी और उन्होने वेबर पर हाथ उठा दिया। वेबर ऐसे वातावरण मे रहते हुए अध्ययन के प्रति सजग रहे। उन्होंने अर्थशास्त्र का गहन अध्ययन किया।

वेबर ने अर्डमेन्स डार्फन से मध्यकालीन इतिहास एवं क्यूनो फिश्चर से दर्शनशास्त्र का अध्ययन किया। इमान्यूलनु बेकर द्वारा रोमन कानून और रोमन संस्थाओ का प्रारम्भिक ज्ञान भी उन्होंने प्राप्त किया। इस रूप में वेबर एक प्रतिष्ठा प्राप्त अर्थशास्त्री, राजनीति विज्ञानी, समाजशास्त्री एव उच्च कोटि के प्राध्यापक भी थे, किन्तु वे केवल 5 वर्ष ही नियमित रूप से अध्यापन कार्य कर सके। 27 वर्ष की आयु में ही वे कुशल विद्वान् बन गये थे। 33 वर्ष की आयु मे बीमारियो के कारण उन्हे अपना कार्य छोडने के लिए बाध्य होना पड़ा, इसके उपरान्त भी अशकालिक रूप से शिक्षा जगत् मे आने का वे समय-समय पर प्रयास करते रहे। वेबर जिन दिनो स्रासबर्ग मे सेना की नौकरी मे थे, तब अपने चाचा हरमन बॉमगर्टन जो इतिहासकार थे और उनकी पत्नी इडा जो मैक्स वेबर की माता की बहिन थीं—के सम्पर्क मे आये। बॉमगर्टन एक उदारवादी व्यक्तित्व रखते थे और इडा धर्मपरायण, प्रभावशाली और ओजस्वी महिला थीं, दोनो के व्यक्तित्व का प्रभाव वेबर पर गहरा प्रभाव पड़ा। वे इडा के

(6) एनसिएण्ट जुडेइज्म।
(7) एसेज इन सोशियोलोजी।
(8) दा मैथेडोलॉजी ऑफ सोशियल साइंसेज।
(9) जनरल इकोनोमिक हिस्ट्री।
(10) दा रेशनल एण्ड सोशियल फाउन्डेशन ऑफ म्यूजिक।

इसके अतिरिक्त वेबर ने कुछ और बौद्धिक कार्य किये हैं, जो निम्न हैं—

(क) समाजशास्त्र का स्वरूप, अध्ययन क्षेत्र तथा अध्ययन-विधि।
(ख) सामाजिक क्रिया।
(ग) धर्मों की सरचना, उनकी आधार पद्धति और पूँजीवादी चेतना।
(घ) सामाजिक आर्थिक सगंठनों का सिद्धान्त (अधिकारी तन्त्र, आर्थिक संगठन और राजनैतिक दल इत्यादि)।
(ङ) सत्ता प्राधिकार और इसकी वैधता की धारणा।

उपर्युक्त मे से कुछ प्रमुख कृतियो का सक्षिप्त विवरण निम्न प्रकार से प्रस्तुत किया जा रहा है—

(1) दा प्रोटेस्टेण्ट एथिक एण्ड दा स्पिरिट ऑफ कैपिटलिज्म (1905)

इस पुस्तक का शुभारम्भ 1903 मे होकर यह 1905 में पूर्णता को प्राप्त हुई थी। इसमे मैक्स वेबर द्वारा पूँजीवाद के विकास मे प्रोटेस्टेण्ट धर्म के आचारो के प्रभाव को स्पष्ट किया गया है। आप पूँजीवाद के विकास मे प्रोटेस्टेण्ट धर्म के आधारो का प्रत्यक्ष सम्बन्ध मानने के पक्ष मे हैं। यही कारण था कि गैर-प्रोटेस्टेण्ट धर्म वाले देशो मे पूँजीवाद वास्तविक रूप मे विकसित न हो सका। इन्होने कन्फ्यूशियन, बौद्ध, ईसाई, यहूदी, इस्लाम और हिन्दू इन छ: धर्मों के अध्ययन को भी पस्तुत किया। किन्तु 'धर्म के समाजशास्त्र' का अध्ययन उनके जोवन के काल मे पूरा नहीं हो सका था। अभी उसको तीन पुस्तकों मे सम्पादित, अनुवादित और प्रकाशित कराया गया है— ये तीनो पुस्तकें निम्नलिखित हैं—

(1) दा हिन्दू सोशियल सिस्टम (1950)
(2) दा रिलिजन ऑफ चाइना—कन्फ्यूशियनिज्म और फासिज्म (1951)
(3) एन्सिएण्ट जूडेइज्म (1952)

मैक्स वेबर द्वारा लिखित निबन्धो का सम्पादन अंग्रेजी भाषा मे टालकॉट पार्सन्स ने दा थ्योरी ऑफ सोशियल एण्ड एकोनोमिक ऑर्गनाइजेशन" (1947) नाम से कराया है। इसके अतिरिक्त वेबर के चुने हुए निबन्धो का सग्रह दो अन्य पुस्तको मे किया गया है— ये हैं—(1) फ्रॉम मैक्स वेबर—एसेज इन सोशियोलॉजी (1946) एवं (2) मैक्स वेबर इन दा मैथेडोलॉजी ऑफ दा सोशियल साइसेज (1946)।

विभिन्न विचारकों का मैक्स वेबर पर प्रभाव
(Impact of Various Thinkers on Max Weber)

मैक्स वेबर पर भी तत्कालीन विद्वानो व उनके विचारो का गहरा प्रभाव पडा था। बाल्यावस्था से ही वेबर गणित, साहित्य और दर्शन मे विशेष रुचि रखते थे। प्रारम्भिक शिक्षा

समाप्त होने के अनन्तर ही उन्होने शेक्सपियर, गेटे, स्पिनोजा, कान्त और शापेनहावर आदि का अध्ययन करना प्रारम्भ कर दिया था तथा मात्र चौदह वर्ष की आयु मे ही सैमर, लीवो व वर्जिल जैसे विद्वानो के मूल ग्रन्थो को पढ़ लिया था। इन सभी की स्पष्ट छाप उनके मनोमस्तिष्क मे बस गई थी। मैक्स वेबर 18वीं व 19वीं सदी के सभी विचारको से प्रभावित रहे थे। वे मार्क्स से प्रभावित रहे। निर्णयवादी विचारधारा के विरोध मे लिखने की प्रेरणा वेबर को मार्क्स से ही मिली थी। मार्क्स का यह कथन कि "मानव चेतना उसके अस्तित्व को निर्धारित नहीं करती, अपितु उसका अस्तित्व चेतना को निर्धारित करता है।"—मैक्स वेबर द्वारा अत्यधिक माना गया और उन्होने अपने प्रयोग-सिद्ध अध्ययनो मे विचारो को आर्थिक व्यवस्था के रूप मे और दिशा-निर्धारण मे महत्त्वपूर्ण निर्धारक की भूमिका को स्वीकारा। अपनी कृति "प्रोटेस्टेण्ट एथिक्स एण्ड दा स्पिरिट ऑफ कैपिटलिज्म" मे उन्होने इसी तथ्य को स्थापित किया है।

मैक्स वेबर पर रिकर्ट के विचारो का भी प्रभाव पडा था। उनके मत मे सामाजिक घटनाएँ वैज्ञानिक पद्धति से देखी जा सकती है और व्यवस्थित सामान्यीकरण द्वारा सिद्धान्तो का निर्माण किया जा सकता है। इस प्रकार वेबर ने अपने समय मे प्रचलित ऐतिहासिक स्कूलो की मान्यताओ का विरोध किया और रिकर्ट के विचारों का अनुकरण किया जिसमे उन्होने कहा था कि प्राकृतिक और सामाजिक घटनाओ का वैज्ञानिक अध्ययन सम्भव है जबकि इतिहास "अद्वितीय घटनाओ की वैयक्तिकता से सम्बन्ध रखता है।"

वेबर पर डिल्थे, कार्ल यास्पर्स, सिमेल, टानीज व वर्नर सोम्बार्ट जैसे विचारको का भी प्रभाव पडा था। इन विद्वानो के साथ-साथ वेबर तत्कालीन घटनाओ से भी प्रभावित हुए थे। राबर्ट ए निस्बेट के अनुसार 19वीं सदी के समाजशास्त्र को दो क्रान्तियो ने मुख्यतया प्रभावित किया था—(1) औद्योगिक क्रान्ति तथा (2) फ्रांस की क्रान्ति। वेबर पर इनका प्रभाव पडा था। वे उदारवादी विचारक थे और आजीवन उनकी उदारवादी प्रवृत्तियो का द्वन्द्व संस्कृति और विचार के रूप मे आधुनिकता के साथ चलता रहा क्योकि उस समय यूरोप के सांस्कृतिक मूल्य ध्वस्त हो रहे थे। वेबर की रचनाओ मे यह विवाद स्पष्टतया झलकता है। इस प्रकार वेबर अपने समय के विद्वानो व परिस्थितियो से पूर्णतया प्रभावित हुए थे।

समाजशास्त्र के विकास में योगदान
(Contribution in the Development of Sociology)

वेबर ने समाजशास्त्र के विकास में उल्लेखनीय योगदान दिया है जो निम्न है। आपके अनुसार, "*समाजशास्त्र वह विज्ञान है जो सामाजिक क्रिया के व्याख्यात्मक बोध को प्रस्तुत करने का प्रयास करता है जिससे उसकी प्रक्रिया और प्रभावो की कारण सहित व्याख्या की जा सके।*" इस परिभाषा से स्पष्ट हो जाता है कि वेबर समाजशास्त्र की केन्द्रीय अध्ययन की वस्तु सामाजिक क्रिया को ही मानते थे। वेबर की इस समाजशास्त्र की परिभाषा मे अनेक महत्त्वपूर्ण तत्त्व विद्यमान हैं—व्याख्या और बोध प्रस्तुत करने का प्रयास, सामाजिक क्रिया पर विशेष ध्यान देना तथा इन घटनाओ की कारणीय व्याख्याएँ विकसित करने का प्रयास आदि। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि वेबर मुख्य रूप से इस बात पर जोर देते हैं कि सामाजिक क्रियाओ को वैज्ञानिकता के अनुसार समझा जाए। आप समाजशास्त्र का केन्द्रीय लक्ष्य भी सामाजिक क्रियाओं को वैज्ञानिक तरीके से समझना मानते थे। इसीलिए आप सामाजिक मूल्यो

को ऐतिहासिक सन्दर्भ में वस्तुपरक रूप से समझने पर विशेष ध्यान देते थे तथा उनका समाज पर समाजशास्त्रीय प्रभाव का मूल्यांकन करने का प्रयास भी करते थे।

सामाजिक क्रिया का सिद्धान्त
(Theory of Social Action)

वेबर ने सामाजिक क्रिया को समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से समझते हुए लिखा है कि कोई भी क्रिया जब अन्य व्यक्तियों की क्रिया से प्रभावित होती है तब वह सामाजिक क्रिया कहलाती है। इन्हीं के शब्दो में, "किसी क्रिया को तब सामाजिक क्रिया कहा जा सकता है जब व्यक्ति या व्यक्तियों के द्वारा लगाए गए व्यक्तिनिष्ठ अर्थ के कारण वह (क्रिया) दूसरे व्यक्तियो के व्यवहार से प्रभावित हो और उसके द्वारा उनकी गतिविधियाँ निर्धारित हो।"

वेबर ने सामाजिक क्रिया के निर्णय करने से सम्बन्धित चार बाते बताई हैं। पहली, सामाजिक क्रियाएँ भूतकाल, वर्तमान अथवा भावी व्यवहारो से प्रभावित हो सकती हैं। दूसरी, आवश्यक नहीं है कि प्रत्येक क्रिया सामाजिक क्रिया ही हो। तीसरी, प्रत्येक प्रकार का सम्पर्क भी सामाजिक सम्पर्क हो तथा सामाजिक क्रिया ही हो। चौथी, वही क्रिया सामाजिक क्रिया कहलाएगी जिसमे क्रिया का प्रभाव अर्थपूर्ण हो तथा एक-दूसरे को प्रभावित करने वाले व्यक्ति भी परस्पर सम्बन्धित होने चाहिए। वर्षा आने पर सभी व्यक्ति अपना-अपना छाता खोलकर लगा लेते हैं। यह क्रिया अवश्य है परन्तु सामाजिक क्रिया नहीं है। यह क्रिया वर्षा से प्रभावित हुई है। व्यक्तियो ने परस्पर एक-दूसरे को प्रभावित नहीं किया है।

वेबर ने चार प्रकार की सामाजिक क्रियाओ का वर्णन किया है जो निम्नलिखित हैं—(1) तार्किक क्रिया, (2) मूल्य-अभिमुखी तार्किक क्रिया, (3) भावात्मक क्रिया, और (4) पारम्परिक क्रिया। इनकी विस्तार से व्याख्या आगे के अध्याय मे की गई है।

पद्धतिशास्त्र
(Methodology)

वेबर ने समाजशास्त्र के लिए पद्धतिशास्त्र के विकास मे योगदान दिया है। सर्वप्रथम आपने यह स्पष्ट किया कि प्राकृतिक घटनाओ और सामाजिक घटनाओ में मौलिक अन्तर है। इसी भिन्नता का प्रभाव प्राकृतिक विज्ञानो और सामाजिक विज्ञानो की भिन्नता का निश्चय करता है। वेबर समाजशास्त्र मे वैज्ञानिक अध्ययन पद्धति के विकास से निरन्तर सम्बन्धित रहे। आप बहुस्तरीय उपागम का विकास करना चाहते थे। इनमे दो प्रमुख पद्धतिशास्त्रीय प्रविधियाँ सन्निहित हैं—व्याख्यात्मक बोध तथा काल्पनिक परीक्षण। वेबर ने समाजशास्त्र की परिभाषा मे भी व्याख्यात्मक बोध पर विशेष जोर दिया है। इससे आपका तात्पर्य यह है कि व्यवहार की व्याख्या व्यक्तिगत और समूह के स्तर पर करनी चाहिए तथा सामाजिक अर्थ अथवा व्याख्या के आदर्श प्रारूप का निर्माण करना चाहिए। दूसरा उपागम काल्पनिक परीक्षण प्रथम उपागम का ही पूरक है। इस दूसरे उपागम मे प्रेरणा की सम्भावित कड़ियो के सम्बन्ध में विचार करना आता है। इसमे सम्भावित सामाजिक अर्थों का अनुमान करना भी आता है। इन दोनो ही उपागमो मे इस बात पर जोर दिया जाता है कि सामाजिक क्रिया के पीछे कौन-सी विशिष्ट प्रेरणा का प्रकार है? वेबर ने अपने अध्ययन मे इन उपागमो का उपयोग किया था। आपने प्रोटेस्टेण्ट आचार को पूँजीवाद से जोड़ा था। इन्होने प्यूरिटन

(अंग्रेजी ईसाई धर्म का एक ग्रन्थ) आचार को व्यक्तित्ववाद से और धार्मिक व्यक्तित्ववाद को नौकरशाही से सम्बन्धित करके अध्ययन किया। इन प्रमाणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि वेबर मुख्य रूप से प्रेरणाओं को सामाजिक क्रियाओं, मूल्यों तथा सामाजिक व्यवहार के साथ सम्बन्धित करने के इच्छुक थे।

वेबर का कहना था कि प्राकृतिक घटनाएँ सामाजिक क्रियाओ की तरह अर्थपूर्ण नहीं होती हैं। सामाजिक क्रियाओ के पीछे कोई उद्देश्य निहित होता है जबकि प्राकृतिक घटनाएँ उद्देश्यविहीन होती हैं। आपने सामाजिक घटनाओ के अध्ययन के लिए निम्न विधि अपनाई थी। सबसे पहिले उन्होने घटनाओं को चुना। उन्होने सामाजिक घटनाओ मे से कुछ छोटी-छोटी घटनाएँ चुनीं जिनका वे अध्ययन करना चाहते थे। दूसरे चरण मे इन छोटी-छोटी घटनाओ मे से उन घटनाओ को चुना जो परस्पर एक-दूसरे से सम्बन्धित थीं। इस प्रक्रिया से पूर्ववर्ती घटनाओ का पता चल जाता है अर्थात् वे घटनाएँ चुनीं जो अन्य घटनाओ का कारण हैं। तीसरे चरण मे वेबर ने घटनाओ को दो वर्गों में बाँटा—एक वे घटनाएँ जो पूर्ववर्ती थीं अर्थात् कारण थीं तथा दूसरी वे घटनाएँ जो परिणाम थीं।

वेबर ने पूर्ववर्ती घटना का पता लगाने की निम्न विधि बताई है। एक विशिष्ट पूर्ववर्ती घटना के महत्त्व को जानने के लिए हमे उसकी अनुपस्थिति को मानकर घटनाक्रम देखना होगा। घटनाक्रम को बदल कर देखना होगा। अगर नई परिस्थिति मे घटनाक्रम प्रभावित होता है तो हम यह कह सकते हैं कि परिणाम का कारण पूर्ववर्ती घटना थी। वेबर का यह कहना है कि पूर्ववर्ती घटना के उपयुक्त चुनाव से हमे इस बात का अन्तर करने मे सहायता मिलेगी कि मानवीय निर्णय क्या है तथा बाह्य परिस्थितियाँ क्या हैं। इस प्रक्रिया के द्वारा हम उन प्रक्रियाओ का पता कर सकते हैं जो मानव द्वारा विशेष रूप से की गई हैं जैसे मानव ने इतिहास का निर्माण कैसे किया।

वेबर ने अपने अध्ययनो द्वारा सिद्ध किया कि भौतिक घटनाओ मे उपयोग की जाने वाली वैज्ञानिक विधियो का उपयोग सामाजिक घटनाओ के अध्ययन मे नहीं किया जा सकता। आपका कहना है कि सामाजिक घटनाएँ एक समय विशेष मे होती हैं तथा विशिष्ट होती हैं। एक-जैसी प्राकृतिक घटनाएँ बार-बार होती हैं। सामाजिक घटनाएँ एक-जैसी बार-बार नहीं घटती हैं। इसलिए प्राकृतिक घटनाओ मे सामान्यीकरण सम्भव है। सामाजिक घटनाओ मे सामान्यीकरण तुलनात्मक अध्ययन के अभाव के कारण असम्भव है। सामाजिक घटनाओं का सामान्यीकरण सम्भव करने के लिए वेबर ने तुलनात्मक अध्ययन को सम्भव बनाया। इसके लिए इन्होने पद्धतिशास्त्र को 'आदर्श-प्रारूप' प्रदान करके एक महान् योगदान किया है।

आदर्श प्रारूप
(Ideal Type)

वेबर ने सामाजिक क्रियाओ का वैज्ञानिक अध्ययन करने के लिए आदर्श प्रारूप का 1904 में निर्माण किया। सामाजिक सम्बन्धों मे मानव की क्रियाओ के दो अर्थ लगाये जाते हैं—एक वास्तविक अर्थ और दूसरा अनुमानित अर्थ। प्रथम अर्थ से तात्पर्य है कि व्यक्ति वास्तव में समाज में कैसे क्रिया करता है। दूसरा अर्थ अमूर्त वास्तविकता से सम्बन्धित होता है अर्थात् व्यक्ति को समाज मे कैसे व्यवहार करना चाहिए। वास्तविक और अपे

में अन्तर होता है। वेबर अपेक्षित व्यवहार या क्रिया को आदर्श प्रारूप कहते हैं। इसके द्वारा सामाजिक वास्तविकता को समझा जा सकता है। वेबर ने आदर्श प्रारूप का प्रयोग नौकरशाही व्यवहार के अध्ययन मे किया था। यह वास्तविकता के आधार पर बनाया जाता है। यह तुलनात्मक अध्ययनो में प्रयुक्त किया जाता है।

वेबर के पद्धतिशास्त्र की विशेषताएँ (Characteristics of Weber Methodology)—

(1) वेबर का कहना है कि जिस प्रकार प्राकृतिक विज्ञान घटनाओं का वैज्ञानिक अध्ययन करते हैं, समाजशास्त्र को भी अपनी अध्ययन विधियो को बनाकर सामाजिक घटनाओ का वैज्ञानिक अध्ययन करना चाहिए। प्राकृतिक विज्ञानों की विधियों से सामाजिक घटनाओ का अध्ययन नहीं हो सकता।

(2) आप तुलनात्मक विधि के अध्ययन करने पर जोर देते हैं। इस विधि के द्वारा दो या अधिक समाजो का अथवा एक ही समाज के विभिन्न कालों का तुलनात्मक अध्ययन कर सकते हैं। एक ही समाज का आदर्श प्रारूप द्वारा अध्ययन भी तुलनात्मक विधि पर आधारित होता है।

(3) आदर्श प्रारूप से सामाजिक घटनाओं को समझा जा सकता है तथा उनकी व्याख्या की जा सकती है। इस प्रारूप की सहायता से वास्तविक घटनाओ की तुलना की जा सकती है।

(4) वेबर समाजशास्त्र मे "क्या है?", "क्यो है?", "कैसे है?" आदि के अध्ययन पर जोर देते हैं। आपका कहना है कि समाजशास्त्र का "क्या होना चाहिए?" से कोई सम्बन्ध नहीं है।

(5) आपका कहना है कि समाजशास्त्र को सामाजिक घटनाओ का अध्ययन वस्तुपरक तथा व्यक्तिपरक दोनो प्रकार से करना चाहिए।

(6) वेबर ने समाजशास्त्रीय अध्ययन मे ऐतिहासिक कारणता को स्थान दिया है। घटनाओ और उनके क्रम मे पूर्ववर्ती घटनाओ के द्वारा कारण प्रभाव मालूम करने की विधि प्रदान की है।

(7) वेबर ने समाजशास्त्र मे सामाजिक क्रियाओं के व्याख्यात्मक बोध पर जोर दिया है।

मैक्स वेबर ने दुर्खीम की तरह समाजशास्त्र मे अध्ययन की पद्धति का निर्माण किया तथा स्वय ने उन विधियो द्वारा अध्ययन करके उनकी व्यावहारिकता सिद्ध भी की थी। विश्व के 6 महान् धर्मो तथा नौकरशाही का इन्हीं पद्धतिया से अध्ययन करके इन पद्धतियों की व्यावहारिकता को सिद्ध कर दिया है।

धर्म का सिद्धान्त
(Theory of Religon)

मैक्स वेबर ने धर्म का समाजशास्त्रीय सिद्धान्त अपनी पुस्तक **'दा प्रोटेस्टेण्ट एथिक एण्ड दा स्पिरिट ऑफ केपिटलिज्म'** (The Protestant Ethic and the Spirit of Capitalism) 1905 मे दिया है। यह अध्ययन तुलनात्मक पद्धति से किया गया है। इसमे वेबर ने विश्व के छः धर्मों का अध्ययन किया है तथा यह मालूम करने का प्रयास

किया है कि धर्म आर्थिक घटनाओं को कैसे प्रभावित करता है? आप मार्क्स के आर्थिक निर्णायकवाद को नहीं मानते हैं। वेबर का कहना है कि सामाजिक घटनाओं में अनेक कारक होते हैं। ये कारक एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं और एक-दूसरे से प्रभावित होते हैं। परन्तु मार्क्स का यह कहना कि सभी परिणामों का कारण आर्थिक है—वेबर इसको नहीं मानते। वेबर का मानना है कि सामाजिक परिवर्तन बहुकारकों से होता है। अध्ययन की सुविधा के लिए किसी एक कारक को कारण मानकर अध्ययन किया जा सकता है। लेकिन किसी एक कारक को निर्णायक कारक निर्धारित करना समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से गलत है। वेबर ने मार्क्स की प्राक्कल्पना की जाँच आर्थिक कारक के स्थान पर धार्मिक कारक को निर्णायक मानकर की तथा वे इसमें सफल भी हुए।

वेबर ने आधुनिक पूँजीवाद का कारण धर्म को मानकर अध्ययन किया। आपने विभिन्न धर्मों में विद्यमान धार्मिक मूल्यों, आचारों, उपदेशों आदि का तुलनात्मक अध्ययन किया तथा समाज की आर्थिक व्यवस्था के सन्दर्भ में इनका विश्लेषण किया। वेबर ने धार्मिक कारक को कारण माना तथा आर्थिक व्यवस्था, सामाजिक संगठन आदि को परिणाम माना तथा यह विश्लेषण किया कि धर्म अन्य आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक आदि संगठनों का कहाँ तक निर्णय करता है?

आपने निष्कर्ष दिए कि धर्म के जिस प्रकार के आदर्श, आचार, प्रवचन तथा नैतिक मूल्य होंगे उसके अनुसार ही समाज की आर्थिक व्यवस्था होगी। प्रोटेस्टेण्ट धर्म पूँजीवाद को बढ़ावा देता है। जहाँ-जहाँ प्रोटेस्टेण्ट धर्म था वहाँ पूँजीवाद जल्दी पनपा तथा अन्य धर्म कैथोलिक, बौद्ध, जैन और इस्लाम धर्म पूँजीवाद को बढ़ावा नहीं देते हैं वहाँ पूँजीवाद नहीं पनपा। वेबर ने आदर्श प्रारूप के आधार पर छः धर्मों के आदर्श प्रारूपों का केवल आर्थिक व्यवस्था के सन्दर्भ में विश्लेषण किया है।

आपका मानना है कि सामाजिक संगठन में धार्मिक और आर्थिक कारक परस्पर सम्बन्धित हैं तथा अन्योन्याश्रित हैं। मार्क्स का ये मानना उचित नहीं था कि आर्थिक कारक निर्णायक है। वेबर के अध्ययन में धार्मिक कारक निर्णायक सिद्ध हो गया परन्तु वेबर का कहना है कि सभी कारक परस्पर प्रभाव डालते हैं। अध्ययन की सुविधा के लिए किसी एक कारक को कारण माना जा सकता है। वेबर ने धार्मिक कारक को कारण माना तथा उसके प्रभावों का अध्ययन प्रस्तुत किया। यह वेबर की समाजशास्त्र को अध्ययन पद्धति के क्षेत्र में महान् देन है। वेबर बहुकारक के सिद्धान्त में विश्वास रखते थे।

पूँजीवादी समाज में नौकरशाही व्यवस्था
(Bureaucratic System in Capitalistic Society)

वेबर ने नौकरशाही व्यवस्था का समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से अध्ययन किया है। आपने इसकी उत्पत्ति, विशेषताओं, कार्यों तथा महत्त्व पर प्रकाश डाला है। आपका कहना है कि व्यक्ति जो परम्परागत व्यवस्था को छोड़कर पूँजीवाद की ओर जाता है उसके लिए आवश्यक है कि वह व्यवस्थित और योजनाबद्ध कार्य करे। उसे निश्चित संगठित व्यवस्था और अनुशासन में कार्य करना होगा। इसी के परिणामस्वरूप नौकरशाही व्यवस्था विकसित हुई। वेबर का कहना है कि नौकरशाही व्यवस्था पूँजीवादी प्रवृत्ति के परिणामस्वरूप विकसित हुई है। वेबर ने नौकरशाही व्यवस्था की विशेषताओं का गहन अध्ययन किया था।

नौकरशाही व्यवस्था की विशेषताएँ
(Characteristics of Bureaucratic System)

(1) नौकरशाही व्यवस्था मे व्यक्ति विशिष्ट कार्य करता है। व्यक्तियो में परस्पर सम्बन्ध अवैयक्तिक होते हैं।

(2) इसमे सत्ता का विभाजन सस्तरण के आधार पर होता है जिसका नियन्त्रण केन्द्रीय सगठन द्वारा होता है।

(3) नौकरशाही व्यवस्था में कार्यों का बँटवारा तकनीकी आधार पर होता है। इसके लिए निश्चित तथा विशिष्ट योग्यता आवश्यक होती है।

(4) इस संगठन मे कार्यकर्त्ता का जीवन कार्यालय और परिवार में अलग-अलग बँटा होता है। व्यक्ति की पारिवारिक भूमिका और कार्यालय की भूमिका में कोई सम्बन्ध नहीं होता है तथा उनमे कोई सघर्ष भी नहीं होता है।

(5) इसमें व्यापारिक सम्पत्ति तथा व्यक्तिगत सम्पत्ति अलग-अलग होती है।

(6) आमदनी वेतन के रूप में भी होती है। वेतन कोई उपहार अथवा मजदूरी का मुआवजा नहीं होता है।

वेबर का कहना है कि पूँजीपति समाज मे खुशहाली ज्यादा अच्छी और जल्दी आयेगी अगर वे नौकरशाही व्यवस्था को अपना लेते हैं। उनका यह भी कहना है कि यह आवश्यक नहीं है कि जहाँ पर नौकरशाही हो वहाँ पर पूँजीवाद हो ही।

शक्ति और सत्ता (Power and Authority)—वेबर ने सत्ता और शक्ति पर अपने विचार व्यक्त किये हैं। आपके अनुसार अगर किसी शक्ति के पीछे कानून, पद अथवा कोई और वैध आधार है तो वह सत्ता कहलायेगी। सत्ता व्यक्ति को वैध रूप से ऐसे अधिकार दे देती है जिनके द्वारा वह अन्य व्यक्तियो, सगठनो आदि को नियान्त्रित करता है। सत्ता को कई प्रकारो में विभाजित किया जा सकता है। औपचारिकता के आधार पर औपचारिक सत्ता तथा अनौपचारिक सत्ता में वर्गीकृत कर सकते हैं।

सत्ता के प्रकार (Types of Authority)—

वेबर ने सत्ता के निम्नलिखित तीन प्रकार बताये हैं—

(1) चमत्कारिक सत्ता (Charismatic Authority)—यह सत्ता उन व्यक्तियो के पास होती है जो सामान्य नागरिको को अपने चमत्कार द्वारा प्रभावित करके उन पर नियन्त्रण प्राप्त कर लेते हैं। साधु-सन्तो, धर्म-गुरुओ और चमत्कारी पुरुषो में चमत्कारी सत्ता देखने को मिलती है।

(2) कानूनी सत्ता (Legal Authority)—इसे वैधानिक औपचारिक सत्ता भी कह सकते हैं। कानूनी सत्ता में विधान या कानून व्यक्ति को शक्ति प्रदान कर देता है जिसका सामान्य लोगो को ध्यान रखना पडता है अगर सामान्य जन कानूनी-सत्ता का पालन नहीं करते हैं तो उन्हे दण्ड देने का प्रावधान होता है। प्रधानमन्त्री, राष्ट्रपति, सिपाही, न्यायाधीश आदि इस सत्ता के उदाहरण हैं।

(3) परम्परागत सत्ता (Traditional Authority)—जब सत्ता व्यक्ति को परम्परा के अनुसार प्राप्त होती है या जब सत्ता प्रदत्त होती है तो वह परम्परागत सत्ता

कहलाती है। जन-जातियो, जातियो, ग्रामो, परिवारों आदि मे सत्ता एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति को परम्परा के आधार पर हस्तान्तरित होती है तो ऐसी सत्ता परम्परागत सत्ता कहलाती है। मुखिया का बेटा मुखिया, राजा का बेटा राजा बनता है। यह परम्परागत सत्ता कहलाती है।

मैक्स वेबर ने समाजशास्त्र के विकास मे अनेक प्रकार से योगदान दिया है। उन्होने सामाजिक वर्ग, औद्योगिकीकरण सामाजिक स्तरीकरण आदि में भी अमूल्य योगदान दिया है।

मैक्स वेबर : एक संक्षिप्त-परिचय
(Max Weber : A Brief Introduction)

(1864-1920)

1. जीवन-चित्रण (Background)

1 प्रोटेस्टेण्ट परिवार
2 अर्थशास्त्र, इतिहास, कानून, दर्शन, धर्मशास्त्र मे प्रशिक्षित
3. शैक्षिक और राजनैतिक गतिविधियाँ
4 जर्मन आदर्शवाद मे प्रशिक्षित से सम्बन्ध
5 बिस्मार्क राजनीति

2. लक्ष्य (Aim)

". ..... सामाजिक क्रिया का व्याख्यात्मक बोध"

3. अभिग्रह (Assumptions)

1 क्रिया का व्यक्तिपरक अर्थ
2. अर्थ के प्रकार
3 तार्किकतानुसार सामाजिक व्यवहार मे परिवर्तन
4 सामाजिक व्यवहार के चार प्रकार
5 प्राकृतिक वरण से तार्किकीकरण
6. नौकरशाही तार्किकीकरण का परिणाम

4. पद्धतिशास्त्र (Methodology)

1 निम्न का व्याख्यात्मक बोध—
 1 1. वास्तविक अभिप्राय का अर्थ
 1 2 औसत या समूह अर्थ
 1.3. आदर्श प्रकार का उपयुक्त अर्थ
2 काल्पनिक परीक्षण का उपयोग

5. प्रारूप विज्ञान (Typology)

सामाजिक क्रिया और नौकरशाही के प्रारूप

6. बिन्दु (Issues)

1. प्रारूपात्मक भिन्नताओ की योग्यता
2 'प्रकृति-वरण' को समाज पर घटाना
3 सामान्य तार्किकीकरण

4 सामाजिक सरचना के मूल्य परिभाषित करते हैं।

अभ्यास प्रश्न

निबन्धात्मक प्रश्न

1 मैक्स वेबर की प्रमुख समाजशास्त्रीय कृतियों का वर्णन कीजिये।
2. मैक्स वेबर के जीवन एवं कार्यों पर एक सक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।
3. समाजशास्त्र के विकास मे मैक्स वेबर का क्या योगदान है? बताइए।
4 मैक्स वेबर के समाजशास्त्रीय योगदानो की विवेचना कीजिए।

लघुउत्तरात्मक प्रश्न

निम्न पर सक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिए :—

1 मैक्स वेबर पर अन्य विद्वानो का प्रभाव
2 सामाजिक क्रिया का सिद्धान्त
3 पद्धतिशास्त्र
4 वेबर के पद्धतिशास्त्र की विशेषताएँ
5 धर्म का सिद्धान्त
6 नौकरशाही व्यवस्था

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1 मैक्स वेबर किस देश के निवासी थे?
(अ) अमरीका (ब) जापान (स) जर्मनी (द) फ्रांस
[उत्तर- (स)]

2. मैक्स वेबर का जन्म कब हुआ था?
(अ) 1864 (ब) 1818 (स) 1858 (द) 1869
[उत्तर- (अ)]

3 वेबर का देहान्त कब हुआ था?
(अ) 1885 (ब) 1928 (स) 1920 (द) 1895
[उत्तर-(स)]

4 'दा प्रोटेस्टेण्ट एथिक एण्ड दा स्पिरिट ऑफ कैपिटलिज्म' के लेखक कौन हैं?
(अ) वेबर (ब) मार्क्स (स) दुर्खीम (द) सोरोकिन
[उत्तर-(अ)]

5 निम्न मे से सत्य कथन का चयन कीजिए—
(1) वेबर फ्रास के समाजशास्त्री थे।
(2) वेबर के अनुसार आधुनिक पूँजीवाद कैथोलिक धर्म की देन है।
(3) आदर्श प्रारूप की अवधारणा वेबर ने प्रतिपादित की थी।
(4) 'दा हिन्दू सोशियल सिस्टम' के लेखक वेबर नहीं हैं।
(5) पूँजीवादी व्यवस्था मे नौकरशाही का अध्ययन वेबर ने किया था।
(6) 'दा प्रोटेस्टेण्ट एथिक एण्ड दा स्पिरिट ऑफ कैपिटलिज्म' के लेखक वेबर हैं।

[उत्तर- सत्य कथन— 3, 5, 6]

□

अध्याय-6

मैक्स वेबर : सामाजिक क्रिया
(Max Weber : Social Action)

मैक्स वेबर ने सामाजिक क्रिया को समाजशास्त्र मे एक समाजशास्त्रीय रूप प्रदान किया है। आपने सामाजिक क्रिया की परिभाषा, विशेषताएँ, अध्ययन करने के दृष्टिकोण, प्रकार आदि विभिन्न पक्षो का क्रमबद्ध वर्णन तथा व्याख्या की है। वेबर ने सामाजिक क्रिया की अवधारणा, सिद्धान्त तथा जो योजना दी है वे मुख्य रूप से आपकी पुस्तक **''दा थ्योरी ऑफ सोशियल एण्ड इकोनोमिक ऑर्गनाइजेशन''** अनुवादक ए एम हेन्डरसन तथा टैलकट पारसन्स मे है। इसके अतिरिक्त आपने अन्यत्र भी सामाजिक क्रिया के महत्त्व तथा विभिन्न पक्षो पर प्रकाश डाला है। सामाजिक क्रिया का सिद्धान्त वेबर के समाजशास्त्रीय योगदानो मे अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। बिना इसे समझे वेबर के विचारो को नहीं समझा जा सकता है। वेबर के अनुसार सामाजिक क्रिया का समाजशास्त्र मे विशिष्ट स्थान है।

समाजशास्त्र में सामाजिक क्रिया का महत्त्व (Importance of Social Action in Sociology)—मैक्स वेबर ने सामाजिक क्रिया को समाजशास्त्र के अध्ययन की वस्तु बताया है। आपके निम्न कथन से स्पष्ट हो जाता है कि सामाजिक क्रिया का समाजशास्त्र मे विशेष महत्त्व है। वेबर ने **''दा थ्योरी ऑफ सोशियल एण्ड इकोनोमिक ऑर्गनाइजेशन'** मे **'समाजशास्त्र और सामाजिक क्रिया की परिभाषाएँ'** शीर्षक के अन्तर्गत इन दोनो की परिभाषाओ तथा इनके घनिष्ठ सम्बन्धो की विवेचना की है। आपने समाजशास्त्र की निम्न परिभाषा दी है—

''समाजशास्त्र वह विज्ञान है जो सामाजिक क्रिया के व्याख्यात्मक बोध द्वारा उसके दिशा क्रम और परिणामों के कार्य-कारण विश्लेषण पर पहुँचने का प्रयास करता है''

आपके अनुसार, सामाजिक क्रिया की वैज्ञानिक जानकारी होनी चाहिए। आपका कहना है कि सामाजिक क्रिया मे विद्यमान कारणो तथा उनके परस्पर सम्बन्धो, प्रभावो आदि का विश्लेषण समाजशास्त्र को करना चाहिए। ऐसा करने पर ही सामाजिक क्रियाओ के साथ तथा प्रमाणित परिणामो को ज्ञात किया जा सकता है। क्रिया में वेबर उन सभी मानवीय व्यवहारो को शामिल करते हैं जिनमें क्रिया करने वाला व्यक्ति अपनी क्रिया के साथ व्यक्तिगत अर्थ जोडता है। इस सन्दर्भ मे **एलेक्स इंक्लस** कहते हैं कि वेबर सामाजिक व्यवहारो तथा कृत्यो का अध्ययन ही समाजशास्त्र का प्रमुख कार्य मानते हैं। आपने वेबर का निम्न कथन उद्धरित किया है—

''समाजशास्त्र प्रधानतः सामाजिक सम्बन्धों तथा कृत्यों का अध्ययन है।''

इन उपर्युक्त कथनो मे स्पष्ट हो जाता है कि वेबर समाजशास्त्र में सामाजिक क्रिया को कितना महत्त्वपूर्ण मानते हैं। आपके अनुसार, समाजशास्त्र की विषय-सामग्री, अध्ययन का दृष्टिकोण, अध्ययन पद्धति, सिद्धान्त आदि सामाजिक क्रिया के द्वारा ही नियन्त्रित, निर्देशित और सचालित होते हैं। वेबर के इन विचारो का प्रभाव अनेक समाजशास्त्रियों पर पड़ा है जिनमे से उल्लेखनीय समाजशास्त्री टेलकट पारसन्स है। पारसन्स ने मैक्स वेबर, कार्ल मार्क्स, दुर्खीम आदि विचारको के सामाजिक क्रिया के सिद्धान्त की विस्तृत व्याख्या तथा समीक्षा की है तथा स्वयं का क्रिया का सिद्धान्त भी प्रतिपादित किया है।

सामाजिक क्रिया का अर्थ एवं परिभाषा (Meaning and Definition of Social Action)—वेबर ने 'सामाजिक क्रिया' शब्द का प्रयोग विशिष्ट अर्थ में किया है। सामाजिक क्रिया की अवधारणा को समझे बिना वेबर द्वारा दी गई समाजशास्त्र की परिभाषा तथा इनके विचारों को भी नहीं समझा जा सकता है। आपने सामाजिक क्रिया की निम्न परिभाषा दी है—

"क्रिया में वे सभी मानवीय व्यवहार सम्मिलित होते हैं जिनके साथ क्रिया करने वाला व्यक्ति व्यक्तिनिष्ठ अर्थ जोड़ता है।"

इस परिभाषा के अनुसार वेबर ने सामाजिक क्रिया तथा विशेष मानवीय व्यवहारों को समान माना है। वे सभी मानवीय व्यवहार सामाजिक क्रियाएँ हैं जो व्यक्ति किसी अर्थ या उद्देश्य को ध्यान में रखकर करता है। वेबर के अनुसार, मानव की अर्थहीन क्रियाएँ सामाजिक क्रियाएँ अथवा मानवीय व्यवहार नहीं माने जाने चाहिये। आपने सभी अर्थपूर्ण व्यवहारों को सामाजिक क्रिया के अन्तर्गत रखा है। आपने आगे लिखा है—

"इस अर्थ में क्रिया या तो बाह्य अथवा शुद्ध रूप से आन्तरिक या व्यक्तिनिष्ठ हो सकती है, इसमें एक परिस्थिति में सकारात्मक व्यवधान आ सकते हैं अथवा ऐसी परिस्थिति में व्यवधानों से विचारपूर्वक बचा जा सकता है या धैर्यपूर्वक उससे लाभ उठाया जा सकता है।"

वेबर ने सामाजिक क्रिया की उपर्युक्त परिभाषा में क्रिया के दो प्रकार—बाहरी क्रियाएँ और आन्तरिक क्रियाएँ बताई हैं। आन्तरिक क्रिया से आपका तात्पर्य व्यक्तिनिष्ठ क्रिया से है। अर्थात् जो क्रियाएँ व्यक्ति अपने दृष्टिकोण को ध्यान में रखकर करता है या अर्थ लगाता है वह व्यक्तिनिष्ठ या विषयनिष्ठ क्रियाएँ होती हैं।

मैक्स वेबर के अनुसार कोई भी क्रिया जब अन्य व्यक्तियों की क्रिया से प्रभावित होती है, तब वह सामाजिक क्रिया कहलाती है। इन्हीं के शब्दों में—

"किसी क्रिया को तब सामाजिक क्रिया कहा जा सकता है, जब व्यक्ति या व्यक्तियो द्वारा लगाये गये व्यक्तिनिष्ठ अर्थ के कारण वह (क्रिया) दूसरे व्यक्तियों के व्यवहार से प्रभावित हो और उसके द्वारा उनकी गतिविधियाँ निर्धारित हों।"

वेबर के मत में सामाजिक क्रिया और वैयक्तिक क्रिया अलग-अलग हैं, दोनों में काफी अन्तर है अर्थात् सामाजिक-क्रिया वैयक्तिक-क्रिया नहीं है। वेबर उद्देश्यपूर्ण मानव व्यवहार को ही सामाजिक क्रिया कहते हैं और जिस मानव-व्यवहार का कोई उद्देश्यपूर्ण अर्थ न निकले वह सामाजिक क्रिया की परिधि मे नहीं आता है। वेबर उद्देश्यपूर्ण अर्थ से यह तात्पर्य लगाते हैं कि जो अर्थ स्वय कर्ता अपनी क्रिया के विषय में लगाता है साथ ही दूसरों को भी उसी प्रकार की क्रिया के उद्देश्यों की पूर्ति करने के लिये प्रेरित करता है।

इसे दूसरे रूप में इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है। मनुष्य के जीवन में अनेक आवश्यकताएँ होती हैं। वह जो भी कार्य करता है, उसके पीछे कुछ-न-कुछ उद्देश्य अवश्य होता है और उस उद्देश्य की पूर्ति के लिए ही उसे आचरण करना होता है। अत: समाज में रहकर सामाजिक अन्त:क्रिया आवश्यक है और इन्हीं अन्त:क्रियाओं के परिणामस्वरूप सामाजिक सम्बन्ध उत्पन्न होते है, किन्तु सामाजिक क्रिया के अन्तर्गत मानव के वे ही व्यवहार सम्मिलित किये जाते है, जो अर्थ-पूर्ण होते हैं। इसी को मैक्स वेबर **'अर्थपूर्ण क्रिया'** कहते हैं। अर्थात् जब व्यक्ति की क्रिया को विशिष्ट अर्थ प्रदान कर दिया जाता है तो वह सामाजिक क्रिया हो जाती है। इसके अतिरिक्त क्रिया का सम्बन्ध वर्तमान, भूत अथवा भविष्य किसी काल से भी हो सकता है तथा यह बाह्य भी हो सकती है और आन्तरिक अथवा मानसिक भी हो सकती है।

सामाजिक क्रिया की विशेषताएँ (Characteristics of Social Action)—सामाजिक क्रिया को समझने के लिए इसकी विशेषताओ का अध्ययन करना अति-आवश्यक है। वेबर ने सामाजिक क्रिया को परिभाषा देने के बाद इसको समझने के लिए क्रिया की विशेषताओ पर प्रकाश डाला है, जो निम्न प्रकार हैं—

1. दूसरे के प्रति उन्मुख (Oriented towards others)—वेबर ने लिखा है, **"सामाजिक क्रिया दूसरों के सम्भावित भूत, वर्तमान या भविष्य के व्यवहारों की ओर उन्मुख हो सकती है।"** आपका कहना है कि सामाजिक क्रिया मे दो या दो से अधिक व्यक्ति होने चाहिये। ये आपस मे एक-दूसरे के व्यवहार को प्रभावित भी करे। सामाजिक क्रिया परिचित या अपरिचित के साथ हो सकती है। क्रिया भूत, वर्तमान या भावी अनुमानित व्यवहार के द्वारा भी प्रभावित हो सकती है। आपने उदाहरण दिया है कि क्रिया भूतकाल में किये गये हमले के कारण बदला लेने के लिए हो सकती है। वर्तमान मे रक्षा के लिए हो सकती है तथा भविष्य मे हमले से सुरक्षित रहने के लिए हो सकती है। आपने एक और उदाहरण द्वारा सामाजिक क्रिया की इस विशेषता को स्पष्ट किया है। आपका कहना है कि 'मुद्रा' विनिमय का साधन है, जिसे प्रत्येक कर्त्ता भुगतान के रूप मे स्वीकार कर लेता है। क्योकि उसे आशा है कि भविष्य मे अपरिचित लोग अवसर आने पर मुद्रा को विनिमय मे स्वीकार कर लेगे।

2. प्रत्येक क्रिया 'सामाजिक' नहीं (Every Action is not 'Social')—वेबर ने सामाजिक क्रिया की दूसरी विशेषता निम्न शब्दो मे व्यक्त की है, **"प्रत्येक प्रकार की क्रिया, यहाँ तक कि बाह्य क्रिया भी, वर्तमान चर्चा के अर्थ में 'सामाजिक' नहीं है।"** आपने स्पष्ट करते हुए लिखा है कि बाह्य क्रिया यदि पूर्णरूपेण जड़ अथवा निर्जीव वस्तुओं के प्रति उन्मुख है तो वह असामाजिक क्रिया है। सामाजिक क्रिया की रचना व्यक्तिनिष्ठ दृष्टिकोण करता है, जब वह दूसरो के व्यवहार के प्रति उन्मुख होता है। आपने उदाहरण दिया है कि धार्मिक व्यवहार सामाजिक क्रिया नहीं है। यदि यह केवल ईश्वर का ध्यान लगा कर बैठे रहने या एकान्त मे प्रार्थना, आराधना करने के रूप मे व्यक्त होता है। व्यक्ति को आर्थिक क्रिया तभी सामाजिक होगी, जब वह दूसरो के व्यवहारो का भी ध्यान रखे। भविष्य मे लोगो की आवश्यकता को ध्यान में रख कर उत्पादन करना सामाजिक क्रिया है।

3. प्रत्येक प्रकार का मानवीय सम्पर्क सामाजिक नहीं (Every Type of Human Contact is not 'Social')—मैक्स वेबर ने लिखा है, "मानव प्राणियों का

प्रत्येक प्रकार का सम्पर्क सामाजिक लक्षण वाला नहीं होता है, वह उसी सीमा तक सामाजिक कहलायेगा, जहाँ तक कर्त्ता का व्यवहार अर्थपूर्ण तरीके से दूसरो के व्यवहार के प्रति उन्मुख है।" आपने इसे उदाहरण देकर समझाया है। अगर दो साईकिल चलाने वाले टकरा जाते हैं तो यह प्राकृतिक घटना जैसी बात है। यहाँ दो व्यक्तियो का सम्पर्क सामाजिक नहीं है। लेकिन एक-दूसरे से टक्कर से बचने के प्रयास, या टकरा जाने के बाद हाथपाई, गाली-गलौज, मारपीट या मित्रतापूर्ण बातचीत हो तो उसे 'सामाजिक क्रिया' कहेंगे।

4. सामाजिक क्रिया समरूप नहीं होती (Social Action is not Identical)—वेबर ने सामाजिक क्रिया की चौथी विशेषता का उल्लेख करते हुए लिखा है, **"सामाजिक क्रिया न तो अनेक व्यक्तियों द्वारा की जाने वाली एक-सी क्रिया को कहते हैं और न ही उस क्रिया को कहते हैं जो केवल दूसरे व्यक्तियों द्वारा प्रभावित है।"** आपने उदाहरण दिया कि वर्षा हो जाती है और सडक पर लोग छाता खोल लेते हैं। इस प्रकार की क्रिया सामाजिक नहीं कहलायेगी क्योकि छाता खोलने वाले लोगो की क्रियाएँ एक-दूसरे की क्रियाओ को प्रभावित नहीं कर रही हैं वो तो वर्षा से अपनी रक्षा कर रहे हैं, इसी कारण उनकी क्रियाएँ एक-सी हैं। उन लोगो ने वर्षा से प्रभावित होकर छाता खोला है न कि एक-दूसरे को देखकर। किसी ने भी किसी को भी अपनी क्रिया के द्वारा प्रभावित नहीं किया। उनमे परस्पर अर्थपूर्ण क्रियाएँ नहीं हो रही हैं। इसलिए एक-सी या समरूप क्रियाएँ आवश्यक नहीं है कि सामाजिक क्रिया ही हों।

5. अनुकरणात्मक क्रिया सामाजिक क्रिया नहीं (Imitative Action is not Social Action)—मैक्स वेबर ने अपनी कृति मे यह भी स्पष्ट किया है कि केवल दूसरो की क्रियाओ का अनुकरण मात्र ही सामाजिक क्रिया नहीं हो सकता जब तक कि वह अन्य व्यक्ति की (जिसका कि अनुकरण किया जा रहा है) क्रिया से अर्थपूर्ण सम्बन्ध न रखता हो अथवा उसकी क्रिया द्वारा अर्थपूर्ण रूप से प्रभावित न होता हो। उदाहरणार्थ—नदी में तैरते समय कोई व्यक्ति सामने तैरने वाले किसी व्यक्ति की नकल करके तैरना सीखता है, तो यह क्रिया सामाजिक क्रिया नहीं कहलायेगी। क्योंकि नकल करने वाले का कार्य आगे तैरने वाले के व्यवहार या क्रिया से किसी रूप मे सम्बन्धित नहीं है, किन्तु यदि तैरने का प्रशिक्षण देने वाले व्यक्ति का अनुकरण करके तैरना सीखा जाये तो यह क्रिया सामाजिक-क्रिया कहलायेगी क्योंकि वह व्यक्ति उस प्रशिक्षक से अर्थपूर्ण ढंग से सम्बन्धित है।

मैक्स वेबर ने सामाजिक क्रिया की उपर्युक्त पाँच विशेषताओ का वर्णन किया है। इन विशेषताओ के अतिरिक्त सामाजिक क्रिया की कुछ और विशेषताएँ भी हैं जो आपके विभिन्न लेखो तथा पुस्तको के अध्ययन में मिलती हैं। आपके तथा आधुनिक समाजशास्त्रियो के अनुसार कोई भी क्रिया तब सामाजिक कहलाती है, जब निम्न तीन शर्तें पूर्ण हो—

6. कर्त्ता (ओं) और प्रतिकर्त्ता (ओं) का होना [Presence of Actor (s) and Reactor (s)]—सामाजिक क्रिया मे एक या/और अनेक कर्त्ता तथा एक या/और अनेक प्रतिकर्त्ता होते हैं जो एक-दूसरे की उपस्थिति से अवगत होते हैं तभी क्रिया हो सकती है। इसके निम्न सम्भावित रूप हैं—(1) एक कर्त्ता—एक प्रतिकर्त्ता मे; (2) एक कर्त्ताओ—अनेक प्रतिकर्त्ताओं में, (3) अनेक कर्त्ता—एक प्रतिकर्त्ता में, और (4) अनेक कर्त्ताओं—अनेक प्रतिकर्त्ताओं में परस्पर सामाजिक क्रियाएँ होना सम्भव है।

7. परिस्थिति (Situation)—सामाजिक क्रिया के लिए दूसरी महत्त्वपूर्ण शर्त ऐसी परिस्थिति का होना आवश्यक है जिसमे कर्त्ता (ओ) और प्रतिकर्त्ता (ओ) एक-दूसरे को क्रिया को प्रभावित करने से सम्बन्धित वस्तुओ और विशेषताओं की सुविधाओं से सुसज्जित हो तथा एक-दूसरे को प्रभावित करने की क्षमता रखते हों।

8. मूल्य, विश्वास तथा प्रतीक (Values, Beliefs and Symbols)—सामाजिक क्रिया के लिए तीसरी महत्त्वपूर्ण शर्त कर्त्ताओ और प्रतिकर्त्ताओ के बीच सामान्य मूल्य, विश्वास तथा प्रतीक होने चाहिए तथा उनमे आपस में आशाएँ और अपेक्षाएँ होनी चाहिये।

ये शर्तें सामाजिक क्रियाओ में भिन्न-भिन्न मात्रा मे तथा भिन्न-भिन्न अनुपात मे देखी जा सकती हैं।

क्रिया के सिद्धान्त के अभिग्रह
(Assumptions of the Theory of Action)

मैक्स वेबर ने समाजशास्त्र मे सामाजिक क्रिया के अध्ययन को समाजशास्त्रीय दिशा प्रदान की है। आपका अनेक विद्वानो पर प्रभाव पड़ा है। टेलकट पारसन्स पर इनका विशेष प्रभाव देखा जा सकता है। आज समाजशास्त्र मे सामाजिक क्रिया के सिद्धान्त का विशिष्ट स्थान है। सामाजिक क्रिया के सिद्धान्त के कुछ प्रमुख अभिग्रह (Assumptions) हैं जिनका निर्धारण मैक्स वेबर की 'द थ्योरी ऑफ सोशियल एण्ड इकोनोमिक ऑर्गनाइजेशन', एफ. वान. मिसस की 'ह्यूमन एक्शन' तथा टेलकट पारसन्स की 'द स्ट्रक्चर ऑफ सोशियल एक्शन' कृतियों के आधार पर किया जा सकता है। सामाजिक क्रिया के सिद्धान्त के ये प्रमुख अभिग्रह निम्नांकित हैं जो किसी-न-किसी रूप मे वेबर के साहित्य मे मिलते हैं—

1. लक्ष्य-अभिमुखन
   (Goal-Orientation)
2. साधनों का चयन
   (Selection of Means)
3. लक्ष्यों मे परस्पर सम्बन्ध
   (Relationship between Goals)
4. कर्त्ता की परिस्थिति
   (Actor's Situation)
5. कर्त्ता के अभिग्रह
   (Actor's Assumptions)
6. कर्त्ता का परिस्थिति का ज्ञान
   (Actor's Knowledge of the Situation)
7. संज्ञान के विचार और प्रकार
   (Ideas and Modes of Cognition)
8. भाव एवं भावनाएँ
   (Affects and Sentiments)
9. मानक और मूल्यो का महत्त्व
   (Significance of Norms and Values)

मैक्स वेबर के विचारों तथा कथनो का विशेष रूप से सहारा लेते हुए इनका क्रम से संक्षिप्त वर्णन तथा व्याख्या की जाएगी।

1. लक्ष्य-अभिमुखन (Goal-Orientation)—मानव क्रियाएँ लक्ष्यो को प्राप्त करने के लिए की जाती हैं। सामाजिक क्रिया में लक्ष्य को ध्यान मे रखकर कर्त्ता क्रिया करता है। अनेक लक्ष्य स्पष्ट होते हैं तथा उनको आसानी से जाना जा सकता है। अपनी आय बढ़ाना इसका उदाहरण है। ऐसा भी होता है कि व्यक्ति अपने लक्ष्यो को तो नहीं जानता है, परन्तु औरों के लक्ष्यो को जानता है। इसका उदाहरण है—स्वयं का सम्मान या सत्ता मे वृद्धि करना। यह लक्ष्य आवश्यक नहीं है कि पूर्ण स्पष्ट तथा विशिष्ट हो। इसको प्राप्त करना तथा पहिचानना भी सरल नहीं है। समाजशास्त्री को ये मानकर नहीं चलना चाहिए कि सम्बन्धित कर्त्ता अपने-अपने लक्ष्यो को समान रूप से जानते हैं तथा पहिचानते हैं। इसी प्रकार लक्ष्यो को प्राप्त करना भी एक चर है। सामाजिक क्रिया इस प्रकार से लक्ष्य-अभिमुखन होती है।

2. साधनों का चयन (Selection of Means)—क्रिया मे प्राय: लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए साधनो का चयन किया जाता है। समाजशास्त्री यह मानता है कि अनुभवो तथा विश्लेषण के द्वारा साधन और लक्ष्यो मे अन्तर कर सकते हैं। जब लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए अनेक साधन या तरीके होते हैं, तब साधन और लक्ष्य मे अन्तर करना सरल होता है। लेकिन जब लक्ष्य की प्राप्ति के लिए केवल एक साधन या तरीका उपलब्ध होता है, तब साधन और लक्ष्य मे अन्तर करना कठिन होता है। मानवीय क्रियाओ में लक्ष्यो को प्राप्त करने के लिए भौतिक वस्तुएँ काम में लाई जाती हैं तब लक्ष्य और साधन में अन्तर करना सरल होता है तथा जब मानवीय क्रियाओ में लक्ष्य और साधनो को समाज के मूल्य प्रभावित तथा निश्चित करते हैं, तब इनमें अन्तर करना कठिन होता है।

3. लक्ष्यों में परस्पर सम्बन्ध (Relationship between Goals)—कर्त्ता के सामने हमेशा अनेक लक्ष्य होते हैं। किसी एक लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए जो वह क्रिया करता है उसकी क्रियाओ का प्रभाव दूसरो पर तथा दूसरों के लक्ष्यो को प्राप्त करने के प्रभाव उस पर पड़ते हैं। कोई भी व्यक्ति ऐसा नहीं जिसके मन में केवल एक लक्ष्य हो। एक व्यक्ति के मस्तिष्क मे अनेक लक्ष्य होते हैं तथा दूसरे उससे सम्बन्धित होते हैं। आत्म-सम्मान का लक्ष्य ऐसा है जिसकी प्राप्ति से सम्बन्धित अन्य लोग साधन हैं। सम्पत्ति का संचय ऐसा लक्ष्य है जो अनेक रूपो मे हो सकता है, जैसे—धन, आय आदि। इस प्रकार सम्पत्ति का संचय अनेक अन्य लक्ष्यो के रूप में पूर्ण होता है। इस प्रकार से लक्ष्य परस्पर सम्बन्धित होते हैं। लक्ष्य अनेक होते हैं। कुछ लक्ष्य अन्य से अधिक महत्त्वपूर्ण होते हैं। लक्ष्यो मे परस्पर तुलना करके कर्त्ता किसी एक लक्ष्य को एक समय में प्राप्त करने का प्रयास करता है। कर्त्ता और प्रतिकर्त्ताओ के लक्ष्य भी परस्पर एक-दूसरे से सम्बन्धित होते हैं। सामाजिक क्रिया में लक्ष्यो का परस्पर सम्बन्ध महत्त्वपूर्ण होता है।

4. कर्त्ता की परिस्थिति (Actor's Situation)—लक्ष्यो को प्राप्त करने का प्रयास तथा साधनों का चयन सर्वदा परिस्थितियो के अनुसार किया जाता है जो क्रिया के पथ को प्रभावित करते हैं। क्रिया की व्याख्या तभी की जा सकती है जब कर्त्ता की विशिष्ट प्रकार की परिस्थिति मे स्थिति स्पष्ट हो। कर्त्ता विशिष्ट क्रियाएँ तब करता है जब परिस्थिति की दशाएँ सामाजिक सम्बन्धों तथा संस्कृति द्वारा विशेष रूप से नियन्त्रित तथा निश्चित होती हैं।

किसी सीमा तक आदमी अपनी परिस्थितियों के अनुसार लक्ष्य निश्चित करता है तथा प्राप्त करता है। कई बार लक्ष्यों को परिस्थितियाँ निश्चित करती हैं। कई बार ऐसा होता है कि व्यक्ति किसी लक्ष्य को प्राप्त करने का प्रयास करता है तथा अनुकूल परिस्थितियाँ उसे अन्य लक्ष्यो को भी प्राप्त कराने मे सहायक हो जाती हैं। व्यक्ति पर भी निर्भर करता है कि वह परिस्थिति को किस रूप मे समझ पाता है। व्यक्तिगत गुण, जैसे—विचार, अनुभव, ज्ञान आदि परिस्थिति को समझने तथा लक्ष्य को प्राप्त करने मे प्रभाव डालते हैं।

5. कर्त्ता के अभिग्रह (Actor's Assumptions)—कर्त्ता हमेशा अपने लक्ष्यो को प्रकृति तथा उनके प्राप्त करने की सम्भावनाओ से सम्बन्धित निश्चित अभिग्रहो का निर्माण करता है। अगर कर्त्ता यह अनुमान लगाता है कि एक निश्चित लक्ष्य को एक निश्चित तरीके से प्राप्त किया जा सकता है या वह यह अनुमान लगाता है कि एक लक्ष्य पूरा हो सकता है या वह ये अनुमान लगाता है कि एक निश्चित क्रिया का पथ निश्चित परिणाम देगा तो वह इन अनुमानो या अभिग्रहो के अनुसार क्रिया कर सकता है चाहे वह सही हो अथवा गलत हो। ये अभिग्रह दो प्रकार के होते हैं—(1) आनुभाविक प्रयोगात्मक तथा (2) गैर-आनुभाविक। एक जादुई विश्वास कि पानी का छिडकाव वर्षा लाता है इसे परीक्षण द्वारा जाँचा जा सकता है। दूसरा एक धार्मिक विश्वास—प्रार्थना से मोक्ष की प्राप्ति होती है लेकिन इसकी जाँच नहीं की जा सकती है। समाजशास्त्रियो का मानना है कि सामाजिक क्रिया में कर्त्ता के अभिग्रह होते हैं जो क्रिया को प्रभावित करते हैं।

6. कर्त्ता का परिस्थिति का ज्ञान (Actor's Knowledge of the Situation)—जैसी अवलोकनकर्त्ता (वैज्ञानिक) को परिस्थितियाँ दिखाई देती हैं उनके आधार पर कर्त्ता के आचरण की व्याख्या नहीं की जा सकती है क्योंकि 'कर्त्ता का परिस्थिति का ज्ञान' अवलोकनकर्त्ता के ज्ञान से भिन्न हो सकता है। कर्त्ता का ज्ञान ही कर्त्ता की परिस्थिति के प्रति प्रतिक्रिया को नियन्त्रित, निर्देशित और प्रभावित करता है। मैक्स वेबर ने इसी सदर्भ मे सुझाव दिया है कि सामाजिक क्रियाओ का अध्ययन दो दृष्टिकोणो के अनुसार करना चाहिए। ये दृष्टिकोण निम्न हैं—

6.1. व्यक्तिनिष्ठ अध्ययन (Subjective Study)—कर्त्ता सामाजिक परिस्थिति का क्या ज्ञान रखता है? वह भिन्न उद्देश्यो को ध्यान में रखकर क्रिया करता है? वैज्ञानिक को इन तथ्यो का अध्ययन करना चाहिए। यह व्यक्तिनिष्ठ अध्ययन कहलाता है।

6.2. वस्तुनिष्ठ अध्ययन (Objective Study)—वैज्ञानिक को सामाजिक परिस्थिति का वस्तुनिष्ठ अर्थात् जैसी वह दिखाई देती है वैसा भी अध्ययन करना चाहिए। अवलोकन द्वारा वैज्ञानिक को पक्षपात रहित होकर तथ्य एकत्र करने चाहिए। यह वस्तुनिष्ठ अध्ययन कहलाता है।

वेबर के अनुसार सामाजिक विज्ञानों मे सत्य, प्रमाणित तथा विश्वसनीय तथ्य एकत्र करने के लिए इन दोनो प्रकार के दृष्टिकोणों को अपनाना अत्यावश्यक है, अन्यथा अध्ययन वैज्ञानिक नहीं हो सकते। अगर सेनापति को सूचना मिलती है कि दुश्मनो की सेना उनसे बहुत छोटी है तो हो सकता है कि सेनापति तुरन्त हमला कर दे। ऐसा भी हो सकता है कि सूचना पूर्ण सत्य हो अथवा अर्द्ध-सत्य हो। दुश्मन की सेना भले ही छोटी हो परन्तु एक विशेष स्थान या परिस्थिति में वह युद्ध करने में, नये-नये उपकरणों, गोला-बारुद तथा

आधुनिकतम हथियारो से पूर्ण सुसज्जित हो। इस प्रकार सेनापति को ही परिस्थिति का पूर्ण ज्ञान होना चाहिए तथा वही सही निर्णय ले सकता है जो सही अथवा गलत हो सकता है। वेबर, पारसन्स आदि के अनुसार क्रिया के सिद्धान्त में 'कर्त्ता का परिस्थिति का ज्ञान' एक महत्त्वपूर्ण अभिग्रह है।

7. सज्ञान के प्रकार और विचार (Ideas and Modes of Cognition)—कर्त्ता के निश्चित विचार या सज्ञान के प्रकार होते हैं जो उसके परिस्थिति सम्बन्धी प्रत्यक्षीकरण को प्रभावित करते हैं। कर्त्ता जब परिस्थिति का अवलोकन करता है तथा जानकारी एकत्र करता है तो तथ्य सकलन की प्रक्रिया पर उसके विचारों का प्रभाव पड़ता है। सज्ञान की विधि या प्रकार का भी सूचनाओ के सकलन पर प्रभाव पड़ता है जो आगे चलकर उसके लक्ष्यो, साधनो यहाँ तक कि उसके आचरण को भी प्रभावित करते हैं। कर्त्ता के कई विचार तो ऐसे होते हैं जिनका उसको ज्ञान भी नहीं होता है और वह निश्चित प्रकार से लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए प्रभाव डालते है। जिस प्रकार से मानव को अच्छा-बुरा, लम्बा-नाटा, निर्दयी-दयालु आदि मे वर्गीकरण करने की प्रवृत्ति होती है उसी प्रकार से गोल, चौकोर, त्रिकोण, चिकना, खुरदरा, हल्का-भारी आदि मे वस्तु का वर्गीकरण करने की प्रवृत्ति होती है ये सब विचारो के प्रकार, क्रम, विधि आदि को भाषा के द्वारा प्रभावित करते हैं। जिनका समाजशास्त्रीय अन्वेषण मे महत्त्व होता है विशेष रूप से सामाजिक क्रिया के अध्ययन मे।

8. भाव एवं भावनाएँ (Affects and Sentiments)—कर्त्ता की कुछ निश्चित भावनाएँ अथवा भावात्मक प्रकृति होती है जो उसकी परिस्थिति के प्रत्यक्षीकरण तथा लक्ष्यो के चुनावो को प्रभावित करती है। परिस्थिति का प्रत्यक्षीकरण तथा लक्ष्यो का चयन भावात्मक इच्छाओ से भी प्रभावित होता है। स्नेह, शत्रुता, ईर्ष्या, विरोध, स्पर्द्धा, डाह, भक्ति, सुरक्षा की आवश्यकता आदि भाव मिलकर कर्त्ता को एक के प्रति भक्ति तथा दूसरे के प्रति विरोध व्यक्त करने के लिए प्रभावित करते हैं। भाव तथा संज्ञान के प्रकारो मे अन्तर करना कठिन है। ये आपस मे घुल-मिलकर क्रिया को प्रभावित करते हैं। उनका निर्माण सामान्यतया परिस्थितियाँ ही करती हैं। सामाजिक क्रिया को ये लक्षण प्रभावित करते हैं। इसलिए इनका अध्ययन करना आवश्यक है।

9. मानक और मूल्यो का महत्त्व (Significance of Norms and Values)—कर्त्ता के निश्चित मानक और मूल्य होते हैं जिन्हे वह अपने समाज और संस्कृति मे सीखता है। ये सीखे हुए मानक मूल्य, आदर्श आदि उसके लक्ष्यो के चयन का निर्धारण करते है। लक्ष्यों को प्राथमिकता का कम भी इन्हीं मूल्यो तथा मानको के अनुसार निर्धारित होता है। मानक समाज मे आचरण को प्रचलित मापदण्डो के अनुसार व्यवस्थित करते हैं, मूल्य प्राथमिकताओ तथा अपेक्षाओ की स्थिति के मामलो को व्यक्त करते हैं। मानक सास्कृतिक हो सकते हैं, आवश्यक नहीं है कि वह सामाजिक ही हो। किसी विशिष्ट अवसर पर कोई क्या खायेगा, ये सास्कृतिक मानक है। विशेष अवसर पर कोई दूसरे निश्चित वर्ग के लोगो के साथ हिस्सा बाँट करके क्या खाता है, यह सामाजिक मानक है। मानक स्पष्ट करते हैं कि कौनसा साधन काम मे लाया जा सकता है। मानक साधनो के प्रकारो को भी निश्चित करते हैं। मानक सिद्धान्त रूप मे साधनो के विकल्प भी निश्चित करते हैं जिनको कर्त्ता अपने लक्ष्यो को प्राप्त करने के लिए उपयोग मे ला सकता है। जिन समाजो मे निश्चित नगद मुद्रा

नहीं होती है वहाँ पर निश्चित वस्तुएँ वस्तु-विनिमय के लिए व्यवहार मे लाई जाती है यह उस समाज के मानक निश्चित करते हैं। मानक लक्ष्य निर्धारित नहीं करते हैं। लेकिन जहाँ लक्ष्य प्राप्त होने के बाद साधन के रूप मे प्रयुक्त किये जाते हैं वहाँ मानक साधनो का भी निर्धारण कर सकते है। धनी होना कोई मानक नहीं है। यह मानक तब बन सकता है जब धनी होने को मूल्यवान तथा प्रतिष्ठा का साधन माना जाए। इस प्रकार कर्त्ता के मानक तथा मूल्य उसकी सामाजिक क्रिया से सम्बन्धित साधन और लक्ष्यों को निर्धारित तथा नियन्त्रित करते हैं जिसको समाजशास्त्री सामाजिक क्रिया के सिद्धान्त का महत्त्वपूर्ण अभिग्रह मानते हैं।

सामाजिक क्रिया के प्रकार
(Types of Social Action)

इस प्रकार मैक्स वेबर ने सामाजिक क्रिया की स्पष्ट योजना अथवा सिद्धान्त प्रतिपादित किया, जो मार्क्स से भिन्न है। क्रिया या आचरण व्यक्तिनिष्ठ रूप से पूर्ण होना चाहिए व व्यक्ति के अनुसार अर्थपूर्ण होना चाहिए। दूसरो के आचरण को समझने के लिए केवल यह नहीं देखना चाहिए कि वे क्या कर रहे हैं, बल्कि यह जानना चाहिए कि वे अपनी क्रियाओ के साथ क्या अर्थ जोडते हैं। यह अपने स्वय के समाज को समझने मे भले ही स्पष्ट न हो, जहाँ स्वय अपने सन्दर्भ मे क्रिया की प्रकृति का अवलोकन करते है। उदाहरण के लिए—अपने शयन कक्ष मे प्रातः सात बजे यदि कोई व्यक्ति अपने पैर के पजो को छूता है तो इसका अर्थ है कि वह व्यक्ति कसरत कर रहा है, न कि प्रार्थना कर रहा है। किन्तु किसी विदेशी समाज मे जिमनास्टिक के समान कसरत को कर्मकाण्ड से तब तक अलग नहीं किया जा सकता जब तक उसके विषय मे कोई स्पष्ट ज्ञान न हो। इन्हीं बातो को ध्यान मे रखकर वेबर ने सामाजिक क्रिया के चार प्रकार बताये हैं जिनके वर्गीकरण की विवेचना आपकी विश्वविख्यात पुस्तक '**दा थ्योरी ऑफ सोशियल एण्ड इकोनॉमिक ऑर्गनाइजेशन**' में मिलती है। मैक्स वेबर के समाजशास्त्रीय योगदान मे सामाजिक क्रिया की व्याख्या, प्रकार, विशेषताएँ तथा सिद्धान्त अति महत्त्वपूर्ण हैं। जब भी समाजशास्त्र मे सामाजिक क्रिया के प्रकारो का वर्णन और व्याख्या की जाती है सर्वप्रथम मैक्स वेबर के विचारो का, विशेष रूप मे प्रकारों का अध्ययन अवश्य किया जाता है। आपने सामाजिक क्रिया के प्रकारो के वर्गीकरण मे तार्किकता, मूल्य अभिमुखता, भावात्मकता और परम्परा के आधार लिए हैं। आपने सामाजिक क्रिया के निम्न चार प्रकार इसके अभिमुखन के प्रकारो के आधार पर किये हैं—

1 तार्किक क्रिया,
2 मूल्य-अभिमुखी तार्किक क्रिया,
3 पारम्परिक क्रिया, और
4 भावात्मक क्रिया।

मैक्स वेबर ने इन सामाजिक क्रियाओं की जो व्याख्या की है वह इस प्रकार है—

1. तार्किक क्रिया (Rational Action)—वेबर ने सामाजिक क्रिया का प्रथम प्रकार तार्किक क्रिया बताया है। इसे जर्मन भाषा मे स्वेकरेस्योनालिट्ट (Zweckrationalitat), आग्ल भाषा मे स्वेकरेशयोनाल (Zweckrational) या रेशनल एक्शन (Rational Action)

तथा हिन्दी भाषा में तार्किक-क्रिया या विवेकी-क्रिया कहते हैं। मेक्स वेबर के अनुसार यह क्रिया तार्किक या विवेक-अभिमुखी होती है।

वेबर का मानना था कि व्यक्ति सामाजिक क्रिया अपनी आवश्यकता की पूर्ति के लिए करता है। व्यक्ति के सामने लक्ष्य और साधन होते हैं। जब व्यक्ति तर्क द्वारा कोई लक्ष्य निश्चित करता है तथा साधन का उपयोग उसकी प्राप्ति के लिए योजना-बद्ध रूप से करता है तो इन सबसे सम्बन्धित उस व्यक्ति की क्रिया पूर्ण रूप से तार्किक क्रिया कहलाती है। वेबर ने तार्किक क्रिया की एक और विशेषता यह बताई है कि जब लक्ष्य प्राप्त हो जाता है तो उस लक्ष्य के साधन के रूप मे आने वाली आवश्यकताओ या उद्देश्य की पूर्ति के लिए इसका प्रयोग किया जाता है। उदाहरण के रूप मे छात्र शिक्षक द्वारा दिया गया निबन्ध गृह-कार्य के रूप मे लिखता है। निबन्ध लिखना लक्ष्य है। पुस्तक, पुस्तकालय, पैन आदि साधन हैं। निबन्ध तैयार हो जाता है। शिक्षक निबन्ध का मूल्यांकन करता है। बाद मे छात्र उस निबन्ध का उपयोग वार्षिक परीक्षा के लिए करता है, उसे याद करता है। पहिले निबन्ध लिखना लक्ष्य था यहाँ वार्षिक परीक्षा की तैयारी के लिए वही निबन्ध साधन बन जाता है। वार्षिक परीक्षा मे प्रथम श्रेणी और प्रथम स्थान प्राप्त किया। यह लक्ष्य था जो पूर्ण हो गया। अब यही प्रथम श्रेणी तथा प्रथम स्थान नौकरी प्राप्त करने के लिए साधन के रूप मे छात्र काम मे लेता है। वेबर ने इसे शुद्ध तार्किक क्रिया कहा है जिसमे लक्ष्य और साधन तर्कपूर्ण विचार द्वारा निश्चित किए जाते हैं तथा लक्ष्य प्राप्त होने पर भविष्य मे वह लक्ष्य साधन के रूप मे अन्य लक्ष्यो को प्राप्त करने के लिए प्रयुक्त किया जा सकता है। कुछ समाजशास्त्रियो ने इस क्रिया को जिसमें लक्ष्य प्राप्त होने पर वह साधन के रूप मे प्रयुक्त किया जाता है, साधक तार्किकता (Instrumental Rationality) का नाम दिया है।

वेबर लिखते हैं, "क्रिया का तार्किक अभिमुखन व्यक्ति के विभिन्न लक्ष्यों की व्यवस्था की ओर होता है जब लक्ष्य, साधन और द्वैतीयक परिणाम सभी जाँचे तथा परखे जाते हैं।" आप इस कथन को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि इसमे लक्ष्य की [illegible] के लिए साधनो के विभिन्न विकल्पो पर तार्किक विचार किया जाता है। यह भी [illegible] किया जाता है कि उपलब्ध साधनो मे से किस साधन से ऐसा लक्ष्य प्राप्त किया जा सकता है जो आगे चलकर और अच्छे परिणाम दे सकता है। अर्थात् लक्ष्य को प्राप्त करने के बाद उसे साधन के रूप मे भविष्य में अन्य लक्ष्यो को प्राप्त करने के लिए उपयोग कर सकते हैं। कर्ता विभिन्न सम्भावित लक्ष्यो के सापेक्ष महत्त्व का भी तार्किक मूल्यांकन करता है। इस तार्किक क्रिया का अन्य क्रियाओ—भावात्मक या पारम्परिक के साथ भेद करना बेमेल तथा असंगत है। इनकी आपस मे तुलना करना व्यर्थ है क्योंकि तार्किक क्रिया मे विवेक, विचार, बुद्धि आदि का प्रयोग साधन और लक्ष्य दोनों के चयन में किया जाता है जबकि पारम्परिक [illegible] भावनात्मक क्रिया मे विवेक से काम नहीं लिया जाता है। तार्किक क्रिया में अनेक वैकल्पिक तथा विरोधी लक्ष्यो मे से विचारपूर्वक लक्ष्यो का चयन किया जाता है। चयन करने मे शुद्ध मूल्य के आधार पर निर्णय लिया जाता है कि परिणाम क्या आयेगे। इस प्रकार से क्रिया तर्कपूर्ण विधि से व्यक्ति की विभिन्न इच्छाओ की व्यवस्था की ओर उन्मुख होती है जिसमे केवल साध्यों का ध्यान रखा जाता है। वेबर का कहना है कि दूसरी ओर कर्त्ता वैकल्पिक तथा विरोधी इच्छाओ के चुनाव के स्थान पर इच्छाओ को विषयक

आवश्यकताएँ मानकर क्रिया करता है। इन विषयक आवश्यकताओं को एक पैमाने पर क्रम से व्यवस्थित करता है तथा विचार करता है कि कौनसी आवश्यकता अत्यावश्यक है।

इस प्रकार से कर्त्ता अपनी क्रिया को इस पैमाने के अनुसार इस प्रकार योजनाबद्ध करता है कि प्राथमिकता के आधार पर आवश्यकताएँ क्रम से पूर्ण हो सकें। वेबर ने लक्ष्यो को क्रम से व्यवस्थित करने, उनको प्राथमिकता के अनुसार पैमाने पर क्रमबद्ध करने तथा आवश्यकतानुसार क्रम से उन्हे पूर्ण करने की क्रिया को 'सीमान्त उपयोगिता का नियम' नाम दिया है। सार रूप मे यही वेबर की तार्किक क्रिया की व्याख्या है।

2. मूल्य-अभिमुखी तार्किक क्रिया (Value-Oriented Rational Action)—वेबर ने सामाजिक क्रिया का दूसरा प्रकार मूल्य-अभिमुखी तार्किक क्रिया बताया है। इसे जर्मन भाषा मे वटरैश्योनालिटट (Wertrationalitat), आग्ल भाषा में वटरैश्योनाल (Wetrational) या वेल्यू ऑरियेन्टेड रेशनेलिटी (Value-Oriented Rationality) तथा हिन्दी भाषा मे मूल्य-अभिमुखी तार्किकता कहते हैं। वेबर ने मूल्य-अभिमुखी तार्किक क्रिया का वर्णन और व्याख्या प्रथम क्रिया के सन्दर्भ में की है। आपका कहना है कि मूल्य अभिमुखी तार्किक क्रिया मे ऐसा कोई तरीका नहीं है जिसके द्वारा साधन की क्षमता या सामर्थ्य का मूल्यॉकन किया जा सके। इस क्रिया मे भी लक्ष्य एव परिणाम हैं। लेकिन लक्ष्य जब प्राप्त हो जाता है तो इस प्राप्त लक्ष्य का उपयोग साधन के रूप मे नही किया जाता है जैसाकि तार्किक क्रिया मे कर्त्ता करता रहता है। वेबर ने इस क्रिया की परिभाषा देते हुए लिखा है, "**मूल्य अभिमुखन तार्किक के मामले मे, बिना कीमत के प्रसग को ध्यान मे रखे, साधन का चयन का अभिमुखन एक पूर्ण मूल्य को प्राप्त करता है।**"

आपने इस परिभाषा मे मूल्य को महत्त्वपूर्ण बताया है। कर्ता समाज के मूल्य को प्राप्त करना चाहता है। मूल्य को प्राप्त करना ही उसका अन्तिम लक्ष्य है। इसको प्राप्त करने के लिए कर्ता कीमत की चिन्ता नही करता है। साधन का चयन मूल्य प्राप्ति के लिए है। मूल्य जो कि लक्ष्य है उसे प्राप्त करने के बाद वह उस प्राप्त लक्ष्य को साधन के रूप में उपयोग करने की पहिले तथा बाद मे नहीं सोचता है। लक्ष्य उसका अन्तिम उद्देश्य है। वेबर ने इस क्रिया को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि कर्त्ता नीति, सौन्दर्य, धर्म आदि मूल्यो मे सचेत विश्वास रखता है। इनको प्राप्त करने के लिए वह जो क्रिया करता है वे केवल स्वय के लिए होती हैं। वह किसी अन्य बाहरी सफलता की सम्भावना की परवाह नहीं करता है। बाहरी सफलता की सम्भावना से वह स्वतन्त्र होता है। वेबर ने ये विशेषताएँ पूर्ण मूल्य के प्रति तार्किक अभिमुखन को ध्यान मे रखकर निश्चित तथा वर्णित की हैं। इन विशेषताओ को वेबर ने निम्न शब्दो मे कहा है, "पूर्ण मूल्य के तार्किक अभिमुखन के अनुसार देखे, तो इसमे नीति, सौन्दर्य, धर्म या अन्य किसी प्रकार के व्यवहार के मूल्यो मे पूर्ण सचेत विश्वास मिलता है जो केवल स्वयं के लिए है तथा वह किसी भी बाहरी सफलता की सम्भावना से स्वतन्त्र होता है।"

इस प्रकार की क्रियाओ का अभिमुखन पूर्ण मूल्यो के प्रति होता है। कर्त्ता वे क्रियाएँ करता है जो उसे कर्त्तव्य, सम्मान, धर्म, व्यक्तिगत भक्ति आदि के अनुसार करनी चाहिए। जब क्रिया का अभिमुखन पूर्ण मूल्यो के प्रति होता है तब उसमे हमेशा 'हुकम' या 'आदेश' तथा 'अपेक्षाएँ' होती हैं जिनको पूरा करना कर्त्ता अपना अहोभाग्य समझता है। वह

इन कर्तव्यों आदि को पूरा करके गौरवान्वित होता है। यह तभी होता है जब व्यक्ति ऐसी अपेक्षाओ को बिना किसी शर्त के पूरा करते हैं। इसी को पूर्ण मूल्यों के प्रति अभिमुखन कहते हैं। यह अभिमुखन व्यक्तियो मे व्यवहार में भिन्न-भिन्न मात्रा में मिलता है।

इस क्रिया मे लक्ष्य एक अन्तिम परिणाम है। इसे निम्न उदाहरण द्वारा समझाया जा सकता है। किसी आत्मा ईश्वर के साथ रहस्यात्मक मिलन के लिए कोई अनुष्ठान या कर्मकाण्ड करना इस प्रकार की क्रिया का सटीक उदाहरण है। वेबर इसे मूल्य-अभिमुखी तार्किक क्रिया मानते हैं। क्योकि इसमे यह मान्यता है कि साधन इच्छित लक्ष्य को प्राप्त करवा देगा। लेकिन इस क्रिया में साधन और लक्ष्यों को अलग करना असम्भव है। रहस्यात्मक मिलन की प्राप्ति यह स्थिति है जिसमें मस्तिष्क अनुष्ठान की क्रियाके समय समागम की स्थिति में होता है।

ऐसा उदाहरण सोचना कठिन है जिसमें लक्ष्य अन्तिम परिणाम हो, अपने आप मे मूल्य प्रधान हो। समाजशास्त्रियो की मान्यता है कि ऐसी क्रियाओ में साधनो के विकल्प होते हैं। एक और उदाहरण द्वारा इस क्रिया की विशेषताओं का अध्ययन किया जा सकता है। अगर कोई व्यक्ति दूसरे के प्रेम पर विजय प्राप्त करना चाहता है तो इसमे लक्ष्य अन्तिम मूल्य हो सकता है। इसमें ऐसा कोई कारण नहीं है कि कर्त्ता विभिन्न साधनो की क्षमताओं का आकलन करे तथा उपयुक्त साधन का चयन करके लक्ष्य को प्राप्त करे। अगर लक्ष्य केवल प्रेम व्यक्त करना है न कि जीतना, तब क्रिया लगभग वैसी ही होगी जैसी कि रहस्यमय अवस्था को प्राप्त करने के लिए कर्मकाण्ड किया जाता है। यहाँ पर लक्ष्य व्यक्तिनिष्ठ है जिसको केवल कर्त्ता ही पहिचान सकता है कि वह उस रहस्यमय अवस्था में पहुँचा या नहीं। इसका अवलोकन करने के लिए कोई सरल विधि नहीं है जिससे साधन की क्षमता का मूल्यांकन किया जा सके।

कुल मिला कर यह स्पष्ट हो जाता है कि वेबर तार्किकता का प्रयोग आचरण के लिए करता है। लेकिन कभी-कभी वह इसका प्रयोग कर्त्ता के विश्वासों के लिए भी कर लेता है। अगर किसी विश्वास को करने का कारण स्पष्ट किया जा सकता है तब तो कर्त्ता के विश्वास तार्किक हैं।

कोई धार्मिक कर्मकाण्ड रहस्यमय अवस्था में पहुँचने के लिए करता है इसी प्रकार कोई आदमी जादुई कर्मकाण्ड वर्षा करवाने के लिए करता है तो यह इन अभिग्रहों के कारण नहीं बता सकता। अतः उनकी क्रियाएँ तो तार्किक हैं जहाँ तक उनके विश्वासों की बात है उनके विश्वास तार्किक नही हैं। वेबर ने इस प्रकार मूल्य-अभिमुखी-तार्किक क्रिया का विस्तार से वर्णन और व्याख्या प्रस्तुत की थी।

3. भावात्मक क्रिया (Affectual Action)—मैक्स वेबर ने सामाजिक क्रिया का तीसरा प्रकार भावात्मक क्रिया बताया है। इसे जर्मन भाषा में अफैक्युअल (Affektuell), आंग्ल भाषा में अफैक्युअल (Affectual) तथा हिन्दी भाषा में भावात्मक क्रिया कहते हैं। यह क्रिया व्यक्ति विचारपूर्वक नहीं करता है। भावात्मक क्रिया को करने से पहिले कर्त्ता न तो कोई लक्ष्य निर्धारित करता है और न ही किसी साधन पर विचार करता है। वेबर का कहना है कि यह क्रिया प्रथम दो प्रकार की तार्किक क्रियाओ से बिल्कुल भिन्न क्रिया है। इस क्रिया में भावात्मक अभिमुखन होता है अर्थात् कर्त्ता भावावेश, संवेग या उद्वेग में आकर क्रिया कर

बैठता है। क्रोध, सहानुभूति आदि से प्रभावित होकर भावावेश मे बहकर की गई उद्वेगपूर्ण क्रियाएँ भावनात्मक क्रियाएँ कहलाती हैं।

भावनात्मक क्रियाओ वे होती हैं जिनका चयन तथा पूर्ण करने को प्रक्रिया आदि का निर्णय कर्त्ता की भावनाएँ और उद्वेगो के द्वारा होता है। वास्तव मे इस प्रकार की क्रियाओं को उत्पत्ति तथा पूर्ण करने के चरण भी भावनाएँ करती हैं। वे क्रियाएँ जिनकी उत्पत्ति, नियन्त्रण, निर्देशन तथा संचालन भी भावनाएँ करती हैं वे भावात्मक क्रियाएँ होती हैं। उदाहरण के रूप मे 'अ' व्यक्ति ने 'ब' व्यक्ति को गली दी तथा 'ब' व्यक्ति ने 'अ' व्यक्ति के चाँटा मार दिया। उसने चाँटा बिना सोच-समझे उद्वेग में मार दिया। लेकिन बाद में 'ब' व्यक्ति को बताया गया कि 'अ' व्यक्ति पागल है। तब 'ब' व्यक्ति को तर्क पूर्ण विचार करने पर स्वयं की क्रिया पर पछतावा होगा जो उसे पहिले नहीं हुआ था। तब वह आवेग में आकर क्रिया कर बैठा था। वेबर का कहना है कि प्रेम, घृणा, दया, ईर्ष्या, क्रोध, सहानुभूति आदि से प्रभावित होकर की जाने वाली क्रियाएँ भावात्मक क्रियाएँ हैं। वेबर का कहना है कि ये क्रियाएँ बाह्य उद्दीपन के प्रति अनियन्त्रित प्रतिक्रियाएँ होती हैं। भावात्मक क्रियाएँ स्थानापन्न के उदाहरण हैं। जब भावात्मक तनाव भावनात्मक क्रियाओं द्वारा कम होते हैं तो इसको स्थानापन्न कहते हैं। वेबर का कहना है कि ये क्रियाएँ व्यक्ति को भावनात्मक तनावों, क्रोध, प्रेम आदि से छुटकारा दिलाने वाली क्रियाओं का निर्णय करती हैं। आपका यह भी कहना है कि इन क्रियाओं में थोड़ा-सा विवेक या विचार का प्रभाव आने पर वे कभी-कभी तार्किक क्रिया का रूप भी ले लेती हैं। वेबर का मत है कि ये क्रियाएँ व्यक्ति को पुनः सन्तुलन मे ले आती हैं। वेबर ने भावात्मक क्रिया की व्याख्या करने के बाद लिखा कि भावात्मक क्रिया के उदाहरण किसी से बदला लेना, इन्द्रिय सुख प्राप्त करना, किसी विचार या व्यक्ति के प्रति समर्पित होकर सन्तोष प्राप्त करना आदि हैं।

4. पारम्परिक क्रिया (Traditional Action)—मैक्स वेबर ने सामाजिक क्रिया का चौथा और अन्तिम प्रकार पारम्परिक क्रिया बताया है। यह जर्मन तथा आंग्ल भाषाओं में ट्रेडिशनल (Traditional) तथा हिन्दी भाषा में पारम्परिक क्रिया कहलाती है। वेबर का कहना है कि पारम्परिक क्रियाओ का निर्धारण परम्पराएँ करती हैं। ये परम्परा-अभिमुखी क्रियाये हैं। आपने लिखा है, **"दीर्घ अभ्यास की अभ्यस्तता के द्वारा इनका पारम्परिक अभिमुखन हो जाता है।"**

पारम्परिक आचरण में वही क्रियाएँ की जाती हैं जो वर्षों से लोग समाज मे करते आ रहे हैं। इन क्रियाओ मे किसी विकल्प पर विचार नहीं किया जाता है। वेबर का कहना है कि ये क्रियाएँ तार्किक नहीं होती हैं। क्योंकि कर्त्ता साधन और लक्ष्यो को बिना सोचे-विचारे ग्रहण कर लेता है। वह क्रिया के पथ का चयन किसी लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए भी नहीं करता है।

पारम्परिक क्रियाएँ वे सामाजिक क्रियाएँ हैं जो आदतो तथा स्थापित परम्पराओ के प्रभाव या दबाव के फलस्वरूप लोग करते हैं। इस प्रकार की क्रियाएँ व्यक्ति सोच-विचार कर नहीं करता है। व्यक्ति औरो की देखा-देखी परम्परा मानकर इन क्रियाओ को करता है। जैसे आदिम समाज में विशेष पर्वों पर मुखिया को भेंट देने की क्रिया इसके अन्तर्गत आती है। जनसाधारण भेंट इसीलिए देते हैं कि उन्होने यह सीखा है कि भेंट देना उनकी परम्परा है। वे

यह जानते हैं कि प्राचीनकाल से लोग मुखिया को भेंट देते आये हैं। भेट देना उनके समाज की प्रथा है, उसके अनुसार व्यवहार करना तथा अनुसरण करना आवश्यक है। वे ये मानते हैं कि ऐसा उनके पूर्वज करते आये हैं, इसलिए उनको भी मुखिया को भेट देनी है। पारम्परिक क्रिया में प्रेम, दया, घृणा आदि सवेगो का कोई स्थान नहीं होता है। व्यक्ति समाज की जनरीतियों, प्रथाओं, रूढियों, परम्पराओ आदि के वशीभूत होकर इन क्रियाओ को करता है।

उपर्युक्त क्रियाओ के वर्गीकरण मे प्रथम दो क्रियाएँ मानव तर्क द्वारा निर्धारित करता है, तीसरी उद्वेग और भावना के द्वारा निर्धारित होती है; जबकि चौथी न तो तर्क और विचार द्वारा होती है न ही भावना द्वारा निश्चित होती है। केवल आदतें और परम्पराएँ उन्हें निश्चित करती हैं। वेबर के अनुसार उपर्युक्त चारो क्रियाओ के प्रकार सम्पूर्ण मानवीय सम्बन्धो की व्याख्या करने के लिए पूर्ण सक्षम हैं। आपने लिखा है कि इस वर्गीकरण की उपयोगिता अन्वेषण में सफलता के द्वारा ही जाँची जा सकती है।

आलोचना (Criticism)—पी. एस. कोहन, टोरैन आदि ने इस सिद्धान्त की निम्न आलोचनाएँ की हैं—मैक्स वेबर का सामाजिक क्रिया का सिद्धान्त का समाजशास्त्र मे एक महान् योगदान है। इस सिद्धान्त ने समाजशास्त्र को अन्वेषण करने की एक विधि भी प्रदान की है। लेकिन वेबर के समर्थको तथा आलोचको दोनो ने ही वैज्ञानिक कर्त्तव्य का पालन करते हुए इस सिद्धान्त की निम्नांकित कमियाँ बताई हैं—

1. मनोविज्ञानपरता का दोष (Fallacy of Psychologism)—वेबर के क्रिया के सिद्धान्त की पहली आलोचना ये है कि इनके सिद्धान्त से मनोविज्ञानपरता का दोष है। आपने सामाजिक क्रिया को मनोवैज्ञानिक अवधारणाओ या शब्दो के द्वारा परिभाषित तथा वर्गीकृत किया है। आपने समाजशास्त्रीय प्रश्नो तथा तत्त्वो को मानव मस्तिष्क के लक्षणो तथा विशेषताओ से परिभाषित किया है। भावात्मक क्रिया का प्रकार इसका प्रमाण है। एक ही वाक्य मे वेबर की मनोविज्ञानपरता को इस आधार पर त्यागा जा सकता है कि आपने सामाजिक घटनाओ की व्याख्या मानसिक विशेषताओ के आधार पर स्पष्ट की है, लेकिन ये विशेषताएँ सामाजिक स्वरूपो के ही परिणाम हैं जिनकी व्याख्या करनी चाहिए थी न कि इनके आधार पर सामाजिक क्रिया की।

2. क्रिया का सिद्धान्त मनोवैज्ञानिक है (Action Theory is Psycholo-gistic)—कुछ कट्टर समाजशास्त्रियो का निष्कर्ष यह है कि मनोविज्ञानपरता को स्वीकार करे अथवा नहीं करें, लेकिन यह सत्य है कि क्रिया का सिद्धान्त आवश्यक रूप से मनोवैज्ञानिक है। कुछ आलोचको की यह दलील है कि क्रिया के सिद्धान्त के अभिग्रह, विशेषताएँ तथा क्रिया की परिस्थितियाँ विशिष्ट प्रकार के समाज और संस्कृति मे स्वतन्त्र रूप से विद्यमान होते हैं। ये लोग इन विशेषताओ को मानव मस्तिष्क की उपज बताते हैं। इस प्रकार सामाजिक क्रिया सामाजिक न होकर मनोवैज्ञानिक हो जाती है। वेबर के क्रिया के प्रकारों मे व्यक्ति उसके मस्तिष्क, भावनाओं, आदतो को अधिक महत्त्व देकर मनोवैज्ञानिक दोष से शिकार हो गये हैं। कुछ विद्वानो का कहना है कि सामाजिक क्रिया में दो सेट होते हैं—एक उन कारको का सेट जो व्यक्ति के बाहर होते हैं तथा दूसरा कारको का वह सेट जो व्यक्ति के अन्दर विद्यमान होते हैं। ये दोनो ही समाज की देन हैं। इसीलिए क्रिया मे वस्तुनिष्ठ और व्यक्तिनिष्ठ अध्ययन समाजशास्त्रीय है न कि मनोवैज्ञानिक। पारसन्स ने अपने क्रिया के सिद्धान्त में इसे स्पष्ट भी किया है।

3. सामाजिक परिवर्तन की व्याख्या करने में असमर्थ (Unable to Explain Social Change)—ऐलेन टोरेन ने अपनी पुस्तक 'सोशियोलॉजी डी ल' एक्शन' में लिखा कि क्रिया का सिद्धान्त सामाजिक परिवर्तन की व्याख्या करने मे असमर्थ है। वे क्रिया के सिद्धान्त मे मानको मे अनुरूपता मानते हैं और यह अपरिहार्य होता है जो न तो सामाजिक परिवर्तन की व्याख्या कर सकता है न ही यह स्पष्ट कर सकता है कि मानक किस प्रकार से स्थापित होते हैं? वे तो इनको दिया हुआ मानकर चलते हैं। लेकिन इनकी व्याख्या करना भी अत्यावश्यक है जो सामाजिक क्रिया का सिद्धान्त नहीं करता है।

4. सामाजिक संरचना और संस्कृति की व्याख्या नहीं करती है (It does not explain Social Structure and Culture)—किसी भी सामाजिक अध्ययन मे सामाजिक संरचना और संस्कृति का विशेष महत्त्व होता है। इन्हीं के सन्दर्भ मे सामाजिक परिस्थितियो की सीमाओ को देखा जाता है। लेकिन सामाजिक क्रिया का सिद्धान्त सामाजिक संरचना और संस्कृति के तत्त्वो को दिया हुआ मानकर अध्ययन करता है। यह इस सिद्धान्त की एक बडी कमी है।

5. यह एक विधि है (It is a Method)—सामाजिक क्रिया के सिद्धान्त की यह आलोचना की जाती है कि यह बहुत थोड़ी व्याख्या करता है। इस प्रकार से सामाजिक क्रिया एक विधि है। यह सामाजिक अध्ययन के संज्ञान का एक प्रकार है। कुल मिलाकर क्रिया का सिद्धान्त सामाजिक क्रिया की परिस्थितियों और परिणामों से सम्बन्धित रहता है।

6. पारम्परिक क्रिया में तार्किकता (Rationality in Traditional Action)—कुछ समाजशास्त्रियों तथा सामाजिक मानवशास्त्रियो का कहना है कि वेबर द्वारा वर्णित पारम्परिक क्रिया मे कर्त्ता सोच-विचार नहीं करता, यह मानना त्रुटिपूर्ण और अवैज्ञानिक है। मुखिया को भेट देने के सम्बन्ध मे कर्त्ता विचार करता है कि अगर अच्छी भेट दी जायेगी तो मुखिया भेटकर्त्ता को भविष्य मे सहायता करेगा। अगर भेट नहीं देगा तो मुखिया ऐसे व्यक्तियो से रुष्ट हो जायेगा तथा भविष्य मे भी तग कर सकता है। इस प्रकार से ही पारम्परिक क्रिया का प्रकार, वेबर द्वारा प्रतिपादित क्रिया का प्रकार निरर्थक, आधारहीन और त्रुटिपूर्ण है।

7. अपूर्ण वर्गीकरण (Incomplete Classification)—वेबर द्वारा निर्मित और प्रतिपादित सामाजिक क्रिया का वर्गीकरण अपूर्ण है। यह सभी प्रकार की क्रियाओ के प्रकारो को अपने वर्गीकरण मे समेटने मे असमर्थ रहा है। यही कारण है कि वेबर ने एक स्थान पर स्वय लिखा है कि क्रिया के और भी प्रकार बनाये जा सकते हैं। पारसन्स ने सामाजिक क्रिया के प्रकार के अनेक आधार तथा प्रकार प्रतिपादित करके सिद्ध कर दिया है कि वेबर का वर्गीकरण अपूर्ण है।

8. अस्पष्ट वर्गीकरण (Ambiguous Classification)—मैक्स वेबर का क्रिया का वर्गीकरण अस्पष्ट तथा गत्यात्मक है। आपने तार्किक क्रिया, मूल्य-अभिमुखी क्रिया, भावात्मक क्रिया और पारम्परिक क्रिया की व्याख्याओ मे बार-बार लिखा है कि एक प्रकार की क्रिया किस प्रकार से दूसरे प्रकार की बन जाती है। यह स्पष्ट करता है कि आपके द्वारा प्रतिपादित सामाजिक क्रिया का वर्गीकरण स्थिर या स्थाई नहीं है जो इस वर्गीकरण की बडी भारी कमजोरी है।

9. व्याख्यात्मक सिद्धान्त नहीं है (Not an Explanatory Theory)—कोहन का कहना है कि क्रिया का सिद्धान्त व्याख्यात्मक सिद्धान्त नहीं है। आपका कहना है कि यह सिद्धान्त जो व्याख्या करता है, वह घुमावदार या पुनरुक्त है। सामाजिक क्रिया क्रिया का परिणाम है और क्रिया का संचालन परिस्थिति करती है। बात को सीधी-सपाट या स्पष्ट वर्णन करके प्रस्तुत नहीं किया गया है। घुमावदार रूप में वर्णन किया गया है जो इसकी कमी है।

10. सामान्यीकरण करने में असमर्थ (Incapable to Generalize)—क्रिया का सिद्धान्त लघु-स्तरीय सिद्धान्त है। समाज की विशेषताएँ ऐसा सामान्यीकरण करने में बाधा पैदा करती हैं। मर्टन, कोहन आदि समाजशास्त्रियों की मान्यता है कि समाज का सामान्यीकरण न तो लघु-स्तरीय सिद्धान्त कर सकते हैं और न ही वृहद् स्तरीय सिद्धान्त। इसी सन्दर्भ में मैक्स वेबर का क्रिया का सिद्धान्त लघु-स्तर पर तो सामान्यीकरण एक सीमा तक कर सकता है, परन्तु समाज का वृहद् स्तर पर सामान्यीकरण करने में इनका सिद्धान्त सक्षम नहीं है।

निष्कर्षत: मैक्स वेबर का सामाजिक क्रिया का सिद्धान्त समाजशास्त्र को एक महान् देन है जिसने समाज को समझने, अध्ययन करने आदि में नये आयाम प्रस्तुत किये हैं।

अभ्यास प्रश्न

निबन्धात्मक प्रश्न

1. वेबर द्वारा 'प्रतिपादित सामाजिक क्रिया' सिद्धान्त की व्याख्या कीजिए।
2. वेबर द्वारा दी गई सामाजिक क्रिया की परिभाषा दीजिए तथा इसकी विशेषताएँ बताइये।
3. सामाजिक क्रिया के सिद्धान्त के प्रमुख अभिग्रहों (Assumptions) की व्याख्या कीजिए।
4. सामाजिक क्रिया के प्रमुख प्रकार मैक्स वेबर ने कौन-कौनसे बताये हैं? इनकी उदाहरण सहित विवेचना कीजिये।
5. मैक्स वेबर के सामाजिक क्रिया के सिद्धान्त की प्रमुख आलोचनाओं का वर्णन कीजिये।

लघुउत्तरात्मक प्रश्न

निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिए :—

1. "समाजशास्त्र प्रधानत: सामाजिक सम्बन्धों तथा कृत्यों का अध्ययन है।"
2. वेबर ने सामाजिक क्रिया के कौन-कौनसे प्रकार बताए हैं? किसी एक की व्याख्या कीजिए।
3. तार्किक क्रिया
4. मूल्य-अभिमुख तार्किक क्रिया
5. भावात्मक क्रिया
6. पारम्परिक क्रिया

7. वेबर का क्रिया का सिद्धान्त मनोवैज्ञानिक है।
8. क्रिया के सिद्धान्त के किन्हीं दो अभिग्रहों का वर्णन कीजिए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. 'दा थ्योरी ऑफ सोशियल एण्ड इकोनोमिक ऑर्गनाइजेशन' किसने लिखी है?
   (अ) मार्क्स (ब) पारसन्स
   (स) कोहन (द) वेबर
   [उत्तर- (द)]
2. "क्रिया में वे सभी मानवीय व्यवहार सम्मिलित होते हैं जिनके साथ क्रिया करने वाला व्यक्ति व्यक्तिनिष्ठ अर्थ जोडता है।"
   उपर्युक्त कथन किसका है?
   (अ) ए एम हेन्डरसन (ब) पारसन्स
   (स) मैक्स वेबर (द) कोहन
   [उत्तर- (स)]
3. मैक्स वेबर ने सामाजिक क्रिया के कितने प्रकार बताए हैं?
   (अ) दो (ब) पाँच
   (स) तीन (द) चार
   [उत्तर-(द)]
4. सामाजिक क्रिया के चार प्रकार—तार्किक, मूल्य-अभिमुखी तार्किक, पारम्परिक और भावात्मक क्रियाएँ किसने बताई हैं?
   (अ) मार्क्स (ब) दुर्खीम
   (स) पारसन्स (द) वेबर
   [उत्तर-(द)]
5. निम्न में से सत्य कथन का चयन कीजिए—
   (1) 'दा थ्योरी ऑफ सोशियल एण्ड इकोनोमिक ऑर्गनाइजेशन' के लेखक मार्क्स हैं।
   (2) मैक्स वेबर ने क्रिया के प्रमुख चार प्रकार बताए हैं।
   (3) तार्किक-क्रिया तार्किक या विवेक-अभिमुखी होती है।
   (4) भावात्मक क्रियाएँ वे होती हैं जिनका चयन तथा पूर्ण करने की प्रक्रिया आदि का निर्णय कर्त्ता की भावनाओं और उद्वेगों के द्वारा होता है।
   (5) आलोचकों के अनुसार वेबर द्वारा प्रतिपादित क्रिया का पारम्परिक प्रकार निरर्थक, आधारहीन और त्रुटिपूर्ण है।
   (6) तार्किक क्रिया में लक्ष्य एवं साधन दोनों का चयन तर्कपूर्ण होता है।
   [उत्तर- सत्य कथन— 2, 3,4, 5, 6]



अध्याय-7

मैक्स वेबर : 'नौकरशाही'
(Max Weber : Bureaucracy)

मैक्स वेबर ने अपने समाजशास्त्रीय लेखों में नौकरशाही को अत्यधिक महत्त्व दिया है। 19 वीं सदी के अन्य विद्वानों ने भी समय-समय पर नौकरशाही के सम्बन्ध में अपने-अपने विचार व्यक्त किए हैं किन्तु मैक्स वेबर ऐसे प्रथम विचारक थे, जिन्होंने अन्य विद्वानों के समान नौकरशाही की उत्पत्ति और कार्यों का मात्र विश्लेषण ही नहीं किया, वरन् उसका व्यवस्थित अध्ययन भी प्रस्तुत किया। 'नौकरशाही' शब्द अंग्रेजी के ब्यूरोक्रेसी (Bureaucracy) तथा फ्रांसीसी भाषा के 'ब्यूरो' (Bureau) से निष्पन्न है, जो 'मेज' अथवा डेस्क (Desk) का अर्थ प्रदान करता है। 'ब्यूरो' का अंग्रेजी अर्थ 'कार्यालय' भी है और 'ब्यूरोक्रेसी' का अर्थ है, 'अधिकारी-तन्त्र' अथवा 'अधिकारियों का शासन'। इस प्रकार 'ब्यूरोक्रेसी' शब्द 'कर्मचारी-तन्त्र', 'सेवक-तन्त्र' आदि अर्थों में भी प्रयुक्त होता है।

नौकरशाही के सम्बन्ध में अनेक विवाद मिलते हैं व पर्याप्त अस्पष्टता भी मिलती है। लोग इसे किसी अनुचित बात से सम्बन्धित मानते हैं किन्तु मैक्स वेबर ने नौकरशाही का आदर्श रूप प्रस्तुत किया है। उन्होंने प्रशासनिक एवं पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में नौकरशाही को एक महत्त्वपूर्ण व्यवस्था माना है इसीलिए इनका अध्ययन विद्वतापूर्ण माना जाता है।

वास्तव में 'नौकरशाही' प्रशासन की एक ऐसी विधि है जिसमें कार्यों का स्पष्ट विभेदीकरण मिलता है अर्थात् इसमें विशिष्ट योग्यता के आधार पर स्पष्ट तरीके से व्यक्तियों का चयन किया जाता है और विभिन्न पदों पर उन्हें सुशोभित किया जाता है और उस पद के अनुरूप भूमिका निर्वाह की उनसे अपेक्षा की जाती है। इन पदों में 'संस्तरणात्मक व्यवस्था' पाई जाती है। सभी अधिकारी अपने-अपने पद का निर्वाह उत्तरदायित्वपूर्ण भावना से करते हैं।

मैक्स वेबर का नौकरशाही तन्त्र
(Max Weber's Bureaucracy)

'नौकरशाही' को अनेक विद्वानों द्वारा अलग-अलग ढंग से परिभाषित किया गया है, कुछ महत्त्वपूर्ण परिभाषाएँ निम्नलिखित हैं—

नौकरशाही की परिभाषाएँ (Definitions of Bureaucracy)—

1. कोजर एवं रोजनवर्ग ने अपनी कृति 'सोशियोलोजिकल थ्योरीज' में नौकरशाही को इस प्रकार परिभाषित किया है—"नौकरशाही को एक प्रकार के 'संस्तरणात्मक संगठन' के रूप में स्पष्ट किया जा सकता है जिसका उद्देश्य बड़े पैमाने पर प्रशासकीय कार्यों को चलाने के काम में अनेक व्यक्तियों के कार्यों को तर्कसंगत रूप में समन्वित करना होता है। समाजशास्त्री 'नौकरशाही' शब्द का प्रयोग एक विशेष प्रकार की

सरचना का बोध कराने के लिए करते हैं जिसके अन्तर्गत तर्कसंगत रूप मे समन्वित असमानो (Rationally Co-ordinated Unequals) का एक विशिष्ट सगठन होता है।"

2. कार्ल फैड्रिक्स के मत मे, "नौकरशाही-तन्त्र उन लोगो के पद-सोपान, कार्यों के विशेषीकरण एव उच्च स्तरीय क्षमता मे युक्त सगठन है जिन्हे इन पदो पर कार्य करने के लिए विशेषत: प्रशिक्षित किया जाता है।"

3. बर्नार्ड शा के मत मे, "सत्ता के उपासक उच्च पदाधिकारियो की सामन्तशाही का दूसरा नाम नौकरशाही है।"

4. जान. ए. वीका के शब्दो मे, "नौकरशाही उन व्यक्तियो के लिए सामूहिक पद के रूप मे प्रयुक्त होता है जो सरकार की सेवाओ मे होते हैं।"

5. पीटर ब्लाऊ के मत मे, "कोई भी ऐसा सगठन जो विस्तृत आधार पर प्रशासकीय कार्यों को क्रमबद्ध रूप मे चलाने के लिए बहुत-से व्यक्तियो के कार्यों के द्वारा समन्वित होता है, नौकरशाही कहलाता है।"

6. विक्टर थॉमसन के मतानुसार, "नौकरशाही सगठन मे अत्यधिक स्पष्ट श्रम-विभाजन द्वारा पर्याप्त रूप से स्पष्ट सत्ता का पद-सोपान होता है।"

7. ब्लाऊ और मेयर ने नौकरशाही सगठन में विशेषीकरण, सत्ता का पद-सोपान, नियमो की व्यवस्था एव अवैयक्तिकता आदि विशेषताएँ बताई हैं।

8. ग्लेडन नौकरशाही को अधिकारियो का शासन मानते हैं।

9. मैक्स वेबर के शब्दो मे नौकरशाही तार्किक और विवेकशील नियमो पर आधारित है। इसमे अधिकार, सत्ता तथा उत्तरदायित्वो का सस्तरणात्मक विभाजन पाया जाता है जिसका उद्देश्य किसी औद्योगिक, व्यापारिक, राजनैतिक, धार्मिक, शैक्षिक अथवा किसी भी अन्य प्रकार के सगठन के उद्देश्यो को प्रभावशाली ढंग से प्राप्त करने के लिए किया जाता है। इसमे लिखित नियम होते हैं तथा इसमे विभिन्न व्यक्तियो से कार्यों का समन्वय स्थापित किया जाता है। इस प्रकार वेबर का मत है कि नौकरशाही सगठन के विशुद्ध प्ररूप (Pure Type) की परिभाषा नौकरशाही की प्रमुख विशेषताओ मे निहित है—ये विशेषताएँ निम्नलिखित हैं जिनके आधार पर यह व्यवस्था कार्य करती है।

नौकरशाही-तन्त्र की विशेषताएँ
(Characteristics of Bureaucracy)

वेबर नौकरशाही-तन्त्र मे तार्किक नियमो की व्यवस्था को स्वीकारते हैं। उनका यह भी मानना है कि जहाँ कानून का शासन पाया जाता है वहाँ नौकरशाही तन्त्र कुछ सिद्धान्तो से निर्देशित होता है। मैक्स वेबर द्वारा लिखित "ऐसेज इन सोशियोलोजी" (अनुवादक एच एच गर्थ) मे नौकरशाही की निम्नलिखित विशेषताएँ मानी गई हैं—

1. प्रशासकीय नियम (Administrative Law)—एक प्रशासकीय ढाँचे मे प्रशासको एव कर्मचारियो के कार्यक्षेत्र निश्चित तरीके से विभाजित कर दिए जाते है और सामान्यत: यह विभाजन प्रशासकीय नियमो के अनुरूप पूर्ण किया जाता है। इस प्रशासकीय सगठन के तीन तत्त्व हैं—

(1 1) प्रशासनिक-तन्त्र के लिए अनिवार्य नियमित कार्यकलापो को एक निश्चित ढँग से राजकीय-कर्त्तव्यो के रूप मे विभाजित कर दिया जाता है अर्थात् कुछ विशिष्ट

प्रकार के कार्य करने के प्रत्येक अधिकारी के कार्यकलाप राजकीय कर्तव्य के रूप मे विभक्त होते हैं।

(12) इन निर्धारित कार्यों को करने के लिए अधिकारी को आवश्यक सत्ता या अधिकार प्रदान किए जाते हैं अर्थात् एक अधिकारी की सत्ता नियमो द्वारा परिसीमित होती है कि वह किसी सीमा तक बल-प्रयोग आदि उपायो को काम मे लेते हुए आवश्यक निर्देशो की परिपालना करा सकता है।

(1.3) इन कर्तव्यो के निरन्तर एवं नियमित रूप से पालन करने के लिए एक उचित व्यवस्था होती है और जो व्यक्ति कार्य करने की आवश्यक नियमानुसार योग्यता रखते हैं, उन्हीं को नौकरी मे रखा जाता है।

सरकारी क्षेत्र में उपर्युक्त तीनो तत्त्वों को सम्मिलित करके ही नौकरशाही सत्ता का निर्माण किया जाता है। इस प्रकार की नौकरशाही की व्यवस्था का पूर्णतया विकसित स्वरूप केवल आधुनिक राज्यों मे ही देखा जा सकता है।

2. संस्तरण-व्यवस्था (Hierarchical Order)—नौकरशाही संगठन का दूसरा सिद्धान्त यह होता है कि इसमें अधिकारी एवं उनकी सत्ता का एक संस्तरण देखने को मिलता है अर्थात् इसमें सत्ता का विभाजन एक निश्चित पद के अनुरूप होता है। उच्च अधिकारियों के अधीन निम्न कर्मचारी कार्यरत रहते हैं किन्तु इस व्यवस्था के अन्तर्गत निम्न पदाधिकारियो के फैसले के विरुद्ध उच्च अधिकारियो के पास अपील की जा सकती है। इस प्रकार की संस्तरणात्मक अथवा उतार-चढाव की व्यवस्था समस्त नौकरशाही सरचनाओ मे पाई जाती है।

3. साधन (Means)—सभी अधिकारी अपने कार्यों को पूर्ण करने के लिए प्रयोग मे लाए जाने वाले साधनो के मालिक स्वय नहीं होते हैं। सरकारी तन्त्र द्वारा उन्हे साधन उपलब्ध कराए जाते हैं जिनका नियमानुसार प्रयोग किया जा सकता है। सरकारी आय और व्यक्तिगत आय एक-दूसरे से अलग रखी जाती है।

4. लिखित दस्तावेज (Written Records)—नौकरशाही कार्यालयों का कार्य-संचालन फाइलो अथवा लिखित दस्तावेजो के माध्यम से किया जाता है जिन्हे पूर्णतया सुरक्षित रखा जाता है। इन कार्यों को करने के लिए व फाइलो को सुरक्षित रखने के लिए क्लर्क, फाइल-कीपर आदि नियुक्त किए जाते हैं तथा विभिन्न विषयो के लिए अलग-अलग फाइलें बनाई जाती हैं।

5. प्रशिक्षण (Training)—आधुनिक नौकरशाही मे कार्यालयो मे कार्य विशेषीकृत रूप मे होता है। इसलिए कार्मिको के प्रशिक्षण की आवश्यकता होती है। अर्थात् सभी कार्यालयो मे (सरकारी अथवा निजी) काम-काज करने के लिए पर्याप्त प्रशिक्षण की आवश्यकता होती है।

6. अधिकारियों की विशेष-स्थिति (Special Status of Officers)—बडे-बड़े कार्यालयो में काम को पूरा करने के लिए कर्मचारियो को अधिकाधिक काम करना पडता है, चाहे उनके कार्य करने की अवधि निश्चित ही क्यो न हो। यही कारण है कि बडे-बडे कर्मचारी निश्चित समय के उपरान्त भी कार्यालय में बैठे रहते हैं। यहाँ एक प्रकार से अपने से बड़े अधिकारी को अपने काम से खुश करके पदोन्नति प्राप्त करने का भी तरीका है।

7. कार्यालय का प्रबन्ध (Management of the Office)—कार्यालय का प्रबन्ध कुछ सामान्य नियमों के अनुसार होता है जिन्हे सीखा जा सकता है। कार्यालय के अधिकारीगण उस रूप में शिक्षित होते हैं।

वेबर के अनुसार इन उपर्युक्त वर्णित विशेषताओ के कारण नौकरशाही के अधिकारियो की स्थिति निम्न प्रकार की होती है—

नौकरशाही में अधिकारियों की विशेष स्थिति (Special Status of Officials in Bureaucracy)

1 कार्यालय का काम अधिकारियो के लिए एक पेशे की तरह होता है क्योकि कार्यालय मे कार्य करने के लिए ये प्रशिक्षण प्राप्त करते हैं। इसके लिए प्रतियोगी परीक्षाएँ पास करनी पडती हैं और इन योग्यताओ के आधार पर ही अधिकारियो की स्थिति निर्धारित होती है। वेबर का कहना है कि नौकरशाही संगठन मे कार्य करने का अर्थ सुरक्षित जीवन के बदले मे ईमानदारी के साथ प्रबन्ध के उत्तरदायित्व को ग्रहण करना है अर्थात् इसमें व्यक्ति अपने कार्य के प्रति ईमानदार होता है।

2 नौकरशाही मे अधिकारियो की व्यक्तिगत स्थिति इस प्रकार की होती है कि—

2 1. नौकरशाही मे कर्मचारियों को साधारण लोगो की तुलना मे अधिक सामाजिक प्रतिष्ठा प्राप्त होती है।

2 2 नौकरशाही में निम्न श्रेणी के पदाधिकारियो की नियुक्ति उच्च पदाधिकारियो द्वारा की जाती है। अत: कार्यालय मे उन्हे उच्च अधिकारियो के अधीन कार्य करना होता है व उनकी आज्ञा का पालन करना होता है। आवश्यक परीक्षा पास करने पर निम्न पदाधिकारी उच्च पदो को प्राप्त कर सकते हैं। कभी-कभी पदाधिकारियो का चुनाव उनकी तकनीकी योग्यता के आधार पर न होकर उनकी पूर्व-सेवाओ के आधार पर होता है।

2.3 नौकरशाही-तन्त्र के अन्तर्गत प्रायः नौकरी स्थाई होती है। कुछ नियुक्तियाँ अस्थायी भी होती हैं जिसमे कर्मचारी को निश्चित अवधि के बाद कार्यभार से मुक्त कर दिया जाता है। नौकरशाही मे एक स्थान से दूसरे स्थान पर या एक विभाग से दूसरे विभाग मे स्थानान्तरण भी किया जा सकता है। साथ ही कर्मचारियो को सुरक्षा प्रदान करने की कानूनी व्यवस्थाएँ भी होती हैं।

2 4 कार्य करने वाले प्रत्येक अधिकारी को एक निश्चित अवधि—प्राय: एक माह के अनन्तर वेतन के रूप मे निश्चित धनराशि प्रदान की जाती है। अवकाश ग्रहण करने पर वह पेन्शन प्राप्त करने का अधिकारी होता है। वेतन का निर्धारण पद के अनुरूप होता है।

2 5 नौकरशाही-तन्त्र में प्रत्येक कर्मचारी निम्नतम पद व वेतन से उच्चतम पद व वेतन पर पहुँच सकता है यह उसकी योग्यता व अनुभव पर निर्भर करता है।

2 6 नौकरशाही मे कार्य को नियमित वेतन, पदोन्नति अथवा वेतन-वृद्धि के रूप में पुरस्कृत भी किया जा सकता है।

8. प्रशासन के साधनों का केन्द्रीयकरण (Centralization of Administr ative Means)—वेबर ने केन्द्रीयकरण की प्रक्रिया को विश्वविद्यालय, सरकार, सेना,

राजनैतिक एव बड़े पैमाने के सगठनो मे क्रियाशील बताया। उन्होने कहा कि जैसे ही संगठनो का आकार बढ़ता जाता है इन सगठनो को भली-भाँति सचालित करने के लिए, उन्हे स्वतत्र व्यक्तियो से छीनकर सत्ताधारी वर्ग के हाथो मे सौंप दिया जाता है क्योंकि वे स्रोत व्यक्तियों की वित्तीय क्षमता से रहित होते हैं। पहले उत्पादन, प्रशासन एवं योग्यता सभी वैयक्तिक स्तर पर मान्य थे किन्तु केन्द्रीयकरण की प्रक्रिया मे उन्हे अलग कर दिया गया। अनुसन्धान सम्बन्धी सुविधाएँ विशिष्ट विद्वान से अलग हो गईं।

9. कुशल व्यक्तियों का प्रशासन (Administration by Efficient Persons)—नौकरशाही की एक विशेपता यह होती है कि इसमे प्रशासन कुशल व्यक्तियो के हाथो में सौंप दिया जाता है। उनकी सामाजिक आर्थिक स्थिति से प्रशासन पर कोई प्रभाव नहीं पडता, इसमे वैयक्तिक स्तर पर अलग-अलग निर्णय नही लिए जाते। सत्ता का प्रयोग नियमानुसार किया जाता है और सभी व्यक्ति जो सत्ता से सम्बन्ध रखते हैं वैधानिक रूप स समान होते हैं। प्राय: नौकरशाही मे दक्ष व्यक्तियो का प्रशासन होता है जो आज के समय मे शैक्षणिक से जुड गया है क्योकि अब नियुक्तियो का आधार शैक्षिक-प्रमाण-पत्रो और डिग्रियो ने ले लिया है।

10. अवैयक्तिक (Impersonal)—आधुनिक समय मे अधिकारी किसी विशेष तथ्य पर निर्णय लेते समय वैयक्तिकता पर ध्यान न रखकर अवैयक्तिक लक्ष्यो को ध्यान मे रखते हैं—यह नौकरशाही की विशेपता है। इस प्रशासन की श्रेष्ठता की कसौटी यही है कि इसमे अधिकारी अपनी शक्ति को बनाए रखने के साथ-साथ उन्हे बढाने के प्रति भी सदैव सचेष्ट रहते हैं क्योकि इसमे अवैयक्तिक लक्ष्यो को ध्यान मे रखा जाता है। यह विश्वसनीयता को बढावा देता है।

11. तकनीकी श्रेष्ठता (Technical Superiority)—नौकरशाही-तन्त्र की यह भी विशेपता है कि इसका सगठन तकनीकी दृष्टि से श्रेष्ठ होता है। इसकी कुछ विशेषताएँ, जैसे—लिखित प्रलेखो का ज्ञान, निरन्तरता, विवेक, कार्यसचालन की सार्वभौमिकता आदि प्रशासन के अन्य तरीको की तुलना मे अधिक श्रेयस्कर है। इसी कारण इसे अधिक सफलता प्राप्त हुई है।

12. व्यावहारिक दृष्टि से नौकरशाही सत्ता स्थाई है (Bureaucratic Authority is Stable from Behaviousistic view-point)—वेबर ने इस तथ्य पर आग्रह किया है कि नौकरशाही का स्वरूप स्थाई तथा अविनाशी है। इसमे अधिकारी अपने साथियो के साथ इस रूप मे सम्बद्ध रहता है कि नौकरशाही सगठन की निरन्तरता बनी रहती है। आज के समय मे सार्वजनिक मामले कुशल प्रशिक्षण, विशेपीकरण एवं प्रशासनिक कार्यों के समन्वय पर टिके होते हैं इसीलिए राज्य मे आज नौकरशाही के माध्यम से ही कार्य सम्पन्न हो रहा है। इसी कारण यह कहा जा रहा है कि नौकरशाही का स्वरूप अविनाशी एव अपरिहार्य है।

सक्षेप में यह कहा जा सकता है कि नौकरशाही-तन्त्र मे प्रशासनिक नियम होते हैं, सत्ता का विभाजन होता है, लिखित फाइल होती है, प्रशिक्षण की व्यवस्था होती है, कानून के अनुसार कार्य होता है और पदाधिकारी अपनी पूरी क्षमता से कार्य करते हैं।

नौकरशाही के कारण
(Causes of Bureaucracy)

वेबर के मत मे नौकरशाही कुछ विशिष्ट परिस्थितियो के कारण विकसित हुई है। ये कारण निम्नलिखित हैं—

(1) मुद्रा पर *आधारित अर्थव्यवस्था नौकरशाही के विकास मे पर्याप्त सहायक* रही है।

(2) मुद्रा-प्रचलन से पहले अधिकारियो को मुद्रा के बदले में वस्तुएँ दी जाती थीं किन्तु समय के साथ-साथ जैसे ही मुद्रा का प्रचलन प्रारम्भ हुआ, अधिकारियो को मुद्रा के रूप में भुगतान किया जाने लगा। मुद्रा के अधिक प्रचलन से सब अधिकारी अब वेतन-भोगी हो गए।

(3) प्रजातन्त्रीय व्यवस्था के कारण तथा बड़े-बड़े उद्योगो की स्थापना के परिणामस्वरूप भी नौकरशाही का विकास हुआ है।

(4) आधुनिक समय मे प्रशासन के क्रिया-कलापो मे अत्यधिक वृद्धि के कारण जटिलता आने लगी है, इसके कारण नौकरशाही मे भी वृद्धि होने लगी है।

(5) गुणात्मक दृष्टि से भी देखा जाए तो प्रशासकीय-कार्यों का अत्यधिक विकास हो रहा है, जिनके लिए नौकरशाही-व्यवस्था का विकास भी स्वय ही हो गया है।

(6) आधुनिक पूँजीवादी व्यवस्था का भी नौकरशाही के विकास के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है।

नौकरशाही-तन्त्र के स्थाई लक्षण
(Permanent Characteristics of Bureaucracy)

(1) नौकरशाही-तन्त्र का एक प्रमुख लक्षण यह है कि एक बार इसके स्थापित हो जाने के उपरान्त पुनः इसे हटाना असम्भव है।

(2) जो व्यक्ति एक बार भी इस व्यवस्था का अग बन चुका होता है, वह कभी भी इससे मुँह नहीं मोड सकता।

(3) कानूनो की परिपालना करना व्यक्ति का स्वभाव बन जाता है।

(4) यह तन्त्र एक प्रकार से शक्ति के सम्बन्धो का सामाजीकरण करता है इस कारण यह एक सशक्त साधन बन जाता है।

(5) नौकरशाही-तन्त्र एक साधन है जो सामुदायिक क्रिया के रूप मे सामाजिक-क्रिया पर विवेक अथवा कुशलता के साथ कार्य करता है। इस कारण यह कहा जा सकता है कि यदि एक बार नौकरशाही की समूल स्थापना हो गई, तो इसे हटाना सम्भव नहीं है।

नौकरशाही संगठन के तकनीकी लाभ
(Technical Advantages of Bureaucracy)

(1) नौकरशाही सगठन तकनीक की दृष्टि से अन्य संगठनो की तुलना मे अधिक श्रेयस्कर है।

(2) गति, स्पष्टता, फाइलो का ज्ञान, निरन्तरता, स्वेच्छा, स्पष्टता, कठोर अधीनस्थता, संघर्ष में कमी व एकता आदि इसके अनेक लाभ हैं जो अन्य सगठनो मे नहीं मिलते हैं।

(3) इसमे विशिष्ट-प्रशासन पाया जाता है।

(4) इसमें जो विषय-विशेषज्ञ होते हैं वे निष्पक्ष कार्य करते हैं।

(5) नौकरशाही सगठन का कानून से भी सम्बन्ध होता है। नौकरशाही मे औपचारिकता, समानता व योग्यता की परख आदि विशेष गुण होते हैं, जो कानून में भी पाये जाते हैं इस कारण कानून के साथ इसका अच्छा समीकरण बैठ जाता है। इसमे गणना योग्य कानून पाया जाता है।

(6) तकनीकी लाभ के अतिरिक्त नौकरशाही-तन्त्र का एक अन्य लाभ यह भी है कि इसके द्वारा सामाजिक-आर्थिक विषमताओ को समाप्त किया जा सकता है—नौकरशाही संगठन के विकास के कारण ही परम्परागत सामाजिक-आर्थिक भिन्नताओं मे अब कुछ कमी होती जा रही है।

नौकरशाही-व्यवस्था के सामाजिक-आर्थिक परिणाम
(Social and Economic Consequences of Bureaucracy)

मैक्स वेबर ने नौकरशाही-व्यवस्था के परिणामो को पाश्चात्य देशो के सन्दर्भ मे ही देखा है किन्तु इसके परिणाम इस तथ्य पर अधिक निर्भर करते हैं कि उनका उपयोग किस दिशा मे हो रहा है। वेबर इस तन्त्र को बहुत शक्तिशाली मानते हैं और आज के युग में यह बहुत शक्तिशाली तन्त्र हो भी रहा है। नौकरशाही की यह विशेषता है कि इसमें पदाधिकारी विशेषज्ञ होते हैं इस कारण राजनैतिक व आर्थिक, सभी सगठन इसके समक्ष विवश हो जाते हैं। यह व्यावसायिक श्रेष्ठता को भी बनाए रखता है। यह सब प्रकार के सक्षम व समर्थ तन्त्र है।

नौकरशाही-तन्त्र के परिणाम आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक, प्रशासनिक और सांस्कृतिक सभी पक्षो मे स्पष्ट रूप से दृष्टव्य हैं।

पूँजीवादी-व्यवस्था और नौकरशाही का घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। आधुनिक बड़े-बडे पूँजीवादी उद्योग-धन्धे नौकरशाही के ज्वलन्त उदाहरण हैं। मैक्स वेबर का यह मानना है कि शासन मे प्रजातन्त्र व्यवस्था के परिणामस्वरूप नौकरशाही का विकास हुआ है, इस दृष्टि से प्रजातन्त्र और नौकरशाही घनिष्ठ रूप मे परस्पर सम्बन्धित हैं। प्रजातन्त्र मे सभी लोग समान माने गए हैं और ऊँचे से ऊँचा पद प्राप्त करने का सभी को अधिकार है। नौकरशाही की उत्पत्ति और विकास के लिए ये परिस्थितियाँ सहायक सिद्ध हुई हैं। इस प्रकार उसका एक परिणाम यह निकला कि जैसे-जैसे राजनैतिक दलो का स्वरूप प्रजातन्त्रीय बनता गया, वैसे-वैसे उनकी सरचना भी नौकरशाही मे परिवर्तित होती गई। नौकरशाही-तन्त्र के द्वारा प्रशासनिक कार्यों को सुचारुरूपेण चलाया जा सकता है इस दृष्टि से इसका एक परिणाम यह निकला है कि यह अन्य संगठनो की तुलना मे अधिक श्रेष्ठ है।

मैक्स वेबर ने इस व्यवस्था की श्रेष्ठता को आधुनिक समाज के आर्थिक विकास में भी स्वीकारा है। नौकरशाही का आधार विवेक (Rationality) है और वेबर के विशेषीकरण के सम्प्रत्यय का महत्त्वपूर्ण प्रयोग नौकरशाही-व्यवस्था मे देखने मे आता है। नौकरशाही-व्यवस्था को वेबर की विवेकी क्रिया (Rational Action) का सर्वोत्तम उदाहरण कहा जा सकता है। विवेकी क्रिया में साधन, लक्ष्य, नियम व तथ्य आदि की प्रमुखता रहती है, जो

इस तन्त्र की भी विशेषताएँ कही जा सकती हैं। इसी कारण इस तन्त्र का सर्वाधिक लाभ सभी क्षेत्रों मे दिखाई देता है। इसने अविवेकपूर्ण दमन को समाप्त किया है। वेबर ने नौकरशाही संगठन के प्रकार्यात्मक पक्ष पर विशेष बल दिया है और विशेषज्ञता, निष्पक्षता, विश्वसनीयता व कार्यकुशलता आदि इसकी विशेषताएँ मानी हैं। इस प्रकार नौकरशाही-तन्त्र के लाभ सभी पक्षों मे स्पष्टतया देखे जा सकते हैं।

नौकरशाही का आलोचनात्मक मूल्यांकन
(Critical Evaluation of Bureaucracy)

वेबर के नौकरशाही-संगठन के आधार पर प्रशासकीय कार्यों का भली-भाँति संचालन किया जा सकता है और इसे अन्य प्रशासनों की तुलना में श्रेयस्कर विधि कहा जाता है, फिर भी यह संगठन अपने अभीष्ट लक्ष्यों की पूर्ति करने में कहाँ तक सफल हुआ है इस दृष्टि से इसका मूल्यांकन करना आवश्यक है।

रोबर्ट के. मर्टन ने अपनी कृति "सोशियल थ्योरी एण्ड सोशियल स्ट्रक्चर" मे नौकरशाही व्यवस्था के अलाभकारी कार्यों (Dysfunctions of Bureaucracy) की ओर सभी का ध्यान आकृष्ट किया है। नौकरशाही व्यवस्था में विशिष्टता और नियम-बन्धन लोगो को यन्त्रवत् कार्य करने के लिए बाध्य कर देते हैं।

आधुनिक युग में नौकरशाही व्यवस्था अत्यधिक प्रचलित हो गई है। इसकी कुछ प्रमुख आलोचनाएँ निम्नलिखित हैं—

(1) प्रशिक्षित अयोग्यता (Trained Incapacity)—मर्टन ने **वैबलेन** की अवधारणा—प्रशिक्षित अयोग्यता का उल्लेख करते हुए कहा है कि नौकरशाही-व्यवस्था मे विशिष्टता और नियम-बन्धन लोगो को योग्यता को अवरुद्ध कर देते हैं अर्थात् अधिकारी की क्षमताएँ उसकी कमियाँ बन जाती हैं। प्रशिक्षण प्राप्त निपुण व योग्य व्यक्ति जो कभी समस्त कार्यों को सफलता से पूर्ण किया करता था, वर्तमान परिस्थितियो मे कुंठित हो जाता है। यह इसका एक अवगुण है।

(2) व्यावसायिक मनस्ताप या विकृति (Occupational Psychosis or Deformation)—मर्टन ने **डेवी** के विचार व्यावसायिक मनस्ताप एवं **वारनांट** की व्यावसायिक विकृति का उल्लेख करते हुए नौकरशाही का एक दुष्प्रभाव यह बताया है कि इस व्यवस्था मे नियमो के बन्धन इतने कठोर हो जाते हैं कि लोगों को अपने व्यवसाय के प्रति मानसिक क्षोभ उत्पन्न हो जाता है।

(3) रचनात्मक अतिसमरूपता (Structural Sources of Over-Conformity)—मर्टन ने रचनात्मक अतिसमरूपता से निष्पन्न कमियो का भी उल्लेख किया है। नौकरशाही मे नियमो की कठोरता से पालन की जाती है। इसका परिणाम यह होता है कि अधिकारियो मे उद्देश्य-विहीनता आ जाती है, वे परिस्थितियो से सामजस्य नहीं कर पाते और धीरे-धीरे दक्षता के स्थान पर उनमे अयोग्यता का विकास हो जाता है।

(4) औपचारिकता (Formality)—नौकरशाही मे औपचारिकताओ पर ध्यान केन्द्रित रहता है जिसके कारण कार्य की गति धीमी हो जाती है और समय और वित्त का दुरुपयोग होता है। विशिष्ट परिस्थितियों के समय भी किसी प्रकार का सामंजस्य नहीं होने से कभी-कभी बड़ी बाधा का सामना करना पड़ता है क्योंकि नियमो के बन्धनों की औपचारिकता परिस्थितियो से समझौता नहीं करने देती।

(5) यंत्रवत् कार्य (Mechanical Work)—नौकरशाही की आलोचना इस दृष्टि से भी की जाती है कि इसमे पदाधिकारी एक ही पद पर बहुत समय तक कार्य करते-करते लकीर के फकीर हो जाते हैं। वे केवल यंत्रवत् कार्य करते रहते हैं और उनमें नए-नए प्रयोग करने की क्षमताएँ नष्ट हो जाती हैं। अधिकारीगण परिवर्तित परिस्थितियों से भी कोई अनुकूलन नहीं कर पाते, केवल बनाए गए प्रशासनिक नियमों के अनुसार कार्य करना उनके लिए महत्त्वपूर्ण होता है, परिवर्तित परिस्थितियो का सामना करने के लिए वे अक्षम होते हैं।

(6) लचीलेपन का अभाव (Lack of Flexibility)—नौकरशाही का एक दुर्गुण यह है कि इसमे लचीलेपन का अभाव पाया जाता है। समस्याओं को हल करने के लिए अधिकारी को जो पूर्व प्रशिक्षण दिया जाता है, वह उसी को ध्यान मे रखकर कार्यों को करता रहता है किन्तु कभी-कभी नवीन परिस्थितियो के अनुरूप स्वय को बदलना भी पडता है लेकिन इसमे अधिकारी भूतकालीन प्रशिक्षण के अनुसार ही कार्य करने के लिए बाध्य रहता है। इस रूप मे प्रशिक्षण उसकी असमर्थता बन जाता है। दूसरे शब्दो मे इस प्रकार कहा जा सकता है कि इसके अन्तर्गत अधिकारी नियमो का पालन इस सीमा तक करने लगता है कि परिवर्तित परिस्थितियो मे वह किसी नवीन नियम को स्वीकार नहीं करता है और अपने पूर्वकालीन प्रशिक्षण के आधार पर ही निर्णय लेता है इससे उसकी कार्यकुशलता समाप्त हो जाती है व नए प्रयोगो के करने की प्रवृत्तियाँ भी नष्ट हो जाती हैं।

(7) लालफीताशाही (Red Tapism)—नौकरशाही का एक दोष यह भी है कि इसमे अधिकारीगण प्रक्रिया की औपचारिकताओ मे विश्वास रखते हुए नियमो का कठोरता से पालन करते हैं इससे कार्यों की सम्पन्नता मे बाधा पहुँचती है या पर्याप्त विलम्ब हो जाता है। इसमें औपचारिकताएँ इस सीमा तक महत्त्वपूर्ण हो जाती हैं कि व्यक्ति लक्ष्य की चिन्ता न करके साधनो को महत्त्व देने लगता है। वास्तव में लालफीताशाही (Red Tapism) का जन्म निश्चित व्यवस्था, कार्य की निर्धारित गति, प्रगति का क्रम तथा नियमो के सम्पादन आदि के परिणामस्वरूप होता है— इसी कारण इसमे प्रत्येक क्रिया नियमों मे अत्यधिक आबद्ध रहती है कि वह अपने अधीनस्थ की किसी प्रकार की सहायता करने में अक्षम रहता है।

(8) विभागीकरण (Departmentisation)—नौकरशाही में सरकार के कार्य पृथक्-पृथक् विभागो या खण्डो मे विभाजित हो जाते हैं। प्रत्येक विभाग अपने को स्वतन्त्र मानकर अपने अधिकार-क्षेत्र को अपना साम्राज्य मानने लगता है। वह यह भूल जाता है कि वह किसी बडे समग्र का ही खण्ड है। इस प्रकार नौकरशाही मे समाज से पृथक् रहकर कार्य करने की प्रवृत्ति पाई जाती है। इसका परिणाम यह निकलता है कि किसी भी कार्य को करने के लिए व्यक्ति को इन विभागो के सम्पर्क मे रहना पडता है और ये विभाग अपने को बडा समझकर जनता के साथ ताल-मेल नहीं बिठाते हैं।

(9) रुचि का अभाव (Lack of Interest)—नौकरशाही मे नियमो के बन्धन, औपचारिकता और परम्परा का समर्थन आदि व्यक्ति के जीवन व व्यवसाय मे नीरसता को जन्म देते हैं, यंत्रवत्-कार्य करने से कार्य की प्रक्रिया बड़ी लम्बी और धीमी गति वाली हो जाती है, इस कारण व्यक्ति को कोई उत्साह नहीं रहता है। व्यक्ति मे कार्य के प्रति नवीनता व आकर्षण भी समाप्त हो जाता है, उसमे कार्य मे पहल करने की क्षमता भी नहीं रहती है और अन्ततः जीवन मे नीरसता आ जाती है।

(10) रूढ़िवादिता (Traditionalism)—नौकरशाही-तन्त्र में औपचारिकताएँ एवं नियमबद्धता अधिक होती है जिसके कारण कार्य को परम्परागत तरीके से ही सम्पन्न किया जाता है। कार्यालय की गोपनीयता, प्रक्रियाएँ और परम्पराएँ आदि कार्य की प्रक्रिया को अति मद कर देते है। इन सब कारणो से इसके द्वारा जन-सामान्य को प्रदान की जाने वाली सेवाएँ रूढ़िवादी हो जाती हैं। ये नवीनता व विकास के प्रति विरोधी विचार रखते हैं और परम्पराओ के निर्वाह करने की उनकी आदत हो जाती है।

(11) साध्य की तुलना में साधन का महत्त्व—नौकरशाही सगठन की आलोचना इस रूप मे भी की जाती है कि अधिकारी वर्ग नियमो के बन्धन मे इस सीमा तक बँध जाते हैं कि जो नियम किसी कार्य को करने के साधन के रूप मे प्रयुक्त होते थे, कुछ समय उपरान्त वे स्वय लक्ष्य या साध्य बन जाते हैं अर्थात् साधन ही साध्य बन जाते हैं।

(12) अकुशलता (Insufficiency)—नौकरशाही व्यक्ति की कार्यकुशलता को घटा देती है। कर्मचारी यन्त्रवत् कार्य करते-करते अपनी कार्य-कुशलता को दबा लेते है। नौकरशाही से सम्बन्धित अधिकारी सामान्य नियमो का जो अर्थ लगाते हैं उसी के अनुसार कार्य करते है किन्तु कालान्तर मे ये नियम अधिक उपयोगी नहीं सिद्ध हो पाते और वह नियम लक्ष्यो की प्राप्ति मे बाधक बन जाते हैं किन्तु अधिकारीगण इस अकुशलता को नही जान पाते। इस प्रकार नौकरशाही विशिष्ट स्थितियो मे अकुशलता उत्पन्न करती है।

(13) शोध पर आधारित नहीं (Not Based on Research)—नौकरशाही-व्यवस्था का कोई सुस्पष्ट आधार नहीं है। वेबर के नौकरशाही से सम्बन्धित विचार उनकी प्राक्कल्पना के रूप मे हैं। जिस आदर्श प्ररूप का जिक्र वेबर ने किया था, यदि उस प्ररूप को ज्यो-का-त्यो किसी सगठन मे अपना लिया जाए तो भी सगठन की कार्य-कुशलता की वृद्धि होने में सन्देह है क्योंकि सगठन की कार्य कुशलता का निर्धारण उसके उद्देश्य, कार्यकर्ताओ के तकनीकी स्तर व सगठन के सामाजिक वातावरण आदि पर निर्भर करता है।

इस प्रकार नौकरशाही-तन्त्र की आलोचना अनेक कारणो से की जाती है। अनेक विद्वानो ने इस पर समय समय पर काफी लिखा है फिर भी इसके सम्बन्ध मे अनेक भ्रम लोगो मे विद्यमान हैं। **लॉर्ड हीवर्ट** इसे नवीन निरकुशता का नाम देते है। कुछ लोगो का मानना है कि यह एक ऐसी शक्ति है जिसके कारण नागरिको की स्वतन्त्रता खतरे मे पड सकती है, कुछ के मत मे यह शक्ति की भूख होती है और धीरे-धीरे नीति-निर्माण के कार्य पर हावी होती जाती है। वास्तविकता यह है कि उस व्यवस्था मे नियमबद्धता व औपचारिकताएँ अधिक होने से लोगो मे उत्साह व पहल करने की क्षमता समाप्त हो जाती है व स्वतन्त्र होकर किसी कार्य को करने की भावना समाप्त हो जाती है और कुशलता के स्थान पर अकुशलता का विकास हो जाता है।

यद्यपि नौकरशाही तन्त्र की अनेक कमियाँ है फिर भी इसकी प्रकार्यात्मकता से इन्कार नहीं किया जा सकता। आधुनिक समय मे नौकरशाही-व्यवस्था ने सामाजिक-आर्थिक क्षेत्रे मे अपना पर्याप्त सहयोग दिया है—इसमे जो कमियाँ हैं उन्हे दूर करके इस व्यवस्था को और कारगर बनाया जा सकता है। उदाहरण के लिए नौकरशाही के समुचित विकास के लिए प्रशासन का उचित विकास किया जाना चाहिए। पदाधिकारियो की कार्य-कुशलता को बढ़ावा मिलना चाहिए तथा परिस्थिति के अनुसार उनमे निर्णय लेने की योग्यता का विकास

किया जाना चाहिए। नौकरशाही संगठन मे व्याप्त कमियो को दूर करके इस संगठन व सुचारूरूपेण परिचालन किया जाना चाहिए।

वास्तव मे नौकरशाही-तन्त्र वेबर की कार्य-कुशलता का अनोखा प्रमाण है इस उनकी असाधारण बौद्धिक-योग्यता का भी प्रमाण मिलता है। यह व्यवस्था मौलिक रूप विवेक पर आधारित है। इसने सामाजिक, आर्थिक, प्रशासनिक व राजनैतिक सभी क्षेत्रों अपना अपूर्व योगदान दिया है यही नहीं, आपका यह योगदान क्षेत्र से सम्बन्धित सभ व्यक्तियो के लिए पथ-प्रदर्शक बना रहेगा।

अभ्यास प्रश्न

निबन्धात्मक प्रश्न

1 कर्मचारी-तन्त्र क्या है? वेबर द्वारा दी गई कर्मचारी-तन्त्र की विशेषताओं ओ कारणो की विवेचना कीजिए।

2 नौकरशाही-तन्त्र की परिभाषा दीजिए तथा इसकी प्रमुख विशेषताओ क उल्लेख कीजिए।

3 नौकरशाही-तन्त्र के कारणो पर प्रकाश डालिए।

4 नौकरशाही तन्त्र के सामाजिक-आर्थिक परिणामो को बताइए।

5 नौकरशाही-तन्त्र का आलोचनात्मक मूल्यॉकन कीजिए।

6 मैक्स वेबर की नौकरशाही की अवधारणा की व्याख्या कीजिए। यह आधुनिव सरकारी सगठनो को समझने मे कहाँ तक सहायक है?

लघुउत्तरात्मक प्रश्न

निम्नलिखित पर सक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिए :—

1 नौकरशाही पर वेबर के विचार।

2 नौकरशाही की किन्हीं चार विशेषताओ को बताइए।

3 नौकरशाही की कोई दो परिभाषा दीजिए।

4 नौकरशाही मे अधिकारियो की विशेष स्थिति।

5 नौकरशाही के चार प्रमुख कारण बताइए।

6 नौकरशाही-तन्त्र के चार स्थाई लक्षण बताइए।

7 नौकरशाही सगठन के चार तकनीकी लाभ बताइए।

8 नौकरशाही-व्यवस्था के चार सामाजिक-आर्थिक परिणाम बताइए।

9 लालफीताशाही पर सक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1 नौकरशाही पर सर्वप्रथम समाजशास्त्रीय विचार किसने व्यक्त किए?

(अ) वेबर (ब) मार्क्स

(स) दुर्खीम (द) स्पेन्सर

[उत्तर- (अ)]

2 नौकरशाही मे कार्य किस प्रकार के प्रलेखो द्वारा किया जाता है?
(अ) लिखित प्रलेख (ब) अलिखित प्रलेख
[उत्तर- (अ)]

3 नौकरशाही मे प्रशासन के साधनो का क्या होता है?
(अ) केन्द्रीयकरण (ब) विकेन्द्रीयकरण
[उत्तर-(अ)]

4 लालफीताशाही शब्द का प्रयोग किसके लिए किया जाता है?
(अ) पूँजीवाद (ब) नौकरशाही
(स) आधुनिकीकरण (द) किसी के लिए भी नहीं
[उत्तर-(ब)]

5. ब्यूरोक्रेसी का क्या अर्थ लगाया जाता है?
(अ) कर्मचारी-तन्त्र (ब) सेवक-तन्त्र
(स) दोनो (द) कोई-सा भी नहीं
[उत्तर-(स)]

6 निम्न में से सत्य कथन का चयन कीजिए—
(1) नौकरशाही मे पदो का सस्तरण होता है।
(2) नौकरशाही का आधुनिक पूँजीवाद के साथ कोई सम्बन्ध नही है।
(3) नौकरशाही मे प्रशासन के साधनो का केन्द्रीयकरण होता है।
(4) लालफीताशाही का प्रयोग नौकरशाही के लिए नहीं किया जाता है।
[उत्तर सत्य कथन— (1), (3)
असत्य कथन— (2), (4)]



अध्याय-8

मैक्स वेबर : धर्म

(Max Weber : Religion)

समाजशास्त्र मे मैक्स वेबर के योगदानो मे सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण योगदान आपके द्वारा किये गये धर्म सम्बन्धी अध्ययन को माना जाता है। आपने विश्व के प्रमुख छः धर्मों—हिन्दू, बौद्ध, ईसाई, कन्फ्यूशियस, इस्लाम और यहूदी धर्म का गहन अध्ययन किया तथा इनकी समाजशास्त्रीय व्याख्या प्रस्तुत की है। वेबर द्वारा किए गए धर्म सम्बन्धी अध्ययन एव व्याख्याएँ आपकी विश्वविख्यात कृतियो—(1) दा प्रोटेस्टेण्ट एथिक एण्ड दा स्पिरिट ऑफ कैपिटलिज्म, (2) दा रिलिजन ऑफ चाइना, (3) दा रिलिजन ऑफ इण्डिया और (4) एन्शियण्ट जूडाइज्म मे मिलते हैं। ये सभी कृतियाँ जर्मन भाषा में लिखी पुस्तको के अंग्रेजी अनुवाद हैं। आपने विश्व के प्रमुख धर्मों का अध्ययन धर्म तथा सामाजिक घटनाओ के पारस्परिक गुण-सम्बन्ध को मालूम करने के लिए किया था। मैक्स वेबर का अनुमान था कि सामाजिक घटनाओ के अध्ययन मे किसी एक कारक को अध्ययन की सुविधा के लिए कारण मान कर अध्ययन किया जा सकता है। परन्तु किसी एक कारक को (जैसा कि कार्ल मार्क्स ने आर्थिकी को माना है) निर्णायक सिद्ध करना गम्भीर भूल करना है। वेबर के अनुसार समाज मे विभिन्न कारक परस्पर एक-दूसरे से बहुत अधिक गुम्फित होते हैं और वे एक-दूसरे से अलग नहीं हो सकते हैं। मार्क्स ने धर्म का निर्णायक कारक—आर्थिकी को बताया है। मैक्स वेबर ने मार्क्स के इस सामान्यीकरण एव निष्कर्ष का परीक्षण विश्व के छः प्रमुख धर्मों को आर्थिकी का कारण मान कर किया तथा सिद्ध कर दिया कि आर्थिक व्यवस्था का निर्णायक धर्म है।

वेबर का प्रमुख उद्देश्य यह सिद्ध करना था कि समाज मे विभिन्न कारक, घटनाएँ, विशेषताएँ आदि परस्पर एक-दूसरे से प्रभावित होती हैं तथा एक-दूसरे को प्रभावित करती हैं। सोरोकिन ने भी लिखा है कि मैक्स वेबर ने विशेष रूप से यह स्पष्ट किया है कि किस प्रकार से भारत, चीन, प्राचीन विश्व, मध्य काल और वर्तमान समय के आर्थिक सगठनो के लक्षण अपने अपने सम्बन्धित धर्मों, जादू, परम्पराओ अथवा तर्कनापरकता की विशेषताओं से नियत्रित, निर्देशित, सचालित तथा अनुकूलित होते हैं।

वेबर ने अपने अध्ययनो के आधार पर प्रमुख रूप से यह स्पष्ट करने का प्रयास किया है कि आधुनिक पूँजीवाद सबसे पहिले पश्चिम के देशो मे ही क्यों आया, अन्य देशो मे क्यों नहीं आया? इसके लिए आपने विश्व के प्रमुख छः धर्मों के धार्मिक लक्षणो, विशेषताओं, आचार सहिताओ आदि का तुलनात्मक अध्ययन किया और धर्म का प्रभाव सामाजिक संगठनो तथा आर्थिकी पर क्या पडा, इसका विश्लेषण किया।

वेबर : धर्म का समाजशास्त्र
(Weber : Sociology of Religion)

मैक्स वेबर ने पूर्वी जर्मनी मे खेतिहर श्रमिको और स्टॉक एक्सचेन्ज का आनुभविक अध्ययन किया। प्रोटेस्टेण्ट एथिक के अध्ययन का स्रोत भी यही था। आपने **धर्म के समाजशास्त्र** को तीन खण्डो मे प्रकाशित किया था जिसमे उपर्युक्त वर्णित अध्ययन तथा कन्फ्यूशियस, हिन्दू, बौद्ध, ईसाई और यहूदी धर्मों का अध्ययन भी सम्मिलित किया है। वेबर द्वारा किए गए धर्मो का अध्ययन समाजशास्त्र मे अग्रणी एव सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। आपका प्रारम्भ मे उद्देश्य विभिन्न सभ्यताओ का तुलनात्मक अध्ययन करने का था लेकिन बाद मे आपने धर्म के समाजशास्त्र को विकसित तथा स्थापित कर दिया। आपके धर्म के आनुभविक अध्ययन का उद्देश्य यह मालूम करना था कि विभिन्न सभ्यताओ के विकास मे धर्म सम्बन्धी कारको को क्या भूमिका है।

धर्म के समाजशास्त्र की विषयवस्तु (Subject Matter of Sociology of Religion)—प्रत्येक धर्म एक विशेष प्रकार के सामाजिक व्यवहार को जन्म देता है। धर्म के द्वारा उत्पन्न तथा धर्म-जनित अन्तःक्रियाओ और व्यवहारो का अध्ययन ही समाजशास्त्र की विषयवस्तु होती है।

जुलियेन फ्रेण्ड (Julien Freund) ने वेबर के धर्म के समाजशास्त्र की निम्न व्याख्या की है—**जब कोई धर्मावलम्बी किसी धर्म के सन्दर्भ में अर्थपूर्ण व्यवहार करता है तो उसका अध्ययन धर्म के समाजशास्त्र के अन्तर्गत आता है।**" फ्रेण्ड लिखते है कि धर्म का समाजशास्त्र केवल धार्मिक व्यवहार का मानव की लौकिक गतिविधि के रूप मे क्रमबद्ध और व्यवस्थित अध्ययन करता है। वेबर ने धर्म के समाजशास्त्र को विशेष प्राथमिकता अपने जीवन के अन्तिम वर्षो मे दी थी। आपने यह अन्वेषण करने का प्रयास किया था कि धार्मिक व्यवहार का प्रभाव आचार और अर्थव्यवस्था पर कितना पड़ता है और कैसा पड़ता है। आपकी मान्यता थी कि धार्मिक व्यवहार मे तर्कनापरकता और तार्किकता होती है। आपने धार्मिक व्यवहारो के द्वैतीयक प्रभावो को शिक्षा और राजनीति मे भी देखने का प्रयास किया था। आपके अनुसार यही सब धर्म के समाजशास्त्र की विषयवस्तु है।

धर्म के प्रकार (Types of Religion)

वेबर ने धार्मिक व्यवहारो के आधार पर धर्म के निम्न दो प्रकार बताए हैं—(1) मुक्ति धर्म और (2) कर्मकाण्डीय धर्म।

(1) मुक्ति धर्म या विश्वास मूलकधर्म (Religion of Conviction or Salvation)—वह व्यवहार जो मोक्ष से सम्बन्धित होता है तथा व्यवहार करने वाले धर्मावलम्बी को यह विश्वास होता है कि अमुक अमुक क्रियाएँ करने से उसे मोक्ष की प्राप्ति हो जाएगी—मुक्ति धर्म कहलाता है। वेबर के अनुसार मोक्ष मार्गीय धर्मावलम्बी निम्न तीन प्रकार की क्रियाएं करते हैं—

1 मोक्ष मार्गीय धर्मावलम्बी कर्मकाण्डीय या अनुष्ठान सम्बन्धी क्रियाएँ करते हैं। इससे उनके व्यक्तिगत रहस्यो और करिश्मो मे वृद्धि हो जाती है।

2 ये धर्मावलम्बी सभी के साथ भाईचारा रखते हैं, स्नेह से देखते हैं, नीतिपूर्ण व्यवहार करते हैं जिससे उनकी समाज मे प्रतिष्ठा एव सम्मान बढ जाता है।

3 इन मुक्ति धर्मावलम्बियो का विश्वास होता है कि ऐसा करने से वह मोक्ष के निकट पहुँच जायेंगे। ये स्वयं को पूर्ण बनाने का प्रयत्न करते हैं। पूर्णता की प्राप्ति के लिए कोशिश करते हैं।

वेबर इन मोक्ष प्राप्त करने वाले धर्मावलम्बियो को सामान्य जीवन से उच्च तथा असाधारण धार्मिक जीवन से निम्न अर्थात् मध्यम स्थिति वाला मानते हैं। ये अनुयायी न तो पूर्णरूप से संसार से पृथक् हो पाते हैं और न ही मोक्ष प्राप्त कर पाते हैं। परन्तु ऐसे व्यक्ति रहस्यपूर्ण या करिश्माई बन जाते हैं। वेबर के अनुसार मोक्ष प्राप्ति के लिए किए प्रयास एवं क्रियाओ के जो प्रभाव अर्थव्यवस्था, नैतिकता तथा राजनीति पर पड़ते हैं वे धर्म के समाजशास्त्र के अध्ययन के अन्तर्गत आते हैं।

(2) कर्मकाण्डीय धर्म (Ritualistic Religion)—वेबर के अनुसार इस धर्म के अन्तर्गत लौकिक व्यवहार आते हैं। व्यक्ति पूर्ण रूप से कर्मकाण्डी होता है तथा दुनिया के क्रियाकलापो को स्वीकार करता है तथा उनसे अनुकूलन भी करता है। चीन का कन्फ्यूशियम धर्म कर्मकाण्डीय है। इस धर्म की परम्पराओं की बाध्यता इतनी कठोर होती है कि व्यक्ति की नैतिकता पूर्ण रूप से धार्मिक व्यवहारो तक सीमित होकर रह जाती है। इन अनुयायियों के लिए दुनिया का अर्थ द्वैतीयक हो जाता है एव कर्मकाण्ड तथा लौकिक व्यवहार प्राथमिक हो जाते हैं। गैर धार्मिक लौकिक हो जाते हैं। धार्मिक सस्कार इनके लिए मात्र संस्कार होते हैं। ये धर्मावलम्बी धर्म के रहस्य को भूल जाते हैं। यहूदी धर्म मे भी कर्मकाण्डीय व्यवहार देखे जा सकते हैं। कर्मकाण्डीय धर्म ऐसे हैं जो एक सम्प्रदाय की तरह से स्थापित होते हैं और इनके विश्वास तथा धारणाएँ रूढिवादी होती हैं।

धर्म एवं संघर्ष
(Religion and Conflict)

वेबर ने धर्म से उत्पन्न होने वाले संघर्षों के निम्न छ: प्रकार बताए हैं—

(1) सामाजिक संघर्ष (Social Conflict)—मुक्ति धर्म के कारण समाज मे सघर्ष पैदा हो जाते हैं क्योकि यह धर्म अनुयायियो को पारलौकिक क्रिया एवं व्यवहार करने के लिए कहता है। यह धर्म अवतारी होता है। अपने बन्धु बान्धवो को त्यागने की सलाह देता है। अनुयायियो को सार्वभौमिक दान देने के लिए बाध्य करता है। ईसा मसीह ने भी अपने शिष्यों को ऐसा करने का आदेश दिया था। इससे मोक्ष धर्म पालक का अपने सम्बन्धियों तथा अन्य लोगो से मन-मुटाव तथा झगड़ा हो जाता है जो बाद में सघर्ष का रूप धारण कर लेता है।

(2) आर्थिक संघर्ष (Economic Conflict)—मुक्ति धर्म तथा अनेक धर्म आर्थिक क्षेत्र मे सघर्ष पैदा करते हैं। अनेक धर्म ब्याज लेना पाप मानते हैं। दान देने को प्रोत्साहित करते हैं। निम्नतम आवश्यकताओ को पूर्ण करते हुए जीवन निर्वाह करने का प्रवचन देते हैं। धर्म अनेक व्यवसायो को करना पाप मानता है तथा उन्हे निषिद्ध कर देता है। इस प्रकार से आधुनिक समय मे धर्म के ये निबन्ध तथा मान्यताएँ कदम-कदम पर संघर्ष पैदा कर देते हैं। वेबर के अनुसार हिन्दू, बौद्ध, कन्फ्यूशियस और इस्लाम धर्म आधुनिक पूँजीवाद का विरोधी है क्योकि इन धर्मों के अनुसार ब्याज लेना, धन सचय करना आदि पाप है। ये मूल्य पूँजीवाद के विरोधी हैं।

(3) राजनैतिक संघर्ष (Political Conflict)—राजनैतिक संघर्ष का कई बार कारण धर्म होता है। अनेक धार्मिक युद्ध इसके प्रमाण हैं। साम्प्रदायिक झगड़े, भारत का विभाजन, हिन्दू-मुसलमानो का झगडा आदि इसके उदाहरण हैं।

(4) सांस्कृतिक संघर्ष (Cultural Conflict)—कला के क्षेत्र मे धर्म के कारण सघर्ष पैदा हो जाते हैं। अनेक धर्म नृत्य, सगीत और मूर्ति पूजा के कट्टर विरोधी होते हैं। जो धर्म मूर्ति-पूजक नही है वह मूर्ति-पूजक धर्मो से सघर्ष करते है। उनका विरोध करते हैं। मूर्ति-पूजक के साथ कुछ धर्म जैसे—इस्लाम धर्म विवाह नहीं करते हैं।

(5) वेबर ने कामवासना को एक सवेगात्मक शक्ति के रूप मे देखा है। आपने धर्म के समाजशास्त्रीय विवेचन मे यौन सम्बन्धो, कामुकता तथा कामवासना को संवेगात्मक शक्ति के रूप मे विद्यमान पाया जो लोगो मे तनाव तथा सघर्ष को उत्पन्न करती है।

(6) शैक्षिक संघर्ष (Educational Conflict)—वेबर ने धर्म के कारण ज्ञान के क्षेत्र मे भी तनाव एव सघर्ष को पाया। आपने कहा कि पुरोहितो ने समाज मे प्रभावपूर्ण पद को प्राप्त करके ईश्वर और धर्मावलम्बियो के बीच मध्यस्थता की प्रभावपूर्ण भूमिका निभा कर जनता का शोषण किया है। इतिहास इस बात का साक्षी है कि विभिन्न कालो मे पुरोहितो ने जनसाधारण पर अनेक प्रतिबन्ध लगाए हैं, तथा तनाव एव सघर्ष पैदा किए हैं। हिन्दू धर्म मे ब्राह्मण पुरोहितो ने अछूतो के लिए शिक्षा को निषिद्ध किया। निम्न जातियो को भी शिक्षा से दूर रखा। पिछडे वर्ग या जातियाँ ऊपर नहीं उठ पाई। इससे संघर्ष पैदा हुए हैं।

धर्म से सम्बन्धित अवधारणाएँ (Concepts related to Religion)—

वेबर ने धर्म के समाजशास्त्र का विकास विश्व के विभिन्न धर्मो के तुलनात्मक अध्ययन एव विश्लेषण करने के साथ-साथ धर्म से सम्बन्धित कुछ अवधारणाओ पर भी प्रकाश डाला है। धर्म के समाजशास्त्र को समझने के लिए निम्नांकित कतिपय अवधारणाओ का अर्थ जान लेना उपयोगी होगा।

(1) अलौकिक (Supernatural)—वेबर ने धर्म के समाजशास्त्र मे अलौकिक शक्तियो, ईश्वर, देवी-देवता, लाभकारी एव अनिष्टकारी आत्माओ की अवधारणाओ को महत्त्वपूर्ण माना है। आपके अनुसार इनके द्वारा ही किसी समाज के धर्म को ठीक से समझा जा सकता है। इन विभिन्न पारलौकिक शक्तियो के प्रभावो को समाज की विभिन्न घटनाओ, क्रियाकलापो, आपात स्थिति आदि में देख सकते हैं। इन अलोकिक शक्तियो की दो प्रथाएँ हैं, कुछ तो ससार के सभी समाजो मे पूजे जाते है, जैसे—ईश्वर, भगवान तथा कुछ स्थानीय देवी-देवता होते हैं जो परिवार, नगर या गाँव के स्तर पर पूजे जाते हैं। वेबर ने स्पष्ट किया है कि हिन्दू धर्म बहु-ईश्वरवादी है तो कुछ धर्म, जैसे—इस्लाम एव यहूदी धर्म एक ईश्वरवादी धर्म हैं।

(2) प्रतीक (Symbol)—देवी-देवता, ईश्वर, अलौकिक शक्ति आदि के सम्बन्ध मे मानना है कि ये घटनाओं, क्रियाकलापो आदि को प्रभावित करती हैं। ये शक्तियाँ अमूर्त और अदृश्य होती है जिनको समझने, आराधना करने आदि के लिए समाज उन्हे प्रतीको के रूप दे देता है। इसको अभिव्यक्त करने के लिए प्रतीको की सहायता ली जाती है। इसीलिए धर्मों मे प्रतीको का विशेष महत्त्व है।

(3) सामर्थ्य (Competence)—वेबर ने लिखा है कि अलौकिक शक्ति को सम्बन्धित धर्म वाले मानते हैं कि वह सर्वत्र विद्यमान है, सर्व शक्तिमान है। वह कुछ भी

कर सकने की सामर्थ्य रखती है। यही ससार की पालक तथा कर्त्ता है। इन पारलौकिक शक्तियो एवं सामर्थ्य के अनुसार सम्बन्धित धर्म के अनुयायी क्रमानुसार इनकी पूजा-पाठ करते हैं। देवी-देवताओ मे उनका स्थान सर्वोच्च बताया है।

(4) जादुई तत्त्व (Magical Elements)—विश्व के सभी धर्मो मे प्रार्थना, अर्चना, पूजा-पाठ आदि के अतिरिक्त जादुई तत्त्व भी होता है। जनसाधारण ये मानते है कि पूजा-पाठ से जो कार्य सिद्ध होते हैं उनको ईश्वर के द्वारा पुरोहित करवाता है। अगर कोई कार्य नही हो पाता है तो वह पुरोहित मे कुछ कमी होने का परिणाम माना जाता है। धर्मावलम्बियो की धारणा होती है कि धर्म में कोई-न-कोई चमत्कारी शक्ति है जो असम्भव कार्य को जादुई शक्ति के द्वारा पूर्ण कर देती है। कार्य सिद्ध नहीं होने पर अनुयायी ईश्वर को दोष न देकर पुरोहित के द्वारा की गई किसी त्रुटि का दोष मानते हैं।

(5) पाप (Sin)—वेबर ने धर्म से सम्बन्धित पाप की अवधारणा पर प्रकाश डाला है। आपने धर्म के तुलनात्मक अध्ययन मे पाया कि पाप की अवधारणा के कारण धार्मिक सोच मे परिवर्तन आया। अगर कोई धार्मिक नियमो, व्यवहारो, कृत्यो, सस्कारो का उल्लघन करेगा तो उसे अलौकिक शक्ति के क्रोध को भोगना पडेगा। धर्म-विरुद्ध कार्य पाप है और उसका दण्ड मिलता है। हिन्दू धर्म मे पिछले जन्म के कर्मों का फल इस वर्तमान जन्म मे भोगना पडता है। अगर कोई पिछले जन्म में धर्म-विरोधी कर्म (पाप) करेगा तो इस जन्म मे भुगतने पडेगे। इस जन्म के पाप पूर्ण कुकर्मो के फल अगले जन्म में भुगतने पडेगे। पाप की अवधारणा के फलस्वरूप अनुयायियो मे भलाई-बुराई, सत कर्म, अच्छा-बुरा, हिसा-अहिसा आदि से सम्बन्धित चेतना, विश्वास, धारणाओ का विकास हुआ।

(6) निषेध (Taboo)—वेबर ने निषेध को धर्म से सम्बन्धित महत्त्वपूर्ण अवधारणा माना है। धर्म को समझने के लिए निषेधो की व्याख्या तो नहीं की है परन्तु इसके गुण-दोषो तथा नैतिक और व्यावहारिक लक्षणो पर प्रकाश डाला है। सभी धर्मों मे कुछ कार्यों या क्रियाओ को करने पर प्रतिबन्ध लगे होते हैं वही निषेध कहलाते हैं। हिन्दू धर्म मे गाय को मारना पाप है। ब्राह्मणो मे माँस खाना निषेध है। वेबर ने लिखा है कि एक समान निषेधो का पालन करने वालो मे बन्धुत्व की भावना पैदा हो जाती है। निषेध के पीछे तर्कनापरकता या विवेकीकरण की प्रक्रिया कार्य करती है। धर्म की पहिचान निषेधो द्वारा भी की जा सकती है।

धार्मिक अधिकारियों के प्रकार एवं कार्य
(Types and Functions of Religious Officials)

वेबर ने लिखा है कि सभी धर्मों मे अलौकिक शक्ति की आराधना तथा उपासना की क्रियाओ को करने के लिए विशिष्ट व्यक्ति होते हैं, जैसे—पुरोहित, पादरी, ओझा, पैगम्बर आदि। आपने उल्लेख किया है कि धार्मिक गतिविधियाँ कौन-से धार्मिक अधिकारी किस प्रकार करते हैं। कुछ प्रमुख धार्मिक अधिकारी, उनकी विशेषताएँ एवं कार्य निम्नांकित हैं—

(1) पुरोहित और ओझा (Priest and Sorcerer)—पुरोहित धर्म का व्यावसायिक अधिकारी होता है। उसका कर्त्तव्य ईश्वर की प्रतिष्ठा को स्थापित करना होता है। इसकी गतिविधियाँ नियमित होती हैं, जैसे—मूर्ति को प्रतिदिन स्नान करवाना, तिलक और चन्दन लगाना, वस्त्राभूषण पहिनाना आदि-आदि। वह अपने कार्य मे स्वतत्र होता है। ओझा की प्रस्थिति और कार्य पुरोहित से भिन्न होते हैं। ओझा भूत-प्रेतो को भगाता तथा

उतारता है। वह उन पर नियंत्रण करने की विद्या जानता है। वेबर तथा कुछ सामाजिक मानवशास्त्रियो के अनुसार कुछ समाजो मे ओझा और पुरोहित के कार्य एक ही व्यक्ति करता है। पुरोहित और ओझा मे अन्तर अनुमानित होता है। वेबर ने लिखा है कि पुरोहित को अपने धर्म का ज्ञान होता है तथा वह सात्विक और बौद्धिक दृष्टि से उच्च स्तर का होता है। उसे धार्मिक परम्परा का ज्ञान होता है। कुछ धर्मों मे ओझा भी ज्ञानी और विद्वान देखे जा सकते हैं। इसी प्रकार पुरोहित भी अज्ञानी और अनपढ देखे जा सकते है। ओझा की जानकारी आनुभविक होती है तथा पुरोहित की तार्किक। पुरोहित अपने मठ या सम्प्रदाय का अधिकारी होता है। उसके अनुयायी सुनिश्चित और स्पष्ट होते है। ओझा का जीवन, कार्य-प्रणाली, क्षेत्र, अनुयायी आदि व्यक्तिगत होते है। इसका कोई मठ या सामुदायिक सगठन नहीं होता है।

(2) पैगम्बर (Prophet)—पैगम्बर या अवतार लगभग सभी धर्मों मे होते हैं। ईश्वर के आदेश पैगम्बर द्वारा अनुयायियो को प्राप्त होते हैं। ईश्वर अमूर्त और अदृश्य होता है जबकि पैगम्बर सशरीर होता है। वेबर के अनुसार पैगम्बर असाधारण विशेषताओ वाला होता है। उसमे करिश्मा होता है जिसके कारण उसका जीवन, दिनचर्या, बाते, आदेश, वचन सब कुछ जन-सामान्य के लिए आदर्श हो जाता है। पैगम्बर नवीन धर्म की घोषणा करता है तथा उसके प्रवचन एव उपदेश धार्मिक आदेश के रूप मे अनुयायियों द्वारा पालन किए जाते हैं। पैगम्बर के लिए नए धर्म की स्थापना करना या नवीन धार्मिक सम्प्रदाय को जन्म देना आवश्यक नही है। पैगम्बर समाज सुधारक भी हो सकता है। इस्लाम धर्म के हजरत मोहम्मद पैगम्बर इसके उदाहरण हैं।

सामाजिक वर्गों की धार्मिक अभिवृत्तियाँ (Religious attitudes of Social Classes)—वेबर ने विश्व के विभिन्न धर्मों के विश्लेषणो मे पाया कि समाज के विभिन्न स्तरो, वर्गों, श्रेणियो आदि के धर्म के सम्बन्ध मे भिन्न भिन्न दृष्टिकोण होते हैं। आपने कहा कि लोगो की जैसी सामाजिक स्थिति होती है उसी के अनुसार उनका धर्म के प्रति दृष्टिकोण होता है। इसी सदर्भ मे किसान, कुलीन योद्धा या सैनिक सरदार, अधिकारी, व्यापारिक वर्ग और निम्न वर्ग के धर्म के सम्बन्ध मे दृष्टिकोणो की विवेचना प्रस्तुत है।

(1) किसान (Peasant)—वेबर की मान्यता है कि किसान की कृषि बाढ और सूखा प्रकृति से जुड़ी होती है, वह प्रकृति के निकट होते हुए भी धर्म के प्रति लगाव नहीं रखता है। वेबर ने ऐसा ऐतिहासिक दृष्टि से भी स्वीकार नहीं किया। उनका कहना है कि धर्म एक शहरी घटना है। लोग ये समझते है कि किसान प्रकृति के निकट होने के कारण धर्म मे विश्वास रखता है। वेबर के अनुसार लोगो की यह धारणा गलत है।

(2) कुलीन योद्धा (Noble Warrior)—कुलीन योद्धा, सैनिक सरदार, राजपूत शासको आदि का जीवन युद्ध के कारण कभी भी समाप्त हो सकता है। उनका जीवन अनिश्चित होता है। इसलिए इस वर्ग के लोगो की आवश्यकता की पूर्ति वही धर्म कर सकता है जिसमे जीवन की सुरक्षा से सम्बन्धित काला जादू हो, विजय के लिए प्रार्थना-अर्चना हो, मरणोपरान्त स्वर्ग एव मोक्ष की प्राप्ति की बात हो। योद्धाओ का धर्म लौकिक अधिक होता है। ये सैनिक सरदार मोक्ष, पाप, दया, अहिसा आदि मे विश्वास नहीं रखते है।

(3) अधिकारी (Bureaucrats)—अधिकारी, नौकरशाह, दफ्तरशाही और अधिकारियो आदि की अभिरुचि उपयोगितावादी और अवसरवादी धर्म मे होती है। इस वर्ग

के लोगो मे तार्किकता अधिक होती है। इसीलिए इस वर्ग के लोग वेबर के अनुसार धर्म-विमुख होते हैं।

(4) व्यापारिक वर्ग (Business Class)—व्यापारी वर्ग के लोगों का प्रमुख उद्देश्य अधिक-से-अधिक धनोपार्जन करना होता है। ये लोग पारलौकिक दुनिया से कोई सम्बन्ध नहीं रखते हैं परन्तु वेबर की मान्यता है कि ऐतिहासिक प्रमाणो से स्पष्ट होता है कि धर्म तथा व्यापारिक और औद्योगिक विकास मे पिछली शताब्दियों मे परस्पर गहन सम्बन्ध रहा है। आपने लिखा है कि व्यापारिक वर्ग धार्मिक नीतिपरक व्यवहार से जितना अधिक सम्बन्धित होगा व्यापारिक और औद्योगिक विकास उतना ही अधिक होगा। आपने आगे चलकर धर्म और पूँजीवाद के परस्पर सम्बन्ध को अपनी महान् कृति "प्रोटेस्टेण्ट आचार और पूँजीवाद की आत्मा" मे विस्तार से विश्लेषित किया है।

(5) निम्न वर्ग (Lower Class)—वेबर ने अपने अध्ययन में देखा कि निम्न वर्ग के लोग, जैसे कि गुलाम और कारखानो मे काम करने वाले कामगारो मे धर्म के प्रति कोई विशेष उल्लेखनीय सवेग या आकर्षण नहीं होता है। आपने इसके कारणों पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि धर्म के प्रति सवेग का अभाव उनकी निर्धनता तथा विपन्नावस्था है। ये वर्ग अपनी समस्याओ से इतने अधिक ग्रसित होते हैं कि इनको धर्म के सम्बन्ध मे सोचने का समय ही नहीं मिलता है। आज का सर्वहारा वर्ग भी धर्म मे कोई विश्वास नहीं रखता है। धर्म के सम्बन्ध मे यह धारणा मिलती है कि उच्च वर्ग तथा जातियाँ धर्म के द्वारा अपनी उच्च स्थिति बनाए रखते हैं तथा निम्न जातियो तथा वर्गों को ऊपर उठने नहीं देते हैं। वेबर इसे भी अनिशयोक्ति मानते हैं कि आदिम ईसाई धर्म मे यह आग्रहपूर्वक कहा गया है कि कमजोर वर्ग के लोग ईसा मसीह के प्रति सम्पूर्ण सवेदना रखते हैं। धर्म तो गरीबो को गरीब बनाए रखने का प्रभावपूर्ण साधन है। फिर ऐसे धर्म के प्रति गरीबों की आस्था कैसे हो सकती है।

(6) बौद्धिक वर्ग (Intellectual Class)—वेबर ने बौद्धिक वर्ग के लोगो की धर्म के प्रति आस्था तथा अभिवृत्तियो की विवेचना करते हुए लिखा है कि अनेक वर्षों तक बौद्धिक क्षेत्र के विकास ने धर्म को बहुत प्रभावित किया है। यूरोप मे स्वाधीनता के आने के साथ-साथ धार्मिक क्षेत्र मे भी धर्म निरपेक्षता का विकास हुआ है। वेबर के अनुसार बौद्धिक वर्ग के लोगो मे धर्मों के प्रति सहिष्णुता भी विकसित हुई है तो दूसरी ओर आक्रामक मनोवृत्ति के विकास को भी देखा जा सकता है। बौद्धिक वर्ग ने धर्म की व्याख्याएँ भी की हैं।

वेबर का बौद्धिक दृष्टिकोण
(Intellectual Perspetive of Weber)

वेबर के धर्म सम्बन्धी बौद्धिक दृष्टिकोण को उनकी कृति 'दा प्रोटेस्टेण्ट एथिक एण्ड दा स्पिरिट ऑफ कैपिटलिज्म' में देख सकते हैं। आपने प्रश्न उठाया कि पश्चिमी समाजो मे प्रचलित विचार : **मनुष्य का कर्त्तव्य ईश्वर द्वारा प्रदत्त अपनी आजीविका कमाने मे है।**" का मूल क्या है? विभिन्न समाजो और सभ्यताओ मे इस समस्या का सम्बन्ध धर्म और समाज से है। वेबर ने ससार के छ: प्रमुख धर्मो के तुलनात्मक अन्वेषण एव व्याख्या के आधार पर यह स्पष्ट किया कि किस प्रकार से कुछ धार्मिक सिद्धान्तो के प्रभाव से आर्थिक जीवन की तर्कनापरकता मे वृद्धि होती है और किस प्रकार से कुछ धार्मिक सिद्धान्तो के द्वारा घटती है। मैक्स वेबर ने निम्न तीन प्रमुख समस्याओ को लेकर धर्म की समाजशास्त्रीय विवेचना का अध्ययन प्रारम्भ किया था—

(1) एक औसत अनुयायी की धर्म-निरपेक्ष नीति और आर्थिक व्यवहार पर प्रमुख धार्मिक विचारों का प्रभाव।

(2) समूह की रचना पर धार्मिक विचारों का प्रभाव।

(3) विभिन्न सभ्यताओं में धार्मिक नीतियों के कारणों और प्रभावों की तुलना के द्वारा पश्चिमी सभ्यता के तत्त्वों को ज्ञात करना।

वेबर ने उपर्युक्त समस्याओ से सम्बन्धित प्रभावो और कारणो का पता लगाने के लिए पश्चिमी पूँजीवाद के विकास का अध्ययन करके यह जानने का प्रयास किया कि पूँजीपति लोगो मे धार्मिक झुकाव का क्या प्रारूप है। वेबर ने तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर निष्कर्ष निकाला कि सभी समाजो मे बडे व्यापारियो मे एक नैतिक कल्पना होती है कि देवता व्यक्ति से अच्छे कार्य की अपेक्षा करते है और उसे उपयुक्त पुरस्कार भी देते हैं एवं दूसरी ओर बुरे कार्यों के लिए व्यक्ति को दण्ड दिया जाता है। वेबर का कहना है कि व्यक्ति अपनी उन्नति और दीर्घायु के लिए धार्मिक विश्वासो के अनुसार कार्य करता है। आपने धार्मिक कारको को परिवर्तनो का कारण माना है। आपके अनुसार आर्थिक और सामाजिक घटनाओ तथा परिणामो का कारण धर्म है। आपने मार्क्स के निष्कर्ष कि 'आर्थिकी धर्म का निर्णायक है' नहीं माना है। बल्कि इसके विपरीत धर्म को आर्थिकी का कारण माना है तथा विश्व के छ: महान धर्मों के अध्ययन के आधार पर इसे सिद्ध भी कर दिया। आपकी मान्यता है कि लोग धार्मिक आचारो के अनुसार इसलिए कार्य करते हैं कि उनको विश्वास है कि ऐसा करने से उनकी प्रगति एव उन्नति होगी तथा वे दीर्घायु होंगे।

मैक्स वेबर ने गहन अध्ययन करके प्रोटेस्टेण्ट धर्म के उन महत्त्वपूर्ण आचारों को खोज निकाला जिनके प्रभाव से आधुनिक पूँजीवाद की आत्मा का विकास हुआ है। आपने धर्म को कारण माना तथा सिद्ध किया कि धर्म किस प्रकार से सामाजिक और आर्थिक जीवन को प्रभावित करता है। वेबर ने धर्म के समाजशास्त्र से सम्बन्धित निम्नलिखित निष्कर्ष प्रस्तुत किए हैं—

(1) पारस्परिक निर्भरता (Interdependence—वेबर ने यह निष्कर्ष प्रस्तुत किया कि धार्मिक एवं आर्थिक घटनाएँ परस्पर एक-दूसरे से सम्बन्धित और एक-दूसरे पर आश्रित होती हैं। सामाजिक व्यवस्था मे इनमे से किसी एक को दूसरे का निर्णायक (कारण) मानना अनुचित एव अवैज्ञानिक है। सत्य तो ये है कि दोनो एक-दूसरे को प्रभावित करती हैं और प्रभावित होती हैं।

(2) बहुवाद (Pluralism)—वेबर बहुवादी थे। आपका कहना था कि सामाजिक वैज्ञानिक को सामाजिक घटनाओ के विश्लेषण मे एक-तरफा तथा एक-कारकीय दृष्टिकोण नहीं अपनाना चाहिए। मात्र धार्मिक या आर्थिक आधार पर किसी घटना की व्याख्या और विवेचना नहीं करनी चाहिए बल्कि अन्य कारको के प्रभाव का भी ध्यान रखना चाहिए।

(3) एक-कारक की सुविधा (One-factor facility)—अध्ययन की सुविधा के लिए किसी एक कारक को कारण तथा निर्णायक के रूप मे देखा जा सकता है। किसी एक कारक को एक परिवर्तनीय तत्त्व या कारण माना जा सकता है, जैसे—मार्क्स ने आर्थिकी को तथा वेबर ने धर्म को समाज मे सभी परिवर्तनो एव परिणामो का कारण सिद्ध किया। वेबर ने धार्मिक कारक को एक परिवर्तनीय तत्त्व या कारक मानकर आर्थिक तथा अन्य सामाजिक घटनाओ पर प्रभाव के विश्लेषण की विवेचना की।

(4) आदर्श प्रारूप (Ideal Type)—वेबर ने प्रमुख धर्मों के केवल आदर्श प्रारूपो की विवेचना की है। आपने सभी धर्मों के सभी तत्वों का उल्लेख नहीं किया है। आपने धर्म के अन्वेषण में आदर्श प्रारूप का प्रयोग किया है।

धर्म सम्बन्धी विचार
(Views Related to Religion)

वेबर ने 1904 और 1905 में व्यक्ति के आर्थिक व्यवहारो पर धार्मिक कारको के प्रभावो की व्याख्या सम्बन्धी लेख लिखे थे। इन्हीं लेखों के आधार पर आपने विस्तार से इस समस्या पर प्रकाश डाला कि किस प्रकार से प्रोटेस्टेण्ट धर्म की नीतियाँ पूँजीवाद के विकास को प्रभावित करती हैं। यह सम्पूर्ण सामग्री आपकी कृति **'दा प्रोटेस्टेण्ट एथिक एण्ड दा स्पिरिट ऑफ कैपीटलिज्म'** मे प्रकाशित हुई। इस पुस्तक में वेबर ने कहा कि प्रोटेस्टेण्ट नीति एक आवश्यक कारक था जिसके अभाव में आधुनिक पूँजीवाद का विकास नहीं हो सकता था। आपने इन दोनो—आधुनिक पूँजीवाद और प्रोटेस्टेण्ट नीति के 'आदर्श-प्रारूपो' के आधार पर उपर्युक्त गुण-सम्बन्ध के सत्यापन की जाँच की थी। वेबर के धर्म सम्बन्धी विचारो एवं धर्म के समाजशास्त्र की पूर्ण जानकारी के लिए इन दोनों अवधारणाओ का ज्ञान आवश्यक है जो निम्नलिखित पृष्ठो मे प्रस्तुत किया जा रहा है।

(1) पूँजीवाद का सार (Essence of Capitalism)—वेबर ने पूँजीवाद की विशेषताओं को अपने पारिवारिक जीवन मे देखा। आपने अपने चाचा कार्ल डेविड वेबर में व्यक्तिवाद तथा आर्थिक आचरणो से सम्बद्ध नैतिकता का एक विशिष्ट सम्मिश्रण पाया। उनके चाचा गाँव के घरेलू उद्योग पर आधारित उद्यम के संस्थापक थे तथा वे कठोर परिश्रमी, दिखावा न करने वाले, दयालु और तर्कनापरकता के गुणी व्यक्तित्व वाले थे। ऐसे गुण आधुनिक पूँजीवाद के उद्यमकर्त्ताओ मे मिलते हैं। चाचा के व्यक्तित्व से वेबर प्रभावित हुए तथा वेबर की धारणा बन गई कि पूँजीवाद मे एक विशेष प्रकार की नैतिकता का होना आवश्यक है। पूँजीवाद के सार को समझने एव विवेचना करने के लिए वेबर ने एक अन्य आर्थिक-क्रिया की अवधारणा दी जिसको इन्होने 'परम्परावाद' कहा। परम्परावाद पूँजीवाद की बिल्कुल विपरीत आर्थिक-क्रिया है। वेबर के अनुसार परम्परावाद वह स्थिति है जिसमें व्यक्ति अकस्मात् लाभ प्राप्त करना चाहता है, सिद्धान्तहीन तरीको से धन-संचय करना चाहता है। व्यक्ति कम काम और अधिक लाभ प्राप्त करना चाहता है। काम के समय आराम करना अधिक पसन्द करता है। उसमे कार्य की नवीन प्रविधियो से अनुकूलन करने की इच्छा एवं गुण का अभाव होता है। ये लोग कम आय से ही सन्तुष्ट रहते हैं। वेबर ने दक्षिण यूरोप, एशिया के विशेषाधिकार सम्पन्न समूहो, चीन के अधिकारियो, रोम के अभिजात वर्ग तथा एल्वी नदी के पूर्व के जमीदारो की आर्थिक क्रियाओ को पूँजीवाद नहीं माना है क्योंकि ये अकस्मात् लाभ कमाना चाहते हैं, इनकी आर्थिकी में तर्कनापरकता का अभाव विद्यमान था। आधुनिक पूँजीवाद मे परम्परावाद की उपर्युक्त विशेषताओ से विपरीत विशेषताएँ विद्यमान होती हैं।

वेबर ने आधुनिक पूँजीवाद के निम्न विशिष्ट लक्षण गिनाएँ हैं—

(1) आधुनिक पूँजीवाद मे व्यापार, वाणिज्य और उद्योग बडे पैमाने में तर्कनापरकता पूर्ण वैज्ञानिकता पर आधारित विधि से व्यवस्थित, संगठित एवं संचालित होता

है। उत्पादन अधिक लोगों द्वारा मशीनों से किया जाता है। (2) उत्पादित वस्तुओं की विक्रय-व्यवस्था सगठित होती है। (3) अधिकतम कार्यकुशलता पर जोर दिया जाता है जिसके लिए श्रम-विभाजन एवं विशेषीकरण का विशेष ध्यान रखा जाता है। (4) पूँजीवादी व्यवस्था का सर्वोच्च उद्देश्य अधिकतम लाभ कमाना होता है। इस व्यवस्था मे कार्य ही जीवन, कुशलता एव धन है। (5) इस व्यवस्था मे जोखिम अधिक होती है। व्यक्ति मे कर्त्तव्य परायणता, आत्मविश्वास तथा व्यवसाय के प्रति पूर्ण निष्ठा होना आवश्यक है। व्यवसाय मे कुशल व्यक्ति धन और सम्मान दोनो पाता है तथा अकुशल व्यक्ति धन और सम्मान दोनो ही नहीं पाता है। वेबर के पूँजीवाद का यही सार है।

पश्चिमी समाजों के अतिरिक्त अन्य समाजो मे भी ऐसे लोग हुए हैं जिन्होने अपने व्यापार के लिए कठोर परिश्रम किया, बचत को व्यापार के विस्तार करने मे लगाया, वेबर का कहना है कि उपर्युक्त वर्णित पूँजीवादी विशेषताएँ पश्चिमी समाजो मे अधिक मिलती हैं। पश्चिम के समाजों मे कठोर श्रम, तर्कनापरकता, तार्किक आधार पर वस्तुओ का उत्पादन, सगठित विनिमय केन्द्र आदि जीवनयापन के सामान्य तरीके बन गए हैं। यह सब कुछ समाज की संस्कृति के अभिन्न अग एव विशेषताएँ हैं। व्यापारिक आचार, सार्वजनिक श्रम व्यवस्था, पूँजी का निरन्तर विनियोजन, कठोर परिश्रम आदि पूँजीवाद का सार हैं, जो सामान्य आर्थिकी या परम्परावाद से बिल्कुल विपरीत एव भिन्न हैं।

(2) प्रोटेस्टेण्ट नीति (Protestant Ethics)—प्रश्न यह उठता है कि आधुनिक **पूँजीपति-आर्थिक-व्यवस्था को कौनसी** शक्ति या कारक सम्भव बनाती है? वेबर के अनुसार वह शक्ति या कारक प्रोटेस्टेण्ट धर्म की नीति या आचार है जो इस पूँजीपति व्यवस्था को नियत्रित निर्देशित, सचालित तथा सन्तुलित रखती है। आधुनिक पूँजीपति व्यवस्था को बनाए रखने के लिए जिन आचरणो, मूल्यो, नीतियो की आवश्यकता होती है उनसे सम्बन्धित अनेक प्रवचन, उपदेश, आचार आदि प्रोटेस्टेण्ट धर्म से प्रभावित धार्मिक और सामाजिक नेताओ से प्रचारित होते रहे हैं। ये निम्न प्रकार के हैं—

पेटी (Petty), **माण्टेस्क्यू** (Montesquieu), **बकल** (Buckle), **कीट्स** (Keats) आदि ने वेबर से पूर्व प्रोटेस्टेण्ट धर्म और व्यापारिक प्रवृत्ति के विकास के परस्पर सम्बन्धो पर अपने विचार व्यक्त किए थे। वेबर ने अपने शिष्य बाडेन (Baden) से शिक्षा के चयन और धार्मिक सम्बन्धो का सर्वेक्षण करवाया जिससे पता चला कि कैथोलिक छात्रो की तुलना में प्रोटेस्टेण्ट विद्यार्थी उन शिक्षण सस्थाओ मे अधिक जाते हैं जो औद्योगिक जीवन से सम्बन्धित होती हैं। अध्ययन मे यह पाया गया कि यूरोप मे कुछ अल्पसख्यक समूहो ने कठोर परिश्रम करके सामाजिक और राजनैतिक हानियो को पूरा कर लिया। परन्तु कैथोलिक धर्मावलम्बी ऐसा नहीं कर पाए। इन परिणामो के आधार पर वेबर ने यह परिणाम निकाला कि धार्मिक नीति (आचार) और आर्थिक गतिविधियो मे परस्पर सहसम्बन्ध होता है। वेबर ने सर्वेक्षण मे पाया कि जिन नगरो और प्रदेशो के लोगो ने प्रोटेस्टेण्ट धर्म अपनाया वहाँ आर्थिक लाभ को प्रोत्साहित किया जा रहा था। प्रोटेस्टेण्ट धर्म पोप के सर्वस्व अधिकार को भी स्वीकार नहीं करता है। यूरोप के विभिन्न देशो मे पूँजीवाद के विकास का प्रमुख कारण वहाँ पर प्रोटेस्टेण्ट धर्म के प्रमुख तत्त्वों सग्रह की प्रवृत्ति ईमानदारी नैतिकतावादी दृष्टिकोण धर्म के प्रति निष्ठा का होना था। इन देशो मे प्रोटेस्टेण्ट धर्म के अनेक आदेशों तथा नीतियों का प्रभाव भी पड़ा। जिनमे से कुछ प्रमुख निम्नलिखित हैं।

(1) सेण्ट पाल के प्रोटेस्टेण्ट धर्म की नीति से सम्बन्धित निम्न आदेश का व्यापक रूप से प्रभाव पडा, "जो व्यक्ति काम नहीं करेगा, वह रोटी नहीं खाएगा . तथा निर्धन की तरह धनवान भी ईश्वर के गौरव मे वृद्धि करने के लिए किसी-न-किसी पेशे मे अवश्य जुटे। "

(2) रिचार्ड बैक्स्टर (Richard Baxter) का कथन, "केवल कर्म के लिए ही ईश्वर हमारी और हमारी क्रियाओ की रक्षा करता है, परिश्रम ही शक्ति का नैतिक एवं प्राकृतिक उद्देश्य है . केवल परिश्रम से ही ईश्वर की सबसे अधिक सेवा एवं सम्मान हो सकता है।"

(3) सैण्ट जॉन बनियन का कथन, "यह नहीं कहा जाएगा कि तुम क्या विश्वास करते थे, केवल यह कहा जाएगा कि क्या तुम कुछ परिश्रम भी करते थे या केवल बातूनी थे। "

(4) बेंजामिन फ्रैंकलिन (Banjamin Franklin) आधुनिक पूँजीवाद के भौतिक सिद्धान्तो के प्रतिपादक माने जाते हैं। आपने आत्मकथा मे उन लोगो के लिए अनेक उपदेश दिए हैं जो धनी होना या व्यवसाय मे सफल होना चाहते हैं। ये उपदेश प्रोटेस्टेण्ट नीतियो या आचारो के अनुरूप हैं। इन उपदेशो मे से कुछ महत्त्वपूर्ण उपदेश यहाँ पर वर्णित किए जा रहे है—

1 समय ही धन है।
2 धन से धन कमाया जाता है।
3 एक पैसा बचाना एक पैसा कमाना है।
4 इमानदारी सबसे अच्छी नीति है।
5 कार्य ही पूजा है।
6 जल्दी सोना और जल्दी उठना व्यक्ति को स्वस्थ, धनी और बुद्धिमान बनाता है।

निष्कर्षत, यह कहा जा सकता है कि प्रोटस्टेण्ट नीति मे सक्रिय जीवन, परिश्रम, समय का सदुपयोग, व्यर्थ की बातचीत पर प्रतिबन्ध, कम सोना, ईश्वर के ध्यान के स्थान पर परिश्रम एव कार्य करना, ईमानदार एव उत्साही होना, पैसा बचाने पर जोर देना, मितव्ययी होना आदि है, जिन्होने आधुनिक पूँजीवाद को सम्भव बनाया है।

प्रोटेस्टेण्ट धर्म की नीतियाँ एवं पूँजीवाद
(Ethics of Protestant Religion and Capitalism)

वेबर के अनुसार प्रोटेस्टेण्ट धर्म की निम्नलिखित कुछ महत्त्वपूर्ण नीतियाँ है जिनके प्रभाव से यूरोप मे आधुनिक पूँजीवाद का विकास हुआ है—

(1) कार्य ही पूजा है (Work is Worship)—प्रोटेस्टेण्ट धर्म की नीति है "काम करना ही सबसे बडा गुण है।" कैथोलिक धर्म में परिश्रम करके जीविकोपार्जन करना पाप एवं दण्ड है। इस सम्बन्ध मे कैथोलिक धर्म मे आदम और ईव की गाथा प्रमाण है। ईश्वर ने आदम और ईव को स्वर्ग मे एक पेड के फल को खाने से मना कर रखा था। जिसको खाने से अच्छे-बुरे का ज्ञान प्राप्त हो जाता था। इन्होने ईश्वर के मना करने पर भी शैतान के बहकावे में आकर वह फल खा लिया। ईश्वर ने रुष्ट होकर उन्हे स्वर्ग से निकाल दिया तथा

पृथ्वी पर भेज दिया और श्राप दिया कि ईव और उसकी पुत्रियो को कष्ट से सन्ताने होगी और आदम और उसके पुत्र परिश्रम करके पसीना बहा कर रोटी-रोजी कमाएँगे। यह श्राप स्पष्ट करता है कि कैथोलिक धर्म मे श्रम करके रोटी कमाना बुरी बात है तथा एक दण्ड है वही प्रोटेस्टेण्ट धर्म मे परिश्रम एक उत्तम कार्य माना जाता है। "कर्म ही पूजा है" अथवा "परिश्रम से ही ईश्वर की प्राप्ति हो सकती है।" प्रोटेस्टेण्ट धर्म की इस नीति के प्रभाव के परिणामस्वरूप पूँजीवाद का विकास सम्भव हुआ है।

(2) कैलविनवाद या व्यावसायिक आचार (Calvinism or Vocational Ethics)—प्रोटेस्टेण्ट धर्म की नीति की दूसरी महत्त्वपूर्ण देन पूँजीवाद का 'व्यावसायिक आचार' है। पूँजीवाद के विकास के लिए परिश्रम, उत्साह और व्यावसायिक सफलता अनिवार्य लक्षण है। कैलविनवाद इन्हीं विशेषताओ का समाज मे प्रचार और प्रसार निम्न प्रकार से करता है। प्रोटेस्टेण्ट धर्म मे मान्यता है कि जो श्रम करेगा, व्यवसाय मे सफल होगा वही स्वर्ग मे जाएगा तथा जो आलसी होगा, श्रम से डरेगा, व्यवसाय मे असफल रहेगा वह नरक मे जाएगा। कैलविनवाद प्रत्येक व्यक्ति को यह नैतिक शिक्षा देकर उसे कठोर परिश्रमी बनाता है। गिरजाघर मे जाने से मुक्ति नहीं मिलेगी। मुक्ति मिलेगी कठोर परिश्रम तथा व्यावसायिक सफलता से और ईश्वर इसी सफलता से प्रसन्न होता है।

(3) ब्याज की आय को मान्यता (Approval of Interest-income)—प्रोटेस्टेण्ट धर्म की नीति है "धन से धन पैदा होता है।" इसलिए इस धर्म मे ब्याज पर पैसा देकर धन को द्विगुणित-त्रिगुणित करना अच्छा माना जाता है। इसके विपरीत कैथोलिक, इस्लाम, हिन्दू आदि धर्मों मे ब्याज लेना पाप माना जाता है। पूँजीवाद के विकास में इस ब्याज कमाने के आचार ने सहयोग किया है।

(4) शराबखोरी पर प्रतिबन्ध एवं ईमानदारी को प्रोत्साहन (Retrictions on Alcoholism and Encouragement to Honesty)—प्रोटेस्टेण्ट धर्म मे शराबखोरी तथा नशेबाजी को बुरा बताया गया है और ईमानदारी को उच्च सम्मान प्रदान किया गया है। इस आचार सहिता के परिणामस्वरूप लोगो मे नशाखोरी घटती गई तथा आलस्य भी कम होता चला गया। इससे कार्यकुशलता मे वृद्धि हुई। इनका प्रभाव पूँजीवादी अर्थव्यवस्था के विकास पर सकारात्मक पड़ा। व्यक्ति कारखानो मे शराब पीकर मशीन नहीं चला सकते। नशे मे दुर्घटना घटने की पूर्ण सम्भावना रहती है। उससे जानमाल की हानि होती है। इस पर रोक लगने से तथा ईमानदारी से काम करने से दुर्घटनाएँ घटनी कम हुई तथा उत्पादन बढ़ा जिसने पूँजीवाद के विकास को प्रोत्साहित किया।

(5) अवकाश पर रोक (Restrictions on Leave and Holidays)—प्रोटेस्टेण्ट धर्म मे अगर कोई व्यक्ति लम्बे समय तक अवकाश या छुट्टी पर जाता है तो उसे अनुचित माना जाता है। पूँजीवाद का तो नारा ही "कार्य ही पूजा है" का है उसमे न्यूनतम तथा विशेष परिस्थितियो मे ही अवकाश प्रदान किया जाता है। इस अधिक कार्य एव न्यून छुट्टी को विशेषता के कारण भी पूँजीवाद सफलतापूर्वक विकसित होता चला गया।

टानी (Tawney) ने 'इन्ट्रोडक्शन टू प्रोटेस्टेण्ट एथिक एण्ड दा स्पिरिट ऑफ कैपिटेलिज्म' मे लिखा है, "इस क्रान्तिकारी धार्मिक अवधारणा ने नैतिक मानदण्ड को बदलकर धन-लाभ की प्राकृतिक कमजोरी को आत्मा का आभूषण बना दिया तथा पूर्ववर्ती

युगो मे जिन आदतो को बुरा समझा जाता था, उनको आर्थिक गुणो से बदल दिया . पूँजीवाद को केल्विन के धर्मशास्त्र का सामाजिक प्रतिरूप मानना चाहिए।"

इस प्रकार प्रोटेस्टेण्ट धर्म को नीतियो—सदुपयोग, अधिक न सोना, व्यर्थ की बातचीत न करना, ईश्वर के ध्यान के स्थान पर कार्य करना, नशाखोरी नहीं करना, ईमानदार होना, मेहनत से कार्य करना, एवं न्यूनतम छुट्टी लेना आदि के परिणामस्वरूप पूँजीवाद सफलतापूर्वक विकसित हुआ है। परन्तु वेबर की यह मान्यता नहीं है कि पूँजीवाद के विकास का एकमात्र कारण प्रोटेस्टेण्ट धर्म की नीति (आचार) है। आपके अनुसार अन्य अनेक कारको का भी प्रभाव रहा होगा। मैक्स वेबर इस प्रकार एक-कारकवादी या एक-कारक निर्णायकवादी न होकर बहुकारकवादी माने जा सकते हैं।

वेबर ने अपने निष्कर्षो की प्रामाणिकता एव विश्वसनीयता को सिद्ध करने के लिए अनेक ऐतिहासिक प्रमाण प्रस्तुत किए हैं। आपने तथ्य प्रस्तुत करके स्पष्ट किया है कि आधुनिक पूँजीवादी अर्थव्यवस्था का सर्वोत्तम विकास अमरीका, हालैण्ड, इग्लैण्ड आदि उन देशों मे हुआ है जहाँ पर लोग प्रोटेस्टेण्ट धर्मावलम्बी हैं। उन देशो मे पूँजीवादी व्यवस्था विकसित नहीं हुई है जहाँ के लोग कैथोलिक धर्मावलम्बी हैं, जैसे—स्पेन, इटली आदि।

पूँजीवाद और प्रोटेस्टेण्ट नीति का सम्बन्ध (Relationship of Capitalism and Protestant Ethics)—वेबर ने प्रोटेस्टेण्ट नीति को कारण तथा पूँजीवाद को उसका परिणाम मानकर अध्ययन किया तथा निष्कर्ष में भी पाया कि प्रोटेस्टेण्ट नीति कारण, चालक और चर है तथा पूँजीवाद उसका प्रभाव, चरित्र तथा परिणाम है। आपने धर्मों के तुलनात्मक अध्ययनों मे 'पूँजीवाद के सार' एवं 'प्रोटेस्टेण्ट नीतियो' मे अनेक समानताएँ देखीं। वेबर ने ऐतिहासिक प्रमाणो, तथ्यो तथा घटनाओं के आधार पर यह स्थापना की है कि यूरोप के कई देशों मे पूँजीवाद की उत्पत्ति, विकास एव निरन्तरता मे प्रोटेस्टेण्ट धर्म की नीतियों की प्रमुख भूमिका रही है। प्रोटेस्टेण्ट धर्म की विभिन्न नीतियो के प्रचार-प्रसार एवं शिक्षा के द्वारा इस धर्म के अनुयायियो का विकास हुआ उससे वे कैथोलिक धर्मावलम्बियो की तुलना मे अधिक परिश्रमी, ईमानदार, कर्मठ, पैसा बचाने, ब्याज कमाने, कार्य ही पूजा है, समय ही धन है आदि गुणों से सम्पन्न हो गए तथा पूँजीवाद के विकास मे सहायक सिद्ध हुए। वेबर ने निष्कर्षत यही स्थापना की है कि पूँजीवाद के विकास के लिए प्रोटेस्टेण्ट धर्म प्रमुख कारण रहा है।

ससार के महान् धर्मो का तुलनात्मक अध्ययन : धर्म और पूँजीवाद (Comparative Study of World's Great Religion - Religions and Capitalism)

वेबर ने धर्म और आर्थिक संरचना (पूँजीवाद) के पारस्परिक सम्बन्धो को ज्ञात करने के लिए विश्व के महान् छ धर्मों का तुलनात्मक अध्ययन किया। ये छ: महान् धर्म--(1) कन्फ्यूशियस (2) बौद्ध, (3) हिन्दू, (4) ईसाई, (5) इस्लाम और (6) यहूदी थे। इन महान् धर्मों के तुलनात्मक अध्ययन के द्वारा आप धर्मों का पूँजीवाद की उत्पत्ति और विकास पर पडने वाले प्रभावों को जानना चाहते थे। आप ये ज्ञात करना चाहते थे कि धर्म का आर्थिक नीति के साथ कहाँ तक और क्या गुण-सम्बन्ध है।

संसार के धर्मों की आर्थिक नीति (Economic Ethics of the World Religions)—वेबर का उद्देश्य विश्व के महान् धर्मों का अध्ययन करके ये पता लगाना था कि इन विभिन्न धर्मों के नियम, आचार, प्रवचन, मूल्य, उद्देश्य, लौकिक और पारलौकिक जीवन की व्याख्या आदि कहाँ तक आधुनिक पूँजीवाद के विकास से सम्बन्धित है। आपने उन धर्मों को महान् धर्म माना है जिनके धर्मावलम्बियों की संख्या बहुत अधिक है, जैसे—हिन्दू, बौद्ध, ईसाई और इस्लाम धर्म। यहूदी धर्मावलम्बी संख्या मे कम हैं परन्तु वेबर ने इस धर्म का अध्ययन इसलिए किया क्योंकि इस धर्म मे अधिकाश लोग पूँजीपति एव व्यापारी हैं। वेबर के अध्ययन का उद्देश्य धर्मों की ईश्वरीय मीमासा का अध्ययन करना नहीं था बल्कि आपका उद्देश्य तो धर्मों की उन सामाजिक, मनोवैज्ञानिक, व्यावहारिक आदि विशेषताओ का पता लगाना था जो आर्थिको के विभिन्न पक्षो को प्रभावित, नियन्त्रित और निर्देशित करती हैं। धर्म की वे कौन-कौनसी विशेषताएँ है जो पूँजीवाद की आत्मा को प्रभावित करती हैं। धर्म का पूँजीवाद पर सकारात्मक और नकारात्मक प्रभाव कितना है? वेबर ने अपने अध्ययन के प्रारम्भ मे यह स्पष्ट कर दिया है कि यह आवश्यक नहीं है कि धर्म ही आर्थिक संगठन का निर्णायक हो।

धर्मों के तुलनात्मक अध्ययन के कारण (Reasons of Comparative Study of Religions)—रेमण्ड एराँ ने शंका व्यक्त की है कि वेबर ने जब संसार के विभिन्न धर्मों के तुलनात्मक अध्ययन करने का निश्चय किया तो इसके पीछे कोई-न-कोई प्रमुख कारण रहा होगा। एराँ ने इसके पीछे प्रमुख निम्न दो कारणो का अनुमान लगाया है—

(1) जब वेबर ने यह देखा कि काल्विनवाद (प्रोटेस्टेण्ट धर्म) मे ऐसी आचार संहिताएँ हैं जिसके प्रभाव से पश्चिमी समाजो मे पूँजीवाद का उदय हुआ तो क्या पश्चिमी समाजो के अतिरिक्त भी ऐसे धर्म हैं जिनकी आचार संहिताएँ भी पूँजीवाद को जन्म दे सके या पूँजीवाद की आत्मा को जाग्रत कर सके? एराँ का कहना है कि शायद इसी जिज्ञासा की शान्ति के लिए वेबर ने विश्व के महान् धर्मों का तुलनात्मक अध्ययन किया था।

(2) एराँ ने वेबर द्वारा धर्मो के तुलनात्मक अध्ययन का दूसरा कारण यहअन्वेषण करना बताया कि विभिन्न धर्मों मे आधारभूत धार्मिक प्रकार कौन-कौन से हैं तथा इन मौलिक धार्मिक प्रकारो के पीछे लोगो की आर्थिक अभिरुचियाँ क्या हैं?

इसी सन्दर्भ मे वेबर ने जिन महान् धर्मों को तुलनात्मक अध्ययन किए हैं वे प्रस्तुत हैं।

चीन का कन्फ्यूशियस धर्म
(Confucious Religion of China)

वेबर ने चीन के धर्म कन्फ्यूशियस और ताओवाद की सविस्तार विवेचना अपनी कृति 'चीन का धर्म' (The Religion of China) मे की है। इसमे इस पुस्तक के अन्तिम भाग में आपने कन्फ्यूशियस और प्रोटेस्टेण्ट धर्म की नीतियो का तुलनात्मक अध्ययन करके निष्कर्ष दिया है कि इनकी धार्मिक नीतियो मे भिन्नता के कारण ही चीन और पश्चिम के समाजों की आर्थिक मनोवृत्तियो मे भिन्नता है। वेबर ने इस पुस्तक मे चीन के नगरो, पैतृकवाद, अधिकारी वर्ग, चीनी धार्मिक संगठन, प्रारम्भिक इतिहास, राजवंशी सरकार और सामाजिक संरचना, पण्डित वर्ग एव कन्फ्यूशियस धर्म की रूढ़िवादिता, राजकीय उपासना और जनप्रिय धार्मिकता और कन्फ्यूशियसवाद और प्रोटेस्टेण्ट धर्म के शुद्धाचारवाद का वर्णन

किया है। यहाँ पर चीन की सामाजिक व्यवस्था के कुछ महत्त्वपूर्ण पहलुओं का वर्णन दिया जा रहा है—

(1) नगर (Cities)—वेबर ने लिखा है कि चीनी और पश्चिमी यूरोप के नगरों मे पूर्ण विपरीतताएँ नही थीं। पश्चिम की तरह से चीनी नगर भी अक्सर गढियो और राजकीय निवास स्थानो के रूप मे पैदा हुए थे। वे व्यापार और शिल्प के केन्द्र थे। इनके विभिन्न भाग व्यापारिक सगठनो के नियत्रण मे थे। परन्तु चीन के नगरो में पश्चिमी समाज जैसी सुपरिचित राजनैतिक स्वायत्तता किसी भी रूप मे कभी भी नहीं रही। ग्रामों की तुलना मे स्वायत्त शासन की गारण्टी भी बहुत कम थी। नगर का प्रत्येक निवासी अपने मूल निवास स्थान के परिवार से सब प्रकार से सम्बन्धित रहता था। पारिवारिक सम्बन्धो की रक्षा पूर्वजों की पूजा के अभ्यास से सम्बन्धित थी। नगर के रहने वाले विभिन्न व्यक्तियों में कोई एकता नहीं हो पाती थी। चीनी नगरों के निवासियो का नागरिको के रूप मे कोई एक अलग प्रस्थिति समूह नही था जिनके स्पष्ट विशेषाधिकार और कर्तव्य हो और उनके आधार पर सारे नगर पर उनका स्वायत्तपूर्ण अधिकार हो। चीन मे नागरिक स्वायत्तता के अभाव का एक और महत्त्वपूर्ण कारण साम्राज्यवादी प्रशासन का प्रारम्भ से ही केन्द्रीयकरण था। एक स्थान से भर्ती किए हुए सैनिको को अक्सर बहुत दूर भेज दिया जाता था जिससे प्रशासकीय सत्ता को उनसे कम-से-कम खतरा हो।

(2) पैतृकता (Patrimonialism)—चीन मे पितृवंशीय बहिर्विवाह व्यवस्था थी अर्थात् व्यक्ति अपने परिवार और ग्राम से बाहर ही विवाह कर सकता था। ये गोत्र-समूह पूर्ण रूप से अपनी भूमि से जुडे होते थे। पूर्वजो की पूजा का महत्त्व था। परिवार मे उच्च स्तर की सामूहिक सुदृढता थी। पिता का नियत्रण बहुत कठोर था। सन्तानो को परिवार के मुखिया के आदेशो का कठोरता से पालन करना होता था। जहाँ यूरोप और अमरीका के समाज मे महिलाओ को स्वतंत्रता प्राप्त थी वहीं चीनी समाज में इसका अभाव था। सभी दृष्टिकोणो से चीनी समाज मे व्यक्ति की तुलना मे परिवार एक प्रभावशाली एवं ताकतवर इकाई थी।

(3) स्तरीकरण (Stratification)—चीन मे यूरोप जैसी वर्ग व्यवस्था तथा भारत जैसी वर्ण या जाति व्यवस्था नहीं थी। चीन मे पद-सोपान जैसी व्यवस्था का अभाव था। सभी व्यक्तियो को व्यवसाय के चुनाव करने का समान अवसर प्राप्त था। कोई भी व्यक्ति किसी भी व्यवसाय को अपना सकता था। व्यवसाय के चयन मे परिवार और गोत्र का भी कोई प्रभाव, दबाव अथवा परम्परागत हस्तान्तरण नहीं था। चीन का व्यावसायिक चयन तथा व्यवस्था पश्चिम के पूँजीवादी समाजो जैसी थी।

(4) राज्य व्यवस्था (State System)—चीन मे राज्य व्यवस्था एक प्रकार से धर्म-तन्त्र ही थी जो ईसाई राजनैतिक सरचना से भिन्न थी। चीन में राज्य का सम्राट स्वर्ग पुत्र के रूप मे सम्मानजनक समझा जाता था। राजा की प्रतिष्ठा और सम्मान समाज और परमात्मा के बीच की थी। राजा के माध्यम से ही परमात्मा तक पहुँचा जा सकता था। ऐसे मे व्यवधान आने पर परमात्मा तक पहुँचने का मार्ग बन्द हो जाता था। चीन के लोगों में सम्राट धार्मिकता का केन्द्र था।

(5) धर्म और प्रशासन (Religion and Administration)—चीन मे सभी धार्मिक अधिकार एवं सत्ता सम्राट के हाथ मे थी। यहाँ पर न तो कोई पुरोहित था और न ही

पुरोहित व्यवस्था। सम्राट की देखरेख में अधिकारियों का विशेष वर्ग मंदारिन का था जो सम्पूर्ण प्रशासन का संचालन करते थे। सम्पूर्ण राजनैतिक तंत्र का संचालन भी ये ही लोग करते थे। लेकिन इस अधिकारी तंत्र (मदारिन) में यूरोप जैसे बुर्जुआ पूँजीवाद को विकसित करने की क्षमता नहीं थी। राजकीय अधिकारी (मंदारिन) की नियुक्ति उस क्षेत्र में नहीं की जाती थी जहाँ पर उसका कोई पारिवारिक सम्बन्धी रहता हो। अधिकारी को एक स्थान पर तीन वर्ष से अधिक नहीं रहने दिया जाता था। इन नियमो का पालन कड़ाई से किया जाता था। इस प्रकार से अधिकारी केन्द्रीय सत्ता को चुनौती देने की स्थिति में कभी नहीं रहे। चीन की राजनैतिक व्यवस्था मे सामन्तवाद कभी नहीं पनपा। स्थानीय परिस्थितियों के ज्ञान के अभाव में मंदारिन अधीनस्थ कर्मचारियो पर निर्भर रहता था। मंदारिन रोज के काम-काज, राजकीय क्रिया-कलापों के लिए अधीनस्थो पर निर्भर रहते थे। वेबर ने इस प्रशासन-तंत्र को अधिकारी-तन्त्र (पेट्रिमोनियल) दफ्तरशाही कहा है।

कन्फ्यूशियस और प्रोटेस्टेण्ट धर्म में अन्तर
(Difference Between Confucious and Protestant Religion)

राइनहार्ड बेण्डिक्स (Reihard Bendix) ने **"मैक्स वेबर : एक बौद्धिक व्यक्तित्व"** कृति मे कन्फ्यूशियस धर्म और प्रोटेस्टेण्ट धर्म के बीच पाए जाने वाले कुछ अन्तरों को संक्षिप्त मे निम्न रूप में प्रस्तुत किया है—

	कन्फ्यूशियस धर्म	प्रोटेस्टेण्ट धर्म
1	अवैयक्तिक ब्रह्माडीय व्यवस्था मे विश्वास एवं जादू के प्रति सहन-शीलता।	विश्वातीत ईश्वर मे विश्वास और जादू का त्याग।
2	पृथ्वी और स्वर्ग में शान्ति बनाए रखने के लिए ससार के साथ अनुकूलन, व्यवस्था का आदर्श।	ईश्वर की दृष्टि मे निरन्तर सदाचार की तलाश के लिए ससार पर अधिकार : प्रगति-शील परिवर्तन का आदर्श।
3	आत्म-परिपूर्णता और गौरव के लिए सतर्क आत्म-नियंत्रण।	मनुष्य की पापी प्रकृति को नियन्त्रित करने और ईश्वर की इच्छा को पूर्ण करने के लिए सतर्क आत्म-नियन्त्रण।
4	अनुल्लधनीय परम्परा से सम्बन्धित भविष्यवाणी की अनुपस्थिति, यदि मनुष्य उचित तरीके से कार्य करे तो वह अच्छा बन सकता है और प्रेतात्माओ के क्रोध को टाल सकता है।	भविष्यवाणी परम्परा का निर्माण करती है और वास्तविक ससार पापी प्रतीत होता है, मनुष्य अपने प्रयत्नो से अच्छा नही बन सकता।
5	पारिवारिक धर्म-निष्ठा सभी मानवीय सम्बन्धो के सचालन का सिद्धान्त है।	सभी मानवीय सम्बन्ध, ईश्वर की सेवा के अधीन हैं।

6	बन्धुत्व सम्बन्ध ही वाणिज्यिक लेन-देन, ऐच्छिक समितियाँ, कानून और लोक प्रशासन के आधार हैं।	वाणिज्यिक लेन-देन, ऐच्छिक समितियाँ, कानून और लोक प्रशासन के आधार-तर्कयुक्त नियम और समझौते हैं।
7.	विस्तृत परिवार से बाहर के सभी व्यक्तियों पर अविश्वास।	उन सभी व्यक्तियो पर विश्वास जो "धर्म-भ्राता" हैं।
8	धर्म एक प्रकार से प्रतिष्ठा और आत्म-पूर्णता का आधार है।	धर्म एक प्रकार से सदाचारी जीवन का अनचाहा उपोत्पाद और प्रलोभन है।

चीन में आधुनिक पूँजीवाद के अभाव के कारण
(Causes of Lack of Modern Capitalism in China)

वेबर ने चीन के धर्म, परिवार, नगर, स्तरीकरण, राज्य व्यवस्था, धर्म और प्रशासन की विस्तृत व्याख्या करने के बाद निष्कर्ष निकाला कि चीन के धर्म के लौकिक होने पर भी वहाँ आधुनिक पूँजीवाद क्यो नहीं पनपा। वेबर ने चीन के धर्म की विशेषताओं के सन्दर्भ मे उन कारणो, परिस्थितियो, मूल्यो, विश्वासो आदि का मूल्यॉकन पूँजीवाद के विकास से सम्बन्धित नीतियों के अभाव के सन्दर्भ मे किया है, जो निम्नलिखित हैं।

(1) चीन का कन्फ्यूशियस धर्म अपने धर्मावलम्बियो को ससार के वर्तमान रूप से अनुकूलन करने पर जोर देता था। यह धर्म अपने अनुयायियो को किन्हीं विशेष आदर्शों, जैसे— पूँजीवाद के अनुरूप अपने को परिवर्तित करने की आज्ञा नहीं देता था। यह धर्म रूढिवादी था।

(2) कन्फ्यूशियस धर्म मे जन कल्याण से सम्बन्धित आर्थिक और राजनैतिक शिक्षा मे अनेक बातो का वर्णन काफी बढा-चढा कर किया गया है लेकिन उनमे ऐसी कोई उचित आर्थिक और राजनैतिक मनोवृत्ति नहीं है जो जन कल्याण सम्बन्धी धार्मिक नीतियो मे परिवर्तन ला सके अर्थात् आधुनिक पूँजीवाद को स्थापित कर सके। चीन के धर्म की तुलना मे प्रोटेस्टेण्ट धर्म मे श्रम और कर्म की ऐसी नीतियाँ रहीं जिनसे पूँजीवाद का विकास सम्भव हुआ। चीनी धर्म ने पूँजी के संचय और तार्किक विचारो को कभी भी प्रोत्साहित नहीं किया।

(3) कन्फ्यूशियस धर्म ने चीन की परम्परागत राजनैतिक व्यवस्था को बनाए रखा। इस व्यवस्था मे सम्राट को स्वर्ग का पुत्र माना जाता था। उसको चुनौती देने की बात तो कोई सोच भी नहीं सकता था फिर पूँजीवाद कैसे आ सकता था।

(4) यह धर्म पैतृकवाद को विशेष बढावा देता था। यह धर्म पारिवारिक सम्बन्धो की परम्परागत शैली की निरन्तरता पर जोर देता था। इसके प्रभाव के कारण लोग परम्परा और परिपाटी से हमेशा बँधे रहे और उससे स्वतंत्र होने तथा आधुनिक पूँजीवादी मूल्यो को अपनाने के लिए कभी प्रयास नहीं किया।

(5) समाज के सदस्यो ने पूर्वजो द्वारा दी गई सामाजिक व्यवस्था को बिना किसी विरोध एवं प्रश्न के स्वीकार किया था। समाज मे किसी भी प्रकार के विरोध के लिए कोई स्थान नहीं था।

(6) कन्फ्यूशियस धर्म मे तर्कनापरकता थी परन्तु समाज के सदस्यो ने बिना किसी विवाद के सभी परम्पराओ को स्वीकार कर किया था। सोरोकिन ने लिखा है कि कन्फ्यूशियस धर्म के प्रति इस प्रकार की निष्ठा और कुछ न होकर पूर्ण रूप से रूढ़िवादिता थी। ऐसी परिस्थितियो मे पूँजीवाद का विकास कैसे सम्भव हो सकता है।

(7) कन्फ्यूशियस धर्म ने लोकप्रिय जादू की गहरी जडो को कभी भी प्रभावित नहीं किया। इसी प्रकार चीनी समाज मे मंदारिन का अधिकारी-तन्त्र से भी विशिष्टीकरण का पूर्ण अभाव था। ये कारक पूँजीवाद के विकास मे बाधक रहे थे।

(8) वेबर ने अन्त मे लिखा है कि चीन में पूँजीवाद के नहीं आने का प्रमुख कारण कन्फ्यूनियस धर्म रहा जिसने अपनी आचार संहिता को विवेकीकरण की दृष्टि से कभी भी नहीं देखा था। अगर विवेकीकरण की दृष्टि से आचार संहिता मे परिवर्तन होता तो पूँजीवाद का विकास चीन मे भी जाता। चीनी समाज का ज्ञान भी उनके शास्त्रीय ग्रन्थो (क्लासिकल ग्रन्थो) तक ही सीमित रहा। वो इन्हीं ग्रन्थो का अध्ययन करते थे और उसी के अनुरूप रूढिवादी जीवन व्यतीत करते रहे। ये कुछ कारण रहे जिनके कारण चीन मे आधुनिक पूँजीवाद का विकास नहीं हो पाया।

भारत का हिन्दू धर्म
(Hindu Religion of India)

वेबर ने विश्व के महान् धर्मों मे जिस दूसरे धर्म का अध्ययन किया है वह हिन्दू धर्म है। इस धर्म का अध्ययन आपकी मृत्यु के बाद 'भारत का धर्म' (The Religion of India) मे *प्रकाशित हुआ है। इस हिन्दू धर्म के अध्ययन मे आपने उन कारणो की विवेचना* की है जिनके कारण भारत में आधुनिक पूँजीवाद का विकास नहीं हो सका। वेबर ने भारतीय समाज, भारतीय सामाजिक व्यवस्था, धार्मिक व्यवस्था और इनके प्रभावो से सम्बन्धित विचार—(1) दा रिलिजन ऑफ इण्डिया : दा सोशियोलॉजी ऑफ हिन्दूइज्म एण्ड बुद्धिज्म, (2) ऐसेज इन सोशियोलॉजी, (3) इकोनोमी एण्ड सोसाइटी एवं (4) जनरल इकोनोमिक हिस्ट्री मे भी व्यक्त हैं।

वेबर ने दा 'रिलिजिन ऑफ इण्डिया' कृति मे हिन्दू धर्म की विवेचना चीन के धर्म के समान ही निम्न क्रम मे की है—भारतीय समाज की सामाजिक संरचना, हिन्दू धर्म के परम्परावादी सिद्धान्त और बौद्ध धर्म के सिद्धान्त, लोकप्रिय कट्टर धर्म के प्रभाव से होने वाले परिवर्तन और अन्त मे धार्मिक विश्वासो के भारतीय समाज की धर्म निरपेक्ष नीति पर पडे प्रभावो का विवेचन किया है। इन विभिन्न पक्षों पर विचार व्यक्त करने से पूर्व वेबर ने भारतीय समाज और धर्म से सम्बन्धित कुछ प्रश्न उठाए थे—पहिले उनका वर्णन करना उपयुक्त होगा।

भारतीय समाज और धर्म से सम्बन्धित प्रश्न (Question related to Indian Society and Religion)—वेबर भारतीय समाज और धर्म से सम्बन्धित निम्न प्रश्नो का परीक्षण एवं निरीक्षण करना चाहते थे—

(1) क्या हिन्दू धर्म और उसकी पारलौकिक तपश्चर्या की नीति आधुनिक पूँजीवाद के विकास में बाधक है?

(2) क्या जाति व्यवस्था, परम्परागत संयुक्त परिवार और धार्मिक सम्प्रदाय भारत मे वैज्ञानिक अभिवृत्तियो के विकास मे बाधक रहे हैं?

(3) क्या हिन्दू धर्म की परम्परागत धार्मिक नीतियों के कारण भारत में आधुनिक आर्थिक औद्योगीकरण की गतिविधियाँ गतिशील नहीं हो पाई हैं?

(4) वे कौन-से विशिष्ट विश्वास हैं जो आर्थिक विकास मे बाधक रहे हैं?

(5) वे कौन-से विशिष्ट विश्वास हैं जो भारतीय समाज मे तीव्र परिवर्तन के साथ सापजस्य रखते हैं। ऐसे विश्वासो पर जोर कैसे दिया जाए?

वेबर ने इन उपर्युक्त वर्णित प्रश्नों मे मुख्यतः सांस्कृतिक, आर्थिक एवं आधुनिकीकरण के विकास से सम्बन्धित प्रश्नो का चयन किया है। अब वेबर द्वारा किया हिन्दू सामाजिक व्यवस्था का अध्ययन प्रस्तुत है।

हिन्दू सामाजिक व्यवस्था
(Hindu Social System)

वेबर ने भारत मे हिन्दू सामाजिक व्यवस्था मे जाति की सामाजिक संरचना को उसी प्रकार से एक केन्द्रीय तत्त्व माना था जिस प्रकार से चीनी राजवंशीय समाज मे पैतृकवाद या कौटुम्बिक समूह और कर्मचारी-तन्त्र को केन्द्रीय तथ्य माना था। आपके अनुसार भारत मे धार्मिक विश्वास तथा सामाजिक स्तरीकरण परस्पर एक-दूसरे से प्रत्यक्ष रूप से सम्बन्धित हैं। वेबर जाति को प्रस्थिति समूह मानते हैं तथा आपने जाति व्यवस्था की विशेषताओ पर प्रकाश डाला है।

जाति व्यवस्था की विशेषताएँ
(Characteristics of the Caste System)

जाति व्यवस्था की विशेषताओ, लक्षणो पर भारत एव विश्व के अनेक विद्वानो ने विस्तार से प्रकाश डाला है तथा इसके लक्षणो मे आज अनेक परिवर्तन दृष्टिगोचर हो रहे हैं। परन्तु यहाँ पर केवल उन्हीं विशेषताओ का उल्लेख किया जा रहा है जो वेबर ने अपने अध्ययनो में दी हैं—

(1) अन्तर्विवाही समूह (Endogamous Group)—वेबर ने लिखा है कि एक ही जाति के सदस्य अपनी ही जाति मे विवाह करते हैं जिसे अन्तर्विवाही समूह कहते हैं हिन्दू धर्म मे जातियाँ अन्तर्विवाही होती हैं।

(2) वंशानुगत व्यवसाय (Hereditary Occupations)—जाति सामान्यतया वशानुगत व्यावसायिक समूह होते हैं। जाति के सदस्य अपनी ही जाति के वशानुगत व्यवसाय को करते हैं।

(3) जन्म से सदस्यता (Membership by Birth)—जो व्यक्ति जिस जाति मे जन्म लेता है जीवन पर्यन्त वह उसकी जाति का सदस्य रहता है। इस प्रकार से जाति की सदस्यता जन्म के द्वारा निश्चित होती है।

(4) सस्तरण (Hierarchy)—जाति व्यवस्था मे उच्चता और निम्नता के आधार (धार्मिक क्रियाएँ, व्यवसाय, पवित्रता आदि) पर क्रम-विन्यास होता है। इस व्यवस्था में ब्राह्मण शीर्ष स्थान पर होते हैं। मध्य मे क्षत्रिय और वैश्य होते हैं तथा सबसे नीचे दलित

जातियाँ होती हैं। कुछ जातियाँ आपस मे समानता का दावा भी करती है। वेबर ब्राह्मण जाति को पुरोहित जाति जैसी मानते हैं। जाति व्यवस्था मे सभी जातियो के कार्य निश्चित होते हैं।

(5) धार्मिक निर्योग्यताएँ (Religious Disabilities)—निम्न एवं दलित जाति के लोग मन्दिर मे प्रवेश नहीं कर सकते है। धार्मिक ग्रन्थो को नहीं पढ सकते हैं। ये अस्पृश्य माने जाते हैं। इनको छूने से द्विज ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य अपवित्र हो जाते है। इस प्रकार जातियों मे कुछ धार्मिक निर्योग्यताएँ होती है।

हिन्दू रूढ़िवादिता
(Hindu Orthodoxy)

वेबर ने हिन्दू धर्म के धार्मिक विश्वासो, धर्म परायणता या शास्त्र-सम्मत विशेषताओ का अध्ययन किया। आपने हिन्दू धर्म के दो प्रमुख सिद्धान्तो—(1) पुनर्जन्म और (2) कर्म—का वर्णन किया है। इन सिद्धान्तो के द्वारा आपने निम्न दो प्रश्नो का उत्तर दिया है—(1) क्या हिन्दू धर्म का मनुष्य भी दिन-प्रतिदिन की सासारिक गतिविधियो पर कोई प्रभाव है? और(2) यदि है तो इन विश्वासो की प्रणालियो ने आर्थिक व्यवहारो को क्या कोई नई दिशा प्रदान की?

पुनर्जन्म एवं कर्म का सिद्धान्त
(Theory of Rebirth and Karma)

वेबर ने लिखा है कि व्यक्ति को प्रत्येक जन्म मे पूर्व जन्म के पापो के अनुसार फल मिलता है। पहिले हिन्दू धर्म मे आत्मा को अमर नही माना जाता था। परलोक मे मनुष्यों और देवताओ का अस्तित्व अनन्त नहीं माना जाता था। बाद मे ब्राह्मणों की कल्पना ने दूसरी मृत्यु के विचार के विकसित किया जिसमे मरने वाली आत्मा दूसरा जन्म पाती है। मनुष्यो के अच्छे या बुरे कर्म के फल के विचार को पुनर्जन्म के विचार के साथ जोड दिया गया। मनुष्यो के कर्मों का प्रभाव अगले जन्म मे उसके भाग्य पर अनिवार्य रूप से पडता है तथा उसकी जाति सम्बन्धी सदस्यता इसी से निर्धारित होती है। वेबर की मान्यता है कि इन विचारो के द्वारा ब्राह्मणो ने व्यक्तियो के कृत्यात्मक और नैतिक पुण्यो और पापो का लेखा-जोखा (बहीखाता) बना दिया। उन्होने कहा कि हिन्दू धर्म मे यह रूढिवादिता विकसित हो गई कि अगले जन्म मे एक व्यक्ति का भाग्य उसी अनुपात मे होगा जिस अनुपात मे पिछले जन्म के पुण्यो और पापों का चिट्ठा है। जाति व्यवस्था इन विचारो से प्रत्यक्ष रूप से सम्बन्धित हैं। किसी व्यक्ति का निश्चित जाति मे जन्म लेना उसके पिछले जन्म के कर्मों के परिणामस्वरूप होता है और इस जन्म मे जाति-कृत्यो का श्रद्धापूर्वक पालन अगले जन्म मे उच्च योनि या जाति की प्राप्ति करने के लिए आवश्यक पुण्य है।

वेबर की मान्यता है कि प्रत्येक हिन्दू ऐसी जीवन पद्धति मे फँस गया जिसके लिए इन सिद्धान्तों का बहुत व्यावहारिक अर्थ था। व्यक्ति कर्मों के आधार पर अगले जन्म में एक देवता, एक ब्राह्मण या एक क्षत्रिय बन सकता है लेकिन इस जन्म में वह कुछ नहीं कर सकता है। व्यक्ति के लिए धर्म की उपेक्षा इस जन्म तथा अगले जन्म मे भी हानिकारक है। मनुष्य का कर्म आत्मा के भाग्य का निर्णायक है।

हिन्दू धर्म का आर्थिक जीवन पर प्रभाव
(Impact of Hindu Religion on Economic Life)

वेबर के अनुसार भारत के हिन्दू धर्म की नीति प्रोटेस्टेण्ट धर्म जैसी नहीं थी। धनोपार्जन के लिए जैसी बौद्धिकता की आवश्यकता होती है उसका हिन्दू धर्म में अभाव पाया गया। वेबर के अनुसार हिन्दू धर्मानुसार यह ससार एव जीवन एक अस्थाई पड़ाव था जिसका व्यक्ति के आर्थिक जीवन एव व्यवहार पर कोई दबाव नहीं पड़ा। इसी कारण भारत मे प्रोटेस्टेण्ट धर्म की तरह पूँजीवादी आर्थिकी का विकास नहीं हुआ। वेबर ने अन्त मे निष्कर्ष दिया कि भारत की सामाजिक व्यवस्था और धार्मिक नीति मे वे लक्षण विद्यमान नहीं थे जो धर्म-निरपेक्ष व्यवहारो तथा पूँजीवादी विचारधारा को शक्तिशाली बनाते।

वेबर के निष्कर्ष (Conclusions of Weber)—वेबर ने हिन्दू धर्म के तुलनात्मक अध्ययन सम्बन्धी निम्न परिणाम दिए हैं—

(1) जाति व्यवस्था से सम्बन्धित कर्मकाण्ड वृहद् उद्यमो के विकास में बाधक रहे।

(2) भारत की सामाजिक व्यवस्था और विशेष रूप से इसकी परम्पराएँ बहुत अधिक रूढ़िवादी थीं जो भारत मे आर्थिक विकास मे बाधाएँ बनी रहीं।

(3) पुनर्जन्म और कर्म के सिद्धान्त के कारण आर्थिक विकास नहीं हो पाया। ये सिद्धान्त आर्थिक विकास मे बाधक रहे जिसमे पूँजीवाद का विकास नहीं हो सका। व्यक्ति वर्तमान जीवन एव जन्म को अस्थाई निवास मानकर धर्म के नाम पर व्यवहार करता था तथा मोक्ष के लिए कर्म करता था।

(4) पुनर्जन्म, मोक्ष, कर्म आदि मे धार्मिक विश्वास के कारण लोग लौकिक जीवन की तुलना मे पारलौकिक जीवन के लक्ष्य को ध्यान मे रखकर जीवन व्यतीत करते थे। पुनर्जन्म और कर्म की नीति या आचार सहिता ने वर्तमान जीवन के विकास मे बाधा खड़ी करदी।

(5) शिक्षित, पढे-लिखे, राजा-महाराजा, पुरोहित, ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि का विश्वास था कि जादू और धार्मिक अनुष्ठान देश की सुरक्षा करेगे। इस प्रकार के सोच ने आर्थिक विकास को अवरुद्ध एव हतोत्साहित किया।

वेबर के अनुसार इन्हीं धार्मिक नीतियो ने भारत में सभी प्रकार के उद्यमों के होते हुए भी आधुनिक पूँजीवाद को कभी भी विकसित नहीं होने दिया।

प्राचीन यहूदी धर्म

यह पुस्तक मैक्स वेबर की मृत्यु के बाद प्रकाशित हुई। इस पुस्तक मे आपने उन परिस्थितियो का वर्णन किया है जो पश्चिमी समाजों मे धार्मिक तार्किकता के विकास में सहायक रहो हैं। यहूदी धर्म ने प्रोटेस्टेण्ट धर्म मे संसार के स्वरूप में परिवर्तन लाने वाली नैतिकता का विकास किया। यहूदी पैगम्बर ससार को शाश्वत नहीं मानते थे। वे इसे उत्पन्न किया हुआ मानते थे। वो ससार को एक ऐतिहासिक घटना मानते थे। यहूदी धर्मावलम्बियों का विश्वास है कि ईश्वर के द्वारा भविष्य मे निश्चित सामाजिक और राजनैतिक क्रान्ति होगी जिसके अनुसार व्यक्तियो की मनोवृत्तियाँ होनी चाहिए।

इन्ही विश्वासो ने यहूदियो मे व्यवहार की उच्च तर्कनापरक धार्मिक-सहिता विकसित की। यहवा (यहूदियों के उपास्य) ने नम्रता एवं आज्ञा पालन को व्यक्ति का विशिष्ट गुण बताया है। इन्होंने यह भी व्याख्या की है कि पुण्य करने की जरूरत एव अच्छे तथा बुरे भाग्य की आशाएँ निकट भविष्य से ही सम्बन्धित होती हैं। इस प्रकार मे यहूदी धर्म एक ऐसे धर्म को महत्त्व देता है जो व्यक्ति के दिन-प्रतिदिन के जीवन को ईश्वर द्वारा निर्देशित नैतिक नियमो से सम्बन्धित कर देता है। यहूदी धर्म रहस्यमयी कल्पनाओ और परम्परागत लक्षणो से स्वतंत्र रहा है। जहाँ ईसाई धर्म सभी सांसारिक वस्तुओं का त्याग करने की बात करता है वहाँ यहूदी धर्म ने प्रोटेस्टेण्ट धर्म मे एक ऐसी नैतिकता को विकसित किया है जो आर्थिक व्यवस्था तथा ससार के स्वरूप में परिवर्तन करना चाहती थी। साराशत: यहूदी धर्म के विश्वास, नीति, आचार सहिता, मूल्य, पैगम्बर के उपदेश आदि ने तर्कनापरकता के विकास मे योगदान देकर पूँजीवाद के विकास को प्रोत्साहित किया है।

धर्मों के तुलनात्मक अध्ययनों का निष्कर्ष
(Conclusion of Comparative Studies of Religions)

वेबर के धर्मों के तुलनात्मक अध्ययनो का उद्देश्य धार्मिक नीतियो का आधुनिक पूँजीवाद के विकास के योगदान को ज्ञात करना था। आपने धार्मिक आचार सहिताओ, पैगम्बरो के उपदेश, विभिन्न धार्मिक सिद्धान्तो, उद्देश्यो आदि के प्रभावों को पूँजीवाद के विकास मे देखने का प्रयास किया। आपने सामाजिक स्तरीकरण पर धर्म के प्रभावो का भी विश्लेषण करके स्पष्ट किया कि सस्तरण का निर्णायक धार्मिक नीतियाँ हैं। पारसन्स ने लिखा है कि धर्म के समाजशास्त्र की व्याख्या मे वेबर का महत्त्वपूर्ण योगदान एक व्यवस्थित पद्धतिशास्त्रीय अन्तर्दृष्टि है जिसके द्वारा आपने विभिन्न कारको को एक-दूसरे से अलग करके उनके कारण और प्रभावो को एक-दूसरे की तुलना मे स्पष्ट किया। वेबर ने मार्क्स से भिन्न आर्थिकी का निर्णायक धर्म को स्थापित किया। वेबर का विश्व के धर्मों का तुलनात्मक अध्ययन धर्म के समाजशास्त्र मे विशिष्ट महत्त्व रखता है।

आलोचना
(Criticism)

टानी ने वेबर के सिद्धान्त की निम्न आलोचनाएँ की हैं—

(1) वेबर ने आर्थिक सभ्यता के विकास मे मात्र धार्मिक आन्दोलनो के योगदान तक स्वय को सीमित रखा है। परन्तु यह एक कठिन प्रश्न है कि पूँजीवादी आर्थिक आविष्कार पर कितना काल्विन का प्रभाव रहा और कितना अन्य शक्तियो का। तर्क के आधार पर यह भी कहा जा सकता है कि काल्विनवाद द्वारा पूँजीवादी आत्मा को उत्पन्न किए जाने के काल्विनवाद और पूँजीवाद दोनो ही आर्थिक सगठन और सामाजिक सरचनाओ मे परिवर्तन के भिन्न-भिन्न प्रभाव हैं।

(2) ब्रैन्टानो ने लिखा है पुनर्जागरण काल का राजनैतिक विचार परम्परात्मक अवरोधो को हटाने में उतना ही प्रभावी साधन था जितनी काल्विन की शिक्षा रही।

(3) क्या यह तर्क उतना ही सत्य और एक-पक्षीय नहीं होगा कि धार्मिक आन्दोलन स्वय आर्थिक आन्दोलन का परिणाम है?

(4) वेबर के लेख से कभी-कभी यह झलकता है कि उन्होने वैचारिक एव नैतिक प्रभावो को उन घटनाओ की उत्पत्ति मे सहायक माना है जो शक्तियो के परिणाम रहे हैं।

(5) वेबर विश्व के धर्मों के तुलनात्मक अध्ययन मे अनेक स्थलो पर पूर्वाग्रह से ग्रसित दृष्टिगोचर होते हैं। आप भारतीय समाज का विवेचन यूरोपीय समाज की यथार्थ की दृष्टि से करते हैं और इसी प्रकार भारतीय और चीनी समाज में यूरोप की सभ्यता के विवेकीकरण और अधिकारी तन्त्र की खोज करते हैं। आपकी रुचि केवल यूरोप की सभ्यता और धर्म में थी और भारत तथा चीन के धर्मों मे आपने यूरोप मे स्थापित सिद्धान्तों की जाँच करना चाहा था। इससे पूर्वाग्रह आ गए जिससे आपका अध्ययन पूर्ण वैज्ञानिक नहीं कहा जा सकता है।

(6) वेबर द्वारा दिए गए निष्कर्ष कि भारतीय हिन्दू धर्म की नीति आधुनिक पूँजीवाद के अनुकूल नहीं थी-को भारतीय समाजशास्त्रियो द्वारा त्रुटिपूर्ण, अवैज्ञानिक तथा गलत बताया गया है। ऐसा 1960 मे भारतीय समाजशास्त्रियो के सम्मेलन मे सर्वसम्मति से कहा गया था तथा निष्कर्ष दिया गया था कि हिन्दू धर्म के परम्परागत सांस्कृतिक मूल्य भारत के आर्थिक विकास मे कभी भी बाधक नहीं रहे।

(7) वेबर ने हिन्दू धर्म को उसकी सम्पूर्णता मे कभी भी नहीं देखा। माइरन की मान्यता है कि हिन्दू धर्म ने लौकिक और पारलौकिक दोनो क्रियाओं एव व्यवहारो को समान रूप से महत्त्व दिया था। इस हिन्दू धर्म मे कई सम्प्रदाय हैं जिनका वेबर ने पूर्ण अध्ययन नहीं किया। आपने तो केवल कुछ सम्प्रदायो के आधार पर सामान्यीकरण स्थापित किए जो उनकी कभी थी। आपने वैष्णव धर्म जो कि पूँजीवाद के विकास मे सर्वदा अग्रणी रहा है—का कहीं भी वर्णन नहीं किया है। मनु ने वैश्य जाति को आर्थिक समृद्धि के लिए सब कुछ करने के अधिकार की बात लिखी है। इन्होने यह भी लिखा है कि पूँजीवाद के विकास के लिए व्यापारियो को राजा को सलाह भी देनी चाहिए।

(8) सुरेन्द्र मुंशी वेबर की आलोचना करते हुए लिखते हैं कि गुजरात और पश्चिमी बगाल मे वैष्णव अनुयायियो ने व्यवसाय का विकास किया। सूती कपड़ा मिलें लगाईं। उद्योगो का विकास किया। यह सब पूँजीवादी विकास भारतीय समाज में धर्म की आन्तरिक प्रक्रियाओ तथा नीतियो के द्वारा हुआ था जिसका वेबर ने अध्ययन नहीं किया।

(9) हेलेन लेम्ब तथा सुरेन्द्र मुंशी ने आर्यों के युग के बडे-बडे शहरो तथा व्यापारियों का वर्णन किया है। जैन और बौद्ध काल में बडे-बड़े धनी व्यापारी थे उनके पास अपार धन था। वेबर ने मात्र गीता के कर्म की व्याख्या की परन्तु अन्य कारणो, धर्मों तथा नीतियो का अध्ययन एव वर्णन नहीं किया जो उनके सिद्धान्त की बड़ी कमी रही है।

(10) हेलेन लेम्ब लिखते है कि भारत ने शून्य का आविष्कार किया। व्यापार, कर, ब्याज, ऋण आदि की गणना के सम्बन्ध मे भारत मे पर्याप्त साहित्य प्राचीन कृतियो मे मिलता है, गणना के अनेक सूत्र मिलते हैं। इसके उपरान्त भी यह निष्कर्ष देना कि भारत मे पूँजीवाद के विकास की परिस्थितियाँ नहीं थीं, गलत है।

(11) वेबर के कथन कि हिन्दू धर्म मे गुप्तोपासना और जादू का बहुत अधिक महत्व है को रोजेल (Rosel) ने स्वीकार नही किया है। वेबर ने अपने कथन के समर्थन में न तो प्रमाण ही दिए हैं और न ही यह स्पष्ट किया कि हिन्दू अनुयायी मोक्ष प्राप्ति या कर्मकाण्ड में जादू को काम मे लेते थे। चद्रीनाथ ने लिखा है कि वेबर ने कभी भी हिन्दू धर्म का गहन अध्ययन नहीं किया।

(12) **श्यामाचरण चरण दुबे** ने लिखा है कि हिन्दू धर्म को एकीकृत रूप मे रखना कठिन है तथा सांस्कृतिक अर्थों में हिन्दी धर्म कभी भी आर्थिक विकास के प्रतिकूल नहीं रहा। अन्य सामाजिक वैज्ञानिको ने भी दुबे के निष्कर्ष का समर्थन किया है। इस प्रकार वेबर का निष्कर्ष तर्कहीन, प्रमाणरहित एव अवैज्ञानिक है।

(13) **मिल्टन सिंगर** ने अपने अध्ययन के आधार पर लिखा है कि मद्रास शहर मे कभी भी जाति, सयुक्त परिवार, धार्मिक सम्प्रदाय, परमपरागत व्यवसाय आदि उद्यमशीलता मे बाधक नहीं रहे हैं। इस आधार पर वेबर का निष्कर्ष गलत है।

(14) **योगेन्द्र सिंह** के अनुसार वेबर का निष्कर्ष केवल एक आदर्श प्रारूप हो सकता है। आनुभविक स्तर पर उसे अवलोकित करना कठिन है। योगेन्द्र सिह के अनुसार धार्मिक आचार संहिता आधुनिक आर्थिक विकास के प्रतिकूल नहीं रही। इस आचार सहिता ने आधुनिक तकनीकी का विरोध कभी नहीं किया। भारत के लोगो ने विशेष रूप से हिन्दू अनुयायियो ने योगेन्द्र सिंह के अनुसार, तर्कनापरकतापूर्ण पद्धतियों का स्वय स्वागत किया है। निष्कर्षतः भारतीय समाजशास्त्रियो की मान्यता है कि वेबर का भारतीय समाज और धर्म का अध्ययन गहन नहीं था।

अभ्यास प्रश्न

निबन्धात्मक प्रश्न

1 धर्म एव पूँजीवाद के पारस्परिक सम्बन्धो पर वेबर के विचारो की विवेचना कीजिए।
2 धर्म पर वेबर के विचारो पर निबन्ध लिखिए।
3 वेबर के धर्म सम्बन्धी विचारो का आलोचनात्मक मूल्यॉकन कीजिए।

लघुउत्तरात्मक प्रश्न

निम्नलिखित पर सक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिए :—

1 वेबर के धर्म पर विचार।
2. प्रोटेस्टेण्ट धर्म के किन्हीं तीन आचारो का वर्णन कीजिए।
3 वेबर के हिन्दू धर्म से सम्बन्धित विचारो को बताइए।
4 वेबर के 'चीन का धर्म' सम्बन्धी विचार बताइए।
5 'प्राचीन यहूदी धर्म' से सम्बन्धित वेबर के क्या विचार हैं?

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1 निम्नांकित मे रिक्त स्थानो की पूर्ति कोष्ठक मे दिए गए विकल्पो मे से सही विकल्प का चयन करके कीजिए—

(i) यूरोप मे आधुनिक पूँजीवाद के लिए वेबर ______ धर्म को उत्तरदायी मानते हैं। (प्रोटेस्टेण्ट/कैथोलिक)

(ii) वेबर ने विश्व के ______ महान् धर्मों का अध्ययन किया। (चार/पाँच/छः)

(iii) वेबर ने धर्म सम्बन्धी विचारो की विवेचना में ______ को विशेष महत्त्व दिया है। (प्रोटेस्टेण्ट नीति/आर्थिकी)

(iv) वेबर के अनुसार सामाजिक घटनाओ के विश्लेषण मे ______ दृष्टिकोण अपनाना चाहिए। (एक-तरफा/बहु-तरफा)

[उत्तर- (i) प्रोटेस्टेण्ट, (ii) छः, (iii) प्रोटेस्टेण्ट नीति, (iv) बहु-तरफा]



अध्याय-9

कार्ल मार्क्स : जीवन चित्रण एवं प्रमुख रचनाएँ
(Karl Marx : Life Sketch and Major Works)
1818-1883

मार्क्स सामाजिक-विचारक और राजनैतिक-दार्शनिक होने के साथ-साथ क्रान्तिकारी विचारधारा वाले भी थे। आधुनिक समाजवादी और वैज्ञानिक साम्यवादी विचारधाराओ के जनक के रूप मे मार्क्स सदैव स्मरणीय रहे है। आपने समाजवादी साहित्य की रचना के साथ-साथ विश्व को ऐसी क्रान्तिकारी विचारधारा प्रदान की, जिसने विश्व के इतिहास की दिशा को ही परिवर्तित कर दिया। यूँ तो मार्क्स के पूर्व अनेक विद्वानों, जैसे—प्लेटो, सेण्ट साइमन, लुई ब्लॉक, फोरियर रॉवर्ट आवेन, विलियम थाम्पसन, नायल बावेफ आदि ने समाजवादी विचार व्यक्त करते हुए समाज के लिए नवीन व्यवस्था-योजना प्रस्तुत की थी किन्तु इनके विचार प्रमुखतः राजनैतिक अथवा धार्मिकता पर आधारित थे। ये विद्वान आर्थिक विषमता के स्थान पर समाज मे धन के न्यायोचित वितरण तथा विभिन्न वर्गों मे सहयोगी सम्बन्धो पर अधिक बल देते थे तथा पूँजीवादी व्यवस्था में उपस्थित धन की विषमता के साथ-साथ स्वतन्त्र प्रतियोगिता और आर्थिक क्षेत्र मे राज्य की हस्तक्षेप नीति की आलोचना भी करते थे फिर भी ये विद्वान यह न बता सके कि इस विषमता का कारण क्या है और उत्पादन की विधियो के साथ इसका क्या सम्बन्ध है। इन्होने समाज की प्रगति और विकास को भी समझने का प्रयास नहीं किया। इन्होने न तो बदलते घटनाचक्र पर अपने विचार प्रस्तुत किए और न ही उपस्थित स्थिति को सुधारने के लिए कोई व्यावहारिक अथवा क्रियात्मक आधार प्रस्तुत किया। इसीलिए इन समाजवादियो को "स्वप्नलोकीय समाजवादी" कहा जाता है।

सर्वप्रथम मार्क्स ने ही समाजवाद को एक नवीन और मौलिक स्वरूप प्रदान किया। उन्होने ही समाज की पूँजीवादी व्यवस्था के दोषो को सबके सम्मुख स्पष्ट किया और इस व्यवस्था का अन्त कर वर्ग-विहीन समाज की स्थापना करने की प्रक्रिया का उल्लेख किया। इस प्रकार उन्होने एक ऐसा सुदृढ वैज्ञानिक आधार प्रस्तुत किया, जिसे सम्पूर्ण विश्व ने बखूबी स्वीकारा। सम्पूर्ण विश्व के श्रमिक और क्रान्तिकारी मार्क्स के विचारो से प्रभावित हुए क्योकि उन्होने न केवल समाज की विद्यमान व्यवस्था की व्याख्या की, वरन् सम्पूर्ण विश्व व समाजो की राजनैतिक, सामाजिक और आर्थिक स्थिति मे बदलाव लाने का व्यावहारिक विकल्प भी सुझाया। इसी कारण उन्हें अन्तर्राष्ट्रीय सर्वहारा के महान् नेता एवं शिक्षक के रूप मे माना जाता है। ई. स्तेपानोवा ने तो मार्क्सवाद को "मानवता के पथ-प्रदर्शक ध्रुव तारे की भाँति कम्यूनिज्म का रास्ता दिखाने वाला" कहा है।

इस प्रकार मार्क्स को आधुनिक समाजवाद एवं वैज्ञानिक साम्यवाद का प्रणेता माना जाता है। इनके विषय में विस्तार से जानने के पूर्व इनके जीवन परिचय को जानना आवश्यक है।

कार्ल मार्क्स का जीवन चित्रण
(Life Sketch of Karl Marx)

कार्ल मार्क्स का जन्म रायन प्रान्त के ट्रियर नगर में एक यहूदी परिवार मे हुआ था। इनके पिता एक प्रसिद्ध वकील थे और उन्होने ईसाई धर्म ग्रहण कर लिया था जब मार्क्स छः वर्ष के थे। बाल्यपन से ही मार्क्स प्रखर बुद्धि के और प्रतिभासम्पन्न थे। मार्क्स की शिक्षा 1830 से 1835 तक ट्रियर के एक स्थानीय और अच्छे विद्यालय "ट्रियर जिमनेजियम" मे हुई थी। अपने स्कूल की अन्तिम परीक्षा के लिए उन्होने एक लेख लिखा जिसका शीर्षक था "पेशा चुनने के सम्बन्ध में एक तरुण के विचार"। इस निबन्ध से उन्हे महान् ख्याति मिली। स्कूल की अन्तिम परीक्षा पास करने के पश्चात् वे 17 वर्ष की अवस्था मे विधि की शिक्षा ग्रहण करने के लिए 'बॉन विश्वविद्यालय' गए किन्तु एक वर्ष पश्चात् विधि की शिक्षा को छोडकर मार्क्स इतिहास और दर्शन का अध्ययन करने के लिए 'बर्लिन विश्वविद्यालय' गए, दर्शन और इतिहास मे उनकी विशेष रुचि थी। इस विश्वविद्यालय मे उस समय प्रसिद्ध दार्शनिक हीगल के विचारो का बडा प्रभाव था—मार्क्स भी हीगल के विचारो से अत्यधिक प्रभावित हुए और उन्होने 'यंग हीगेलियन' नामक संस्था की सदस्यता को ग्रहण कर लिया। मार्क्स ने द्वन्द्वात्मक दर्शन को हीगल से ही ग्रहण किया है।

सन् 1841 मे "जेना विश्वविद्यालय" से मार्क्स को "डेमोक्रिट्स और एपिक्यूरस के प्राकृतिक दर्शन में भेद" विषय पर डॉक्टरेट की उपाधि प्रदान की गई। 1842 मे मार्क्स बॉन विश्वविद्यालय मे प्रोफेसर बनने की इच्छा से गए किन्तु सरकार की प्रतिक्रियावादी नीति के कारण फ्यूरबेक और ब्रूनोववेर को विश्वविद्यालय से हटा दिए जाने पर मार्क्स ने वहाँ अध्यापन करने के विचार को ही त्याग दिया और 'राइनिश जाइटुग' (Rheinische Zeitung) नामक पत्रिका के सम्पादक बन गए। यह पत्रिका कोलोन मे राइन प्रान्त के उग्रवादी पूँजीपतियो द्वारा प्रारम्भ की गई थी जिनका वामपंथी हीगेलवादियो से सम्पर्क था। मार्क्स के सम्पादन-समय मे पत्रिका का रुख क्रान्तिकारी होता जा रहा था, इस कारण सरकार द्वारा उस पर सेन्सरी बिठानी प्रारम्भ कर दी गई। मार्क्स ने यह अनुभव किया कि "प्रशिया" की स्थानीय सरकार और अधिकारी जनता के हितो की रक्षा करने मे असमर्थ हो रहे है अत: उन्होने सन् 1843 में इस पत्रिका के सम्पादक पद से स्तीफा दे दिया और जर्मनी छोडकर वे पेरिस चले गए।

मार्क्स की विचारधाराओ पर तत्कालीन अनेक महत्त्वपूर्ण घटनाओ का प्रभाव पडा था। पूँजीवाद का विकास हो रहा था, इस कारण यूरोप के अनेक देशो में सामन्तो और भूदासो के बीच सम्बन्ध असह्य हो गए थे। बडे पैमाने पर पूँजीवादी उद्योग विकसित हो रहा था, किसानो और दस्तकारो की स्थिति भी खराब हो गई थी और एक ऐसा वर्ग जन्म ले रहा था जो उत्पादन के साधनों से वंचित था और जिसे सर्वहारा वर्ग (Proletariat) कहा जा सकता है। एक ओर सामन्तवाद का अवशेष और दूसरी ओर अपरिपक्व पूँजीवाद जर्मनी की जनता को पीडित कर रहा था। मार्क्स पर इन सबका स्पष्ट प्रभाव पड़ा था।

सन् 1843 से पूर्व ही जब मार्क्स बॉन विश्वविद्यालय मे अध्ययन कर रहे थे उनका परिचय '**जेनी वॉन वेस्टफालेन**' नामक लड़की से हुआ—जेनी बचपन से ही उनकी मित्र थी और विद्यार्थी काल में ही मार्क्स के साथ उसकी मँगनी हो चुकी थी—बाद मे उनका सन् 1843 मे उससे विवाह हो गया। जेनी का जन्म प्रशा के एक कुलीन परिवार में हुआ था—जेनी बडे उदार व्यक्तित्व वाली महिला थी। वह अपने घर पर तथा कार्य स्थल पर मेहनत करने वालो का बडी शिष्टता के साथ स्वागत करती थी, उच्च कुलीन परिवार में उत्पन्न होते हुए भी जेनी मे समानता की भावना अत्यधिक थी। अनेक देशो के मजदूर उनके सम्पर्क मे आए जिनका उन्होने बड़ी शिष्टता के साथ स्वागत किया—मार्क्स का साथ देने के लिए उन्होने अपना सर्वस्व त्याग दिया था और कभी इसका पश्चाताप भी नहीं किया। मार्क्स अपनी पत्नी को अपना सहयोगी, मित्र और प्रेमिका मानते थे। जेनी मार्क्स की रचनाओ में अपना पूरा-पूरा सहयोग देती थीं उनकी पाँडुलिपियाँ देखती थीं और अपनी सम्मति व्यक्त करती थीं तथा प्रेस के लिए पाँडुलिपियों की नकलें तैयार करती थीं, उनकी बुद्धि और आलोचनाशक्ति बडी प्रखर थी, मार्क्स उनकी योग्यता का बडा सम्मान करते थे।

मार्क्स की कई सन्तानें हुईं। उनकी दो पुत्रियाँ और एक पुत्र 1848 की तत्कालीन क्रान्ति के बाद की कठिनाइयो के परिणामस्वरूप छोटी उम्र मे ही काल का ग्रास बन गए। तीन पुत्रियाँ—जेनी, एल्योनोरो और लौरा जीवित रहीं। मार्क्स अपनी पुत्रियो को अत्यधिक स्नेह करते थे उनकी पुत्रियाँ भी बडी आज्ञाकारिणी थीं। मार्क्स अपनी पुत्रियो के साथ खेला करते थे कभी-कभी भ्रमण के लिए जाते थे और कभी भी कोई अप्रिय व्यवहार नहीं करते थे। उनकी पुत्रियाँ उनकी मित्रवत् थीं। मार्क्स की पत्नी भी उनकी सच्ची मित्र थीं जो जीवन पर्यन्त उनकी सहधर्मिणी भी बनी रहीं।

1844 मे मार्क्स पेरिस आए और आदर्श साम्यवादी '**केबेट**', दार्शनिक अराजकतावादी '**प्राधों**' और '**फ्रेडरिक एंजिल्स**' से उनका परिचय हुआ। एंजिल्स के साथ उनकी मित्रता अनोखी और ऐतिहासिक थी। उन दोनो के विचार एक-दूसरे से पूर्णतः मिलते थे इसलिए दोनो के मध्य रचनात्मक सहयोग प्रारम्भ हो गया। लेनिन ने इस विषय मे लिखा है कि "प्राचीन काल की कथाओ में हमें मित्रता के बहुत से हृदय-द्रावक उदाहरण मिलते हैं, लेकिन यूरोप का सर्वहारा-वर्ग यह दावा कर सकता है कि उसके विज्ञान की रचना ऐसे अध्येताओ और योद्धाओ ने की जिनकी परस्पर मैत्री के सम्बन्ध प्राचीन समय की मानवीय मित्रता की सबसे हृदय द्रावक कहानियो को भी फीका बना देते हे।

मार्क्स और एंजिल्स दोनो ने मिलकर साम्यवादी साहित्य की रचना की तथा राजनैतिक कार्यों मे भी दोनो एक-दूसरे के सहयोगी रहे। शोध कार्यों मे भी वे परस्पर सहायक के रूप मे कार्य करते थे—सन् 1845 मे ब्रुसेल्स मे रहकर दोनो ने एक सयुक्त रचना "दा होली फैमिली" प्रकाशित की जिसमे सर्वहारा-वर्ग से सम्बन्धित विचारो पर सम्पूर्ण प्रकाश डाला गया था। इस कृति मे क्रान्तिकारी भौतिकवाद और सर्वहारा-वर्ग की सैद्धान्तिक विचारधारा के तत्व विद्यमान थे। एंजिल्स मार्क्स के पारिवारिक मित्र थे। मार्क्स की पुत्रियाँ उन्हे आदरपूर्वक दूसरे पिता के नाम से सम्बोधित करती थीं। जब भी मार्क्स पर गरीबी के बादल मँडराये तब ऐसे समय में एंजिल्स ने ही उनकी यथासम्भव आर्थिक सहायता की। यह कहा जा सकता है कि यदि मार्क्स को एंजिल्स जैसा सहायक न मिला होता तो वे आजीविका की समस्याओ का ही सामना करते रहते और विश्व को समाजवादी साहित्य देने में सक्षम नहीं हो सकते थे।

इस प्रकार मार्क्स और एंजिल्स दोनो के विचारो मे घनिष्ठतम एकता थी इसीलिए उन्होने क्रान्तिकारी आन्दोलन मे अपना योगदान दिया—दोनों मिलकर ही कार्य करते थे। पेरिस मे मार्क्स का सम्पर्क प्रौधा और बाकुनिन जैसे अराजकतावादियो से हुआ। 1844 मे ही साइलेसिया के बुनकरो के विद्रोह का मार्क्स ने उत्साहपूर्वक स्वागत किया इससे प्रशिया की सरकार ने फ्रांस की सरकार पर दबाव डालकर मार्क्स को फ्रांस से देश निकाला दिलवाया और वे ब्रुसेल्स में रहने लगे। मार्क्स और एंजिल्स ने "जर्मन विचारधारा" नामक कृति की रचना की, जिसमे हीगल के भाववादी और नए-हीगलवादियों की विस्तार से आलोचना की। साम्यवाद के दो आधार स्तम्भ है—(1) द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद और (2) ऐतिहासिक भौतिकवाद, जिनके निर्माण मे "जर्मन विचारधारा" ने सर्वाधिक महत्त्व का कार्य किया।

सन् 1847 मे मार्क्स और एंजिल्स ने लन्दन मे "साम्यवादी लीग" की स्थापना की और तब उन्हे "साम्यवादी घोषणा-पत्र" तैयार करने का कार्य सौंपा गया। यह "साम्यवादी घोषणा-पत्र" फरवरी 1848 मे मार्क्स ने लिखकर लन्दन से प्रकाशित किया। यह पुस्तक साम्यवादियो का एक महत्त्वपूर्ण दस्तावेज है और मार्क्स की अमर रचना है। इसमे इस तथ्य को स्पष्ट किया गया है कि सर्वहारा-वर्ग की क्रान्ति के परिणामस्वरूप पूँजीवाद की समाप्ति होती है, और उसके स्थान पर एक नए वर्ग-विहीन समाज की स्थापना होती है। इस प्रकार साम्यवादी घोषणा-पत्र से ही वैज्ञानिक समाजवाद के युग का उदय हुआ है।

सन् 1848 मे फ्रास मे पूँजीवादी क्रान्ति हुई और यूरोप के अन्य देश भी उससे प्रभावित हुए। बेल्जियम सरकार इससे आशंकित हो उठी और उसने मार्क्स को वहाँ से निष्कासित कर दिया। तब मार्क्स पुनः फ्रास मे जाकर रहने लगे और वहाँ की मजदूर सस्थाओं से सम्पर्क स्थापित कर लिया। जून 1849 मे पुनः उन्हे देश निकाला दिया गया और वे लन्दन जाकर रहने लगे।

इस प्रकार सन् 1848 मे 1850 के मध्य फ्रास मे उन्होने "वर्ग संघर्ष" (Class Struggle) पुस्तक की रचना की, जिसमे सर्वहारा-वर्ग के विषय मे विस्तार से लिखा गया है। सन् 1851 से 1862 तक उनका अधिकाश समय "न्यूयार्क डेली ट्रिब्यून" नामक पत्र मे बीता। 1864 मे उन्होने लन्दन मे "अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक वर्ग समुदाय" का गठन किया जो विश्व का प्रथम अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय के नाम से प्रसिद्ध हुआ। लन्दन मे उन्होने एक पत्रिका "न्यू राइनिश जाइट्ज पोलिटिशे—इकोनोमिशे रिव्यू" का प्रकाशन किया, जिसके छ अक सन् 1850 मे हैम्बर्ग से प्रकाशित हुए। मार्क्स की आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं थी। एंजिल्स ने उनकी आर्थिक सहायता की। कुछ आर्थिक सहायता मार्क्स को पत्रिका के लेखो से मिली। लन्दन मे उनके परिवार को भयकर गरीबी का सामना करना पडा। 1867 मे मार्क्स के जग विख्यात ग्रन्थ "दास कैपिटल" के प्रथम खण्ड का प्रकाशन हुआ—इस ग्रन्थ ने मार्क्स को पूरे ससार का विद्वान घोषित कर दिया किन्तु दुर्भाग्य से इसके दूसरे व तीसरे खण्ड मार्क्स के जीवन-काल मे प्रकाशित न हो सके। बाद मे एंजिल्स ने उन्हे 1885 और 1894 मे प्रकाशित करवाया। "दास कैपिटल" मे वैज्ञानिक समाजवाद की व्याख्या की गई है। इसमे सर्वहारा-वर्ग के समाजवाद, उसके ऐतिहासिक कर्त्तव्य के सिद्धान्त व उसके अधिनायकवाद और समाजवादी क्रान्ति आदि की दार्शनिक एव अर्थशास्त्रीय ढँग से विवेचना की गई है। इस रूप मे यह मार्क्स की अद्वितीय रचना कही जा सकती है। मार्क्स आजीवन निर्धनता से ग्रसित

रहे। निर्धनता और मानसिक परिश्रम ने उन्हे और दुर्बल कर दिया था। प्रियजनो के आग्रह पर जल चिकित्सा के लिए वे 1874, 1875 और 1876 मे कार्ल्सवर्दी गए किन्तु आस्ट्रिया की सरकारो को दण्डित करने की धमकी के कारण उन्हे वहाँ जाना त्यागना पड़ा।

2 दिसम्बर सन् 1881 को उनकी पत्नी का देहावसान हो गया इससे उनको गहरा सदमा लगा, उनका स्वास्थ्य भी और अधिक खराब होता गया। इलाज के लिए वे अल्जीरिया गए किन्तु विशेष लाभ न हुआ। इसी बीच सबसे बडी पुत्री जेनी के निधन का समाचार मिला। इससे उनके स्वास्थ्य मे और गिरावट आई, उन्हे निमोनिया हो गया और उनकी स्थिति लगातार गिरती गई। अन्त मे 14 मार्च, 1883 के शाम पौने तीन बजे वे चिर निद्रा मे विलीन हो गए। एंजिल्स ने उनकी मृत्यु पर दुःख व्यक्त करते हुए लिखा कि "साइबेरिया की खानो से केलिफोर्निया के तट पर विस्तीर्ण प्रदेश मे श्रमिको का श्रद्धास्पद प्रिय नेता मृत्यु को प्राप्त हो गया।" मार्क्स के निधन से मजदूर आन्दोलन को बड़ा धक्का लगा क्योंकि वे एक मेधावी, चरित्रवान, प्रकाण्ड पण्डित ही नहीं अपितु सुसस्कृत इन्सान भी थे।

मार्क्स जनता के नेता थे। वे काल्पनिक स्वप्नद्रष्टा नहीं थे अपितु व्यावहारिक थे। उनके भाषण बड़े तर्कपूर्ण, अकाट्य और सक्षिप्त होते थे जिनमें एक भी शब्द अनर्गल नहीं होता था। मार्क्स बहुत बडे क्रान्तिकारी थे और पूँजीवादी समाज से सर्वहारा वर्ग को आजादी दिलाना उनका उद्देश्य था। जीवन की परेशानियो से जूझते हुए भी वे दूसरो की सहायता के लिए सदेव प्रयत्नशील रहते। वे एक वज्ञानिक भी थे, इन्हीं समस्त विशेषताओ के कारण ही एंजिल्स ने उनकी मृत्यु के समय उनकी समाधि के समीप हृदय को दहलाने वाला भाषण देते हुए कहा था, "जीवन मे उसका उद्देश्य प्रत्येक सम्भव तरीके से पूँजीवादी समाज के अन्त का प्रयत्न करना था सघर्ष उनके जीवन का मुख्य तत्त्व था और उसने ऐसे उत्साह, साहस और सफलता से सघर्ष किया जिसकी बराबरी नहीं की जा सकती। परिणामत: वह अपने समय का सबसे अधिक घृणा और श्रद्धा का पात्र, व्यक्ति था। उसका नाम युगो-युगो तक अमर रहेगा और उसी तरह उसकी कीर्ति भी अमर रहेगी।"

मार्क्स की रचनाएँ
(Works of Marx)

कार्ल मार्क्स ने अनेक ग्रन्थो की रचना की है। उनकी प्रमुख कृतियाँ निम्नलिखित है—

(1) जर्मन आइडियोलोजी (1845-46)
(2) एन इन्ट्रोडक्शन टु दा क्रिटिसिम्म टु दा हीगल्स फिलोसोफी ऑफ राइट।
(3) दा होली फैमिली (1844)
(4) दा पॉवर्टी ऑफ फिलोसोफी (1847)
(5) दा कम्युनिस्ट मैनिफेस्टो (1848)
(6) प्री कैपिटलिस्ट इकोनोमिक फार्मेशन (1857-58)
(7) क्रिटिक ऑफ पोलिटिकल इकोनोमी (1859)
(8) दा फर्स्ट इण्डियन वार ऑफ इण्डिपेण्डेन्स् (1857-58)
(9) इनॉगरल एड्रेस (1864)

(10) वेल्यू प्राइस एण्ड प्रोफिट (1865)

(11) दास कैपिटल (1867)

(12) दा सिविल वार इन फ्रांस (1870-71)

(13) ग्रोथा प्रोग्राम, रिवोल्यूशन एण्ड काउण्टर रिवोल्यूशन

मार्क्स की उपर्युक्त रचनाओ मे से कुछ प्रसिद्ध रचनाओ की सक्षिप्त जानकारी निम्न प्रकार से दी जा रही है—

(1) जर्मन आइडियोलोजी (German Ideology) (1845 46)—'जर्मन विचारधारा' नामक रचना इतिहास के भौतिकवादी सिद्धान्तो से युक्त समाज विज्ञान को बडी स्पष्टता से तथा क्रमबद्धता से प्रस्तुत करती है। इसमे हीगल की विचारधारा एवं दर्शन की कटु एवं विस्तार से आलोचना की गई है। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद (Dialectical Materialism) और ऐतिहासिक भौतिकवाद (Historical Materialism) —ये दो साम्यवाद के आधार स्तम्भ कहलाते हैं जिनके निर्माण मे 'जर्मन विचारधारा' नामक रचना ने सराहनीय कार्य किया था। वास्तव मे यह कृति मार्क्स ने अपने मित्र एंजिल्स के सहयोग से लिखी थी।

(2) एन इन्ट्रोडक्शन टु दा क्रिटिसिज्म टु दा हीगल्स फिलोसोफी ऑफ राइट (An Introduction to the Criticism to the Hegel s Philosophy of Right)—इस पुस्तक में हीगल की अधिकार सम्बन्धी धारणा की पर्याप्त आलोचना की गई है।

(3) दा होली फैमिली (The Holy Family) (1844)—मार्क्स और एंजिल्स की सयुक्त रचना 'पवित्र परिवार' मे सर्वहारा वर्ग के विश्वव्यापी ऐतिहासिक उद्देश्यो मे समन्वित विचारो को अभिव्यक्त किया गया है। इस पुस्तक मे यह कहा गया है कि निजी सम्पत्ति सभी आर्थिक और राजनैतिक बुराइयो की आधारशिला है—इसमे नवीन क्रान्तिकारी भौतिकवादी दर्शन और सर्वहारा वर्ग की सैद्धान्तिक विचारधारा—दोनो के तत्त्व विद्यमान हैं।

(4) दा पॉवर्टी ऑफ फिलोसोफी (The Poverty of Philosophy) (1847)—इस पुस्तक मे पहली बार द्वन्द्वात्मक और ऐतिहासिक भौतिकवाद का सूत्रपात किया गया तथा समस्त पूँजीवादी अर्थव्यवस्था की मुख्य प्रारम्भिक दुर्बलताओ और कमियो पर प्रकाश डाला गया है। **'दर्शन की दरिद्रता'** नामक इस कृति मे मार्क्स ने पूँजीवादी अर्थशास्त्रियों और उनके समर्थक प्रोधो (Proudhou) के विचारो का खण्डन करके कहा कि समाज की अर्थव्यवस्था की अनेक मान्यताएँ सामाजिक सम्बन्धो की ही अभिव्यक्ति है। ये मान्यताएँ ऐतिहासिक रूप से परिवर्तनशील है और इसीलिए इन्हे उत्पन्न करने वाली *परिस्थितियो के समाप्त हो जाने पर वे मान्यताएँ भी समाप्त हो जायेंगी। मार्क्स ने प्रोधो को* तर्कहीन बताते हुए यह स्पष्ट करने का प्रयास किया कि जब तक पूँजीवादी समाज व्यवस्था रहेगी, तब तक समाज मे शोषण, गरीबी और कष्टो का विद्यमान रहना आवश्यक है। इसे तभी दूर किया जा सकता है जब पूँजीवादी उत्पादन-प्रणाली की ही समाप्ति हो जाए।

(5) कम्यूनिष्ट मैनिफेस्टो (Communist Manifesto) (1848)—सन् 1947 में मार्क्स को लन्दन की कांग्रेस ने कम्यूनिस्ट लीग ने साम्यवादी घोषणा-पत्र तैयार करने का निर्देश दिया। यह मार्क्स की अमूल्य रचना है। इसे वैज्ञानिक साम्यवाद का कार्यक्रम सम्बन्धी

दस्तावेज कहा जा सकता है। इस कृति में सर्वप्रथम सर्वहारा-वर्ग के क्रान्तिकारी सिद्धान्तो को सरल एवं सक्षेप मे व्याख्या की गई है। इसमें बताया गया है कि सर्वहारा-वर्ग को क्रान्ति से ही वर्गहीन समाज का उदय होगा और पूँजीवाद की समाप्ति होगी। फ्रांसीसी भाषा में लिखित इस घोषणा-पत्र का अनुवाद अनेक भाषाओ, यथा—हिन्दी, अंग्रेजी, जर्मन आदि में हुआ है।

(6) दास कैपिटल *(Das Capital) (1867)*—मार्क्स द्वारा रचित '**दास कैपिटल**' पुस्तक उनकी विश्वविख्यात कृति मानी जाती है। इस रचना का प्रथम खण्ड ही उनके जीवन काल मे प्रकाशित हो सका था, इसका दूसरा और तीसरा खण्ड उनकी मृत्यु के उपरात उनके मित्र एंजिल्स द्वारा सन् 1885 और 1894 में प्रकाशित कराया गया था। यह पुस्तक समाजवादी साहित्य का प्रामाणिक ग्रन्थ है तथा समाजवादी सिद्धान्तों की आधारशिला है। इस कृति मे सर्वहारा-वर्ग के ऐतिहासिक कर्त्तव्य के सिद्धान्त, समाजवादी क्रान्ति और सर्वहारा-वर्ग के अधिनायकत्व को बडे अर्थशास्त्रीय ढँग से स्पष्ट किया गया है। इसी कारण यह पुस्तक सभी देशो के समाजवादियो के लिए महत्त्वपूर्ण एवं पठनीय कृति बन गई है। समाजवादी व मजदूर वर्ग के सभी अखबारो में 'दास कैपिटल' के उद्धरण छपने लगे हैं। अनेक भाषाओं मे यह कृति अनूदित हो गई है। जब यूरोप और अमेरिका में मार्क्स के सिद्धान्तो का खण्डन किया गया तब मार्क्सवादियों ने अपने अकाट्य तर्कों से उन्हें वहीं शान्त कर दिया। लेनिन का कहना है कि, "यह ग्रन्थ ही वह मुख्य और बुनियादी रचना है **जिसमें वैज्ञानिक समाजवाद की व्याख्या की गई है।**"

ई. स्तेपानोवा के मत मे "मार्क्स की यह महान् रचना पूँजीवादी गुलामी के विरुद्ध सर्वहारा के वर्ग-सघर्ष मे उसका एक शक्तिशाली सैद्धान्तिक अस्त्र है।" इन्हीं गुणों के कारण इसे '**समाजवादियों का बाइबिल**' माना जाने लगा है। मार्क्स ने 'दास कैपिटल' पर 40 वर्षों तक कार्य किया किन्तु उसकी तुलना मे उन्हे पारिश्रमिक बहुत कम मिला है।

(7) क्लास कॉनफ्लिक्ट इन फ्रांस (Class Conflict in France)—इस कृति में 'सर्वहारा अधिनायकत्व' (Dictatorship of the Proletariat) के सूत्र का प्रयोग किया गया है। इस कृति मे यह सिद्ध करने का प्रयास किया गया है कि वैज्ञानिक समाजवाद अनेक प्रकार के पूँजीवादी, निम्न पूँजीवादी और कल्याणवादी समाजवाद से पूर्णरूप से पृथक् है, उसे तो 'क्रान्ति के स्थायित्व की घोषणा' कहा जा सकता है, यह सभी वर्ग-विभेदों को दूर करने और उन विभेदो के आधार पर स्थित सभी प्रकार के उत्पादन सम्बन्धों को तोड़ने और नष्ट करने और इनसे उत्पन्न विचारो मे क्रान्ति लाने के लिए सर्वहारा के अधिनायकत्व की घोषणा है।

इन उपर्युक्त प्रमुख कृतियो के अतिरिक्त और भी इनकी अनेक कृतियाँ हैं, जो विश्व में सर्वमान्य हैं।

विभिन्न विचारकों का मार्क्स पर प्रभाव
(Impact of Various Thinkers on Marx)

प्रत्येक विद्वान् अपने समय की सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक और सभी अन्य प्रकार की परिस्थितियों से प्रेरित होता है और उसकी रचनाओं में भी तत्कालीन परिस्थितियो का प्रतिबिम्ब स्पष्ट झलकता है। मार्क्स का युग भौतिक और तकनीकी उपलब्धियों का युग

था। यूरोप मे धर्म का प्रभाव घट रहा था और विज्ञान का प्रभाव बढ़ रहा था—उद्योगों का विस्तार हो रहा था—मशीनो का प्रादुर्भाव हो गया था, मजदूर और मालिकों के दो वर्ग बन गए थे। पूँजीवादी उत्पादन प्रणाली के कारण मजदूरों पर संकट आ गया था इससे मजदूर-आन्दोलन होने लगे थे। मजदूरो को अपने हितो की रक्षा के लिए उनके एकजुट होकर संगठन बनाने की आवश्यकता का अनुभव किया जाने लगा था—ऐसे संकट के समय अनेक व्यावहारिक समाजवादी दृष्टिगोचर हुए जिनमें मार्क्स और एंजिल्स प्रमुख थे—इनसे पूर्व के विचारकों ने पूँजीवाद की बुराइयों को बताया और उनको दूर करने के उपाय सुझाए, किन्तु मार्क्स और एंजिल्स ने चूँकि पूँजीवादी व्यवस्था के संकटो को करीब से देखा और अनुभव किया था अतः उन्होने पूँजीवादी व्यवस्था मे सुधार की अपेक्षा समाजवादी उत्पादन प्रणाली की स्थापना करने पर जोर दिया।

मार्क्स ने क्रान्तिकारियों को सत्ताधारियो के द्वारा दी जाने वाली प्रताड़णाओं और यंत्रणाओ को देखा था कि समाजवादी विचारों के कारण उन्हे किस प्रकार स्थान-स्थान से निष्कासित किया गया था—वैज्ञानिक साम्यवाद इन्हीं परिस्थितियों की देन है जिनका प्रभाव तत्कालीन समस्त परिस्थितियो पर पड़ा था। इसके अतिरिक्त मार्क्स पर निम्नलिखित विचारो का भी प्रभाव पड़ा था।

(1) हीगल के दर्शन का प्रभाव (Impact of Hegalian Philosophy)—मार्क्स मौलिक रूप से हीगल के विचारो से प्रभावित थे। हीगल पूर्णरूप से बुद्धिमान थे और वे इतिहास मे विकास के सैद्धान्तिक अध्ययन से सम्बन्धित थे। वास्तव में मार्क्स हीगल के दर्शन के प्रति ऋणी हैं जिससे उन्होने तर्क की द्वन्द्वात्मक व्यवस्था सीखी जो एक स्वाभाविक प्रक्रिया के रूप मे थी। मार्क्स को हीगल का सीधा उत्तराधिकारी माना जा सकता है किन्तु हीगल के अन-आनुभाविक प्रभाव के अतिरिक्त मार्क्स ने अपने स्वयं के व्यावहारिक विचारो को विकसित किया जो ठोस तत्वो पर आधारित थे। मार्क्स फ्रांस से जर्मनी गए, वहाँ से इंग्लैण्ड गए। इससे अनेक देशो के समाजो के अध्ययन करने का उन्हें अवसर मिला। अपने आनुभाविक कार्यों के प्रभाव के कारण उन्होने हीगल की ऐतिहासिक प्रक्रिया के बौद्धिक उपागम के प्रभाव को संशोधित किया जिसमे उन्होने सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक परिस्थितियो को भी सम्मिलित किया।

मार्क्स का दर्शन उस समय हीगल की दार्शनिक व्यवस्था से अलग लगता है, जब उनका आनुभाविक उपागम तार्किक जगत से बाहर आता है। फिर भी मार्क्स आंशिक रूप से द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया की गत्यात्मक विशेषता को बनाए रखते हैं। हीगल और मार्क्स दोनों ही मानव के विकास को एक प्रक्रिया के रूप मे अपने विश्लेषण मे अभिव्यक्त करते हैं। हीगल के अनुसार प्रत्येक अवस्था पूर्व की अवस्था से अधिक विकसित होती है। इस प्रकार वे विभिन्न अवस्थाओं को एक-दूसरे से जोडकर अवलोकन करते हैं, जबकि मार्क्स प्रत्येक अवस्था को पूर्व की अवस्थाओ के परिणाम के रूप मे देखते हैं किन्तु उसकी प्रकृति विरोधी होती है, इन दोनो के विचारो मे यह प्रमुख अन्तर मिलता है।

हीगल ने '**अलगाव**' की अवधारणा को प्रतिपादित किया। मार्क्स ने इस अवधारणा को अपनाया और उत्पादन की इकाइयों के विश्लेषण मे इसकी व्याख्या की। पूँजीवादी व्यवस्था में मजदूर श्रम करते हैं और वह श्रम दूसरे वर्ग अर्थात् मालिक को स्थानान्तरित हो

जाता है और इस प्रकार शक्ति व सत्ता का भी स्थानान्तरण हो जाता है। इस दूसरे समूह अर्थात् मालिक की सत्ता-हस्तान्तरण की प्रक्रिया को ही मार्क्स ने '**अलगाव की प्रक्रिया**' बताया है।

हीगल के प्रभावो से मार्क्स अत्यधिक प्रभावित रहे। हीगल से मार्क्स ने यह तथ्य सीखा कि विश्व की प्रगति गतिशील है और यह निरन्तर प्रवाहमान है। यदि विश्व की प्रगति को समझना है तो इसे विकास की प्रक्रिया द्वारा ही समझ जा सकता है। यह विकास क्रमिक और द्वन्द्वात्मक क्रम से होता है जो सीधी रेखा नहीं वरन् टेढे-मेढे रूप में होता है। हीगल इसी विकास की प्रक्रिया को 'द्वन्द्व' के रूप मे मानते हैं। हीगल ने सामाजिक विकास का सूत्र दिया—'**वाद, प्रतिवाद और समवाद**' (Thesis, Antithesis and Synthesis)—वाद किसी वस्तु का प्रारम्भिक रूप होता है। इसके पश्चात् अन्तर्निहित विरोधाभासो के परिणामस्वरूप प्रतिवाद की स्थिति उत्पन्न होती है, जो पतन का कारण होती है। वाद और प्रतिवाद के निरन्तर संघर्षरत रहने से एक नई स्थिति उत्पन्न होती है जो समवाद है—मार्क्स के अनुसार यह प्रक्रिया अनवरत चलती रहती है, तत्पश्चात् समवाद—वाद की स्थिति आती है इसी रूप मे समाज का विकास चलता रहता है। हीगल का यह '**द्वन्द्ववाद**' विचारों अथवा आत्मा-क्षेत्र मे तीन अवस्थाओ मे समाप्त हो जाता है। मार्क्स ने भी हीगल के द्वन्द्ववाद को स्वीकारा, किन्तु उन्होने उसके स्थान पर भौतिक द्वन्द्ववाद को जन्म दिया। इस प्रकार हीगल और मार्क्स के विचारो मे यह भी अन्तर है कि हीगल जहाँ आत्मा (Spirit) को ही महत्ता प्रदान करते है तथा तीन चरण बताते हैं वहीं मार्क्स 'पदार्थ' को मानते हैं, जिसमें परिवर्तन की प्रक्रिया निरन्तर चलती रहती है जिसके कई चरण हैं। हीगल की आदर्शवादी व्याख्या के स्थान पर मार्क्स ने विश्व की भौतिकवादी व्याख्या प्रस्तुत की तथा तीन चरणों के स्थान पर अनेक चरणो का उल्लेख किया है।

(2) फ्रांसीसी समाजवादियो का प्रभाव (Impact of French Socialists)—हीगल के अतिरिक्त मार्क्स के विचारो पर फ्रास के समाजवादी विचारकों का भी पर्याप्त प्रभाव रहा। जिन विचारको ने मार्क्स के सामाजिक सिद्धान्त को प्रभावित किया है उनमे '**सेण्ट साइमन**' (Saint Simon) का नाम प्रमुख है। मार्क्स की '**वर्ग-विहीन समाज**' की कल्पना सेण्ट साइमन के विचारो का रूपान्तरण है। साइमन की मान्यता थी—"**श्रम करने वालों को ही जीवित रहने का अधिकार है।**" सेण्ट साइमन ने ऐतिहासिक प्रणाली को ग्रहण किया था और स्पष्ट किया था कि औद्योगिक युग की सम्भावनाओ को आर्थिक आधारो पर ही जाना जा सकता है। साइमन के मत में राजनैतिक परिवर्तनो के लिए महत्त्वपूर्ण कारण उत्पादन के साधनो मे परिवर्तन करना है—इस प्रकार मार्क्स के मजदूर वर्ग के संघर्ष की व्याख्या पर फ्रासीसी समाजवादियो का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है—मार्क्स ने अपनी कृति '**जर्मन आइडियोलोजी**' मे इनकी आलोचना भी की है—साइमन के अतिरिक्त '**केवेट**' और '**फोरियर**' से भी मार्क्स प्रभावित रहे। फोरियर ने इतिहास की आर्थिक व्याख्या प्रस्तुत की थी तथा केवेट का विचार था कि 'साम्यवाद तभी स्थापित किया जा सकता है, जब समस्त आवश्यक कार्यों पर राज्य का नियन्त्रण हो' इसी से प्रभावित होकर मार्क्स ने 'साम्यवादी लीग' की स्थापना सन् 1847 मे की। इसके अतिरिक्त मार्क्स रिकार्डो, एडमस्मिथ व क्वेस्ने आदि अर्थशास्त्रियों से भी प्रभावित रहे। एलेक्जेण्डर के मत में "मार्क्स के मूल्यों का सिद्धान्त" रिकार्डो के सिद्धान्त से अधिक नहीं हैं।

(3) ब्रिटिश समाजवादियों का प्रभाव (Impact of British Socilists)— मार्क्स के सामाजिक चिन्ता को प्रभावित करने वालो मे ब्रिटिश समाजवादी ओवेन, थाम्पसन, हौजस्किन व अलेक्जेण्डर आदि का नाम भी लिया जा सकता है। ओवेन का मत "मानव का चरित्र परिस्थितियो की बनावट है" तथा थाम्पसन आदि के विचार "श्रम ही मूल्य का स्रोत है"—इन दोनो का मत मार्क्स के सिद्धान्त को प्रभावित करता है।

मार्क्स के सामाजिक चिन्तन को प्रभावित करने मे उनकी स्वयं की क्रान्तिकारी प्रकृति भी उनके कार्यों के प्रेरक के रूप मे मानी जा सकती है। इसका प्रभाव सामाजिक व आर्थिक समस्याओ के समाधान मे स्पष्टतया परिलक्षित होता है। सम्पत्ति के मालिकों के वर्ग और सम्पत्तिहीन वर्गों के संघर्ष जो उस यूरोप के समाजो मे विद्यमान थे, सम्पत्ति और उद्योग के क्षेत्र में तकनीकी विचारो के विकास मे भी यह संघर्ष उस रूप में स्पष्ट दिखाई देता है, जो उस समय पूँजीपति वर्ग और औद्योगिक श्रमिक वर्ग मे विद्यमान था व जिसे मार्क्स ने 'सर्वहारा-वर्ग' कहा है।

इस प्रकार मार्क्स के चिन्तन को प्रभावित करने वाले अनेक कारक उस समय विद्यमान थे जिनसे वे प्रभावित थे।

कार्ल मार्क्स के मूल समाजशास्त्रीय विचार
(Original Sociological thoughts of Karl Marx)

कार्ल मार्क्स के समाजशास्त्रीय योगदान की विवेचना करने से पूर्व यह श्रेयस्कर होगा कि हम मार्क्स की महत्त्वपूर्ण कृतियों के कुछ प्रमुख अंशो का अध्ययन करें जिसमें उनके उद्देश्यों, अभिग्रहो, अध्ययन प्रणाली, प्रारूप, अवधारणाओ, सिद्धान्तो और सामान्यीकरणो आदि के सम्बन्ध मे महत्त्वपूर्ण जानकारी विद्यमान है। सोरोकिन के अनुसार मार्क्स के समाजशास्त्रीय सामान्यीकरणो और सिद्धान्तो आदि का सार मार्क्स द्वारा लिखित **"क्रिटिक ऑफ पॉलिटिकल इकोनोमी की भूमिका"**, 1859, एवं **"कम्यूनिस्ट पार्टी के घोषणा पत्र"**, 1848, के कुछ अंशो मे देख सकते हैं। सोरोकिन के कथनानुसार इन निम्न उद्धरित अंशो के अध्ययनो से मार्क्स के समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों की प्रमुख एव आवश्यक विशेषताएँ स्पष्ट हो जाती है। ये हिन्दी मे अक्षरशः अनुवादित मूल अश निम्नलिखित हैं—

I. 'क्रिटिक ऑफ पॉलिटिकल इकोनोमी' की भूमिका, 1859
(Preface of the 'Critique of Political Economy', 1859)

"जिन सामान्य निष्कर्षों पर मैं पहुँचा हूँ और जो मेरे अध्ययनों की एक सतत् शृंखला के निरन्तर आधार रहे हैं वे सार रूप मे निम्न हैं—सामाजिक उत्पादन जिन्हे मानव करता है उनमे वह निश्चित प्रकार के सम्बन्धो मे प्रवेश करता है वे अपरिहार्य होते हैं तथा उसकी इच्छा से स्वतन्त्र होते हैं, ये उत्पादन के सम्बन्ध निश्चित उत्पादन की वस्तुओं की शक्ति के विकास की अवस्था से सम्बन्धित होते हैं। ये उत्पादन के सम्बन्धो के योग समाज की आर्थिक सरचना को निर्मित करते हैं—यह वास्तविक आधारशिला है, जिस पर कानूनी और राजनैतिक अधिसंरचना निर्मित होती है और इसके अनुरूप निश्चित सामाजिक चेतना का विकास होता है। भौतिक जीवन मे उत्पादन की विधि सामाजिक, राजनैतिक और

आध्यात्मिक जीवन की प्रक्रियाओं का निर्माण करती है। यह मानव की चेतना नहीं है जो उनके अस्तित्व का निर्णय करती है, बल्कि इसके विपरीत सामाजिक अस्तित्व उनकी चेतना का निर्णय करता है।

उनके विकास की एक निश्चित अवस्था मे, समाज में उत्पादन की भौतिक शक्तियाँ विद्यमान उत्पादन के सम्बन्धो के साथ संघर्ष करती हैं......सम्पत्ति के साथ संघर्ष करती हैं जिनमें वो पहिले कार्य कर रही थी। उत्पादन की शक्तियों के स्वरूपों के विकास से ये सम्बन्ध उनकी बेड़ियो मे बदल जाते हैं। तब सामाजिक क्रान्ति का काल आता है। आर्थिक आधार के परिवर्तन के साथ-साथ सम्पूर्ण बड़ी अधिमरचना कम-या-अधिक रूप में तेजी से रूपान्तरित हो जाती है। इस प्रकार के रूपान्तरण में इस बात का सर्वथा अन्तर रखना होगा कि उत्पादन की आर्थिक परिस्थितियो के भौतिक रूपान्तरण का निर्णय प्राकृतिक विज्ञान की यथार्थता करती है तथा कानूनी, राजनैतिक, धार्मिक, सौन्दर्यशास्त्रीय या दार्शनिक—संक्षिप्त में आदर्शात्मक स्वरूप जिससे संघर्षों के प्रति मानव सचेत होता है तथा इनसे वह युद्ध करता है। जिस प्रकार से हमारा मत एक व्यक्ति के सम्बन्ध में इस पर आधारित नहीं होता है कि वह स्वयं के बारे मे क्या सोचता है उसी प्रकार से हम किसी काल के रूपान्तरण के सम्बन्ध में उसकी चेतना के आधार पर निर्णय नहीं कर सकते हैं, इसके विपरीत, इस चेतना की व्याख्या भौतिक जीवन के विरोधों, उत्पादन की सामाजिक शक्तियों तथा उत्पादन के सम्बन्धो के आधार पर करनी चाहिए। कोई भी सामाजिक व्यवस्था तब तक लुप्त नहीं होती है जब तक कि सभी उत्पादन की शक्तियाँ जिनके विकास की सम्भावना होती है विकसित नहीं हो जाती हैं, और नवीन उच्चतर उत्पादन के सम्बन्ध कभी भी तब तक उत्पन्न नहीं होते हैं, जब तक कि उनके अस्तित्व के लिए आवश्यक भौतिक परिस्थितियाँ पुराने समाज के गर्भ में परिपक्व नहीं हो जाती हैं। इसीलिए मानव जाति सर्वदा केवल उन्हीं समस्याओ को लेती है जिन्हें हल कर सकती है, विषय को अधिक निकटता से देखने से हम हमेशा पाते हैं कि समस्या तभी उत्पन्न होती है जब उसे हल करने की भौतिक परिस्थितियाँ पहिले से ही विद्यमान होती हैं अथवा विद्यमान होने की प्रक्रिया में होती है। हम प्रमुख रूपरेखा (बिन्दुओ) के रूप में समाज के आर्थिक विकास के रूपान्तरणो के अनेक कालो मे, जैसे—एशियाई, प्राचीन सामन्ती और आधुनिक बुर्जुवा उत्पादन की पद्धतियो में ऐसा पाते हैं। बुर्जुवा उत्पादन के सम्बन्ध उत्पादन की सामाजिक प्रक्रिया के अन्तिम विरोध (संघर्ष) हैं—यह संघर्ष व्यक्तिगत संघर्षवाद के अर्थ मे नहीं है बल्कि यह उन परिस्थितियों मे से उत्पन्न होता है जो समाज मे व्यक्तियो के जीवन को चारो ओर से घेरे रहता है। इसी के साथ-साथ इस संघर्ष का समाधान उन उत्पादन की शक्तियो के द्वारा होता है जो बुर्जुवा समाज की भौतिक परिस्थितिया के गर्भ से विकसित होती हैं। यह सामाजिक रूपान्तरण मानव समाज के पूर्व ऐतिहासिक अवस्था के अन्तिम अध्याय को बनाता है।

II. कम्युनिष्ट पार्टी का घोषणा-पत्र

मार्क्स ने कम्युनिस्ट पार्टी के घोषणा पत्र, 1848 में वर्ग-संघर्ष के सिद्धान्त की जो विवेचना की है, वह इस प्रकार है—

"आज तक अस्तित्व में जो समस्त समाज है उनका इतिहास वर्ग-संघर्ष का इतिहास है।"

"स्वतन्त्र मनुष्य और दास, पेट्रीशियन और प्लेबियन, सामन्ती प्रभु और भूदास, शिल्प-संघ का उस्ताद-कारीगर और मजदूर-कारीगर—संक्षेप में उत्पीड़क और उत्पीड़ित (शोषक और शोषित) बराबर एक-दूसरे का विरोध करते आए है। वे कभी छिपे, कभी प्रकट रूप से लगातार एक-दूसरे से लड़ते रहे हैं, जिस लड़ाई का अन्त हर बार या तो पूरे समाज के क्रान्तिकारी पुनर्गठन में या संघर्षरत वर्गों की बर्बादी में हुआ है।"

मार्क्स के उद्देश्य, अभिग्रह, पद्धतिशास्त्र और प्रारूप
(Aims, Assumptions, Methodology and Typology of Marx)

कार्ल मार्क्स के समाजशास्त्रीय योगदान का अध्ययन करने से पूर्व मार्क्स के उद्देश्य, अभिग्रह, पद्धतिशास्त्र और प्रारूप को समझना श्रेयस्कर होगा जो निम्न प्रकार से हैं—

1. उद्देश्य
(Aims)

मार्क्स का प्रमुख लक्ष्य जीवन की परिस्थितियो और विचारो के पारस्परिक सम्बन्धों का विश्लेषण करना था। आप समाज को आर्थिक उप-सरचना का समाज के मानव अधिसंरचना के साथ परस्पर सम्बन्ध का विश्लेषण एक निरन्तर परिवर्तित समाज के ऐतिहासिक विकास के आधार पर करना चाहते थे। इस प्रकार का पारस्परिक प्रतिक्रियात्मक सम्बन्ध मार्क्स के विचारों का भौतिक आधार था। उन्होने इसी दृष्टिकोण से 'स्वाभाविक मानव' का 'अलगाव मानव' के रूप मे परिवर्तन का अध्ययन किया था। आपका मत है कि यह परिवर्तन औद्योगिकीकरण और पूँजीवाद के शोषण के द्वारा होता है। समाज के पुनर्परिवर्तन के सिद्धान्त के पीछे उनका एक वैचारिक लक्ष्य था। आपने अनुमान लगाया था कि 'अलगाव मानव' पुन: परिवर्तित होगा और एक ऐसे स्वाभाविक मानव के रूप मे बदलेगा जो अपने प्राकृतिक और सामाजिक पर्यावरण से सामंजस्य करेगा। आपने भौतिक द्वन्द्वात्मकवाद के सन्दर्भ में राजनैतिक अर्थशास्त्र के विस्तृत ऐतिहासिक अध्ययन की योजना बनाई। मार्क्स इस प्रकार से एक व्यावहारिक सिद्धान्तवेत्ता थे। आपने जर्मन हीगल परम्परा का उपयोग किया। हीगलवाद के द्वारा अपने जीवनकाल में विद्यमान राजनैतिक और आर्थिक अत्याचार और उत्पीड़न के विरुद्ध प्रतिक्रिया व्यक्त की थी। मार्क्स ने समाज के एक द्वन्द्वात्मक परिवर्तन के सिद्धान्त का विकास किया। इस सिद्धान्त में प्रमुख जोर आर्थिक उपसरचना पर था।

2. अभिग्रह
(Assumption)

प्रत्येक सिद्धान्त अथवा वैज्ञानिक के विचार के कुछ महत्त्वपूर्ण आधार होते हैं। इनको समझे बिना सिद्धान्तो अथवा विचारो को समझना कठिन है। मार्क्स के भी द्वन्द्वात्मक, भौतिकवाद, वर्ग-संघर्ष व समाज की ऐतिहासिक व्याख्या आदि के कुछ मौलिक आधार हैं। मार्क्स कुछ बातों को मानकर चलते हैं जिस पर आपके सिद्धान्त तथा व्याख्याएँ आधारित हैं। निम्नांकित कुछ महत्त्वपूर्ण आधार या अभिग्रह हैं जिन पर मार्क्स के विचार तथा व्याख्याएँ आधारित हैं।

1. चेतना का निर्णायक अस्तित्व (Existence Determines Consciousness)—मार्क्स का सबसे महत्त्वपूर्ण और मौलिक अभिग्रह है, "अस्तित्व चेतना का निर्णायक है।" इससे आपका तात्पर्य है कि जीवन की भौतिक परिस्थितियाँ सामाजिक या मानकात्मक चेतना को नियन्त्रित, निर्देशित और संचालित करती हैं। भौतिक परिस्थितियाँ सामाजिक अन्तर्विवेक को परिभाषित करती हैं।

2. भौतिक अभौतिक का निर्णायक (Material Determines the Non-material)—मार्क्स के सिद्धान्त का दूसरा महत्त्वपूर्ण अभिग्रह है, "भौतिक अभौतिक का निर्णायक है।" आपका मत है, "उत्पादन के प्रकार सामाजिक, राजनैतिक और धार्मिक जीवन की प्रक्रिया के सामान्य लक्षणों का निर्धारण करते हैं।" भौतिक विचारो का निर्धारण करते हैं। भौतिक परिवर्तन के द्वारा सामाजिक परिवर्तन होता है। सामाजिक चेतना तथा आदर्शों में परिवर्तन का कारण भौतिक कारक हैं।

3. भौतिक परिस्थितियों में समाज का उद्गम (Society is rooted in material conditions)—मार्क्स ने इसी प्रकार आगे स्पष्ट किया, "समाज का उद्गम भी जीवन की भौतिक परिस्थितियाँ है।" मानव अपनी प्राथमिक आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए जो प्रयास करता है उसके परिणामस्वरूप आर्थिक उप-संरचना का विकास होता है। यही आर्थिक उप-सरचना समाज की राजनैतिक तथा कानूनी उप-सरचनाओ को निर्धारित तथा परिभाषित करती है। मार्क्स के अनुसार समाज, इस प्रकार से, उद्विकास के सन्तुलन को प्रदर्शित करता है जिसमे सामाजिक चेतना तथा सम्बन्धो को उत्पादन के प्राथमिक तरीके (आर्थिक व्यवस्था) निश्चित करते हैं। यह कार्ल मार्क्स के सिद्धान्त का तीसरा महत्त्वपूर्ण अभ्युपगम है।

4 द्वन्द्वात्मक उद्विकास (Dialectic Evolution)—मार्क्स का चौथा और अन्तिम महत्त्वपूर्ण अभ्युपगम है आर्थिक उप सरचना और मानकात्मक अधि-संरचना में परस्पर द्वन्द्वात्मक अन्तर्क्रिया होती है जिसके फलस्वरूप समाज अनेक उद्विकासीय चरणो से गुजरता हुआ आगे बढता है। आपका मानना था कि जनसंख्या और आवश्यकताओ में वृद्धि के परिणामस्वरूप श्रम-विभाजन मे भी वृद्धि होती है तथा भूमिकाओ मे भी वृद्धि होती है। इस विकास के कारण निजी सम्पत्ति मे वृद्धि होती है। औद्योगिकीकरण के प्रभाव के फलस्वरूप निजी सम्पत्ति से पूँजीपति व्यवस्था का विकास होता है। मार्क्स का यह भी मानना था कि आर्थिक प्रभुत्व तथा पूँजीवाद से सर्वहारा-वर्ग (श्रमजीवी वर्ग) का प्रकृति तथा उत्पादन के साधनो से अलगाव होगा। उत्पादन के साधनो, उत्पादन के तरीको तथा सम्बन्धों पर शोषक-वर्ग या पूँजीपति-वर्ग का पूर्ण नियन्त्रण होगा तथा सर्वहारा-वर्ग का शोषण होगा।

साराश मे यह कह सकते हैं कि मार्क्स ने हीगल के द्वन्द्वात्मकता को अपनाया जिसमे भौतिकवाद को कारण मानकर समाज के इतिहास का अध्ययन किया। मार्क्स का सिद्धान्त भौतिक निर्णायकवाद का सिद्धान्त है।

समाज मे श्रम-विभाजन और निजी सम्पत्ति के अधिकारों मे वृद्धि के कारण पूँजीवाद का विस्तार होता है। आगे चलकर, मार्क्स के अनुसार पूँजीवाद मे द्वन्द्व होगा जो समाजवाद के लिए एक आन्दोलन के रूप मे शुरू होगा जो अन्त में एक ऐसे समाज का निर्माण

करेगा जिसमे मानव प्रकृति और सामाजिक वातावरण के साथ पुन: जुड जायेगा तथा एक 'स्वाभाविक मानव' का उदय होगा।

3. पद्धतिशास्त्र
(Methodology)

मार्क्स अपने द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के लिए विख्यात हैं। आपने समाज के इतिहास का द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के आधार पर अध्ययन किया है। द्वन्द्वात्मक जर्मनी के दर्शन की देन है। विशेष रूप से फ्रेडरिक हीगल की रचनाओ मे द्वन्द्वात्मक को देखा जा सकता है। आपने लिखा है कि घटना मे परिवर्तन के कारण स्वय घटना मे ही विद्यमान होते हैं। आप परिवर्तन को वाद (मूल अवस्था) और प्रतिवाद (विरोधी अवस्था) से समवाद (प्रथम दोनो अवस्थाओ का समन्वय) के रूप मे मानते है, जो कि एक नूतनवाद (नई अवस्था) के रूप मे पनपता है, मानते है। यह द्वन्द्वात्मक उद्विकास घटना के गत्यात्मक उद्विकास और परिवर्तन की व्याख्या करता है। इसको हम निम्न प्रकार से भी समझ सकते हैं। मार्क्स का कहना है कि प्रत्येक वस्तु गतिशील होती है, कोई भी वस्तु स्थिर नहीं होती है। वस्तुओ मे परिवर्तन अवश्यभावी है। आपने कहा कि द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के अनुसार प्रत्येक पदार्थ सक्रिय होते हैं। आपने विकास की प्रक्रिया का आधार भौतिक वस्तुओ में विद्यमान आन्तरिक विरोध को बताया है। वस्तुओं मे विरोध के कारण पारस्परिक संघर्ष होता है और उसके अनुसार विकास होता है। सघर्ष के द्वारा विश्व का विकास होता है, यह सघर्ष आन्तरिक और बाह्य दोनो ही प्रकार से होता है। इस प्रकार से मार्क्स का यह मान्यता रही है कि भौतिक समाज की भौतिक सगतियो मे परिवर्तन होता है जो उद्विकास व विकास के रूप मे सामने आता है। इसी के आधार पर मार्क्स ने इतिहास की व्याख्या की। आपका कहना है कि प्रारम्भ मे समाज आदिम साम्यवाद की अवस्था मे होता है। सघर्ष के फलस्वरूप यह दासता की अवस्था मे विकसित होता है। विकास का क्रम सामन्तवाद से पूँजीवाद और अन्त मे साम्यवाद की अवस्था मे पहुँच जाता है। मार्क्स के अनुसार द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद एक समाजशास्त्रीय उपकरण है जिसके द्वारा समाज के विकास का ऐतिहासिक विश्लेषण करने मे उपयोग किया जा सकता है। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के अनुसार भौतिक शक्तियाँ परस्पर विरोधी और प्रतिविरोधी शक्तियो के रूप मे सघर्ष करती हैं जिससे समाज की आर्थिक और सामाजिक सरचना मे परिवर्तन आता है।

इस पद्धति के अनुसार मार्क्स ने ऐतिहासिक समाजशास्त्र को प्रतिपादित करने का प्रयास किया। मार्क्स ने समाज के उत्पादन के तरीको और सामाजिक सरचनाओ के परस्पर सम्बन्धो के परिवर्तन पर अपना ध्यान केन्द्रित किया है। आपने सामाजिक सस्थाओ के इतिहास का विकास किया। मार्क्स ने सामाजिक विश्लेषण मे सामाजिक परिवर्तन की व्याख्या करने का लक्ष्य रखा।

4. प्रारूप
(Typology)

4.1. जनजातिवाद (Tribalism)—टी. बी. बॉटोमोर की सम्पादित पुस्तक 'कार्ल मार्क्स : सलेक्टेड राइटिंग्स इन सोशियोलॉजी एण्ड सोशियल फिलासॉफी' मे मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के प्रारूप का विस्तृत वर्णन दिया गया है। मार्क्स ने सामाजिक विकास

के चरण एक प्रारूप के रूप मे दिये हैं, जो निम्न प्रकार से हैं—आपने इस उद्विकासी प्रारूप मे सर्वप्रथम अवस्था जनजाति की बताई है। इस अवस्था मे शिकार, मछली पकड़ना और कृषि प्रधान होता है। मुख्य रूप से समाज पितृसत्तात्मक होता है। श्रम-विभाजन एक विस्तृत परिवार व्यवस्था के रूप मे मिलता है। मार्क्स का कहना है कि इस प्रकार इन जनजाति समाजो मे निजी सम्पत्ति और श्रम का विभाजन न्यून होता है।

4.2. सामन्तवाद (Feudalism)—जब कुछ जनजातियाँ परस्पर मिल जाती हैं और उनका आकार बड़ा हो जाता है तो इसके साथ समुदायवाद विकसित हो जाता है। इस अवस्था मे दासता, निजी सम्पत्ति और श्रम-विभाजन व्यवस्था प्रारम्भ हो जाती है। कृषि में कुछ कमी आती है। सामन्तवाद आ जाता है। भूमि पर आधारित अर्थव्यवस्था विकसित हो जाती है। धनी कृषि का नियन्त्रण करते हैं। मार्क्स के अनुसार यह सरचना भी अपूर्ण होती है और नगरीकरण का विकास होता है। आवश्यकताएँ बढ़ जाती हैं जिसके फलस्वरूप उत्पादन आर्थिकी की आवश्यकता पड़ती है जो विकसित हो कर विश्व मे उपनिवेशवाद को बढ़ावा देती है।

4.3. पूँजीवाद (Capitalism)—इस उपर्युक्त विकास के फलस्वरूप पूँजीवाद का विकास होता है जिसमे निम्नलिखित तत्त्वो का उदय होता है। मार्क्स का कहना है कि पूँजीवाद ऐसी व्यवस्था है जिसके स्रोतो का एकाधिपत्य हो जाता है। यह एकाधिपत्य उत्पादन के साधनो पर पूँजी के रूप मे स्वामित्व के कारण होता है। श्रमिक का श्रम महत्त्वपूर्ण वस्तु बन जाता है। समाज—दो वर्गों मे मालिक और श्रमिक मे बँट जाता है। जिस प्रकार से जनजातिवाद से सामन्तवाद और सामन्तवाद से पूँजीवाद मे परिवर्तन हुआ उसी प्रकार से पूँजीवाद की अवस्था भी स्थिर नहीं रहती है। मार्क्स का मत है कि अधिक उत्पादन और अलगाव के बढने की समस्याओं के फलस्वरूप पूँजीवाद में परिवर्तन आता है। अलगाव के बढने से श्रमिक सर्वहारा वर्ग संगठित हो जाते हैं और पूँजीपतियों के विरुद्ध क्रान्ति करते हैं।

4.4. कल्पनालोकीय समाजवाद (Utopian Socialism)—पूँजीवाद अपनी समाप्ति की प्रक्रिया स्वय प्रारम्भ करता है और समाज अन्ततोगत्वा विकास की चरम सीमा कल्पनालोकीय समाजवाद की अवस्था में पहुँच जाता है, ऐसा मार्क्स का मत है। आपका कहना है कि कल्पनालोकीय समाजवाद की अवस्था में श्रमिक-वर्ग या सर्वहारा-वर्ग की क्रान्तिकारी तानाशाही स्थापित हो जाती है जो निजी सम्पत्ति के अधिकारो को समाप्त कर देते हैं। समाज की इस अवस्था में वर्ग समाप्त हो जाते हैं, व्यक्ति पूर्ण रूप से समाजवादी हो जाता है। समाज एव प्रकृति पुनःसंगठित हो जाते हैं। इस प्रकार से समाजवाद एक प्रकार से समाज को जनजातिवाद की प्रारम्भिक अवस्था में लौटा लाता है, जहाँ व्यक्ति अपने भौतिक एवं सामाजिक पर्यावरणो से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित हो जाता है।

कार्ल मार्क्स द्वारा प्रतिपादित सामाजिक परिवर्तन के विकास के प्रारूप के चरणो को संलग्न चित्र द्वारा प्रस्तुत किया जा सकता है।

कार्ल मार्क्स द्वारा प्रस्तुत समाज के विकास के प्रारूप

जातिवाद (Tribalism)	सामन्तवाद (Feudalism)	पूँजीवाद (Capitalism)	साम्यवाद (Socialism)
1. शिकार, मछली पकड़ना, कृषि।	1. देहाती आधार	1 श्रम मुल्य वस्तु	1 वर्ग हीन।
2. श्रम का विभाजन - परिवार का विस्तार।	2. भू-आधार।	2. संरचना : मालिक व श्रमिक।	2 निजी सम्पत्ति का लोप।
3. पितृसत्तात्मक संरचना।	3. अभिजात शक्ति।	3. उपयोगितावादी विचारधारा।	3 पूर्ण समाजीकृत व्यक्ति।
		4. अप्राकृतिक भौतिकवाद।	4 पुनर्गठन : व्यक्ति एवं प्रकृति।
		5. अलगाव एव भोगाधिकार	
		6 अत्युत्पादन का विकास।	

समाजशास्त्र में योगदान
(प्रमुख अवधारणाएँ एवं सिद्धान्त)
(Contribution to Sociology)
(Major Concepts and Theories)

कार्ल मार्क्स का समाजशास्त्र विषय में विशिष्ट योगदान रहा है। आपने समाज को समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य से समझने में विशेष दिशा प्रदान की है। मार्क्स ने सामाजिक परिवर्तन, समाज के परिवर्तन के प्रारूप, अतिरिक्त मूल्य की अवधारणा, द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद, समाज के इतिहास की भौतिकवादी (आर्थिक) व्याख्या, वर्ग एवं वर्ग-संघर्ष की अवधारणा आदि महत्त्वपूर्ण अवधारणाओं एवं सिद्धान्तों को प्रतिपादित करके समाजशास्त्र विषय के विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। अब हम निम्न महत्त्वपूर्ण अवधारणाओं एवं सिद्धान्तो को संक्षिप्त में समझने का प्रयास करेगे।

1 अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त।
2. वर्ग एवं वर्ग-संघर्ष की अवधारणा।
3. द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद।
4 इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या।
5. अलगाव का सिद्धान्त।

1. अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त
(Theory of Surplus Value)

कार्ल मार्क्स ने समाज की जो व्याख्या की है उसका मूल आधार अतिरिक्त मूल्य है। मार्क्स ने वर्ग-सघर्ष, शोषक एवं शोषित, द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद, इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या, अलगाव आदि की जो विवेचना की है उनका मूल आधार अतिरिक्त मूल्य है। अगर हम मार्क्स के विभिन्न सिद्धान्तों को समझना चाहते हैं तो सर्वप्रथम हमे आपके द्वारा प्रतिपादित अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्त को समझना होगा। मार्क्स ने अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्त को अपनी विश्वविख्यात पुस्तक 'पूँजी' (कैपिटल) मे प्रतिपादित किया है। आपके अनुसार अतिरिक्त मूल्य का अर्थ यह है, किसी वस्तु के निर्माण में जितना खर्च आता है और खर्चे की तुलना में जितने अधिक मूल्य मे वह वस्तु बेची जाती है उसके बीच के अन्तर को कहते हैं। इसको निम्न उदाहरण द्वारा समझा जा सकता है—एक कुर्सी के निर्माण मे निम्न मदो के अन्तर्गत खर्चा किया जाता है। मान लीजिए चार रुपये की लकडी लगी, दो रुपये की कीले, बढ़ई को कुर्सी बनाने के 10 रुपये दिये गये। इसके अतिरिक्त कुर्सी के निर्माण के लिए पूँजीपति ने स्थान एव वित्तीय व्यवस्था मे दो रुपये खर्च किये। इस प्रकार से कुसी की कुल लागत 18 रुपये आयी। पूँजीपति ने इस कुर्सी को बाजार मे 28 रुपये मे बेचा। एक कुर्सी पर 10 रुपये का लाभ हुआ। मार्क्स के अनुसार यह 10 रुपये अतिरिक्त मूल्य है जिसको पूँजीपति प्राप्त करता है। कुर्सी के निर्माण मे बढई (मजदूर) ने अधिक श्रम किया है जिसके परिणामस्वरूप 10 रुपये का लाभ हुआ है, लेकिन पूँजीपति श्रमिक को इस 10 रुपये मे से कुछ नहीं देता है और स्वय हडप कर लेता है। मार्क्स का कहना है कि श्रमिक (बढई) के पास उत्पादन के साधनो को जुटाने की शक्ति एव दक्षता नहीं है, इस कारण श्रमिक (बढई) अपना श्रम पूँजीपतियो को बेच देता है। उसके श्रम के द्वारा उत्पन्न अतिरिक्त मूल्य जो कुर्सी से प्राप्त होता है वह सारा-का-सारा पूँजीपति हड लेता है। इस प्रकार से पूँजीपति उत्पादन के साधन जुटाने की क्षमता रखने के फलस्वरूप अतिरिक्त मूल्य के द्वारा विभिन्न उत्पादन के क्षेत्रो मे श्रमिको का शोषण करते हैं। शोषक (पूँजीपति) और शोषित (श्रमिक) मे सघर्ष का मूल कारण यह अतिरिक्त मूल्य ही है। मार्क्स के अनुसार अतिरिक्त मूल्य ही पूँजीपति व्यवस्था की बुराइयो का मूल कारण है।

2. वर्ग एवं वर्ग-संघर्ष की अवधारणा
(Concept of Class and Class-Struggle)

कार्ल मार्क्स का समाजशास्त्र मे एक महत्त्वपूर्ण योगदान वर्ग एवं वर्ग-संघर्ष की अवधारणा प्रदान करना है। मार्क्स का मत है कि समाज में हमेशा दो वर्ग होते हैं। इन वर्गों का आधार आर्थिक होता है। आर्थिक असमानता ही समाज में दो वर्गों को जन्म देती है। ये दो वर्ग हैं—शोषक वर्ग और शोषित वर्ग। मार्क्स का कहना है कि व्यक्ति एक वर्ग का प्राणी है। मार्क्स के अनुसार प्रत्येक युग मे हमेशा शोषक एवं शोषित वर्ग रहते हैं। शोषक वर्ग वह वर्ग है जिसका उत्पादन के साधनों, उत्पादन की शक्तियो और उत्पादन के सम्बन्धो पर स्वामित्व रहता है। विभिन्न कालो मे शोषक के रूप में मालिक, स्वामी, जमींदार, बुर्जआ, पूँजीपति आदि किसी-न-किसी रूप में होते हैं। इसी क्रम मे शोषित वर्ग के विभिन्न रूप दास, गुलाम, किसान, श्रमिक, मजदूर आदि होते हैं। कार्ल मार्क्स ने "कम्युनिस्ट पार्टी का

घोषणा-पत्र" के पृष्ठ संख्या 35 पर लिखा है "आज तक अस्तित्व मे जो समाज है उनका इतिहास वर्ग-संघर्ष का इतिहास है। स्वतन्त्र मनुष्य और दास, पेट्रीशियन और प्लेबियन, सामन्ती प्रभु और भूदास, शिल्प संघ का उस्ताद—कारीगर और मजदूर-कारीगर—संक्षेप में उत्पीड़क और उत्पीडित बराबर एक-दूसरे का विरोध करते आये हैं।" मार्क्स ने आगे लिखा है कि ये दोनो शोषक व शोषित वर्ग अपनी-अपनी समस्याओ हितो, लक्ष्यो, परिस्थितियो आदि के लिए एक-दूसरे से संघर्ष करते रहते हैं। मार्क्स का मत है कि मानव इतिहास के आदिम, साम्यवादी युग, दासत्व युग एव सामन्ती युग मे इनमे सघर्ष धीरे होता है और पूँजीपति युग मे वर्ग-सघर्ष तीव्र हो जाता है। मार्क्स ने भविष्यवाणी की है कि वर्ग-संघर्ष के इतिहास मे एक समय ऐसा आयेगा जब सर्वहारा-वर्ग (श्रमिक वर्ग) पूँजीपति वर्ग एवं व्यवस्था को समाप्त कर देगा। पूँजीपति व्यवस्था के स्थान पर साम्यवादी व्यवस्था स्थापित हो जायेगी, जिसमें शोषक वर्ग का अन्त हो जायेगा। इसके साथ-साथ समाज में असमानता का भी अन्त हो जायेगा। मार्क्स का यह भी कथन है कि धीरे धीरे कल्पनालोकीय समाज की स्थापना हो जायेगी। वर्ग भेद नही रहेगा, पूँजीवादी दुःखो से श्रमिको को छुटकारा मिल जायेगा। आपने निम्न नारा दिया है—

"दुनिया के मजदूरो एक हो, तुम्हें तुम्हारी बेड़ियों के अतिरिक्त कुछ नहीं खोना है और पाने के लिए तुम्हारे पास सारा संसार पड़ा है।"

कार्ल मार्क्स ने वर्ग एवं वर्ग-संघर्ष की अवधारणा प्रतिपादित करके समाजशास्त्र मे एक विशिष्ट सम्प्रदाय—सघर्ष-सम्प्रदाय के महत्त्व को और महत्त्वपूर्ण बना दिया है। वर्तमान में जिसका रूप संघर्ष-उपागम से उग्र उन्मूलनवादी समाजशास्त्र "रेडीकल सोशियोलॉजी" विचारधारा के रूप में विकसित हो गया।

3. द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद
(Dialectical Materialism)

कार्ल मार्क्स पर हीगल का प्रभाव पडा जिसके परिणामस्वरूप मार्क्स ने हीगल के द्वन्द्ववाद को अपने दृष्टिकोण से संशोधित करके समाज के अवलोकन, विश्लेषण एव सिद्धान्तो के निर्माण में अपनाया, जो निम्न प्रकार है। मार्क्स ने हीगल के आत्मा-द्वन्द्ववाद से भिन्न भौतिक द्वन्द्ववाद को प्रतिपादित किया। मार्क्स का कहना है कि मानव समाज के इतिहास मे हमेशा पदार्थों में सघर्ष रहा है। आपके अनुसार विश्व का मूल भी पदार्थ ही है। मार्क्स का कहना है, सर्वप्रथम विश्व के पदार्थों (आर्थिकी) मे परिवर्तन होता है और उसके बाद सामाजिक धार्मिक, आर्थिक, राजनैतिक, कला, साहित्य, विज्ञान आदि मे परिवर्तन होता है। द्वन्द्वात्मक सिद्धान्त के अन्तर्गत मार्क्स की मान्यता है कि समाज में संघर्ष एव द्वन्द्व होता है। यह संघर्षवाद—प्रतिवाद और समवाद की प्रक्रिया मे से गुजरता है। कोई वस्तु होती है वह वाद है। उस वस्तु मे इस वाद के विरोधी तत्त्व विद्यमान होते हैं, वह प्रतिवाद है। इन वाद और प्रतिवाद में संघर्ष होता है जिसके कारण एक नवीन स्वरूप विकसित होता है—यह नवीन स्वरूप समवाद कहलाता है। कुछ समय के बीतने के बाद समवाद एक वाद का रूप ग्रहण कर लेता है। इस नवीन वाद के विरुद्ध फिर एक नया प्रतिवाद भी विकसित हो जाता है। इन वाद और प्रतिवाद मे संघर्ष होता है, जिसके परिणामस्वरूप नवीन समवाद विकसित होता है।

मार्क्स की मान्यता है कि विश्व के भौतिक जगत मे पदार्थों में मतभेद एवं संघर्ष निरन्तर चलता रहता है और समाज का विकास होता रहता है। मार्क्स ने भौतिक द्वन्द्ववाद के द्वारा वर्ग-संघर्ष की व्याख्या की है। प्रत्येक युग में शोषक एक वाद के रूप मे होता है और शोषित प्रतिवाद के रूप मे होता है जिनमें सघर्ष होता है। परिणामस्वरूप नवीन समवाद विकसित होता है जो कुछ समय बाद एक वाद का रूप ग्रहण कर लेता है। यह वाद-प्रतिवाद और समवाद की प्रक्रिया तब तक चलती रहती है जब तक कि समाज कल्पनालोकीय समाजवाद की अवस्था मे नहीं पहुँच जाता है। यह सार रूप में कार्ल मार्क्स का द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद है।

4. इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या
(Materialistic Interpretation of History)

कार्ल मार्क्स ने मानव इतिहास की व्याख्या का मूल कारण या आधार भौतिक या आर्थिकी बताया है। आपने "क्रिटिक ऑफ पॉलिटिकल इकॉनामी" (1859) में अपने ऐतिहासिक भौतिक निर्णायकवाद के सिद्धान्त का सार दिया है। इसमें आपने लिखा है कि उत्पादन के साधन, उत्पादन की प्रणाली, उत्पादन के सम्बन्धों के द्वारा समाज व सस्कृति में परिवर्तन होता है। आप उत्पादन की प्रणाली को परिवर्तन का मूल कारण मानते हैं। विभिन्न समाजो की सामाजिक सरचना, सभ्यता और सस्कृति का निर्धारण आर्थिक कारको के द्वारा होता है। कार्ल मार्क्स आर्थिक कारक को सबसे महत्त्वपूर्ण प्रथम और अन्तिम कारण मानते हैं जो सामाजिक घटनाओ को नियन्त्रित, निर्देशित, परिवर्तित और निर्धारित करते हैं। आर्थिक व्यवस्था एवं उत्पादन की प्रणाली निरन्तर बदलती रहती है और इसके साथ-साथ उप-संरचनाएँ, जैसे—राजनैतिक, धार्मिक आदि चलती रहती हैं। ये सब सामाजिक अधिसरचना को प्रभावित करते हैं और परिवर्तित करते हैं। मार्क्स के अनुसार सर्वप्रथम आर्थिक व्यवस्था में परिवर्तन आता है। उत्पादन के साधनो व उत्पादन की शक्तियों में परिवर्तन आता है इन परिवर्तनो का प्रभाव सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया को परिवर्तित करता है। मार्क्स ने आर्थिक कारक को कारण माना है और अन्य सभी जैसे सामाजिक परिवर्तन को परिणाम माना है। आर्थिक कारक चालक है और सामाजिक परिवर्तन उसमे गति प्राप्त करता है। क्योंकि कार्ल मार्क्स सामाजिक परिवर्तन का एकमात्र कारण आर्थिक कारक को मानता है इसलिए इनका सामाजिक परिवर्तन का सिद्धान्त आर्थिक निर्णायकवाद का सिद्धान्त कहलाता है। आपने इतिहास की व्याख्या आर्थिक आधार पर की है, इसलिए आपको इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या का कट्टर समर्थक कहते हैं।

5. अलगाव का सिद्धान्त
(Theory of Alienation)

कार्ल मार्क्स ने वर्ग-संघर्ष, वर्ग द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद, अतिरिक्त मूल्य आदि विभिन्न अवधारणाओ एव सिद्धान्तों के अतिरिक्त "अलगाव का सिद्धान्त" भी प्रतिपादित किया है। यह सामाजिक विज्ञानों के अतिरिक्त समाजशास्त्र में भी विशेष महत्त्वपूर्ण अवधारणा है। मार्क्स के अनुसार पूँजीवादी व्यवस्था को अलगाव की अवधारणा के बिना नहीं समझा जा सकता। मार्क्स ने अपनी विश्वविख्यात कृति "पूँजी" (Capital) में अलगाव के

सिद्धान्त की विवेचना की है। मार्क्स की मान्यता है कि समाज में अलगाव की देन आधुनिक पूँजीवादी व्यवस्था का परिणाम है। मार्क्स ने लिखा है कि आदिकाल में श्रम का विभाजन नहीं था, मशीने नहीं थीं। उत्पादन के उपकरण औजार बहुत सादा व सीमित थे। व्यक्ति गिनती के सामानो, उपकरणों और साधनों से वस्तुओ का उत्पादन करते थे। व्यक्ति स्वयं अपने हाथो से वस्तु का उत्पादन प्रारम्भ से लेकर अन्त तक करता था। वस्तुओ के बनाने में उसे मानसिक सन्तोष मिलता था। लेकिन जैसे-जैसे श्रम का विभाजन बढा, उत्पादन के साधनो मे विकास हुआ वैसे-वैसे व्यक्ति का उत्पादित वस्तुओ, श्रम आदि से अलगाव होता गया। नये-नये उपकरणो के आने से वस्तु की उत्पादन की प्रक्रिया मे व्यक्ति एक छोटा-सा हिस्सा बनकर रह गया। उत्पादन मे कच्चा माल, पूँजी, उत्पादन के साधन, उत्पादन की शक्तियो आदि पर पूँजीपति का स्वामित्व स्थापित हो गया। श्रमिक का उत्पादन की प्रक्रिया मे कोई अधिकार नहीं रहा। आधुनिक युग में पूँजीवादी व्यवस्था ने व्यक्ति को कार्य के प्रति महत्त्वहीन बना दिया। उसमें कार्य के प्रति अरुचि पैदा कर दी। मार्क्स का कथन है कि पूँजीवादी व्यवस्था मे श्रमिको, मजदूरो, कारीगरों आदि में काम के प्रति अलगाव पैदा कर दिया है, इस अलगाव की भावना के कारण व्यक्ति का स्वयं से तथा दूसरों के साथ उसके सम्बन्धो मे अलगाव पैदा हो गया है। मार्क्स का मत है कि व्यक्ति अलगाव अपने स्वयं के प्रति महसूस करता है। स्वय के परिवार के सदस्यों के प्रति उसमे अलगाव की भावना पैदा हो गयी है। वह अपने साथियों व समाज के सदस्यो के बीच भी अलगाव का अनुभव करता है। अलगाव की भावना के कारण श्रमिक का जीवन निष्क्रिय हो गया है। वह अपने आपको अलग-थलग महसूस करता है। जब कभी भी कोई आन्दोलन होता है उसमें यह उदास श्रमिक तोड़-फोड़ करता है। मार्क्स का मत है कि पूँजीवादी व्यवस्था ने अलगाव जैसी हानिकारक भावना पैदा कर दी है।

मार्क्स ने समाजशास्त्र में जो योगदान किया है उसके अनुसार उनका महत्त्व समाजशास्त्रियों मे बढ़ गया है। एक समाजशास्त्री के रूप में मार्क्स का उपर्युक्त योगदान विशिष्ट है। आपके समर्थको और आलोचकों ने आपकी अवधारणाओं, सिद्धान्तो, अध्ययन पद्धतियों, निष्कर्षों आदि का समय-समय पर अनुकरण, आलोचनात्मक मूल्यॉकन, संशोधन एवं विश्लेषण किया है, जिसके फलस्वरूप भी समाजशास्त्र का विभिन्न प्रकार से विकास हुआ है। कार्ल मार्क्स के जीवन, उद्देश्य, अभिग्रह, पद्धति, प्रारूप, प्रश्न आदि को संक्षिप्त रूप में निम्न प्रकार से प्रस्तुत किया जा सकता है।

कार्ल मार्क्स : एक संक्षिप्त परिचय
(Karl Marx : A Brief Introduction)
(1818–1883)

1. **पृष्ठभूमि (Background)**
   1. यहूदी परिवार
   2. कानून, दर्शन और इतिहास मे शिक्षित
   3. सक्रियतावाद और पत्रकारिता में कार्यरत
   4. प्रबोध शिक्षा
   5. जर्मन राजनैतिक अत्याचार

2. उद्देश्य (Aims)
   विचारो और जीवन-परिस्थितियो के पारस्परिक सम्बन्धो का विश्लेषण
3. अभिग्रह (Assumptions)
   1 अस्तित्व चेतना का निर्णायक है
   2 भौतिक अभौतिक का निर्णायक है
   3 समाज का आधार जीवन की भौतिक परिस्थितियाँ हैं
   4 द्वन्द्वात्मक : उप-संरचना और अधिसरचना = उद्विकासीय विकास
4. पद्धतिशास्त्र (Methodology)
   1 ऐतिहासिक समाजशास्त्र
   2 द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद पद्धति का अनुप्रयोग
5. प्रारूप (Typology)
   सामाजिक विकास के चरण
6. बिन्दु (Issues)
   1 सावयवी सिद्धान्त से समानताएँ
   2 उद्विकासीय सन्तुलन का विचार
   3 भौतिकवादी निर्णायकवाद
   4 ज्ञान का समाजशास्त्र
   5 भौतिक अभौतिक प्रश्नो का निर्णायक है
   6 काल्पनिक समाजवाद का अभिदर्शन

अभ्यास प्रश्न

निबन्धात्मक प्रश्न

1 कार्ल मार्क्स के जीवन पर एक निबन्ध लिखिये।

2 कार्ल मार्क्स की महत्त्वपूर्ण कृतियो का वर्णन कीजिए व कुछ रचनाओ का सक्षिप्त परिचय दीजिए।

3 कार्ल मार्क्स के विचारो पर किन किन विद्वानो, विचारको एव वैज्ञानिको का प्रभाव पडा? विवेचना कीजिए।

4 कार्ल मार्क्स के योगदान की विवेचना कीजिए।

5 कार्ल मार्क्स के प्रमुख सिद्धान्त व अवधारणाएँ कौन-कौनसी हैं? किन्हीं तीन का वर्णन कीजिए?

6 कार्ल मार्क्स के प्रमुख अभिग्रह क्या-क्या हैं? बताइये।

7. कार्ल-मार्क्स की अध्ययन पद्धति और प्रारूप की विवेचना कीजिए।

लघुउत्तरात्मक प्रश्न

निम्नलिखित पर सक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिए :—

1. अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त।
2. वर्ग एवं वर्ग-संघर्ष की अवधारणा।

3 द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद।
4 इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या।
5 अलगाव का सिद्धान्त।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1 मार्क्स किस देश के निवासी थे?
(अ) जर्मनी (ब) अमरीका
(स) फ्रांस (द) इग्लैण्ड
[उत्तर- (अ)]

2 मार्क्स का जन्म कब हुआ था?
(अ) 1883 (ब) 1818
(स) 1858 (द) 1864
[उत्तर- (ब)]

3 मार्क्स का देहान्त कब हुआ था?
(अ) 1883 (ब) 1917
(स) 1920 (द) 1912
[उत्तर-(अ)]

4 साम्यवादी घोषणा-पत्र किस वैज्ञानिक ने लिखा है?
(अ) वेबर (ब) मार्क्स
(स) दुर्खीम (द) लेनिन
[उत्तर-(ब)]

5 'दास कैपिटल' ग्रन्थ का लेखक कौन है?
(अ) वेबर (ब) दुर्खीम
(स) हीगल (द) मार्क्स
[उत्तर-(द)]

6 मार्क्स ने द्वन्द्ववाद की अवधारणा किससे ग्रहण की थी?
(अ) फिकटे (ब) हीगल
(स) स्पेन्सर (द) कॉम्ट
[उत्तर-(ब)]

7 अतिरिक्त मूल्य की अवधारणा किसने प्रतिपादित की है?
(अ) मार्क्स (ब) वेबर
(स) दुर्खीम (द) हीगल
[उत्तर-(अ)]

8 "दुनिया के मजदूरो एक हो, तुम्हे तुम्हारी बेडियो के अतिरिक्त कुछ नहीं खोना है और पाने के लिए तुम्हारे पास सारा ससार पडा है।" यह कथन किस विद्वान् ने कहा है?
(अ) वेबर (ब) मार्क्स
(स) हीगल (द) प्लेटो
[उत्तर-(ब)]

अध्याय-10

कार्ल मार्क्स : द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद
(Karl Marx : Dialectical Materialism)

कार्ल मार्क्स ने मनुष्य की विवेचना द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के आधार पर की है। आप हीगल के विचारों से बहुत प्रभावित रहे। मार्क्स हीगल के दर्शन के प्रति ऋणी हैं जिनसे इन्होंने तर्क की द्वन्द्वात्मक व्यवस्था सीखी। कुछ विद्वान मार्क्स को हीगल का सीधा उत्तराधिकारी मानते हैं। मार्क्स ने हीगल से द्वन्द्ववाद को प्राप्त किया लेकिन आपने इसमें कुछ संशोधन एवं परिवर्धन करके समाज का अध्ययन, विश्लेषण एवं व्याख्या की है। हीगल और मार्क्स दोनों ही मानव के विकास को एक प्रक्रिया के रूप में अपने विश्लेषण में अभिव्यक्त करते हैं। मार्क्स ने सन् 1836 में बर्लिन विश्वविद्यालय में जब प्रवेश लिया उस समय इस विश्वविद्यालय में आत्मा एवं द्वन्द्ववाद से सम्बन्धित विचारों का प्रभाव था। मार्क्स ने हीगल के द्वन्द्ववाद का गहन अध्ययन किया। आपने हीगल के विचारों से भिन्न विचार प्रकट किये। मार्क्स ने हीगल के द्वन्द्ववाद की आलोचना की जिसे उन्हीं के शब्दों में व्यक्त किया जा रहा है। यह शब्द आपने अपनी कृति ''पूँजी'' के प्रथम खण्ड में व्यक्त किये हैं—

''मैंने हीगल के द्वन्द्ववाद को सिर (मस्तिष्क, आत्मा) के बल पर खड़ा पाया, मैंने उसे पैरों के बल (पृथ्वी) पर, भौतिकता के आधार पर खड़ा कर दिया—। यदि आप रहस्यमय खोल (Shel) में से तार्किक सार तत्त्व को ढूँढ निकालना चाहते हैं, तो आपको उसे (हीगल के द्वन्द्ववाद को) बिल्कुल ही उलट देना होगा।''

मार्क्स ने हीगल के आदर्शवादी विचारों के स्थान पर द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद को प्रमुख माना है। हीगल के अनुसार प्रत्येक अवस्था पूर्व की अवस्था से अधिक विकसित होती है। हीगल विभिन्न अवस्थाओं को एक-दूसरे से जोड़कर अवलोकन करते हैं, जबकि मार्क्स प्रत्येक अवस्था को पूर्व की अवस्थाओं के परिणाम के रूप में देखते हैं। मार्क्स हीगल के प्रभावों से अत्यधिक प्रभावित रहे। मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की विवेचना करने से पूर्व यह आवश्यक हो जाता है कि पहले द्वन्द्ववाद का अर्थ और परिभाषा का अध्ययन किया जाये। इसके बाद हीगल के द्वन्द्ववाद का अध्ययन किया जाये। हीगल द्वारा वर्णित द्वन्द्ववाद के विभिन्न पहलुओं का अध्ययन किया जायेगा, इसके बाद ही मार्क्स के द्वन्द्ववाद के विभिन्न पहलुओं का अध्ययन किया जायेगा, जैसे—मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के लक्षण, मार्क्स एवं हीगल के द्वन्द्ववाद की तुलना, मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का मूल्यांकन, महत्त्व एवं उपयोगिता का अध्ययन किया जायेगा। इसी क्रम में द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की विवेचना प्रस्तुत है।

द्वन्द्ववाद का अर्थ एवं परिभाषा
(Meaning and Definition of Dialecticism)

द्वन्द्ववाद अंग्रेजी के शब्द 'Dialectics' शब्द का हिन्दी रूपान्तर है। अंग्रेजी मे यह शब्द लैटिन भाषा से आया है और लैटिन भाषा मे ग्रीक भाषा के डाइलेक्टिक (Dialektike) शब्द से बना है, जिसका अर्थ 'शास्त्रार्थ करना, वाद-विवाद करना अथवा तर्क-वितर्क करना' है। प्राचीन काल मे इस शब्द का प्रयोग तर्क-वितर्क करने के दौरान प्रतिवादी द्वारा प्रस्तुत तर्क मे विरोधों को स्पष्ट करना तथा उनका समाधान करना था। इस प्रकार से बातचीत करके आपस में शास्त्रार्थ करके सत्य तक पहुँचने की विधि को द्वन्द्ववाद कहते थे। प्राचीन काल मे विद्वानों का यह मत था कि किसी भी प्रकार के विचार में विरोध प्रकट करना ही सत्य तक पहुँचने का श्रेष्ठ मार्ग था। द्वन्द्ववाद यो परिभाषित किया जा सकता है कि किसी विषय के पक्ष एव विपक्ष के सम्बन्ध मे जो विचार हैं वही द्वन्द्व कहलाता है।

द्वन्द्ववाद चिन्तन की एक प्रणाली है जिसका प्रयोग प्रकृति के विकास को समझने के लिए किया जाता रहा है। विद्वानो का मानना है कि प्रकृति का विकास प्रकृति में विद्यमान विरोधी शक्तियो की अन्त:क्रिया के फलस्वरूप होता है।

हीगल का द्वन्द्ववाद
(Hegel's Dialecticism)

जिस प्रकार से हीगल के द्वन्द्ववाद का प्रभाव मार्क्स पर पड़ा है और मार्क्स ने द्वन्द्ववाद की अवधारणा हीगल से ग्रहण की है, उसी प्रकार हीगल पर 'फिकटे' के द्वन्द्ववाद का प्रभाव पड़ा और विद्वानो का मत है कि हीगल ने द्वन्द्ववाद की अवधारणा 'फिकटे' से ग्रहण की है। फिकटे का मत है कि प्रत्येक तर्क की तीन अवस्थाये होती है—प्रथम वाद, द्वितीय प्रतिवाद, और तृतीय समवाद। हीगल ने फिकटे के द्वन्द्ववाद को आगे बढ़ाया। हीगल ने मानव को समझने के लिए द्वन्द्ववाद का उपयोग किया है। हीगल इतिहास में विकास के सैद्धान्तिक अध्ययन से सम्बन्धित थे। हीगल ने तर्क की द्वन्द्वात्मक व्यवस्था को स्पष्ट किया और स्वाभाविक प्रक्रिया के रूप मे स्थापित किया। हीगल की मान्यता है कि विश्व की प्रगति गतिशील है और यह निरन्तर प्रवाहमान है। आपकी मान्यता थी कि विश्व की प्रगति को समझना है तो इसे विकास की प्रक्रिया द्वारा ही समझा जा सकता है। यह विकास क्रमिक और द्वन्द्वात्मक क्रम से होता है जो सीधी रेखा मे नहीं वरन् टेढ़े-मेढ़े रूप मे होता है। हीगल इसी विकास की प्रक्रिया को द्वन्द्व के रूप में मानने हैं। आपने सामाजिक विकास का सूत्र "वाद, प्रतिवाद और समवाद" दिया है। हीगल ने इस सूत्र के अतिरिक्त यह भी कहा है कि विश्व का निर्माण विचारो से होता है। परिवर्तन मात्रात्मक से गुणात्मक होता है तथा परिवर्तन की गति विरोधो के संघर्ष पर आधारित होती है। अब हम हीगल के इन्हीं सूत्रो एव नियमो का क्रमबद्ध एव विस्तृत विवेचन करेगे।

हीगल के द्वन्द्ववाद की प्रमुख विशेषता
(Main Features of Hegel's Dialecticism)

1. निरन्तर विकास (Continuous Development)—हीगल की मान्यता है कि मानव समाज का विकास निरन्तर होता रहता है, विकास कभी रुकता नहीं है। आपका मत है

कि सम्पूर्ण विश्व एक प्रकार से विकास की प्रक्रिया है जो अबाध गति से होता रहता है। विश्व के विकास का प्रभाव मानव व उसके समाज पर पड़ता है। विश्व एवं समाज के विकास के साथ-साथ मानव का विकास भी होता रहता है। हीगल इस तथ्य पर विशेष जोर देते हैं कि विकास की प्रक्रिया निश्चित बिन्दु की ओर गतिमान होती है। आपने विकास के इस तथ्य को निम्न शब्दों मे व्यक्त किया है, **"यह कोई पागल या अनियन्त्रित अथवा निरर्थक प्रवाह नहीं है बल्कि यह एक व्यवस्थित विकास है, एक उन्नति है।"** विकास की प्रक्रिया से सम्बन्धित आपने नियमो पर भी प्रकाश डाला है। आपका कहना है कि विकास की सम्पूर्ण प्रक्रिया तार्किक एवं क्रमबद्ध होती है। इतना ही नहीं यह परिवर्तन तार्किक नियमो द्वारा नियन्त्रित, निर्देशित और सचालित होता है। आपने विश्व के विकास की प्रक्रिया को संघर्ष एवं द्वन्द्ववाद के आधार पर वर्णित व विश्लेषित किया है।

2. संघर्ष एवं द्वन्द्ववाद (Conflict and Dialecticism)—हीगल घटना प्रवाह को एक विशेष दृष्टि से देखते हैं। इनकी दृष्टि से घटना मे उत्थान, परिवर्तन एवं विनाश की प्रक्रिया विद्यमान होती है। आपने स्पष्ट किया है कि यह परिवर्तन या विकास का क्रम निरन्तर गतिशील इस कारण रहता है, क्योकि घटना मे, विरोधी शक्तियो मे सघर्ष होता रहता है। हीगल के अनुसार, **"संसार में प्रत्येक वस्तु की प्रतिवादी वस्तु अवश्य होती है। पहले 'वाद' (Thesis) होता है, तब उसका प्रतिवाद (Antithesis) उत्पन्न होता है। इन दोनों (वाद और प्रतिवाद) के सघर्ष से एक तीसरी वस्तु उत्पन्न होती है जिसे 'समवाद' (Synthesis) कहते हैं।"**

हीगल की मान्यता है कि समवाद मे—वाद और प्रतिवाद—दोनो की ही विशेषताओ का समावेश होता है। समवाद विकास का अगला चरण होता है जो स्वयं में एक नई परिस्थिति भी है। समवाद क्योंकि वाद ओर प्रतिवाद के परस्पर सघर्ष का परिणाम है, इसलिए यह पूर्व के वाद और प्रतिवाद की अवस्था से अधिक उन्नत होता है। यह समवाद की अवस्था अधिक समय तक स्थिर नहीं रहती है। विकास के क्रम में कुछ समय के बाद यह समवाद स्वय एक वाद का रूप धारण कर लेता है। जब समवाद एक वाद का रूप धारण कर लेता है, तब धीरे-धीरे इसी मे से इसके विरोधी तत्त्व उभरते हैं और प्रतिवाद का रूप धारण कर लेते हैं। इस वाद और प्रतिवाद मे पुन: सघर्ष प्रारम्भ हो जाता है। इन दोनो के सघर्ष से पुन: एक तीसरी वस्तु उत्पन्न होती है जिसे नवीन समवाद कहते हैं। यह नवीन समवाद पहले वाले समवाद से अधिक विकसित और उच्चकोटि का होता है। हीगल का कथन है कि विकास का यह क्रम—वाद, प्रतिवाद और समवाद तथा पुन: समवाद एक वाद बन जाता है और उसके विरुद्ध मे प्रतिवाद जन्म लेता है, सघर्ष होता है। नवीन समवाद उत्पन्न होता है। तब तक चलता रहता है, जब तक विश्व अथवा समाज विकास की पूर्ण अवस्था मे नहीं पहुँच जाता है। आपने यह भी कहा है कि इस क्रम मे विश्व निरन्तर गतिमान रहता है, इसका विकास होता रहता है।

3. गति : विरोधो के संघर्ष पर आधारित (Speed Depends on Conflict and Opposition)—हीगल ने द्वन्द्ववाद से सम्बन्धित एक महत्त्वपूर्ण नियम यह भी बताया है कि विकास की गति इस तथ्य पर आधारित होती है कि विरोधी तत्त्वो का आन्तरिक संघर्ष कैसा है? आपका यह मत है कि विरोधी तत्त्वो का आन्तरिक संघर्ष विकास एवं गतिशीलता का प्रमुख कारण है। हीगल की मान्यता है कि विश्व की प्रत्येक वस्तु मे विरोधी

तत्त्व और गुण विद्यमान रहते हैं जिनमें परस्पर संघर्ष होता है। अगर यह संघर्ष धीरे-धीरे होगा तो विकास की गति भी धीमी होगी। जब वाद और प्रतिवाद मे सघर्ष तीव्र गति से होता है तो उसके परिणामस्वरूप विकास की गति भी तेज हो जाती है और वाद और प्रतिवाद के संघर्ष की गति का सह-सम्बन्ध विकास की गति से सीधा मानते हैं अर्थात् संघर्ष के मन्द और तीव्र होने का प्रभाव विकास की मन्द और तीव्र गति पर सीधा पडता है।

4. मात्रात्मक से गुणात्मक परिवर्तन (Change from quantity to quality)—हीगल ने द्वन्द्ववाद का महत्त्वपूर्ण नियम 'मात्रात्मक परिवर्तन से गुणात्मक परिवर्तन' बताया है। आपकी यह मान्यता है कि जब वाद और प्रतिवाद मे संघर्ष होता है और उसके परिणामस्वरूप समवाद के रूप मे परिवर्तन सामने आता है तो यह परिवर्तन उन्नत विकास की समवाद अवस्था मात्र सख्यात्मक या मात्रात्मक परिवर्तन ही नहीं होता है बल्कि यह गुणो के दृष्टिकोण से भी अधिक उन्नत अवस्था है। हीगल यह कहते हैं कि विकास की प्रत्येक अगली व्यवस्था (समवाद) पूर्व की अवस्था (वाद और प्रतिवाद का सघर्ष) से मात्रा एव गुण दोनो ही दृष्टिकोणो से अधिक विकसित होती है क्योकि आपने विकास की प्रक्रिया का कारण विचार माना है इसलिए आप द्वन्द्ववाद मे विकास के नियम मात्रात्मक से गुणात्मक पर अधिक बल देते हैं।

5. विचार : निर्णायक वाद (Idea Determinism) —हीगल की सबसे महत्त्वपूर्ण मान्यता द्वन्द्ववाद में विचार, विवेक अथवा चिन्तन की प्रक्रिया प्रमुख है। आपकी मान्यता थी कि विश्व का विकास एव निर्माण विवेक द्वारा होता है। आपने सभी परिणामो; परिवर्तनो एव विकास का कारण विवेक को माना है। हीगल ने स्पष्ट रूप से लिखा है कि विश्व का नियन्त्रक और निर्णायक विवेक है। आपके अनुसार सर्वप्रथम विचारो मे परिवर्तन होता है। मानव समाज की प्रगति निरन्तर द्वन्द्ववादी विधि से होती है। इस प्रगति मे प्रमुख स्थान विचार का है। आपके अनुसार बाह्य जगत का जो भी स्वरूप है वह विचारो का ही प्रतिबिम्ब है। हीगल के लिए चिन्तन एक स्वतन्त्र कारक है, वास्तविक जगत् का सृजनकर्ता और वास्तविक विचार का बाह्य रूप है। हीगल का विश्वास था कि प्रकृति और समाज का विकास **निरपेक्ष विचार** से ही शासित है। हीगल की दार्शनिक प्रणाली आत्मवादी या आदर्शवादी है। हीगल यह कहते हैं कि विचार ही विश्व को नियन्त्रित करता है। आत्मा स्वयं अपनी अन्तर्विरोधी प्रवृत्ति से संघर्ष करती रहती है। आत्मा के सामने आदर्श होते हैं, तथा उन आदर्शों को प्राप्त करने के लिए आत्मा प्रयास करती रहती है। इसको हीगल 'वाद' की सज्ञा देते हैं। विरोधी प्रवृत्तियाँ आत्मा या विश्वात्मा को अपने आदर्शों को प्राप्त नहीं करने देती हैं, इससे दोनो मे अर्थात् वाद और प्रतिवाद, विचार और विरोधी प्रवृत्तियो मे संघर्ष होता है इस सघर्ष के परिणामस्वरूप भी समवाद विकसित हो जाता है जो विचारो एव विरोधी प्रवृत्तियो के सघर्ष का परिणाम है।

हीगल सभी परिणामों और परिवर्तनो का कारण 'विचार' मानते हैं। सभी परिणामो का निर्धारक और निर्णायक हीगल के अनुसार विचार है। हीगल मानव इतिहास की व्याख्या विचारो के आधार पर करते हैं। आपकी मान्यता है कि बाह्य विश्व आन्तरिक विचारो का ही प्रतिबिम्ब है। मानव इतिहास मे सभ्यता की प्रत्येक अवस्था एक वाद है। यह वाद अपूर्ण तथा अपर्याप्त विचार का सूचक है। आपका कहना है कि अपूर्णता का अर्थ है विचार का

दूसरा पक्ष भी कोई-न-कोई विद्यमान है जो पहली अवस्था का विरोध करता है। इन दोनो विरोधी विचारो मे सघर्ष होना अवश्यम्भावी है। मानव मस्तिष्क विरोधो को समाधान किये बिना ग्रहण नहीं करता है। वाद और प्रतिवाद ये दो विरोधी विचारधाराएँ हैं, जिनके पारस्परिक संघर्ष के परिणामस्वरूप तीसरा विचार जिसे समवाद कहते हैं, उत्पन्न होता है। हीगल समवाद को नवीन विचार मानता है जो पूर्व के विचारो से उन्नत होता है। हीगल की द्वन्द्ववादी प्रक्रिया मे विचारो मे सघर्ष की निरन्तरता देखने को मिलती है। समवाद जो कि एक नया विचार है धीरे-धीरे एक वाद के रूप मे विकसित हो जाता है। इसके विरुद्ध मे एक नई विचारधारा प्रतिवाद के रूप में सघर्ष करती है, जिसका परिणाम एक नये समवाद को जन्म देता है। निष्कर्षत: यह कह सकते हैं कि हीगल की मानव समाज की प्रगति की द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया 'विचार, विरोधी विचार और समवाद' के परिणाम की प्रक्रिया है। इसीलिए हीगल का द्वन्द्वात्मक सिद्धान्त 'विचार : निर्णायक वाद' कहा जा सकता है।

कार्ल मार्क्स का द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद
(Karl Marx : Dialectical Materialism)

कार्ल मार्क्स मौलिक रूप से हीगल के द्वन्द्वात्मक सिद्धान्त से प्रभावित थे। आपने तर्क द्वन्द्वात्मक व्यवस्था हीगल से ग्रहण की लेकिन कार्ल मार्क्स और हीगल के द्वन्द्ववाद में एक मौलिक अन्तर विश्व के विकास के कारण से सम्बन्धित है। हीगल विश्व के विकास का निर्णायक कारण 'विचार' मानते हैं और मार्क्स सभी परिवर्तनो का कारण भौतिक (आर्थिक) मानते हैं। मार्क्स ने हीगल के द्वन्द्ववाद को सशोधित करके अपने अध्ययनो मे प्रयुक्त किया है। मार्क्स ने स्पष्ट रूप से विचारो को परिवर्तन का कारण न मानकर परिणाम माना है। हीगल विचारो को कारण और भौतिक जगत् को परिणाम मानते हैं, इसके विपरीत मार्क्स भौतिक को कारण मानते हैं और विचारो को इसका परिणाम मानते हैं। मार्क्स ने इस तथ्य को, स्पष्ट रूप से हीगल के दार्शनिक आदर्शवाद को, काल्पनिक एव त्रुटिपूर्ण बताया है जो कि मार्क्स के निम्न कथन से स्पष्ट हो जाता है।

"मेरी द्वन्द्वात्मक प्रणाली हीगल की प्रणाली से केवल भिन्न ही नहीं बल्कि उसके विपरीत है............ हीगल की रचनाओं मे द्वन्द्ववाद अपने सिर के बल पर खड़ा है। यदि उसके रहस्यवादी लपेटो में छिपे हुए तार्किक तत्त्व को समझना है तो उसे पैरों के बल सीधा खड़ा करना होगा.......... (और) मैंने उसे सीधा पैरों के बल खड़ा कर दिया है।"

मार्क्स ने हीगल के विचार पर आधारित द्वन्द्ववाद को रहस्यवादी बताया है। मार्क्स की आपत्ति यह है कि हीगल के विचार द्वन्द्ववाद की प्रामाणिकता की जाँच नहीं कर सकते क्योंकि विचार अमूर्त है, उसका अवलोकन नहीं किया जा सकता, वह अदृश्य है, स्पर्श करने का तो प्रश्न ही नहीं उठता है। मार्क्स यह भी कहते हैं कि विचार का प्रभाव अच्छा पड़ा या बुरा, इसकी भी वैज्ञानिक जाँच नहीं कर सकते। इन्हीं अमूर्त विशेषताओं के कारण मार्क्स ने हीगल के विचार द्वन्द्ववाद को अवैज्ञानिक बताया है। मार्क्स हीगल के द्वन्द्वात्मक विकासवाद को मानते हैं लेकिन विकास के कारण विचार, आत्मा, विवेक, चिन्तन आदि को नहीं मानते। आपकी आपत्ति का प्रमुख कारण द्वन्द्ववाद मे प्रयोग-सिद्ध तथ्यों का अभाव बताया गया है। मार्क्स सामाजिक अध्ययनो में भौतिकशास्त्र एवं रसायनशास्त्र की तरह

अध्ययन करना चाहते थे। मार्क्स का यही प्रयास रहा कि प्राकृतिक विचारो की तरह सामाजिक अध्ययनो मे भी उन कारको का अध्ययन किया जाए तो मूर्त है, जिनका अवलोकन करना सम्भव है, जिनको देख सकते हैं, छू सकते हैं। आप अदृश्य विचार, विश्वास, विवेक और चिन्तन आदि को कोई महत्त्व नहीं देते हैं जैसा कि हीगल ने किया है। मार्क्स भौतिक पदार्थ—पृथ्वी, पत्थर, मिट्टी अन्य वस्तुओं को सत्य मानते है। हीगल की विश्वात्मा रहस्यमयी एव अगम्य है और पदार्थ मूर्त होने के कारण गम्य है। मार्क्स का विश्वास था कि सतत् प्रयत्नो और परीक्षणों द्वारा भौतिक पदार्थ को समझा जाता है। मार्क्स का कहना है कि हीगल उस वास्तविक दुनिया को भूल गये जिसमे उनका पालन-पोषण हुआ, जिसने उनको साधन उपलब्ध करवाये और जिसके कारण हीगल का दर्शन सम्भव हुआ। मार्क्स ने हीगल की कटु आलोचना करते हुए लिखा है कि हीगल की यह मान्यता कि दर्शन के कारण ही दुनिया सम्भव हुई है, हीगल की यह बहुत बडी भूल है। मार्क्स कहते हैं कि पदार्थ के द्वारा ही विचार सम्भव होते है। पदार्थ विचारों का निर्णायक है न कि विचार पदार्थों के निर्णायक हैं। इसी सन्दर्भ मे मार्क्स ने कहा कि हीगल का द्वन्द्ववाद सिर के बल खडा है। हीगल का द्वन्द्ववाद उल्टा है, मार्क्स ने उसे सीधा पैरो के बल खडा किया है। मार्क्स के द्वन्द्वात्मक सिद्धान्त का आधार भौतिकवादी है। मार्क्स का लक्ष्य ऐसे भौतिक द्वन्द्ववाद को प्रतिपादित करना था जिसके द्वारा—सामाजिक जीवन और प्रकृति—दोनो को समझा जा सके। मार्क्स ने जो द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का सिद्धान्त प्रतिपादित किया है वह निम्न प्रकार है—

मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की प्रमुख विशेषताएँ (Main Features of Marx's Dialectical Materialism)

1. पूर्ण समग्रता (Integrated Whole)—कार्ल मार्क्स की मान्यता है कि विश्व एक व्यवस्थित पूर्ण है। आप प्रकृति को पूर्ण समग्रता के रूप मे देखते है जिसमे विभिन्न वस्तुएँ एवं घटनाएँ परस्पर एक-दूसरे से सम्बन्धित और अन्योन्याश्रित है। यह परस्पर निर्भरता, अपरिहार्यता तथा एकता वैसी ही है जैसी जीव जगत मे जीवो मे होती है। कार्ल मार्क्स अपने द्वन्द्ववाद मे प्रकृति की वस्तुओ को सम्बन्धित और सगठित मानते है। आपकी मान्यता है कि प्रकृति की सब घटनाओ को पृथक्-स्वतन्त्र और असम्बद्ध नहीं देखना चाहिए। एक विशिष्ट घटना का प्रभाव अन्य सभी घटनाओं पर पडता है और अन्य सभी घटनाओं का प्रभाव पडता है। इसलिए किसी भी घटना के सम्बन्ध मे पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने के लिए सम्बन्धित कारको और घटनाओ का अध्ययन एक पूर्ण समग्रता के रूप मे करना अत्यावश्यक है।

2. सतत् गतिशीलता और परिवर्तनशीलता (Continuous Dynamism and Change) —कार्ल मार्क्स की मान्यता है कि द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद इस मान्यता पर आधारित है कि प्रत्येक वस्तु निरन्तर गतिशील रहती है। उसमे निरन्तर परिवर्तन होता रहता है। मार्क्स यह मानते हैं कि प्रकृति मे कुछ वस्तुओ का हमेशा उद्भव व विकास होता रहता है तथा कुछ वस्तुओं का विकास एव विनाश होता रहता है। मार्क्स अपने द्वन्द्ववाद मे भौतिक वस्तुओ को विशेष महत्त्व देते हैं। मार्क्स की मान्यता है कि भौतिक पदार्थो मे विरोधी तत्त्व विद्यमान होते हैं, उनमे सघर्ष है। पदार्थ सक्रिय होते हैं उनमे विकास आन्तरिक विशेषताओं

के कारण होता है जो प्रकृति के विकास के नियम को बनाये रखता है। विकास की प्रक्रिया का आधार मार्क्स के अनुसार संघर्ष है। मार्क्स के साथी एंजल्स ने द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की सतत् गतिशीलता और परिवर्तनशीलता की विशेषता निम्न शब्दो मे व्यक्त की है—

"समस्त प्रकृति छोटे से लेकर बड़े तक, बालू-कण से लेकर सूर्य तक, वाहकणु से लेकर व्यक्ति तक आने और चले जाने की एक निरन्तर स्थिति में, निरन्तर प्रवाह में, अनवरत गति तथा परिवर्तन की स्थिति में है।"

3. मात्रात्मक परिवर्तन से गुणात्मक परिवर्तन (Change from Quantity to Quality)—मार्क्स की मान्यता है कि विकास की प्रक्रिया को केवल मात्र द्वन्द्ववाद के अनुसार ही समझा जा सकता है। आपका कहना है कि छोटे-छोटे मात्रात्मक परिवर्तन से बड़े-से-बड़ा गुणात्मक परिवर्तन भी हो सकता है। यह परिवर्तन यकायक भी हो सकते हैं, उनकी गति तीव्र भी हो सकती है। परिवर्तन की प्रक्रिया निरन्तर आगे अवस्था की ओर जाती है। यह पूर्व की अवस्था को दोहराती नही है। विकास की प्रक्रिया मात्रात्मक या परिमाणात्मक परिवर्तन से गुणात्मक परिवर्तन मे होती है जो सरल एव न्यून निपुणता से पूर्ण निपुणता की ओर होती है। द्वन्द्वात्मक परिवर्तन सदैव उन्नति की ओर होता है। मार्क्स के अनुसार, परिवर्तन चक्र के रूप मे नहीं होता है वह सरल से जटिल अवस्था मे परिवर्तन होता है। परिवर्तन टेढे-मेढे रूप मे होता है। मात्रात्मक परिवर्तन पहले धीरे-धीरे होता है और एक अवस्था ऐसी आती है जिसमे वह गुणात्मक परिवर्तन की अवस्था मे पहुँच जाता है।

मात्रात्मक परिवर्तन से गुणात्मक परिवर्तन को पानी के विभिन्न परिवर्तनो के द्वारा समझा जा सकता है। सामान्य तापक्रम पर पानी तरल एवं द्रव अवस्था मे होता है। जब तापक्रम को बढाया जाता है या पानी को गर्म किया जाता है तो एक अवस्था ऐसी आती है जिसमे वह भाप बन जाता है। पानी का भाप बनना अर्थात् द्रव से गैस मे परिवर्तन होना—मात्रात्मक परिवर्तन से गुणात्मक परिवर्तन का उदाहरण है। इसी प्रकार जब पानी का तापक्रम घटाया जाता है तो एक अवस्था ऐसी आती है जिसमे पानी बर्फ बन जाता है। यह परिवर्तन उनसे ठोस पदार्थ का परिवर्तन है जो कि परिमाणात्मक से गुणात्मक परिवर्तन का उदाहरण है। मार्क्स की मान्यता है कि सामाजिक परिवर्तन भी आर्थिक कारको के प्रभाव मे परिमाणात्मक से गुणात्मक मे परिवर्तन हो जाते हैं।

4. संघर्ष एवं द्वन्द्ववाद (Conflict and Dialecticism)—मार्क्स का कथन है कि विश्व का विकास संघर्ष की प्रक्रिया द्वारा होता है। आप संघर्ष—आन्तरिक और बाह्य—दोनो ही रूपो मे होना मानते हैं। मार्क्स के अनुसार समाज के विकास का मूल कारण संघर्ष है। इनका कहना है कि संघर्ष आर्थिक तत्वो के कारण पैदा होता है। द्वन्द्ववाद के अनुसार सभी वस्तुओ मे विरोध विद्यमान है। समस्त प्राकृतिक घटनाओ, वस्तुओ में वाद और प्रतिवाद, भूत और भविष्य, विकास और विनाश दोनो ही प्रकार के सकारात्मक और नकारात्मक तत्व एवं पक्ष विद्यमान होते हैं। इन विरोधी तत्वो मे परस्पर संघर्ष होता है। मार्क्स के अनुसार संघर्ष विकास की प्रक्रिया की मूल विशेषता है। मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के अनुसार पदार्थों का विकास सदैव पारस्परिक संघर्षो के कारण होता है।

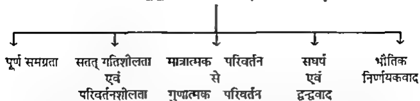
कार्ल मार्क्स अन्तिम सत्य भौतिक जगत् को मानते हैं न कि विचार। आपका कहना है विश्व का मूल पदार्थों के संघर्ष में छिपा है। मार्क्स का द्वन्द्ववाद भौतिकवादी है। आपका

कहना है कि विकास संघर्ष एवं द्वन्द्व के कारण होता है। सभी वस्तुओ मे विरोधी तत्त्व होने के कारण उनमे टकराव और संघर्ष होता है जो कि द्वन्द्ववाद के रूप मे चलता रहता है अर्थात् 'वाद, प्रतिवाद और समवाद' के रूप मे होता रहता है। मार्क्स के अनुसार यह द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया तब तक चलती रहती है, जब तक समाज एक वर्गविहीन समाज की अवस्था मे नहीं पहुँच जाता है। मार्क्स ने इसे निम्न रूप मे प्रस्तुत किया है।

मार्क्स की मान्यता है कि समाज मे दो वर्ग होते हैं—एक वर्ग वह है जिसका आर्थिक प्रणाली पर स्वामित्व होता है, यह वर्ग उत्पादन के साधन तथा उत्पादन की शक्तियो को नियन्त्रित करता है। जैसे उत्पादन के साधन होगे वैसी ही समाज की व्यवस्था एव विचारधारा होगी जिसको यह वर्ग निर्धारित करता है जिसका उत्पादन के साधनो पर आधिपत्य होता है। मार्क्स के अनुसार यह वर्ग शोषक-वर्ग कहलाता है। इस शोषक-वर्ग द्वारा निर्धारित व्यवस्था में विरोधी तत्त्व विद्यमान होते हैं। दूसरा वर्ग जो कि शोषित-वर्ग है जिसका उत्पादन के साधनो एवं आर्थिक प्रणाली पर आधिपत्य नहीं है वह वर्ग शोषक-वर्ग का विरोध करता है। मार्क्स के अनुसार शोषक-वर्ग व शोषित-वर्ग मे संघर्ष होता है। वाद का समर्थन शोषक-वर्ग करता है तथा शोषित-वर्ग प्रतिवाद के रूप मे विरोध करता है। इन दोनो मे संघर्ष के परिणामस्वरूप समवाद उत्पन्न होता है। समाज मे एक नई व्यवस्था स्थापित हो जाती है। कुछ समय के बाद यह समवाद जो उत्पादन के साधनो मे परिवर्तन के स्वरूप विकसित हुआ है धीरे-धीरे एक नये वाद व शोषक वर्ग का रूप धारण कर लेता है। इसके विरोध मे इसी मे से विरोधी तत्त्व शोषित वर्ग के द्वारा प्रतिवाद के रूप मे उभर कर सामने आते है। इन दोनो मे संघर्ष होता है, उसके परिणामस्वरूप एक 'नया समवाद' उत्पन्न होता है। मार्क्स की मान्यता है कि उत्पादन के साधनो मे परिवर्तन के कारण शोषक-वर्ग और शोषित-वर्ग मे संघर्ष होता है। यह प्रक्रिया 'वाद, प्रतिवाद और समवाद' के रूप मे आर्थिक कारणो से तब तक चलती रहती है जब तक आर्थिक समानता समाज में स्थापित नहीं हो पाती। मार्क्स के अनुसार आर्थिक कारक सामाजिक परिवर्तन और विकास की प्रक्रिया, विभिन्न वर्गों मे वाद, प्रतिवाद और समवाद के क्रम मे संघर्ष के रूप मे होती रहती है।

5. भौतिक निर्णायकवाद (Materialistic Determinism)—कार्ल मार्क्स की सबसे महत्त्वपूर्ण मान्यता द्वन्द्ववाद मे भौतिकवाद की प्रक्रिया प्रमुख है। आपके द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के अनुसार सर्वप्रथम परिवर्तन पदार्थों मे होता है। पदार्थ विश्व का मूल है। मार्क्स की मान्यता है कि विश्व की वास्तविकता भौतिक जगत् है। सभी अन्य परिवर्तनो का कारण पदार्थ है। आपका मत है कि विश्व और उसकी प्रकृति को समझने के लिए हमे परिवर्तन एवं गतिशीलता को ध्यान मे रखना होगा। विकास हमेशा पदार्थों में पारस्परिक संघर्षो के कारण होता है। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के अनुसार मार्क्स का कहना है कि पदार्थ सक्रिय होते हैं, निष्क्रिय नहीं होते हैं। मार्क्स एक ही कारक को सभी परिवर्तनो का कारण मानते हैं। वह कारण पदार्थ (आर्थिक) है। आप भौतिक वस्तुओ को प्रथम, अन्तिम एवं महत्त्वपूर्ण कारक मानते हैं तथा विकास की प्रक्रिया का आधार इन्हीं भौतिक पदार्थों में आन्तरिक विरोध को मानते हैं।

मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की विशेषताओ को अग्र चित्र द्वारा प्रदर्शित किया जा सकता है—



मार्क्स हीगल से विपरीत मत व्यक्त करते हैं। जहाँ हीगल पदार्थों का निर्णायक चेतना को मानते हैं, वहीं मार्क्स चेतना का निर्णायक पदार्थ (आर्थिकी) को मानते हैं। मार्क्स समस्त विश्व का आधार भौतिक पदार्थ को मानते हैं। आप चेतना तक को पदार्थ के अधीन मानते हैं। इतना ही नहीं, मार्क्स पदार्थ को सम्पूर्ण विश्व की निर्णायक शक्ति के रूप मे प्रस्तुत करते हैं। निष्कर्षत: यह कहा जा सकता है कि मार्क्स सभी परिणामो और परिवर्तनो का कारण भौतिक पदार्थों को मानते हैं। आपने मानव इतिहास की व्याख्या द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के आधार पर की है। मार्क्स का द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद समाज, सस्कृति, विज्ञान, कला-साहित्य, विचार, दर्शन, धर्म और राजनैतिक व्यवस्था आदि का कारण, निर्णायक, नियत्रक भौतिक पदार्थ है।

मार्क्स तथा हीगल के द्वन्द्ववाद की तुलना
(Comparison of Marx's and Hegel's Dialecticism)

मार्क्स ने द्वन्द्ववाद की अवधारणा हीगल से ग्रहण की है। आप हीगल के विचारो से बहुत प्रभावित रहे हैं, लेकिन मार्क्स ने हीगल से भिन्न द्वन्द्ववाद प्रस्तुत किया है। मार्क्स ने हीगल के द्वन्द्ववाद की आलोचना की और कहा कि हीगल का द्वन्द्ववाद उलटा था, जिसे उसने सीधा किया। मार्क्स के द्वन्द्ववाद को समझने के लिए आवश्यक है कि इनके द्वन्द्ववाद को हीगल के सन्दर्भ मे समानताओ और असमानताओ के आधार पर देखा जाए जो निम्न प्रकार है—

मार्क्स और हीगल के द्वन्द्ववाद में समानताएँ
(Similarities Between Marx's and Hegel's Dialecticism)

1. सघर्ष एवं द्वन्द्ववाद (Conflict and Dialecticism)—मार्क्स तथा हीगल के द्वन्द्ववाद मे सबसे महत्त्वपूर्ण समानता विकास की प्रक्रिया के सम्बन्ध में है। आप दोनो की मान्यता है कि विकास की प्रक्रिया 'वाद, प्रतिवाद और समवाद' की स्थितियो मे से होकर गुजरती है। मार्क्स और हीगल दोनों ही ये मानते हैं कि परिवर्तन का कारण सघर्ष है। यह घटनाओ मे विरोधी शक्तियो में संघर्ष को मानते हैं।

2. निरन्तर विकास (Continuous Development)—मार्क्स और हीगल के विचारो की एक प्रमुख विशेषता यह है कि आप दोनो मानव समाज के विकास को एक निरन्तर प्रक्रिया के रूप मे मानते हैं। दोनो का ही यह मानना है कि उद्भव एवं विकास सदैव होता रहता है। विकास आन्तरिक लक्षणों, मतभेदो एवं संघर्ष का परिणाम है। विकास की प्रक्रिया का आधार संघर्ष एवं वाद, प्रतिवाद एवं समवाद का परिणाम है।

3. मात्रात्मक-परिवर्तन से गुणात्मक-परिवर्तन (Change from Quantity to Quality)—मार्क्स एवं हीगल के द्वन्द्ववाद मे तीसरी समानता मात्रात्मक परिवर्तन से गुणात्मक-परिवर्तन सम्बन्धी विचारो में मिलती है। दोनों का मत है कि विश्व एवं समाज के विकास एवं परिवर्तन की प्रक्रिया मे गुणात्मक-परिवर्तन मे मात्रात्मक-परिवर्तन का नियम देखा जा सकता है। आप दोनो ही मात्रात्मक-परिवर्तन से गुणात्मक-परिवर्तन पर जोर देते हैं।

4. निर्णायकवाद (Determinism)—मार्क्स एव हीगल के द्वन्द्ववाद मे सबसे प्रमुख समानता इनके विचारो मे निर्णायकवाद के सम्बन्ध मे देखी जा सकती है। आप दोनो ही विश्व एवं समाज के परिवर्तन का कारण मात्र एक कारक को मानते हैं। मार्क्स एव हीगल सभी परिवर्तनों, परिणामो व विकास आदि का निर्णायक, निर्धारक एव नियन्त्रक एक कारक को ही मानते हैं। इसीलिए ये दोनो ही महान् विचारक एकवाद मे विश्वास रखते हैं, जो इनकी समानता को व्यक्त करता है। इनमे उपर्युक्त समानताएँ होते हुए भी निम्नलिखित मौलिक भिन्नताएँ मिलती हैं।

मार्क्स और हीगल के द्वन्द्ववाद में असमानताएँ
(Dissimilarities Between Marx's and Hegel's Dialecticism)

मार्क्स एव हीगल के द्वन्द्ववाद मे—संघर्ष एव द्वन्द्ववाद, निरन्तर विकास, मात्रात्मक-परिवर्तन से गुणात्मक-परिवर्तन तथा निर्णायकवाद से सम्बन्धित समानताएँ होते हुए भी इन्हीं क्षेत्रों में समाज के अवलोकन, अध्ययन एवं निष्कर्षों के दृष्टिकोण से निम्नलिखित भिन्नताएँ दृष्टिगोचर होती हैं—

1. द्वन्द्ववाद का आधार (Basis of Dialecticism)—मार्क्स ने हीगल से द्वन्द्ववाद को ग्रहण किया लेकिन मार्क्स ने सबसे प्रमुख आपत्ति हीगल के द्वन्द्वात्मक सिद्धान्त के सम्बन्ध मे आधार को लेकर उठाई है। हीगल द्वन्द्ववाद का आधार विचार, विवेक, चिन्तन और आत्मा या विश्वात्मा को मानते हैं। हीगल की मान्यता है कि विश्व के विकास की प्रक्रिया का कारण विचार एवं चिन्तन है। आपके अनुसार पहले विचार मे परिवर्तन आता है, उसके बाद भौतिक जगत् मे परिवर्तन आता है। कार्ल मार्क्स की आपत्ति है कि पहले पदार्थ मे परिवर्तन आता है और उसके बाद विचार बदलते हैं। मार्क्स ने निम्न शब्दो मे इस आपत्ति को व्यक्त किया है, **"मेरी द्वन्द्वात्मक प्रणाली हीगल की प्रणाली से केवल भिन्न ही नहीं, बल्कि उसके विपरीत है...... हीगल की रचनाओं में द्वन्द्ववाद अपने सिर के बल खड़ा है। यदि उसके रहस्यवादी लपेटों में छिपे हुए तार्किक तत्त्वों को समझना है तो उसे पैरों के बल सीधा खड़ा करना होगा..... और मैंने उसे पैरो के बल खड़ा कर दिया है।"**

हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि मार्क्स का द्वन्द्ववाद भौतिक पदार्थ (आर्थिकी) पर आधारित है और हीगल का द्वन्द्ववाद विचार या विवेक पर आधारित है।

2. परिवर्तन का कारण (Cause of Change)—हीगल द्वन्द्ववाद का आधार विचार मानते हुए लिखते हैं कि बाह्य विश्व आन्तरिक विचारो का ही प्रतिरूप है। इसके विपरीत मार्क्स का कथन है कि बाह्य विश्व का प्रभाव ही आन्तरिक विचारो का निर्णायक है। हीगल के अनुसार विचार से पदार्थ में परिवर्तन आता है, जबकि मार्क्स के लिए पदार्थ ही अन्तिम सत्य है। मार्क्स ने अपने ये विचार अग्र शब्दो में व्यक्त किये हैं—

"मनुष्य की चेतना मनुष्य के अस्तित्व को निश्चित नहीं करती, अपितु उसके विपरीत मनुष्य की चेतना उसके सामाजिक अस्तित्व द्वारा निर्धारित होती है।"

वेबर ने हीगल और मार्क्स के द्वन्द्ववाद की तुलना की है। वेबर ने पाया है कि हीगल जगत् का मूल तत्त्व आत्मा (Spirit) को मानते हैं लेकिन मार्क्स भौतिक पदार्थ को मानते हैं। वेबर ने ये विचार निम्न शब्दो मे व्यक्त किये हैं—

"हीगल के लिए जगत् का मूल तत्त्व आत्मा है। मार्क्स के लिए दोनों ही पदार्थ (आत्मा और पदार्थ) आन्तरिक द्वन्द्व के कारण निश्चित होते हैं।"

3. अन्तिम लक्ष्य (Ultimate Aim)—हीगल के द्वन्द्ववाद मे अन्तिम लक्ष्य विचार को *आत्माभिव्यक्ति रहा है, जबकि मार्क्स के द्वन्द्ववाद मे अन्तिम लक्ष्य वर्गविहीन* समाज की स्थापना रहा है। हीगल के लिए विकास का अन्तिम चरण निरपेक्ष विचार की अनुभूति है। इसके विपरीत मार्क्स के लिए विकास का अन्तिम चरण एक वर्ग-विहीन समाज की स्थापना है।

वेबर ने मार्क्स और हीगल के द्वन्द्ववाद की तुलना करते हुए इसी भिन्नता को निम्न शब्दों मे व्यक्त किया है—

"हीगल के लिए अन्तिम लक्ष्य विचार की अभिव्यक्ति है, मार्क्स के लिए यह वर्ग-विहीन समाज की स्थापना है—ऐसे समाज की स्थापना जिसमें उत्पादन पर्याप्त होगा और जिसमें संघर्ष के लिए कोई स्थान न होगा।"

सैबाइन ने भी हीगल और मार्क्स के विचारो का अध्ययन किया और इन दोनो के लक्ष्यो के सम्बन्ध मे भिन्नता को निम्न शब्दो मे व्यक्त किया है—

"हीगल ने यह माना था कि यूरोप के इतिहास का अन्त जर्मन राष्ट्र के उत्थान में होगा और उनको आशा थी कि यूरोप की सभ्यता में जर्मन का आध्यात्मिक नेतृत्व होगा, तो मार्क्स की मान्यता थी कि इतिहास वर्ग के उत्थान मे समाप्त होगा और वह पूँजीवाद के विकास का मुख्य सामाजिक परिणाम होगा। हीगल के लिए ऐतिहासिक विकास का यन्त्र राष्ट्रों के बीच युद्ध था, मार्क्स के लिए यह क्रान्तिकारी वर्ग-संघर्ष था।"

मार्क्स एवं हीगल के द्वन्द्ववाद मे प्रमुख अन्तर यही है कि हीगल अन्तिम चरण को आत्म चेतना कहते हैं और मार्क्स उसे साम्यवाद कहते हैं। आप दोनो के द्वन्द्ववाद में एक अन्तर यह भी देखा जा सकता है कि हीगल के द्वन्द्ववाद की प्रक्रिया मार्क्स के द्वन्द्ववाद की प्रक्रिया से सरल है। मार्क्स ने अपने द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद को अत्यन्त जटिल बना दिया है। हीगल ने प्रकृति और आत्मा को व्याख्या करते हुए निरपेक्ष आत्मा की विवेचना की है। आपकी व्याख्या त्रय (वाद, प्रतिवाद, समवाद) के आधार पर टिकी है, जबकि मार्क्स ने प्रत्येक वस्तु को हीगल की तुलना में जटिल रूप मे प्रस्तुत किया है। आप प्रत्येक वस्तु को बनते-बिगड़ते, आते-जाते, उलझते-टकराते, बदलते-उभरते के क्रमों में देखते हैं।

मार्क्स ने अपने द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद मे विचार, विवेक, चिन्तन और आत्मा या विश्वात्मा की उपेक्षा की है तो दूसरी ओर हीगल के द्वन्द्ववाद मे भौतिक पदार्थ की उपेक्षा दृष्टिगोचर होती है। इस प्रकार दोनो के विचारो मे उपर्युक्त अन्तर है।

मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का आलोचनात्मक मूल्यांकन[1]
(Critical Evaluation of Marx's Dialetical Mateliatism)

मार्क्स की शब्द-योजना की अस्पष्टता तथा अनेकार्थता के कारण इनके तथा एंजल्स के सिद्धान्तो की भिन्न-भिन्न व्याख्याएँ विभिन्न लेखको मार्क्सवादियो तथा अ-मार्क्सवादियो ने की हैं। अब हम यहाँ पर मार्क्सवाद की विभिन्न व्याख्याओ मे से कुछ महत्त्वपूर्ण व्याख्याओं तथा अभ्युपगमो की विवेचना करेंगे—

1. इस सिद्धान्त की पहिली कमी है—कारण-सम्बन्ध और निर्णायकवाद की अवधारणा (Its first shortcoming is its Conception of Causal-relation and Determinism)—मार्क्स की मान्यता है, "सामाजिक, राजनैतिक और आध्यात्मिक जीवन की प्रक्रियाओ के सामान्य लक्षणो का निर्धारण उत्पादन की विधियाँ करती हैं।" आप एक-तरफा कारण-सम्बन्ध अवधारणा की पूर्व-कल्पना करते हैं। इस मान्यता को निकट से देखने से स्पष्ट होता है कि मार्क्स के सिद्धान्त का प्रथम विचार ये है कि आर्थिक कारक मुख्य अथवा सबसे महत्त्वपूर्ण कारक है जो अन्य सभी का निर्धारण करता है। मुख्य कारक के दो अर्थ हो सकते हैं—

(1) कार्यकारण शृंखला मे आर्थिक कारक प्रथम कारक है जो अन्य सभी सामाजिक घटनाओ का निर्धारण करता है, अथवा

(2) इस आर्थिक कारक की क्षमता बहुत अधिक है (मान लो इसका प्रभाव 90 प्रतिशत है और अन्य सभी कारको की तुलना मे उनका सम्पूर्ण प्रभाव 10 प्रतिशत है)।

पहिली व्याख्या कि आर्थिक कारक प्रथम तथा प्रमुख कारण है तथा अन्य सभी सामाजिक घटनाएँ उसका परिणाम है एक-तरफा तथा नहीं पलटने तथा अप्रत्यावर्तनीय कारण-सम्बन्ध रखने वाली अवधारणा है। आर्थिक कारण क्रियाशील है जो विभिन्न क्रियाओ, उत्पादनो तथा परिणामो का एक-तरफा निर्धारक है। इस प्रकार का नियम सामाजिक क्षेत्र की विभिन्न घटनाओं पर लागू नही हो सकता क्योकि सामाजिक घटनाएँ एक-तरफा न होकर पारस्परिक अन्योन्याश्रित होती हैं।

विज्ञान का नियम है कि किसी एक कारक को चर मानकर यह अध्ययन किया जाता है कि वह कारक अन्य घटनाओ और परिणामो से किस सीमा तक सह-सम्बन्धित है फिर इसको उलट कर अध्ययन किया जाता है जिसमे परिणाम को कारक तथा कारक को परिणाम के रूप मे रखकर अध्ययन किया जाता है। उदाहरण के रूप मे आर्थिक कारक को चर मानकर यह अध्ययन किया जाता है कि यह किस सीमा तक धार्मिक घटनाओ का निर्धारक तथा सह-सम्बन्धित है। दूसरे अध्ययन मे वैज्ञानिक धार्मिक घटनाओं को चर मानकर अध्ययन करता है कि धार्मिक कारक किस सीमा तक आर्थिक घटनाओ का निर्धारण करता है और सह-सम्बन्धित है। सामाजिक घटनाओ के क्षेत्र मे सामाजिक अनुसन्धानकर्त्ता सर्वदा पारस्परिक सम्बन्धो का अध्ययन करते हैं न कि एक-तरफा निर्भरता का अध्ययन

1 (1) स्रोत : पिटिरिम सोरोकिन (Pitrim Sorokin) कॉनटेम्पोरेरी सोशियोलॉजीकल थ्योरीज (Contemporary Sociological Theories) मे "कार्ल मार्क्स (1818-1883) और एफ एंजल्स (1820-1895) के सिद्धान्त" पृ 523-547), 1928।

करता है। एक-तरफा कारण-सम्बन्ध नियम पर आधारित अध्ययन हमें अनेक तार्किक और तथ्यात्मक दोषों की शृखला मे ढकेल देते हैं। मार्क्स की प्रथम व्याख्या इन्हीं दोषों से ग्रसित है। इस एक-तरफा निर्णायक कारण-सम्बन्ध नियम को जब सामाजिक पारस्परिक निर्भर घटनाओ पर लागू करते हैं। कुछ सिद्धान्त में तार्किक और तथ्यात्मक भ्रम उत्पन्न हो जाते हैं जो मार्क्सवादी समर्थकों तथा आलोचकों में विरोधी व्याख्याओं का कारण है। यह मार्क्स के सिद्धान्त को अनेक कमियों का स्रोत है।

मार्क्स, एन्जल्स तथा इनके अनुयाइयों में से किसी ने भी विभिन्न कारकों के सामाजिक घटनाओ मे तुलनात्मक प्रभावो को मापने के तरीकों को बताने का प्रयास नहीं किया। इस सिद्धान्त के साहित्यिक तथा तार्किक अर्थ के अनुसार आर्थिक कारक का प्रथम अर्थ ही लगाना होगा अर्थात् आर्थिक कारक प्रमुख तथा सबसे आरम्भक महत्त्वपूर्ण कारक है जो अन्य सभी सामाजिक घटनाओ की कारणीय शृखला का निर्धारण करता है क्योंकि यह 'चालक' है तो अन्य सभी 'चालित' हैं। एसी मान्यता को अनेक प्रमाणों के आधार पर स्वीकार नहीं किया जा सकता है। सावधानीपूर्वक किए गए अनेक अध्ययनो ने इस दोष को स्पष्ट कर दिया है। हम यह भी दावा नहीं कर सकते हैं कि मानव केवल आर्थिकी का दास है और सर्वदा आर्थिक क्रियाएँ करता है। ऐसा शास्त्रीय अर्थशास्त्रियो का मानना था जो तथ्यों के आधार पर त्रुटिपूर्ण है।

अनेक अन्वेषकों—एस्पीनास, दुर्खीम, पी. हूवेलिन, थर्मवाल्ड, मैलीनोव्स्की, हूबर्ट तथा माउस ने स्पष्ट किया है कि आदिम अवस्था तक में उत्पादन की प्रविधि तथा सम्पूर्ण आर्थिक जीवन समकालीन धर्म, जादू, विज्ञान तथा अन्य बौद्धिक घटनाओ से बिल्कुल अलग नहीं होता है। मैक्स वेबर ने सिद्ध किया है कि आर्थिक व्यवस्था का निर्धारण धर्म, जादू, तार्किकता और परम्परावाद करते हैं। आधुनिक पूँजीवाद की उत्पत्ति प्रोटेस्टेण्ट धर्म के द्वारा हुई है।

अत: यह निष्कर्ष निकलता है कि आर्थिक कारक अन्य कारको जितना प्राचीन नहीं है। इसका अर्थ यह भी है कि सामाजिक घटनाएँ पारस्परिक अन्योन्याश्रित थीं, है, और रहेगी। न तो कभी एक-तरफा थीं और न ही कभी एक-तरफा रहेगी।

पट्राजिट्के तथा आर स्टेम्मलर कहते हैं कि कानून तथा सामाजिक व्यवस्था आर्थिक सम्बन्धों की तार्किकता में तथ्यात्मकपूर्ण आवश्यकता है। व्यवहार के कर्त्तव्यो के नियमों के अभाव मे सामाजिक सम्बन्ध तथा पारस्परिक जीवन असम्भव हैं। अगर आर्थिक कारक चालक हैं तथा अन्य सभी सामाजिक परिवर्तन जीवन के क्षेत्रो में इससे होते हैं तो हम आर्थिक कारकों की गत्यात्मकता की व्याख्या कैसे करेंगे। क्या आर्थिक कारक स्वयं आरम्भक है अथवा वे किसी अन्य कारक से चलायमान होते हैं? स्वय चलायमान की प्राक्कल्पना एक प्रकार का रहस्यवाद है जिसम आर्थिक कारक एक प्रकार से ईश्वर का रूप है। इस कारण इसे अस्वीकार करना चाहिए।

1.2. दूसरी व्याख्या—एन्जल्स, लेब्रिओला और प्लेचानो जैसे मार्क्सवादियों का कथन है कि द्वैतीयक कारकों का प्राथमिक कारक पर वापिस प्रभाव पड़ सकता है। इस व्याख्या के अनुसार आर्थिक कारक को अन्य कारक प्रभावित कर सकते हैं। इस मान्यता के अनुसार आर्थिक कारक की प्रमुखता तथा निर्धारणता का सिद्धान्त अमान्य हो जाता है।

आर्थिक कारक की प्रमुखता के अभाव मे सिद्धान्त अपनी विशेषता खो देता है। जो मार्क्सवादी यह मानते हैं कि अन्य कारक भी आर्थिक कारक को प्रभावित कर सकते हैं वो प्रकार्यात्मक पारस्परिक निर्भरता की अवधारणा को स्वीकारते हैं तथा मार्क्स के आर्थिक निर्णायक सिद्धान्त को अस्वीकार करते हैं। ये मार्क्सवादी आर्थिक कारक को अन्य कारकों के साथ सह-सम्बन्धित मानते हैं तथा मार्क्स के आर्थिक निर्णायकवाद की विशिष्टता को समाप्त कर देते हैं।

(2) सिद्धान्त की दूसरी आधारभूत कमी अनेकार्थ तथा अनिश्चित अभिव्यक्ति है। आर्थिक कारक सामाजिक घटनाओं का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण एवं अन्तिम कारक है (The second fundamental shortcoming of the theory is an ambiguity and indefinition of the expression - the economic factor is the last, the final and the most important factor of social phenomena)—मार्क्स के इस कथन की दो व्याख्याएँ की गई हैं जो निम्न हैं—

2.1 मार्क्सवादियो तथा अ-मार्क्सवादियो (प्लिखानो तथा इलवुड) ने इस दावे की यह व्याख्या की है कि आर्थिक कारक सम्पूर्ण ऐतिहासिक तथा सामाजिक प्रक्रियाओं की व्याख्या करने मे पूर्ण रूप से सक्षम है। मार्क्स का भी यही विश्वास था। यह प्रथम व्याख्या एक प्रकार से एकात्मक अवधारणा है जिसमे सम्पूर्ण सामाजिक जीवन और सम्पूर्ण इतिहास की प्रक्रिया का कारण एकमात्र आर्थिक कारक से समझने का प्रयास किया गया है। अगर सम्पूर्ण सामाजिक जीवन, युद्ध एव शान्ति, दुर्दशा एवं खुशहाली, दासता तथा मुक्ति, क्रान्ति एव प्रतिक्रिया एक ही कारक के परिणाम हैं तो इसके आधार पर निम्न समीकरण बनाता है—

A और non – A = f (E), अर्थात् पूर्णतया विरोधी घटनाएँ एक ही कारण का परिणाम है।

(A and non-A = f (E), that is, the most opposite phenomena are the result of the same cause)

इस सूत्र मे A युद्ध, शान्ति, खुशहाली मुक्ति आदि को तथा non – A युद्ध, दुर्दशा, दासता आदि को प्रदर्शित कर रहे हैं। f (E) आर्थिक कारक को प्रदर्शित कर रहे हैं। मार्क्स के सिद्धान्त के अनुसार A तथा non – A एक ही कारक 'आर्थिक' के परिणाम है। दूसरे शब्दो मे इस प्रकार का एकतत्वपरक (एक कारणीय) अवधारणा से निम्न समीकरण निर्मित होता है—

अ (आर्थिक कारक) कारण है	सहयोग और संघर्ष विकास और ह्रास मुक्ति और दासता शान्ति और युद्ध दुर्दशा और खुशहाली ------ -- आदि-आदि	अर्थात् सभी प्रकार के व्यवहार, सामाजिक प्रक्रियाएँ और ऐतिहासिक घटनाएँ आर्थिक कारक का परिणाम हैं।

कोई भी गणितवेत्ता, तर्कशास्त्री या वैज्ञानिक ऐसी आधारशिला पर वैज्ञानिक कारण-सम्बन्ध नियम या नियमितता का सूत्र नहीं बनाएगा अगर समीकरण मे 'अ' का अर्थ

है एक सार्वभौमिक व्यापक अवधारणा जो 'सम्पूर्ण' अथवा 'भगवान' अथवा 'ब्रह्माण्ड' या 'सम्पूर्ण सामाजिक जीवन' है तब समीकरण पर्यायपद बन जाता है। अर्थात् ''सम्पूर्ण" या ''भगवान'' का कारण ''सम्पूर्ण'' अथवा "भगवान'' है। 'सम्पूर्ण सामाजिक जीवन का कारण सम्पूर्ण सामाजिक जीवन है।''

आर्थिक भौतिकवाद की अवधारणा की वैज्ञानिक कमियो को स्पष्ट करने के लिए उपर्युक्त सामग्री काफी है। इसी कमी के कारण शायद मार्क्स तथा एजल्स ने अपने बाद के लेखन में दूसरी व्याख्या को अपनाया था जो निम्न है—

2 2 अन्य लेखको—सेलिगमेन, लाडियोला आदि तथा एजल्स ने अपने बाद के लेखो मे यह व्याख्या की थी कि आर्थिक कारक मुख्य कारक है जिसके साथ-साथ अन्य कम महत्वपूर्ण कारक भी होते हैं। इस दूसरी व्याख्या मे अन्य कारको को महत्त्व देने के कारण मार्क्स के सिद्धान्त का महत्त्व ही समाप्त हो जाता है। फिर तो यह बहुकारक का सिद्धान्त बन जाता है जिसमे आर्थिक कारक अन्य अनेक कारकों मे से एक है। अन्य कारको के प्रभाव के साथ आर्थिक कारक के प्रभावो का वर्णन अनेक विद्वानों ने मार्क्स तथा एजल्स से पूर्व तथा बाद मे किया है। अत: मार्क्स का यह दावा आर्थिक निर्णायकवाद उनका मूल विचार है, आधारहीन है।

(3) उनके सिद्धान्त की तीसरी कमी ''आर्थिक कारक'', ''उत्पादन की शक्तियाँ तथा सम्बन्ध'', तथा ''आर्थिक आधार'', प्रत्ययों की परिभाषाएँ सन्तोषजनक रूप से आवश्यकतानुसार अनन्य·, एकमात्र (सुनिश्चित) और विशिष्ट नहीं हैं—

(The third shortcoming of the theory is that the definition of the terms "the economic factor", "force and relations of production", and "economic basis' are not sufficiently exclusive and specific")

इन अवधारणाओ की भी दो व्याख्याएँ तथा अर्थ मिलते हैं। के, काउटस्काई (K Kautsky), डब्ल्यू सोम्बार्ट (W Sombart), ए हनसेन (A Hansen) तथा अन्य ने इनको एक प्रकार की तकनीक के रूप मे समझा है तथा अन्य व्याख्याकारो, जैसे—एन्जल्स, मसरयेग (Masaryk), सेलिगमेन आदि ने इनको उत्पादन की सामान्य परिस्थितियो के रूप मे समझा है जिसमें भौगोलिक पर्यावरण, प्राकृतिक स्रोत, यातायात, व्यापार, वितरण की प्रणाली आदि सम्मिलित हैं।

अगर हम पहिली व्याख्या को स्वीकार करते हैं तो उससे निम्न प्रस्ताविकी (प्रस्थापना) बनती है : ''तकनीक प्रधान कारक है और तकनीक के द्वारा इतिहास के सभी अद्भुत कार्यों, चमत्कारो की व्याख्या करना सम्भव है।'' लेकिन सत्य यह है कि तकनीक सामाजिक वास्तविकता का केवल एक भाग है। अत: उपर्युक्त प्रस्थापना तार्किक मूर्खता है। मूर्खतापूर्ण, निरर्थक तर्कवाम्य है। विवेक शून्य प्रस्थापना है। वास्तव मे तकनीक के लिए समाज का ज्ञान तथा अनुभव आवश्यक है।

अगर हम दूसरी विस्तृत व्याख्या को स्वीकारते हैं तो आर्थिक कारक की अवधारणा तथा सिद्धान्त मे और अधिक अनिश्चितता आ जाती है। यह एक प्रकार का थैला बन जाता है जो भौगोलिक परिस्थितियो, तकनीक, विज्ञान, सम्पूर्ण उद्योग, वाणिज्य तथा

वितरण की सम्पूर्ण जटिल व्यवस्था, और उसमे न्यायिक तथा राजनैतिक संस्थाएँ और क्या कुछ नहीं सम्मिलित हो जाते हैं। इस प्रकार की परिस्थितियों में हम किसी स्पष्ट तथा सुनिश्चित सह-सम्बन्ध को स्थापित नहीं कर सकते हैं। हम यहाँ पर ऐसे सूत्रों तथा कथनों से बंधे हैं जिनकी अनिश्चित अन्तःवस्तु तथा अर्थों के कारण न तो कुछ सिद्ध ही कर पाते हैं और न ही कुछ असिद्ध कर पाते हैं। मार्क्स के सिद्धान्त की यह दूसरी व्याख्या भी भ्रामक है।

(4) इस अनिश्चित सूचना के परिणामस्वरूप मार्क्स-एंजल्स के द्वारा व्यक्त कारकों का कारण क्रम या उनकी निर्भरता का क्रम भी अनिश्चित हो जाता है—

(As a result of this indicated Indofiniteness, the exact meaning of the Marx-Engel's causal sequence of factors, or the sequence of their dependency also becomes somewhat indefinite)— परिवर्तनों के क्रम भी दो प्रकार के हो सकते हैं, ये निम्न हैं—

(4 1) तकनीकी व्याख्या के अनुसार परिवर्तन का क्रम निम्न प्रकार से है—

(1) पहिले उत्पादन की तकनीक मे परिवर्तन होता है जो (2) समाज की आर्थिक सरचना —"उत्पादन के सम्बन्धो" तथा "सम्पत्ति के सम्बन्धो मे परिवर्तन" करती है। यह फिर (3) समाज के राजनैतिक, सामाजिक तथा बौद्धिक जीवन का निर्धारण करती है। इस निम्न चित्र द्वारा प्रस्तुत किया जा सकता है—

(3) समाज का राजनैतिक, सामाजिक तथा बौद्धिक जीवन



(2) समाज की आर्थिक संरचना

('उत्पादन के सम्बन्ध' तथा 'सम्पत्ति के सम्बन्ध')



(1) उत्पादन की तकनीक

(I) परिवर्तन की प्रक्रिया के क्रम : तकनीकी व्याख्यानुसार

(4 2) आर्थिक कारक की दूसरी भिन्न तथा विस्तृत व्याख्या की गई है। इस व्याख्यानुसार परिवर्तन का क्रम निम्न क्रम से परिवर्तन लाता है। (1) पहिले उत्पादन की सामान्य परिस्थितियों तथा विनिमय में परिवर्तन होता है। यह परिवर्तन समाज की वर्ग-संरचना मे रूपान्तरण करती है जो वर्ग-शत्रुता तथा वर्ग-विरोध में परिवर्तन लाती है जिसका परिणाम समाज की सामाजिक, राजनैतिक तथा बौद्धिक अधि-संरचना को रूपान्तरित कर देता है। इसे निम्न चित्र द्वारा प्रदर्शित किया जा सकता है।

(4) समाज की अधि-संरचना मे रूपान्तरण

(समाज की सामाजिक, राजनैतिक तथा बौद्धिक अधिसंरचना में परिवर्तन)



(3) वर्ग-शत्रुता तथा वर्ग-विरोध मे परिवर्तन



(2) वर्ग-संरचना मे रूपान्तरण



(1) उत्पादन की सामान्य परिस्थितियो तथा विनिमय में परिवर्तन

(II) परिवर्तन की प्रक्रिया के क्रम : आर्थिक कारक के अनुसार

इन दोनो व्याख्याओ का सापेक्ष महत्त्व है जिसमे आर्थिक कारक सक्रिय तथा आरम्भक है। 'कारणता' की 'प्रकार्यात्मक अवधारणा' तथा सामाजिक घटनाओ को पारस्परिकता के तथ्य के अनुसार हम किसी भी कारक (तकनीक ही नहीं बल्कि "विज्ञान", "धर्म", "कानून", आदि) को "चर" के रूप मे ले सकते हैं तथा उनके "कार्यों" या "प्रभावो" का अध्ययन किसी भी क्षेत्र मे, जैसे—तकनीक और आर्थिक घटनाओं मे भी कर सकते हैं। मार्क्स तथा एंजल्स का झूठा दावा कि उनके द्वारा प्रतिपादित परिवर्तन ही एकमात्र सम्भव क्रम है, को स्वीकारा नहीं जा सकता। अन्य विद्वानो द्वारा परिवर्तन क जो क्रम सुझाए गए हैं वो भी निरर्थक नहीं हैं। इससे विपरीत दावा जिसमें कानून, धर्म अथवा "बौद्धिक कारक" को प्रारम्भक रखा गया है तथा आर्थिक कारक उसका कार्य है। विभिन्न अध्ययनो मे ऐसे कारण-सम्बन्धो के अध्ययन किए गए हैं तथा गुण-सम्बन्ध सिद्ध किए गए हैं।

(5) मार्क्सवादी सिद्धान्त की अन्य विशेषताओ मे इसकी भ्रामक एवं विरोधात्मक ऐतिहासिक निर्णायकवाद की अवधारणा का वर्णन करना चाहिए। यह संकल्प-स्वातंत्र्य के साथ भाग्यवाद के असंगत समाधान का प्रतिनिधित्व करता है—

(Of the other characteristics of the Marxian theory, its fallacious and contradictory conception of historical determinism should be mentioned It represents an incongruous reconciliation of fatalism with free will)

मार्क्स के मूल कथन को पुनः ध्यान से अध्ययन करने से स्पष्ट होता है कि जिन उत्पादन के सम्बन्धो मे व्यक्ति प्रवेश करता है वो सम्बन्ध "अपरिहार्य तथा इच्छा शक्ति से स्वतन्त्र" होते हैं। उत्पादन की शक्तियो को स्वतः विकसित होने वाली तथा मानव एव अन्य सामाजिक कारको से स्वतन्त्र रूप मे व्यक्त किया गया है। आप का कथन है कि मानव आर्थिक कारको के कारण उत्तेजनापूर्ण व्यवहार करता है। समाजवाद की जीत की आशा आर्थिक कारक के सर्वशक्ति मान, भाग्यवादी और अनिवार्य भूमिका के विचार पर आधारित है जो पूँजीवाद को नष्ट करेगा तथा समाजवाद को विजयी बनाएगा।

यह निर्णायकवाद की भाग्यवादी व्याख्या वैज्ञानिक दृष्टिकोण से बहुत ही आपत्तिजनक है क्योकि वैज्ञानिक निर्णायकवाद और भाग्यवाद मे कोई भी समानता नहीं है। "अवश्यम्भावी ", "आवश्यक" आदि शब्द विज्ञान अथवा विज्ञान को निर्णायकवादी अवधारणा के अग नहीं हैं।

(6) अन्त में, मार्क्स-एंजल्स के वर्ग-सघर्ष का सिद्धान्त बहुत पुराना है तथा अनेक कमियो से परिपूर्ण है—

(Finally, the Marx Engel's theory of class-struggle being very old, has a series of defects)

प्रमाणो के अनुसार यह कहना भ्रान्तिपूर्ण है कि "अब तक के अस्तित्व मे रहे सभी समाजो का इतिहास, वर्ग-सघर्ष का इतिहास है।" इसका अर्थ यह हुआ कि सामाजिक वर्गो मे सहयोग कभी नहीं रहा। यह भी भ्रमपूर्ण है क्योकि वर्ग-सहयोग वर्ग-विरोध से अधिक सार्वभौमिक घटना है। वर्ग-संघर्ष ही एकमात्र ऐसा गत्यात्मक कारक है जिसके द्वारा मानवजाति की प्रगति हुई है। यह कथन भी गलत है। अनेक अन्वेषणो, जैसे—क्रोपटकिन का

''म्यूचुअलएड'' के अनुसार मानवजाति की प्रगति सहयोग और एकता के कारण हुई है न कि वर्ग-संघर्ष, विरोध तथा द्वेष के कारण हुई है। मार्क्स के वर्ग-सिद्धान्त का अर्थ है कि केवल आर्थिक-वर्ग का विरोध ही होता है तथा यह सबसे महत्वपूर्ण होता है। समाज मे वर्ग के अतिरिक्त अनेक प्रकार के विरोध तथा शत्रुता होती है, जैसे—प्रजाति, राष्ट्र, धर्म तथा राज्य के संघर्ष है। विद्वानो का कहना है कि जब युद्ध, झगड़े आदि होते रहते हैं उस समय अनेक वैज्ञानिक शान्तिपूर्वक खोज करते हैं, आविष्कार करते हैं जिससे समाज का विकास होता है। समाज की निरन्तरता, स्थायित्व के लिए संघर्ष से अधिक सहयोग आवश्यक होता है। क्रॉपटकिन (Kropotokin) ने अपनी पुस्तक म्यूचुअल एड मे सिद्ध किया है कि समाज में सहयोग आवश्यक होता है। सामाजिक सगठन और संरचना सहयोग के द्वारा नियन्त्रित और संचालित होती है। अनेक अन्वेषणो के अनुसार यह सिद्ध हो गया है कि मानव जाति का विकास, सहयोग और एकता के द्वारा हुआ है न कि सघर्ष के द्वारा।

कोहन ने लिखा है कि समाजशास्त्र मे एक संरचनात्मक, प्रकार्यात्मक सम्प्रदाय ने सिद्ध किया कि समाज के स्थायित्व और निरन्तरता के लिए प्रकार्यात्मक एकता, समाज के विभिन्न तत्वो की अपर्याप्तता और अन्योन्याश्रितता अत्यावश्यक है। इस सम्प्रदाय के अनुसार मार्क्स की सघर्ष एव द्वन्द्ववाद की अवधारणा त्रुटिपूर्ण है।

(7) अतार्किक अवधारणा (Illogical Concept)—समाजशास्त्रियों का मत है कि मार्क्स की द्वन्द्वात्मक अवधारणा अतार्किक एव अवैज्ञानिक है। मार्क्स एक स्थान पर कुछ लिखते हैं और दूसरे स्थान पर कुछ और। मार्क्स कहते हैं कि भौतिक पदार्थ विचारो के निर्णायक हैं। अन्यत्र उन्होने लिखा है कि समाज के विकास के लिए मजदूरो को जाग्रत करना होगा, उनमे अपने विकास के लिए और अधिकारो को प्राप्त करने के लिए चेतना पैदा करनी होगी। मार्क्स के इन कथनो से स्पष्ट हो जाता है कि वो मानवीय चेतना और विचारो को महत्व देते हैं, जबकि उनका द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद भौतिक पदार्थ के द्वारा मानवीय चेतना को परिवर्तित करने का दावा करता है। इस प्रकार से मार्क्स के साहित्य मे विरोधी कथन जगह-जगह पर मिलते हैं, जो कि उनके सिद्धान्त की बड़ी कमी है।

(8) आत्मा की उपेक्षा (Negligence of Spiritualism)—कार्ल मार्क्स के सिद्धान्त की सबसे बडी कमी आत्मा की उपेक्षा रही है। विश्व और समाज के विकास मे जितना महत्व पदार्थ का है, उतना ही महत्व आत्मा और विचारो का है। पदार्थ भौतिक होते हैं, उनका अवलोकन किया जा सकता है। इसलिए मार्क्स ने भौतिक पदार्थों को तो महत्व दिया है लेकिन आत्मा और विचारों की अमूर्तता के कारण कोई महत्व नहीं दिया है। व्यक्ति पर आत्मा और विचारो का प्रभाव पडता है। विचार भी समाज और व्यक्ति के विकास मे महत्वपूर्ण होते हैं जिसकी मार्क्स ने उपेक्षा की है। यह उनके भौतिक द्वन्द्ववाद की बडी कमी है।

(9) दोषपूर्ण विकास के चरण (Defective Stages of Development)—मार्क्स ने मानव समाज के विकास की अवस्थाएँ 'वाद, प्रतिवाद और समवाद' के क्रम मे बताई हैं। आपका मत है कि यह क्रम तब तक चलता रहेगा जब तक समाज पूर्ण साम्यवाद की अवस्था मे नहीं पहुँच जाता। विद्वानो की आपत्ति है कि मार्क्स द्वारा प्रतिपादित विकास की ये अवस्थाये काल्पनिक और दोषपूर्ण हैं। सामाजिक विकास एक निरन्तर प्रक्रिया है,

जिसकी अन्तिम अवस्था की कल्पना करना सम्भव नहीं है। समाज की अन्तिम अवस्था साम्यवाद को भविष्यवाणी करना मार्क्स का एक अवैज्ञानिक तथा दोषपूर्ण कार्य है।

(10) उन्नति की अवधारणा दोषपूर्ण (Faulty Developmental Concept)—मार्क्स ने मानवीय इतिहास की व्याख्या द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के अनुसार करते हुए केवल उन्नति की ओर अग्रसर होने वाला कहा है जबकि अनेक समाजशास्त्रियो ने अपने अध्ययन मे पाया है कि मानव समाज का इतिहास उत्थान और पतन, विकास और ह्रास के क्रम में होता है। अनेक समाजों का इतिहास इस बात का साक्षी है कि समाज का विकास और ह्रास दोनो ही होते हैं।

उपर्युक्त सीमाओ के होते हुए भी मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का समाजशास्त्र मे महत्त्वपूर्ण स्थान है। इतना ही नहीं, मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद ने सामाजिक परिवर्तन के सम्बन्ध मे विशेष जानकारी प्रदान की है। अनेक विद्वानों ने मार्क्स के सिद्धान्त का मूल्यांकन किया, जिसके परिणामस्वरूप समाज के क्षेत्र में आशातीत प्रगति हुई।

सामान्य निष्कर्ष (General Conclusion)—सोरोकिन के अनुसार मार्क्स तथा एजल्स के समाजशास्त्रीय सिद्धान्त के सम्बन्ध मे निष्कर्षत: यह कहा जा सकता है कि—

(1) पूर्ण वैज्ञानिक दृष्टिकोण के अनुसार जो कुछ मार्क्स के सिद्धान्तों मे सत्य प्रमाणित तथा विश्वसनीय तथ्य दिए गए हैं वो कोई नवीन नहीं हैं। इनसे पहिले अनेक विद्वानो ने इनका वर्णन और व्याख्या की है।

(2) जो कुछ मार्क्स के वास्तव मे मूल विचार तथा कथन हैं वो वैज्ञानिकता से कोसो दूर हैं।

(3) तीसरी तथा महत्त्वपूर्ण बात मार्क्स के सिद्धान्त के सम्बन्ध मे यह है कि इन्होने अपने अग्रजो की तुलना मे विचारो को बहुत ही प्रभाव पूर्ण रूप से प्रस्तुत किया है।

(4) पूर्ण रूप से वैज्ञानिक दृष्टिकोण के अनुसार मार्क्स तथा एजल्स को सामाजिक विज्ञानो का डार्विन या गेलिलियो नहीं मानना चाहिए।

(5) इनके वैज्ञानिक योगदान को किसी भी आधार पर औसत से अधिक नहीं समझना चाहिए।

अभ्यास प्रश्न

निबन्धात्मक प्रश्न

1. मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की विवेचना कीजिए।
2 द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद पर कार्ल मार्क्स के विचारो का वर्णन कीजिए। (राज 1993)
3. मार्क्स और हीगल के द्वन्द्ववाद की तुलना कीजिए।
4. द्वन्द्ववाद को परिभाषित करते हुए उसकी विशेषताओं पर प्रकाश डालिए।
5 क्या मार्क्स का 'द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद' का सिद्धान्त एक सामान्य 'विश्व दृष्टिकोण' है अथवा मानव इतिहास का एक विशिष्ट सम्प्रत्यय मात्र? स्पष्ट कीजिए। (राज वि 1996)

6. मार्क्स द्वारा प्रतिपादित द्वन्द्ववाद क्या है? इसके महत्त्व की विवेचना कीजिए।

लघुउत्तरात्मक प्रश्न

निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिए :—

1. द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद
2. हीगल के द्वन्द्ववाद की कोई दो विशेषताएँ
3. मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की कोई दो विशेषताएँ
4. मात्रात्मक-परिवर्तन से गुणात्मक-परिवर्तन
5. संघर्ष एवं द्वन्द्ववाद
6. भौतिक निर्णायकवाद
7. मार्क्स और हीगल के द्वन्द्ववाद की कोई दो समानताएँ
8. मार्क्स और हीगल के द्वन्द्ववाद की कोई दो असमानताएँ

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. मार्क्स ने द्वन्द्ववाद की अवधारणा किससे ग्रहण की है?

(अ) हीगल (ब) फिकटे
(स) थौरे (द) स्पेन्सर
[उत्तर- (अ)]

2. किस विद्वान् ने सभी परिणामों का कारण विचार माना है?

(अ) हीगल (ब) मार्क्स
(स) स्पेन्सर (द) दुर्खीम
[उत्तर- (अ)]

3. किस विद्वान् ने सभी परिणामों का कारण पदार्थ माना है?

(अ) मार्क्स (ब) हीगल
(स) कॉम्टे (द) फिकटे
[उत्तर-(अ)]

4. "हीगल की रचनाओ मे द्वन्द्ववाद अपने सिर के बल खड़ा था" यह कथन किसका है?

(अ) मार्क्स (ब) फिकटे
(स) दुर्खीम (द) वेबर
[उत्तर-(अ)]

5. 'म्युचुअल एड' पुस्तक के लेखक कौन हैं?

(अ) मार्क्स (ब) वेबर
(स) हीगल (द) क्रॉपटकिन
[उत्तर-(द)]

❑

अध्याय-11

कार्ल मार्क्स : वर्ग एवं वर्ग-संघर्ष
(Karl Marx : Class and Class-Struggle)

कार्ल मार्क्स के समाजशास्त्र में अनेक योगदानो मे से एक महत्त्वपूर्ण योगदान वर्ग एवं वर्ग-संघर्ष है। आपने वर्ग एवं वर्ग-संघर्ष के विभिन्न पहलुओ पर अपने क्रान्तिकारी विचार प्रस्तुत करके विश्व में एक नई विचारधारा पैदा की। समाजशास्त्र मे वर्ग एवं वर्ग-संघर्ष का अध्ययन सामाजिक संरचना एव परिवर्तन को समझने के लिए आवश्यक है। कार्ल मार्क्स के वर्ग एव वर्ग-संघर्ष से सम्बन्धित विचारो के अध्ययन के पूर्व वर्ग की परिभाषा, वर्ग की विशेषताएँ, वर्ग-विभाजन के आधार तथा वर्ग-निर्धारण के आधारो का अध्ययन किया जायेगा। तत्पश्चात् मार्क्स के वर्ग के सम्बन्ध में विचारो की विवेचना की जाएगी।

वर्ग का अर्थ एवं परिभाषा (Meaning and Definition of Class)—वर्ग की परिभाषा अनेक विद्वानो—ऑगबर्न और निमकॉफ, जिन्सबर्ग, गिसबर्ट, मैकाइवर तथा पेज, लेपियर व मैक्स वेबर आदि ने दी है। इन विद्वानो की परिभाषाओ का अध्ययन करके वर्ग का अर्थ समझने का प्रयास किया जायेगा, जो निम्न प्रकार है—

1. ऑगबर्न और निमकॉफ ने सामाजिक वर्गों को इस प्रकार परिभाषित किया है—"एक सामाजिक वर्ग ऐसे व्यक्तियो का संग्रह है जिनकी दिए हुए समाज में आवश्यक रूप से समान सामाजिक प्रस्थिति है।"

2. जिन्सबर्ग के मत मे, "वर्ग ऐसे व्यक्तियो का समूह है जो व्यवसाय, धन, शिक्षा, जीवन-यापन की विधियों, विचारो, मनोभावो, प्रवृत्तियो और व्यवहारो में एक-दूसरे के समान होते हैं अथवा कुछ आधारो पर समानता की भावना से मिलते हैं और इस प्रकार अपने को एक समूह का सदस्य समझते हैं।"

3. गिसबर्ट के मतानुसार, "सामाजिक वर्ग व्यक्तियो का समूह अथवा श्रेणी (Category) है जिसका समाज मे एक निश्चित 'पद' होता है और यह 'पद' ही अन्य समूहो से उनके सम्बन्ध को स्थाई रूप से निर्धारित करता है।

गिसबर्ट ने वर्ग-निर्माण के लिए ज्ञान, प्रजातीय विशुद्धता, धर्म, सम्पत्ति और शौर्य आदि विशेषताओ को आधार माना है।

4. मैकाइवर तथा पेज के अनुसार, "एक सामाजिक वर्ग समुदाय का वह भाग है जो सामाजिक प्रस्थिति के आधार पर शेष भाग से अलग कर दिया गया है।"

5. लेपियर के मत मे, "सामाजिक वर्ग एक सांस्कृतिक समूह है जिसे सम्पूर्ण जनसख्या मे एक विशिष्ट स्थिति (Position) या प्रस्थिति प्रदान की जाती है।"

6. मैक्स वेबर के अनुसार, "एक समूह तब तक वर्ग कहा जा सकता है जब तक कि उस समूह के लोगो को जीवन के कुछ अवसर समान रूप से प्राप्त हो, जहाँ तक कि यह

समूह वस्तुओं पर अधिकार या आमदनी की सुविधाओं से सम्बन्धित आर्थिक हितों द्वारा पूर्णतया निर्धारित तथा वस्तुओं या श्रमिक बाजारों की अवस्थाओं के अनुरूप हो।" यह परिभाषा पूर्ण रूप से वर्ग के आर्थिक आधार को महत्व देती है।

7. ओल्सन के अनुसार, "सामाजिक वर्गों का निर्माण उन व्यक्तियों के द्वारा होता है जिन्हें लगभग समान मात्रा में शक्ति, सुविधाएँ और सम्मान मिला होता है।"

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि एक सामाजिक वर्ग के व्यक्तियों की एक-सी संस्कृति, एक-सी सामाजिक परिस्थिति तथा एक-सी परम्पराएँ अथवा रीति-रिवाज होते हैं। मार्क्स ने वर्ग व्यवस्था को दो भागों में बाँटा है—एक बुर्जुआ और दूसरा मजदूर। इसका कारण आर्थिक विषमता है। जिन लोगों के पास साधन-सम्पन्नता है वे पूँजीवादी वर्ग के सदस्य हैं और वे लोग जो मजदूर हैं, श्रमिक हैं, वे मजदूर वर्ग के सदस्य हैं।

इस प्रकार से वर्ग प्रत्येक समाज में मिलते हैं। इनके कुछ लक्षण हैं जो इनकी प्रकृति को और स्पष्ट करते हैं, वे निम्नलिखित हैं—

वर्ग के लक्षण
(Characteristics of Class)

वर्ग के प्रमुख लक्षण निम्नलिखित हैं जिनके आधार पर वर्ग के सम्प्रत्यय को और अधिक स्पष्ट रूप से समझा जा सकेगा—

(1) एक निश्चित संस्तरण (A Definite Hierarchy)—सामाजिक वर्ग श्रेणियों में विभक्त होते हैं। ये उच्च वर्ग, मध्यम वर्ग व निम्न वर्ग हो सकते हैं। उच्च वर्ग के सदस्यों की संख्या सबसे कम किन्तु सामाजिक प्रतिष्ठा सर्वाधिक होती है। निम्न वर्ग के सदस्यों की संख्या अधिक किन्तु प्रतिष्ठा नगण्य होती है। आर्थिक स्थिति कमजोर होने के कारण उच्च व निम्न वर्ग के सदस्यों में सामाजिक दूरी बढ़ती जाती है।

(2) वर्ग चेतनता (Class Consciousness)—सामाजिक वर्ग के सदस्यों में वर्ग चेतनता पाई जाती है। यही चेतनता मनुष्य के व्यवहार को निश्चित करती है अर्थात् सदस्यों में समानता की भावना दृढ़ होती है लेकिन एक वर्ग दूसरे वर्ग से प्रतिस्पर्द्धा करता रहता है इससे उनमें 'प्रतियोगी वर्ग चेतनता' का भाव आ जाता है यही वर्ग-चेतनता वर्ग-संघर्ष को बढ़ावा देती है।

(3) समान प्रस्थिति (Equal Status)—एक ही वर्ग के व्यक्तियों की सामाजिक प्रस्थिति एक जैसी होती है। जैसे—यदि किसी समाज में सम्पत्ति को अधिक महत्त्व दिया जाता है तो उसी व्यक्ति की सामाजिक प्रस्थिति ऊँची मानी जायेगी जिसके पास अधिक सम्पत्ति है। उसी प्रकार यदि राजनीति को महत्त्व दिया जाता है तो राजनीति ही प्रस्थिति का आधार होगी। इस प्रकार प्रस्थिति निर्धारण उसके आधार हो सकते हैं। जब कई व्यक्ति एक-ही प्रस्थिति के होते हैं तो वे एक वर्ग के सदस्य माने जाते हैं।

(4) श्रेष्ठता व हीनता की भावना (Feeling of Superiority and Inferiority)—समाज के विभिन्न समूह परस्पर श्रेष्ठता अथवा हीनता की भावना रखते हैं। सभी इस व्यवस्था को स्वीकार करते हैं। जैसे शासक-वर्ग स्वयं को श्रेष्ठ व गरीब वर्ग को स्वय की तुलना में हीन समझता है।

(5) प्रतिबन्धित सामाजिक सम्बन्ध (Restricted Social Relations)—एक वर्ग के व्यक्ति अन्य वर्गों के व्यक्तियों से एक निश्चित सामाजिक दूरी बनाए रखते हैं। उनके सामाजिक सम्बन्ध अपने वर्ग तक ही प्रतिबन्धित अथवा सीमित होते हैं। इसका कारण आर्थिक, सास्कृतिक एव सामाजिक स्तर होता है जिससे व्यक्ति अपने ही वर्ग के व्यक्तियो से सामाजिक सम्बन्ध स्थापित करते हैं।

(6) मुक्तता एवं स्थानांतरण (Openness and Shifting)—वर्गों की प्रकृति मुक्त होती है अर्थात् किसी विशेष योग्यता को प्राप्त कर लेने पर कोई व्यक्ति किसी अन्य वर्ग का सदस्य हो सकता है अथवा एक साथ अनेक वर्गों की सदस्यता ग्रहण कर सकता है। इसके साथ ही स्थानान्तरण की स्थिति भी आ सकती है। जैसे—एक व्यक्ति धनी बनकर उच्च वर्ग की सदस्यता ग्रहण कर सकता है अथवा सम्पन्न व्यक्ति किसी कारण निर्धन बन सकता है और गरीब वर्ग का सदस्य बन सकता है। तात्पर्य यह है कि वर्ग की सदस्यता मुक्त अथवा खुली होती है। जीवन-पर्यन्त एक ही वर्ग की सदस्यता ग्रहण करना आवश्यक नहीं।

(7) वर्ग का वस्तुनिष्ठ पक्ष (Objective aspect of Class)—एक वर्ग दूसरे वर्ग से अनेक पहलुओं मे भिन्नता लिए हुए होता है। अनेक पक्ष विद्वानों द्वारा ही निर्धारित किए गए हैं। इनमे मकान का प्रकार, शिक्षा, आय, मोहल्ले की प्रतिष्ठा आदि को लिया जा सकता है। जैसे—निम्न वर्ग के लोग गन्दी बस्तियों मे रहते हैं, आय व शिक्षा भी कम होती है जबकि उच्च वर्ग शिक्षित, उच्च आय वाला व ऊँची-ऊँची इमारतो मे रहता है। इस प्रकार व्यक्ति की परिस्थिति को देखकर उस वर्ग की पहिचान हो जाती है।

(8) सम्बन्ध स्थापन (Relation's stability)—एक वर्ग के सदस्यो के सम्बन्ध उसी वर्ग के अन्य व्यक्तियो के साथ स्वाभाविक रूप से हो जाते हैं। मित्रो का चुनाव, विवाह में कन्या पक्ष व वर पक्ष का चुनाव आदि आपस मे समानता के आधार पर ही किए जाते हैं।

(9) उप-संस्कृति (Sub-culture)—वर्ग की अपनी एक उप-संस्कृति होती है। एक वर्ग के सभी लोगो की एक-सी प्रस्थिति होती है और उस प्रस्थिति के लोगो के साथ ही उनके व्यावहारिक सम्बन्ध होते हैं। उनका रहन-सहन, जीवन-शैली समान होती है। मैक्स वेबर ने ऐसे समूह को प्रस्थिति-समूह (Status-group) कहा है जिनका व्यवहार करने का तरीका, रहने-सहने का स्तर आदि समान प्रकार का हो। इस प्रकार हर वर्ग की अपनी एक उप-संस्कृति होती है।

(10) आर्थिक आधार का महत्त्व (Importance of Economic base)—वर्ग का महत्त्वपूर्ण आधार आर्थिक प्रस्थिति है। मार्क्स के मत मे तो आर्थिक आधार ही एकमात्र वर्ग-निर्माण का कारक है। इसी के आधार पर उच्च, मध्यम व निम्न वर्ग बने हैं और प्रत्येक वर्ग अपनी प्रस्थिति के अनुरूप ही वर्ग की सदस्यता प्राप्त करता है।

(11) पूर्णतया अर्जित (Completely achieved)—वर्ग की सदस्यता पूर्णतया व्यक्ति की योग्यता और कार्य-कुशलता पर निर्भर करती है। ये सदस्यता व्यक्ति को प्रयास से प्राप्त करनी पड़ती है। जिस योग्यता के अनुरूप उसका स्तर होता है उसी योग्यता के वर्ग की सदस्यता उसे प्राप्त हो जाती है। जैसे निम्न वर्ग का सदस्य यदि अपने प्रयास से उच्च वर्ग के अनुरूप बन जाता है तो वह उच्च वर्ग की सदस्यता को ग्रहण कर लेता है अर्थात् वर्ग सदस्यता का जन्म से नहीं मिलती अपितु यह अर्जित है।

(12) सामान्य जीवन विधि (Common mode of life)—प्रत्येक वर्ग के सदस्यों के जीवन के जीने की विधि एक जैसी होती है, जैसे—धनाढ्य-वर्ग में धन का अत्यधिक दिखावा, विशिष्ट प्रकार की वस्तुओं का उपभोग करना प्रायः उच्चता का प्रतीक माना जाता है जबकि मध्यम वर्ग परम्पराओं का निर्वाह करना, समाज-सम्मत तरीके पर चलना अपना कर्त्तव्य मानते हैं। निम्न वर्ग में केवल भरण-पोषण करना ही उद्देश्य रहता है। इस प्रकार प्रत्येक वर्ग के जीवन-यापन का तरीका एक जैसा ही होता है।

(13) वर्गों की अनिवार्यता (Essentiality of Classes)—प्रत्येक समाज में शिक्षा, व्यवसाय, आय, योग्यता आदि की दृष्टि से व्यक्तियों में विभेदता पाई जाती है। अतः इस विभेदता के आधार पर समाज में अनेक वर्ग स्वतः ही बन जाते हैं, जिनमे उस विशेषता से संयुक्त व्यक्ति होते हैं। इस प्रकार समाज मे वर्गों की उपस्थिति अनिवार्य रूप से होती है।

(14) वर्गों की स्थायी विशेषताएँ (Stable qualities of the Class)—यद्यपि वर्ग-व्यवस्था व्यक्ति की योग्यता, शिक्षा, व्यवसाय, आय, धन-शक्ति आदि के आधार पर निर्मित होती है और किसी वर्ग के सदस्य योग्यता, शिक्षा आदि में वृद्धि कर अपने से उच्च वर्ग में जा सकते हैं। लेकिन इस प्रक्रिया मे समय लगता है। प्रायः देखा जाता है कि व्यक्ति जिस वर्ग का सदस्य होता है, जीवन में दूसरे वर्ग में कम ही जाता है। जैसे—निर्धन व्यक्ति का धनवान होना या धनवान के निर्धन बन जाने की प्रक्रिया मे काफी समय लगता है और प्रायः व्यक्ति अपने जीवन मे एक ही वर्ग की सदस्यता प्राप्त कर पाता है।

(15) उप-वर्ग (Sub-class)—प्रत्येक सामाजिक-वर्ग मे अनेक उप-वर्ग भी मिलते हैं। जैसे उच्च-वर्ग मे सभी एक समान स्तर के व्यक्ति नहीं होते अतः उनमे उच्च-उच्च, उच्च-मध्यम वर्ग जैसी विशेषताएँ मिलती हैं। इसी प्रकार मध्यम वर्ग भी कुछ विशेषताओ मे उच्च वर्ग के समान व कुछ मे निम्न के समान हो सकता है। इस प्रकार मध्यम-उच्च, मध्यम-मध्यम, मध्यम-निम्न वर्ग बन जाते हैं। निम्न वर्ग भी मध्यम वर्ग के समान हो सकता है तो निम्न-मध्यम, निम्न-निम्न आदि अनेक वर्गों का निर्माण हो सकता है।

वर्ग-विभाजन के आधार (Bases of Class-division)—सामाजिक वर्गों की विशेषताओ के स्पष्टीकरण के उपरान्त एक प्रश्न उपस्थित होता है कि वर्ग-विभाजन किस आधार पर किया जाना चाहिए। अनेक विद्वानो ने वर्ग-विभाजन के भिन्न-भिन्न आधार बताये हैं।

1. कार्ल मार्क्स ने वर्ग-विभाजन के दो आधार बताये है—एक शोषक या पूँजीवादी वर्ग और दूसरा शोषित या मजदूर-वर्ग।

2. मैकाइवर ने भावात्मक विशेषताओं के आधार पर वर्ग-विभाजन को स्पष्ट किया है। उन्होने कहा कि, "यह केवल पद की भावना ही है जो *आर्थिक*, राजनैतिक अथवा धार्मिक शक्तियो, जीवन-यापन के विशेष ढँगों और सांस्कृतिक अभिव्यक्तियो द्वारा एक वर्ग को दूसरे वर्ग से पृथक् करती है और इस प्रकार समाज को एक संस्तरण मे बाँटती है।

3. मार्टिण्डेल और मोनाकसी व्यक्ति की आय और आर्थिक साधनो पर उसके अधिकार की मात्रा को वर्ग की कसौटी मानते हैं अर्थात् इनके मत मे वर्ग-निर्माण का आधार भौतिकता है।

4. वीसेंज और बीसेंज अपनी पुस्तक **'मॉडर्न सोसाइटी'** मे सामाजिक वर्ग की कसौटी के लिए संस्कृति के मूल्य की प्रमुखता देते हैं। उनका कहना है, "स्थिति की कसौटियाँ (Criteria) सस्कृति के मूल्य निश्चित करती है।" ये कसौटियाँ विभिन्न सस्कृतियो मे भिन्न-भिन्न हो सकती हैं, जैसे—अमेरिका मे धन, भारत मे जाति हो सकती है।

इस प्रकार वर्ग का आधार धन, आय का साधन, व्यवसाय की प्रकृति, निवास-स्थान आदि हो सकते हैं क्योकि समाज मे प्राय: उच्च वर्ग, शासक वर्ग, व्यावसायिक वर्ग, मध्यम वर्ग एव निम्न वर्ग के व्यक्ति हो सकते हैं।

5. **हार्टन** व हन्ट ने भी सामाजिक वर्ग के आधारो मे धन, आय, व्यवसाय, शिक्षा व वर्ग-परिस्थिति के प्रति स्वय की धारणा को प्रमुखता दी है।

6. वारनर ने वर्ग-निर्धारण के आठ आधार बताये हैं। सभी विद्वानो ने धन परिवार, शिक्षा आदि को ही महत्ता दी है।

वर्ग-निर्धारण के आधार (Bases of Class-determination)—**रॉबर्ट बीरस्टीड** का आधार उपर्युक्त सभी विद्वानो का सार-रूप कहा जा सकता है। इन्होने वर्ग-विभाजन के सात आधार बताये हैं, जो निम्नलिखित हैं—ये सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण आधार हो सकते है क्योकि इन आधारो मे धन, धर्म, व्यवसाय, परिवार आदि सभी को सम्मिलित किया गया है। ये इस क्रम मे वर्णित हैं—

(1) सम्पत्ति, धन और आय (Property, Wealth and Income)—सबसे महत्त्वपूर्ण आधार धन, सम्पत्ति व आय को माना गया है। धन-सम्पत्ति आय पर ही निर्भर करती है क्योकि जैसा कि मार्क्स की मान्यता है कि भौतिक वस्तुएँ—पूँजी, भूमि आदि निम्न व उच्च वर्ग के विभाजन का आधार हैं। जिसके पास आय के स्रोत जितने अधिक व उच्च-स्तर के होते हैं वह व्यक्ति उतने ही उच्च वर्ग का माना जाता है। किन्तु केवल धन-सम्पत्ति ही एक आधार नहीं है अपितु अन्य आधार भी महत्त्वपूर्ण हैं।

(2) परिवार और नातेदारी (Family and kinship)—परिवार व नातेदारी वर्ग-निर्धारण का महत्त्वपूर्ण आधार है। विवाह-सम्बन्धो मे परिवार व नातेदारी प्रमुख मानी जाती है, जैसे—उच्च-स्तर वाले व्यक्तियो की रिश्तेदारी उच्च लोगो से ही होती है। अत: परिवार वालो को भी उसी दृष्टि से देखा जाता है।

(3) निवास की स्थिति (Location of residence)—कोई व्यक्ति किस स्थान पर रह रहा है, उसके पडौसी किस स्तर के हैं—ये बाते भी व्यक्ति के वर्ग का निर्धारण करती हैं। जैसे विकसित कॉलोनी मे रहने वाले लोग कच्ची-बस्ती मे रहने वाले लोगो से उच्च-स्तर के माने जाते हैं।

(4) निवास स्थान की अवधि (Duration of residence)—कोई व्यक्ति कितने समय से किस स्थान पर रह रहा है? उसका अतीत क्या है? पूर्वज किस स्थान के निवासी थे? आदि-आदि तथ्य भी वर्ग का निर्धारण करते हैं। जैसे कोई व्यक्ति अपने पूर्वजो के निवास-स्थान पर रहता है तो समाज मे उसकी प्रतिष्ठा अधिक है, उनकी तुलना में जो नौकरी के लिए नवीन स्थान पर जाकर रहते हैं जिनका कोई स्वयं का निवास-स्थान नहीं होता।

(5) व्यवसाय की प्रकृति (Nature of occupation)—व्यवसाय की प्रकृति भी वर्ग-निर्धारण का आधार है, जैसे—प्रशासक, इन्जीनियर, डॉक्टर, राजनीतिज्ञ, प्रोफेसर आदि को समाज प्रतिष्ठा की दृष्टि से देखता है। उनकी तुलना में ठेकेदार, दुकानदार आदि के पास धन होने पर भी सामाजिक-वर्ग में इनकी उतनी प्रतिष्ठा नहीं। इस प्रकार व्यवसाय की प्रकृति वर्ग का निर्धारक हो सकती है।

(6) शिक्षा (Education)—शिक्षा, तकनीकी-ज्ञान वर्ग का निर्धारण करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। कहा भी है, **"स्वदेशे पूज्यते राजा, विद्वान् सर्वत्र पूज्यते।"** शिक्षित व्यक्ति की सामाजिक प्रतिष्ठा अशिक्षित की तुलना में अधिक होती है।

(7) धर्म (Religion)—धर्म भी वर्ग-निर्धारण मे अहम् भूमिका निभाता है। ऋषि-मुनि आज भी सम्मान की दृष्टि से देखे जाते हैं। विशेष रूप से भारतवर्ष मे धार्मिक स्थिति को विशेष महत्त्वपूर्ण माना जाता है।

वर्ग-निर्धारण के आधारो के उपरान्त यह निष्कर्ष निकलता है कि वर्ग का आधार धन-सम्पत्ति, आय, व्यवसाय, शिक्षा, जीवन-स्तर, संस्कृति आदि हैं और एक समान सामाजिक स्थिति वाले व्यक्ति एक वर्ग मे आते हैं।

कार्ल मार्क्स : वर्ग के सम्बन्ध में विचार
(Karl Marx : Views About Class)

कार्ल मार्क्स ने वर्ग से सम्बन्धित अनेक पक्षो पर अपने विचार व्यक्त किये। इनके विचारो का सामाजिक विज्ञानों मे विशेष महत्त्व है। मार्क्स ने सामाजिक वर्ग के आधार पर मानव समाज के इतिहास व सामाजिक परिवर्तन आदि की व्याख्या की है। इसीलिए यह आवश्यक हो जाता है कि हम मार्क्स के वर्ग से सम्बन्धित विभिन्न पक्षो, वर्ग का अर्थ, इसकी विशेषतायें, प्रकार व वर्ग के प्रति उनकी दृष्टि और वर्ग-संघर्ष आदि का अध्ययन करे, जो निम्न प्रकार है—

वर्ग का अर्थ एवं परिभाषा (Meaning and Definition of Class)—मार्क्स ने वर्ग एव वर्ग-संघर्ष की अवधारणा बुर्जुआ इतिहासकारो, विशेष रूप से फ्रांसीसी इतिहासकारों से ली है। कार्ल मार्क्स ने वर्ग से सम्बन्धित अपने विचार विशेष रूप से विश्वविख्यात कृति **"दास कैपिटल"** के तीसरे खण्ड के अन्तिम अध्याय **"सामाजिक वर्ग"** (Social Classes) मे व्यक्त किये हैं। इस अध्याय मे आपने वर्ग की व्याख्या की है लेकिन **रेमण्ड ऐरन** (Raymond Aron) का कहना है कि मार्क्स ने वर्ग की परिभाषा तो कहीं नहीं दी है, किन्तु इन्होंने अपनी रचनाओं में अनेक स्थानों पर इसका वर्णन किया है। आपने "सामाजिक वर्ग" अध्याय मे आय के विभिन्न स्रोतो के आधार पर तीन वर्गों का वर्णन किया है जो निम्न प्रकार है—

1. वेतन भोगी श्रमिक (Wage earner Labourers)—वेतन भोगी श्रमिको के आय के साधन विभिन्न प्रकार की मजदूरी होती हैं। इस वर्ग के सदस्य साधारण श्रम-शक्ति के स्वामी होते हैं।

2. पूंजीपति वर्ग (Capitalistic Class)—पूँजीपति वर्ग समाज के वे वर्ग होते हैं जिनके पास बहुत अधिक पूँजी होती है। ये पूँजी के स्वामी होते हैं। इनकी आय का साधन अतिरिक्त मूल्य के द्वारा लाभ कमाना है।

3. भू-स्वामी वर्ग (Land-Owner Class)—भू-स्वामी वर्ग के सदस्य भू-स्वामी होते हैं। इनकी आय का साधन भूमि-कर होता है। यह वर्ग कृषि-प्रधान समाज में पाया जाता है।

मार्क्स ने वर्गों की व्याख्या आर्थिक परिप्रेक्ष्य के अनुसार की है। आपने अपने वैज्ञानिक उद्देश्य के अनुसार उपर्युक्त तीनो वर्गों का वर्गीकरण आर्थिक सरचना के आधार पर किया है। मार्क्स ने लिखा है कि मानव समाज का इतिहास वर्ग-संघर्ष का इतिहास है। मानव इतिहास मे मानव समूह हमेशा आपस में एक-दूसरे से संघर्ष करते रहते हैं। मार्क्स ने इन्हीं सघर्षरत मानव समूहों को वर्ग कहा है। मार्क्स ने वर्ग की विशेषताओ का वर्णन किया है। आपका कहना है कि वर्ग मुख्य रूप से दो प्रकार के होते हैं—(1) शोषक वर्ग, एवं (2) शोषित वर्ग। ये दोनो वर्ग परस्पर विरोधी होते हैं। रेमण्ड ऐरन ने अपनी पुस्तक 'मैन करण्ट्स इन सोशियोलोजिकल थॉट' मे लिखा है कि मार्क्स ने वर्गों की विशेषता 'दो ध्रुवों मे केन्द्रीयकरण की प्रवृत्ति' (Tendency towards a polarization into two blocks and only two) बताई है। कार्ल मार्क्स ने मानव इतिहास के संदर्भ में विभिन्न कालो को ध्यान मे रखते हुए कहा है कि सभी समाजो मे हमेशा दो वर्ग रहे हैं जिनमे परस्पर संघर्ष होता रहता है। आपका मत है कि शोषक वर्ग वह है जिसका उत्पादन के साधनो, उत्पादन के तरीकों तथा उत्पादन के सम्बन्धो पर नियन्त्रण होता है। शोषित वर्ग वह है जो इन उपर्युक्त विशेषताओ से वचित होता है। वर्गों के रूप भिन्न-भिन्न कालो में भिन्न-भिन्न रहे हैं। आज वर्तमान युग मे भी मार्क्स के अनुसार दो वर्ग हैं—एक बुर्जुआ (Bourgeois) अर्थात् शोषक वर्ग और दूसरा सर्वहारा अर्थात् शोषित वर्ग। इन्होने इनके उत्पन्न होने का कारण आर्थिक माना है।

मार्क्स ने वर्ग की अवधारणा को आर्थिक, ऐतिहासिक एवं मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से देखा है, जो इस प्रकार है—

1. आर्थिक परिप्रेक्ष्य (Economic Perspective)—मार्क्स ने वर्ग की अवधारणा को आर्थिक परिप्रेक्ष्य के अनुसार व्याख्या करते हुए लिखा है कि वर्ग का निर्माण आर्थिक स्रोतो के आधार पर होता है। एक वर्ग वह है जिसका आय के साधनों पर नियन्त्रण होता है, दूसरा वह जो उसके अधीन होता है। इस आर्थिक विशेषता, आय के स्रोत के कारण ही प्रत्येक समाज में दो वर्ग पाये जाते हैं जिनमे निरन्तर संघर्ष होता रहता है।

2. ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य (Historical Perspective)—मार्क्स ने ऐतिहासिक दृष्टिकोण से वर्गों की व्याख्या करते हुए कम्यूनिस्ट पार्टी के घोषणा-पत्र मे लिखा है—**"अभी तक आविर्भूत समस्त समाज का इतिहास वर्ग-संघर्षों का इतिहास रहा है।"** आपने वर्गों का ऐतिहासिक दृष्टिकोण से इनके विभिन्न प्रकार व प्रकृति आदि का वर्णन भी किया है। इन्होने वर्ग पर निम्न शब्दो मे प्रकाश डाला है—**"स्वतन्त्र मनुष्य और दास, पेट्रीशियन और प्लेबियन, सामन्ती प्रभु और भूदास, शिल्प संघ का उस्ताद कारीगर और मजदूर कारीगर—संक्षेप में उत्पीड़क (Exploiter) और उत्पीड़ित (Expoitee) बराबर एक-दूसरे का विरोध करते आये हैं।"**

3. मनोवैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य (Psychological Perspective)—कार्ल मार्क्स ने वर्गों का अर्थ मनोवैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य को ध्यान में रखकर भी स्पष्ट किया है। आपकी मान्यता

है कि वर्गों मे एकता और चेतना का गुण विद्यमान होता है। मार्क्स ने यह भी स्पष्ट किया है कि सर्वहारा-वर्ग एक क्रान्तिकारी-वर्ग है। यह सर्वहारा-वर्ग क्रान्ति के द्वारा पूँजीवाद को समाप्त कर देगा तथा ऐसे साम्यवादी समाज की स्थापना करेगा जिसमें समाज के सदस्यों मे समानता होगी, किसी का शोषण नहीं होगा, उत्पीड़ित नहीं होगा। धीरे-धीरे राज्य भी लुप्त हो जायेगा।

लैनिन ने **'सलेक्टेड वर्क्स'** के तृतीय खण्ड में मार्क्स और एंजल्स के विचारों के अनुसार वर्ग की निम्नलिखित परिभाषा दी है—

"वर्ग जनता के ऐसे बड़े समूह हैं, जो सामाजिक उत्पादन के इतिहास द्वारा निर्दिष्ट किसी अवस्था में अपने विशिष्ट स्थान द्वारा, उत्पादन के साधनो के प्रति अपने सम्बन्ध द्वारा, (जो प्राय: कानून द्वारा) स्थिर और निरूपित होते हैं। श्रम के सामाजिक संगठन मे अपनी भूमिका द्वारा और परिणामस्वरूप इस तथ्य द्वारा कि वे सामाजिक सम्पदा का कितना बड़ा भाग, किस तरीके से अर्जित करते हैं, एक-दूसरे से भिन्न होते हैं।"

इस परिभाषा से स्पष्ट हो जाता है कि मार्क्स वर्ग की मुख्य विशेषता उत्पादन के साधन मानते हैं। मैकी (Mckee) ने 'इन्ट्रोडक्शन टु सोशियोलोजी' मे लिखा है कि मार्क्स वर्गों का आधार आर्थिक मानते हैं। आपने कहा है, "सामाजिक वर्ग—ऐतिहासिक परिवर्तन की इकाई तथा आर्थिक व्यवस्था द्वारा समाज मे निर्मित श्रेणियाँ दोनो ही हैं।

रेमण्ड ऐरन का निष्कर्ष (Conclusion of Raymond Aron)—रेमण्ड ऐरन ने अपनी पुस्तक **"मेन करण्ट्स इन सोशियोलोजिकल थॉट्स"** (Main Currents in Sociological Thoughts) में मार्क्स के वर्ग से सम्बन्धित विचारो के आधार पर निम्नलिखित दो निष्कर्ष प्रस्तुत किये हैं।

(1) निश्चित स्थान (Fixed Place)—मार्क्स के अनुसार एक सामाजिक वर्ग वह है जो उत्पादन की प्रक्रिया में एक निश्चित स्थान रखता है। उत्पादन की प्रक्रिया के दो अर्थ सामने आते हैं—

(1.1.) उत्पादन की तकनीकी प्रक्रिया मे स्थान और (1.2) वैधानिक प्रक्रिया मे स्थान। वैधानिक प्रक्रिया—तकनीकी प्रक्रिया पर थोपी गई होती है। पूँजीपति उत्पादन के साधनो का स्वामी होता है। वह श्रमिको का सगठनकर्ता एवं तकनीकी प्रक्रिया का स्वामी होता है।

पूँजीपति वैधानिक स्थिति के कारण उत्पादको से अतिरिक्त मूल्य को प्राप्त करता है।

(2) अतिरिक्त मूल्य (Surplus Value)—पूँजीपति श्रमिको का शोषण करते हैं। पूँजीपति श्रम-शक्ति के स्वामी होने के कारण अतिरिक्त मूल्य को हड़पते हैं। मार्क्स की मान्यता है कि पूँजीवाद के विकास के साथ-साथ वर्ग-सम्बन्ध सरल होते जाते हैं और आय के स्रोत श्रम और लाभ—दो ही रह जाते हैं। श्रम का मालिक श्रमिक वर्ग होता है एवं लाभ (अतिरिक्त मूल्य) का मालिक पूँजीपति होता है। भू-स्वामी वर्ग धीरे-धीरे समाप्त हो जाता है और उसका स्थान पूँजीपति वर्ग ले लेता है।

वर्ग के लक्षण (Characteristics of Class)—कार्ल मार्क्स ने अपनी कृति **'दा एटीन्थ ब्रुमेयर'** (The Eighteenth Brumaire) मे वर्ग की कुछ प्रमुख विशेषताओ का

उल्लेख किया है। आपका कहना है कि वर्ग के लिए बहुत बड़ा मानव समूह या समाज होना चाहिये। इस मानव समूह में समान आर्थिक गतिविधियों का होना आवश्यक है। मार्क्स की मान्यता है कि समाज में वर्ग तभी होगा जब समाज के सदस्यों की जीवन शैली समान होगी। उनकी संस्कृति और हित समान होने चाहिए। इतना ही नहीं एक वर्ग के लिए एकता की चेतना का होना अत्यावश्यक है। एक वर्ग को दूसरे वर्ग से पृथक् होने की भावना का होना भी उतना ही आवश्यक है जितना कि वर्गों में एक-दूसरे के प्रति विद्वेष की भावना। इन उपर्युक्त विशेषताओं के होने पर ही समाज में वर्गों का निर्माण होता है। आपका यह भी कहना है कि शोषक वर्ग एवं शोषित वर्ग में अपने-अपने स्वार्थों को लेकर संघर्ष एवं टकराव पाया जाता है। शोषक-वर्ग और शोषित-वर्ग में सामुदायिक चेतना और सामान्य क्रिया की इच्छा भी पाई जाती है। मार्क्स ने वर्ग की आर्थिक विशेषता बताते हुए लिखा है, ''वर्ग समाज के सदस्यों का ऐसा समूह होता है जो अपनी जीविका एक विशेष प्रकार से अर्जित करता है।'' इसी आर्थिक आधार की भिन्नता के आधार पर आपने वर्गों के प्रकार का उल्लेख भी किया है।

कार्ल मार्क्स : वर्गों के प्रकार
(Karl Marx : Types of Classes)

कार्ल मार्क्स ने वर्गों के प्रकारों का उल्लेख अपनी विभिन्न कृतियों में किया है। आपने वर्गों के प्रकार उस समय बताये हैं जब आपने इनका ऐतिहासिक अध्ययन प्रस्तुत किया है। इन्होंने अपनी पुस्तक **'जर्मनी में क्रान्ति और प्रतिक्रान्ति'** (Revolution and Counter Revolution in Germany) में निम्नलिखित आठ वर्गों का उल्लेख किया है जो जर्मनी की 1848 की क्रान्ति के अध्ययन से सम्बन्धित हैं—

(1) सामन्ती अभिजात (The Feudal Nobility)
(2) बुर्जुआ (The Bourgeoisie)
(3) पेटीट बुर्जुआ (The Petite Bourgeoisie)
(4) उच्च एवं मध्यम कृषक (The Upper and Middle Peasantry)
(5) स्वतंत्र निम्न कृषक (The Free Lower Peasantry)
(6) दास कृषक (The Slave Peasantry)
(7) कृषि-श्रमिक (The Agricultural Labourers)
(8) औद्योगिक श्रमिक (The Industrial Workers)

इसी प्रकार मार्क्स ने अपनी कृति **'फ्रांस में वर्ग संघर्ष'** (Class-Struggle in France) में निम्नलिखित वर्ग बताये हैं—

(1) वित्तीय बुर्जुआ (Financial Bourgeoisie)
(2) औद्योगिक बुर्जुआ (Industrial Bourgeoisie)
(3) पेटीट बुर्जुआ (Petite Bourgeoisie)
(4) कृषक वर्ग (Peasant Class)
(5) सर्वहारा वर्ग (Proletarian Class)
(6) उपसर्वहारा वर्ग (Lumpenproletarian)

कार्ल मार्क्स ने उपर्युक्त दोनो ही वर्गीकरण इस तथ्य को ध्यान मे रखकर किये ह। कि कौन-कौनसे सामाजिक समूह (वर्ग) थे जिन्होने ऐतिहासिक परिस्थितियो मे राजनैतिक घटनाओ को प्रभावित किया था। मार्क्स ने 'दास कैपिटल' मे बड़े समूहो के केन्द्रीयकरण के रूप मे दो वर्गों का वर्णन किया है—एक शोषक वर्ग और दूसरा शोषित वर्ग।

पूँजीवादी व्यवस्था मे ये दो वर्ग है—पूँजीपति वर्ग और श्रमिक वर्ग। इन वर्गों के वर्गीकरण का आधार श्रम एवं लाभ है। जबकि जर्मन मे क्रान्ति और प्रतिक्रान्ति ओर फ्रास में वर्ग-संघर्ष मे वर्गों के वर्गीकरण के आधार ऐतिहासिक परिस्थितियो में राजनैतिक घटनाओं को प्रभावित करने वाले महत्त्वपूर्ण समूह रहे हैं।

मार्क्स ने 'कम्युनिस्ट पार्टी का घोषणा-पत्र' में शोषक और शोषित आधारो को लेकर तथा मानव समाज के इतिहास के सन्दर्भ मे वर्गों के दो प्रमुख प्रकारो—शोषक वर्ग और शोषित वर्ग—के विभिन्न रूपो का वर्णन किया है। ये दोनो वर्ग आपके अनुसार परस्पर संघर्ष करते रहते हैं। आपने निम्न शब्दो मे इनका उल्लेख किया है।

"अब तक के सभी समाजों का इतिहास वर्ग-संघर्ष का इतिहास है। स्वतंत्र मनुष्य और दास, कुलीन तथा साधारण जनता, सामन्ती प्रभु तथा भूदास, शिल्प-संघ का उस्ताद-कारीगर और मजदूर-कारीगर, संक्षेप में उत्पीड़क (शोषक) और उत्पीड़ित (शोषित) बराबर एक-दूसरे का विरोध करते आये है।"

मार्क्स की मान्यता है कि मानव एक वर्ग-प्राणी (Class Animal) है। आपकी मान्यता है कि प्रत्येक युग मे जीविकोपार्जन के जैसे साधन होते हैं उन्हीं के अनुसार वर्गों का निर्माण होता है। आपका मत है कि वर्ग के प्रकार, स्वरूप व विशेषताएँ आदि उत्पादन के साधनो और उत्पादन की विधियों पर आधारित होते हैं। भिन्न-भिन्न युगो मे उत्पादन के साधनो में परिवर्तन हुआ है, उसी के अनुसार नये-नये वर्ग विकसित हुए है। उन्हीं तथ्यो के आधार पर आपने उपर्युक्त वर्गों के प्रकार बताये हैं। आपने मानव इतिहास मे युगो को ध्यान मे रखकर निम्न चार युगो मे वर्गों के प्रकारो का उल्लेख किया है।

(1) आदिम साम्यवादी वर्ग-विहीन समाज (Primitive Communal Classless Society)
(2) दासत्व समाज मे वर्ग (Class in Slave Society)
(3) सामन्ती समाज मे वर्ग (Class in Feudal Society)
(4) पूँजीवादी समाज मे वर्ग (Class in Capitalistic Society)

वर्ग की उत्पत्ति
(Origin of Class)

कार्ल मार्क्स ने लिखा है कि अगर हम समाज का इतिहास देखे तो पायेगे कि प्रारम्भ में मानव-समाज में कोई वर्ग-व्यवस्था नहीं थी। आपके अनुसार अति-प्राचीनकाल मे व्यक्ति अपनी आवश्यकताओ की पूर्ति सरलता से कर लेता था। मानव की आवश्यकता से सम्बन्धित सभी वस्तुएँ प्रकृति मे उपलब्ध थीं। इस काल मे जीवित रहने के साधनो की बहुलता थी तथा समाज छोटे-छोटे कबीलो या बन्धुत्व समूहों के रूप मे रहते थे। कोई भी किसी का शोषण नहीं करता था। मार्क्स के अनुसार प्रारम्भ मे मानव-समाज वर्ग-विहीन

अवस्था मे था। न कोई शोषक था, न ही कोई शोषित। आवश्यकताओ की पूर्ति सरलता से होती थी। अतिरिक्त उत्पादन तथा वितरण की असमानता को कोई जानता भी न था। प्रारम्भ मे निजी सम्पत्ति जैसी कोई चीज भी नहीं थी। मार्क्स का कथन है कि समाज मे सर्वप्रथम वर्गों की उत्पत्ति आदिम साम्यवादी युग के अन्तिम चरण में तब हुई जब जनसख्या बढ़ गई, अतिरिक्त उत्पादन का विकास हुआ, वितरण मे असमानता आ गई, निजी सम्पत्ति की अवधारणा ने जन्म ले लिया, व्यक्तियों को कैदियो की तरह रखा जाने लगा और उनसे गुलामों की तरह काम लिया जाने लगा। इस प्रकार प्राचीन साम्यवादी युग धीरे-धीरे दासत्व-युग मे परिवर्तित हो गया। समाज मे जैसे-जैसे नये उत्पादन के साधन खोजे जाने लगे, वैसे-वैसे वर्गों के रूप एक युग से दूसरे युग मे—दास-स्वामी, सामन्त-किसान, पूँजीपति-श्रमिक के रूप मे बदलते गये। मार्क्स की मान्यता है कि समाज प्राचीन साम्यवादी वर्ग-विहीन व्यवस्था से विभिन्न वर्गों के रूपो मे से गुजरता हुआ अन्त मे राज्य-विहीन, वर्ग-विहीन कल्पनालोकीय समाजवादी समाज व्यवस्था के रूप मे विकसित होगा।

आपने वर्ग-व्यवस्था के इतिहास को भी प्रस्तुत किया है—

विभिन्न समाजों मे वर्ग (Classes in Various Societies)—कार्ल मार्क्स ने लिखा है कि सभी समाजो मे हमेशा वर्ग रहे हैं। आपने तो यहाँ तक लिखा है कि मानव समाजो का इतिहास वर्ग-सघर्षो का इतिहास है। अर्थात् एक काल में जो वर्ग होते हैं उनमें संघर्ष के फलस्वरूप नये वर्ग का जन्म होता है और यह क्रम तब तक चलता रहता है, जब तक वर्ग-विहीन समाज की स्थापना नहीं हो जाती। मार्क्स ने विभिन्न समाजो में ऐतिहासिक दृष्टिकोण से वर्ग-व्यवस्था के स्वरूपों की विवेचना निम्न प्रकार से प्रस्तुत की है।

1. आदिम साम्यवादी वर्ग-विहीन समाज (Primitive Communal Class-less Society)—मार्क्स ने मानव इतिहास का गहन अध्ययन करके निष्कर्ष प्रस्तुत किया कि प्रारम्भ मे मानव नातेदारी या बन्धुत्व पर आधारित समूहो के रूप मे रहता था। इसे मार्क्स ने मानव इतिहास का प्रथम युग कहा है। मानव-समूह का आधार गोत्र-सम्बन्ध होते थे। ये छोटे-छोटे समुदायो या कबीलो के रूप मे रहते थे। इन गोत्र-समूहो या कबीलो की एक भाषा और निश्चित लघु भू-क्षेत्र होता था। जीविकोपार्जन के साधनो पर या उत्पादन के साधनो पर सम्पूर्ण गोत्र या कबीले के सभी सदस्यो का अधिकार होता था। सम्पत्ति सामूहिक होती थी। उत्पादन, उपभोग और वितरण सामुदायिक होता था। इनकी आर्थिकी सभरणात्मक होती थी। उत्पादन के साधनो और उत्पादित वस्तुओ पर समुदाय के सभी लोगों का सामूहिक अधिकार होता था। इनकी आर्थिकी बचत की आदत नहीं होती थी, इसलिए उत्पादन के साधनो और उत्पादित वस्तुओ पर व्यक्ति विशेष का अधिकार नहीं होता था। इस युग मे श्रम-विभाजन लिंग-भेद के आधार पर होता था। स्त्री-पुरुष, आयु-भेद और शारीरिक-क्षमता के आधार पर विभिन्न कार्यों को करते थे। मार्क्स ने कहा कि इन सब विशेषताओ के फलस्वरूप मानव इतिहास के प्रथम युग मे आदिम साम्यवादी वर्ग-विहीन समाज थे। इस काल मे वर्ग-भेद नहीं पाया जाता था।

(2) दासत्व युग में वर्ग (Class in Slave Society)—मार्क्स की मान्यता है कि सर्वप्रथम दासत्व समाज या दासत्व युग मे वर्गों का उदय हुआ था। आपने वर्गों की उत्पत्ति की प्रक्रिया का निम्न प्रकार से उल्लेख किया—आपका कहना है कि मानव इतिहास

में धीरे-धीरे भौतिक परिस्थितियों, उत्पादन के साधनों व व्यवसाय आदि मे परिवर्तन हुआ। मानव पशु-पालन, कृपि तथा दस्तकारी के कार्य करने लगा। इस काल मे धीरे-धीरे श्रम-विभाजन का भी विकास हुआ। व्यक्तिगत सम्पत्ति भी धीरे-धीरे पनपने लगी। सामाजिक उत्पादन के साधनो पर व सामूहिक स्वामित्व के स्थान पर व्यक्तिगत स्वामित्व का उदय हुआ। समाज मे कुछ लोगो के हाथ मे उत्पादन के साधन, जैसे—भूमि, औजार, बीज व पशु आदि आ गये। वे समाज में स्वामी कहलाने लगे। दूसरी ओर समाज मे अधिकतर वे लोग थे जो उपर्युक्त वर्णित उत्पादन के साधनो से वचित थे। इनके पास केवल श्रम था। इनको साधनसम्पन्न लोगो (स्वामी) ने दास बना लिया और इनसे बलपूर्वक काम लेने लगे। मार्क्स का कथन है कि आदिम साम्यवादी वर्ग-विहीन समाज धीरे-धीरे स्वामी-दास वर्ग व्यवस्था वाले दासत्व समाज मे विकसित हो गया।

दासत्व युग मे साधन-सम्पन्न वर्ग दासो को खरीदता था। स्वामी वर्ग एक प्रकार से परजीवी वर्ग था जो दासो का शोषण करता था। यही शोषक वर्ग उत्पादन-प्रणाली को नियन्त्रित, निर्देशित और सचालित करता था। स्वामी वर्ग की आय का मुख्य स्रोत दासो द्वारा उत्पादित अतिरिक्त वस्तुएँ थीं। इस युग मे स्वामी वर्ग दासो को पशुओ की तरह खरीदते थे, बेचते थे और मारते थे। दास परतत्र और अपने मालिक पर आश्रित थे। मार्क्स ने ऐतिहासिक प्रमाणो के आधार पर कहा है कि दासत्व युग मे धीरे-धीरे स्पष्ट रूप से दो वर्ग बन गये। मालिक या स्वामी दासो का शोषण करते थे। इनके पास समाज की आर्थिक और राजनैतिक शक्ति होती थी। ये संख्या में कम होते थे। दूसरी ओर दास सख्या में अधिक होते थे। आदिम समाजो की तुलना मे इस युग मे अधिक आर्थिक उन्नति देखने को मिलती है। जैसे—नये-नये नगरो का निर्माण, कृपि और अन्य उत्पादन मे धातुओ के उपकरणो का विकास, वाणिज्य एवं व्यापार का विकास, युद्ध के लिए बडी-बडी सेनाओ का संगठन आदि। इस युग मे हस्तशिल्प तथा विलासिता की वस्तुओ का निर्माण भी होने लगा जिसका उपभोग मालिक वर्ग करता था। इस प्रकार मानव-समाज के इतिहास मे शोषित और शोषक वर्ग (दास और मालिक) का जो उदय हुआ, उसका मार्क्स ने वर्णन किया।

(3) सामन्ती समाज में वर्ग (Class in Feudal Society)—कार्ल मार्क्स ने वर्ग के विकास के इतिहास में दूसरी अवस्था सामन्ती समाज मे दो वर्गों का उल्लेख किया। आपके अनुसार सामाजिक समाज मे एक सामन्त वर्ग (Feudal Class) होता था और दूसरा अर्धदास किसान वर्ग (Serf class) होता था। सामन्त वर्ग साधनसम्पन्न होता था। इस वर्ग के उत्पादन के साधन (भूमि) पर स्वामित्व होता था। एक प्रकार से यह शोषक वर्ग होता था और सत्ताधारी भी होता था। दूसरी ओर अर्धदास किसान इस समाज के शोषित वर्ग होते थे। यह किसान सामन्तों के अधीन होते थे। सामन्त अर्धदास किसानो से अपनी भूमि पर खेती करवाते थे। सामन्त वर्ग अर्धदास किसानो के श्रम का शोषण करते थे। भू-स्वामी सामन्त किसानो के द्वारा उत्पादित अतिरिक्त वस्तुओ को हडप जाते थे। अर्धदास किसान दासत्व युग मे दासो की तुलना मे कुछ अच्छी स्थिति मे थे। यह किसान भी सामन्तो की भूमि पर खेती करते थे और उनके घरो का कार्य करते थे। अवसर आने पर किसान सामन्तो के लिए युद्ध म लडते भी थे। सामन्ती युग मे निजी सम्पत्ति का स्वरूप और अधिक उन्नत प्रबल और स्पष्ट हो गया था। मार्क्स के अनुसार सामन्त और किसान शोषक और शोषित दो वर्गों मे सघर्ष

दासत्व युग की तुलना मे अधिक स्पष्ट मे रूप देखने को मिलता था। मार्क्स ने सामन्ती समाज मे इन दो वर्गो मे सघर्ष के परिणामस्वरूप पूँजीपति वर्ग की उत्पत्ति का उल्लेख भी किया।

(4) पूँजीपति समाज में वर्ग (Class in Capitalistic Society)—मार्क्स की मान्यता है कि आधुनिक पूँजीवादी समाज की उत्पत्ति सामन्ती समाज म सामन्तो और विद्वानो म वर्ग-सघर्ष के परिणामस्वरूप हुई है। शुरू म पूँजीपति वर्ग एक प्रगतिशील वर्ग था। उसका उद्देश्य समाज का विकास करना था, लेकिन धीरे-धीरे यह वर्ग शक्तिशाली होता गया। उत्पादन के साधनो और शक्तियो पर उसका आधिपत्य स्थापित हो गया। पूँजीपति वर्ग की उत्पत्ति मशीनो के अधिकार तथा बडे-बडे उद्योग-धन्धो की स्थापना के फलस्वरूप हुई है। मार्क्स की मान्यता है कि जब समाज मे औद्योगिकीकरण हुआ इससे समाज म पूँजीपति वर्ग एक शोषक वर्ग बन गया। पूँजीपतियो ने श्रमिक से अपने कारखानो मे काम करवाया और अतिरिक्त मूल्य को हडप लिया। मार्क्स ने पूँजीपति समाज के दो वर्गों-शोषक (पूँजीपति) और शोषित (श्रमिक) को विशिष्ट नाम दिए हैं। आपने श्रमिक वर्ग को सर्वहारा-वर्ग की सज्ञा दी है।

पूँजीपति वर्ग उत्पादन के साधनो व शक्तियो तथा उत्पादन के सम्बन्धो को नियन्त्रित, निर्देशित व सचालित करता है। मार्क्स के अनुसार सर्वहारा-वर्ग के पास उत्पादन के साधन नही होते हैं। यह वर्ग अपने श्रम को बेचकर जीविकोपार्जन करता है। इन दोनो वर्गों के निर्माण का आधार अन्य वर्गों की तरह लाभ व आय ह। पूँजीपति वर्ग श्रमिको का शोषण करता ह।

मार्क्स ने अपना मत व्यक्त किया है कि मानव समाज क विकास के प्रत्येक स्तर मे हमेशा दो वर्ग—शोषक वर्ग व शोषित वग रहे ह। दासत्व युग मे शोषक मालिक थे तथा शोषित दास थे। सामन्ती युग मे शोषक सामन्त थे और शोषित किसान थ। वर्तमान पूँजीवादी युग मे शोषक पूँजीपति (बुर्जुआ) और शोषित सर्वहारा-वर्ग है। इन वर्गो म सदैव सघर्ष रहा।

कार्ल मार्क्स : वर्ग संघर्ष
(Karl Marx Class Struggle)

समाजशास्त्र मे कार्ल मार्क्स ने अनेक अवधारणाओ तथा सिद्धान्तो को प्रतिपादित किया है। इसम सबसे अधिक उल्लेखनीय अवधारणा वर्ग-सघर्ष की है। आपके इस योगदान के फलस्वरूप समाजशास्त्र मे समाज को समझन के लिए एक विशेष सघर्ष सम्प्रदाय (Conflict School) का विकास हुआ जो वतमान मे उग्र उन्मूलनवादी समाजशास्त्र (Radical Sociology) के रूप मे विकसित हो गया ह। इसीलिए कार्ल मार्क्स की वर्ग-सघर्ष की अवधारणा को समझना आवश्यक है।

मार्क्स पर इग्लैण्ड की सामाजिक एव आर्थिक परिस्थितियो का गहरा प्रभाव पडा। जिस समय मार्क्स इग्लैण्ड म थे उस समय वहाँ के कारखाना म बहुत अधिक उत्पादन हो रहा था। पूँजीपति इन कारखानो के द्वारा खूब धन कमा रहे थे। पूँजीपतियो का वहाँ की सरकार और राजनैतिक क्षेत्र मे विशेष प्रभाव था। ये पूँजीपति सभी प्रकार से श्रमिको का खूब शोषण कर रहे थे। पूँजीपति विशेष प्रभावशाली होने के कारण अपने उद्देश्यो को सभी प्रकार म पूर्ण करने के लिए कानूनी और गैर-कानूनी सभी रास्ते अपना रहे थे। अपने हितो की रक्षा

के लिए सरकार से कानून बनवा रहे थे। सरकार उनके इशारों पर चल रही थी। मार्क्स ने इन परिस्थितियों का अवलोकन किया और अध्ययन करके पाया कि पूँजीपति सर्वहारा-वर्ग (श्रमिक वर्ग) का खूब शोषण कर रहे थे। मार्क्स ने यह भी देखा कि पूँजीपति अधिक धनी होते जा रहे थे और निर्धन लोग अधिक गरीब होते जा रहे थे। कार्ल मार्क्स इन सामाजिक परिस्थितियों से बहुत प्रभावित हुए और इसीलिए वे पूँजीवादी व्यवस्था के कट्टर विरोधी और शत्रु बन गए। आपने सम्बन्धित साहित्य का अध्ययन किया और श्रमिकों अथवा शोषित वर्ग के समर्थक बन गए। आपने शोषक और शोषित वर्ग के विभिन्न रूपों का साहित्य में अध्ययन किया और पाया कि इनमें वर्ग संघर्ष होता है। इतना ही नहीं आप सर्वहारा-वर्ग और साम्यवाद के एक महान् समर्थक के रूप में सामने आए।

कार्ल मार्क्स ने वर्ग-संघर्ष की अवधारणा ऑगस्टिन थीरे से ली है। विद्वानों का मत है कि मार्क्स ने वर्ग-संघर्ष की विवेचना प्रभावशाली रूप में प्रस्तुत की, जिसका विश्व जगत में विशेष प्रभाव पड़ा। कार्ल मार्क्स के वर्ग-संघर्ष के सम्बन्ध में जो विचार हैं वे भिन्न-भिन्न रूपों में देखे जा चुके हैं। यहाँ कार्ल मार्क्स के उन्हीं विचारों और दृष्टिकोणों का वर्ग-संघर्ष के सम्बन्ध में क्रमबद्ध और व्यवस्थित रूप से अध्ययन किया जायेगा। मार्क्स की मान्यता रही है कि 'वर्ग-संघर्ष' इतिहास को समझने की कुँजी है। आपने 'कम्युनिस्ट पार्टी का घोषणा-पत्र' के अध्याय प्रथम 'पूँजीपति और सर्वहारा' में पहली पंक्ति लिखते हुए इस बात को स्पष्ट किया है, जो निम्न प्रकार है—"**अभी तक आविर्भूत समस्त समाज का इतिहास वर्ग-संघर्षों का इतिहास रहा है।**" इस पंक्ति के बाद आपने वर्गों के विभिन्न प्रकार एवं संघर्ष की प्रक्रिया पर निम्न शब्दों में प्रकाश डाला है।

"**स्वतन्त्र मनुष्य और दास, पेट्रीशियन और प्लेबियन, सामन्ती प्रभु और भूदास, शिल्प-संघ का उस्ताद-कारीगर और मजदूर-कारीगर—संक्षेप में उत्पीड़क और उत्पीड़ित (शोषक और शोषित) बराबर एक-दूसरे का विरोध करते आए हैं। वे कभी छिपे, कभी प्रकट रूप से लगातार एक-दूसरे से लड़ते रहे हैं, जिस लड़ाई का अन्त हर बार या तो पूरे समाज के क्रान्तिकारी पुनर्गठन में या संघर्षरत वर्गों की बर्बादी में हुआ है।**"

कार्ल मार्क्स के वर्ग संघर्ष के सम्बन्ध जो विचार 1843 में रहे वे जीवनपर्यन्त बने रहे। आपने वर्ग-संघर्ष को स्पष्ट करते हुए आलोच्य घोषणा-पत्र में निम्न शब्दों में उसे स्पष्ट किया है जिसको यहाँ प्रस्तुत करना आवश्यक है।

"**आधुनिक पूँजीवादी समाज में, जो सामन्ती समाज के ध्वंस से पैदा हुआ है, वर्ग-विरोधों को समाप्त नहीं किया। उसने केवल पुराने के स्थान पर नए वर्ग, उत्पादन की पुरानी अवस्थाओं के स्थान पर नई अवस्थाएँ और संघर्ष के पुराने रूपों की जगह नये रूप खड़े कर दिए हैं।**"

महत्त्वपूर्ण अवधारणाएँ
(Major Concepts)

मार्क्स के वर्ग संघर्ष को समझने के लिए आवश्यक है कि हम कुछ महत्त्वपूर्ण अवधारणाओं के अर्थों का अध्ययन करें। निम्नलिखित तीन अवधारणाओं—शोषक वर्ग, शोषित वर्ग और संघर्ष को समझने का प्रयास करें।

1. शोषक वर्ग (Exploiter-Class)—मार्क्स के अनुसार शोषक वह व्यक्ति है, जिसका उत्पादन के साधनों पर स्वामित्व होता है। भिन्न-भिन्न कालो मे उत्पादन के साधन भिन्न-भिन्न होते हैं, उन्हीं के अनुसार उन साधनो से सम्बन्धित शोषक के भिन्न-भिन्न रूप होते हैं। दासत्व युग मे शोषक-स्वामी या मालिक था। वह पशुओ, बीजो, औजारो और भूमि आदि—उत्पादन के साधनो का स्वामी था। सामन्ती युग मे शोषक-सामन्त था। उसका भूमि (खेती की जमीन) पर स्वामित्व था एवं वह सत्ताधारी था। पूँजीवादी समाज मे यह शोषक—पूँजीपति है, जिसका कारखानो, उद्योग-धन्धो आदि पर स्वामित्व होता है। शोषक का स्वामित्व कच्चे माल, पूँजी, भूमि, कल-कारखानो और कार्य आदि पर होता है। सभी शोषक मिलकर शोषक-वर्ग बनाते हैं, जो साधन-सम्पन्न, शक्तिशाली, सत्ताधारी एव ऐश्वर्य-सम्पन्न होते हैं। मार्क्स के अनुसार शोषक-वर्ग का एक प्रकार से उत्पादन के साधनों, उत्पादन की शक्तियो तथा उत्पादन के सम्बन्धों पर आधिपत्य होता है। शोषको का उद्देश्य अधिक-से-अधिक लाभ कमाना होता है, अतिरिक्त मूल्य की मात्रा को अधिक-से-अधिक बढाना एवं शोषित का अधिकतम शोषण करना होता है। इस प्रकार से शोषक परजीवी होता है जो शोषित का शोषण करने के लिए व अधिक लाभ कमाने आदि के लिए उत्पादन करता है।

2. शोषित वर्ग (Exploitee Class)—मार्क्स का कथन है कि शोषित वह व्यक्ति है, जिसका उत्पादन के साधनो पर स्वामित्व नहीं होता है। वह हमेशा अभावग्रस्त होता है। शोषित अपना श्रम शोषक को बेचता है। जिस प्रकार के उत्पादन के साधन होते हैं, उसी के अनुरूप श्रम का रूप एव प्रकार होता है। शोषित मानव समाज के इतिहास मे हर काल मे रहे हैं। जिस काल मे जैसा उत्पादन का साधन था, उसके अनुसार श्रम बेचने वाले शोषित का भी रूप रहा है। दासत्व युग मे शोषित का रूप दास था, सामन्त युग मे शोषित का रूप भूमिहीन कृषक था और वर्तमान में पूँजीपति युग मे शोषित श्रमिक है। इस श्रमिक को कार्ल मार्क्स ने सर्वहारा-वर्ग की सज्ञा दी है। अनेक शोषित मिलकर जिस बडे समूह का निर्माण करते हैं, वह शोषित-वर्ग कहलाता है। पूँजीपति व्यवस्था मे अनेक श्रमिक या सर्वहारा मिलकर शोषित-वर्ग या सर्वहारा-वर्ग का निर्माण करते हैं। भिन्न-भिन्न कालो मे शोषित-वर्ग—शोषक-वर्ग को अपना श्रम जीविकोपार्जन के लिए बेचता रहा। शोषित की मजदूरी का निर्धारण हमेशा शोषक वर्ग ने किया है। शोषक-वर्ग का हमेशा यह प्रयास रहा है कि उसने शोषितो की कम-से-कम मजदूरी निश्चित की है और अधिक-से-अधिक अतिरिक्त मूल्य को हडपने का प्रयास किया है। मजदूरी का निर्धारण शोषक की माँग और शोषितो की पूर्ति पर निर्भर करता है। शोषित का जीवन हमेशा दयनीय रहा है इसलिए मार्क्स ने उसे उत्पीडित भी कहा है। यहाँ शोषित के विभिन्न रूप—उत्पीडित, दास, कृषक, श्रमिक, मजदूर व गुलाम आदि अपने-अपने कालो मे बड़े समूहो के रूप मे रहे हैं जिनको मार्क्स ने दास-वर्ग, गुलाम-वर्ग, किसान-वर्ग, श्रमिक-वर्ग तथा सर्वहारा-वर्ग आदि की सज्ञा दी है।

3. संघर्ष (Struggle)—जैसा कि कार्ल मार्क्स ने अपनी विभिन्न कृतियो मे सघर्ष की अवधारणा का प्रयोग किया है, उसके अनुसार सघर्ष से आपका तात्पर्य दो वर्गो के परस्पर विरोध से है। यह विरोध कभी छिपे रूप मे होता हे तो कभी स्पष्ट और कभी प्रकट रूप मे होता है। यह लड़ाई लगातार हो सकती है और रुक-रुक कर भी हो सकती है, लेकिन इस लडाई अथवा सघर्ष का अन्त प्रत्येक बार या तो पूरे समाज के क्रान्तिकारी पुनर्गठन के रूप मे

सामने आता है अथवा जिन वर्गों मे संघर्ष होता है, वे बर्बाद हो जाते हैं। मार्क्स की मान्यता है कि समाज मे एक वर्ग आवश्यकता की पूर्ति के साधनो पर नियन्त्रण रखता है। लेकिन दूसरा वर्ग समाज में ऐसा होता है जिसकी आवश्यक आवश्यकताएँ भी पूरी नहीं हो पातीं। यह असन्तुष्ट वर्ग अपने असन्तोष और विरोध को तरह-तरह से व्यक्त करता है। साधन-सम्पन्न शोषक-वर्ग अपने हितो की सुरक्षा के लिए संघर्ष करता है और साधनहीन शोषित-वर्ग उन साधनो को प्राप्त करने के लिए संघर्ष करता है। जब शोषित-वर्ग की पीड़ा बढ़ जाती है, असहनीय हो जाती है तो यह असन्तोष क्रान्ति का रूप ले लेता है। शोषक-वर्ग की हार होती है और समाज मे क्रान्तिकारी पुनर्गठन स्थापित हो जाता है।

कभी-कभी संघर्षरत वर्गो की बर्बादी भी हो जाती है। मार्क्स ने संघर्ष को द्वन्द्ववाद के द्वारा भी समझाया है। आपका कहना है—शोषक-वर्ग का एकवाद है, शोषित वर्ग प्रतिवाद के रूप में उभरकर सामने आता है। शोषक-वर्ग और शोषित-वर्ग या वाद और प्रतिवाद मे संघर्ष होता है और इसका परिणाम समवाद के रूप मे सामने आता है। कुछ समय बाद धीरे-धीरे यह समवाद पुनः एक वाद मे विकसित हो जाता है। इस वाद के विरोध मे एक नया प्रतिवाद उभरकर सामने आता है, इनमे संघर्ष होता है और एक नया समवाद परिणामस्वरूप समाज मे स्थापित हो जाता है। मार्क्स के अनुसार यह संघर्ष की प्रक्रिया 'वाद, प्रतिवाद और समवाद' के रूप मे तब तक चलती रहती है, जब तक समाज साम्यवादी समाज के रूप मे स्थापित नहीं हो जाता।

पूँजीवाद एवं वर्ग-संघर्ष
(Capitalism and Class-Struggle)

कार्ल मार्क्स ने लिखा है कि सामन्तवाद मे सामन्तो एवं भूदासो के संघर्ष के फलस्वरूप आधुनिक पूँजीवाद की उत्पत्ति हुई है। इस प्रकार से आधुनिक पूँजीवाद सामन्तवादी समाज के विनाश का परिणाम है। मार्क्स की मान्यता है कि बुर्जुआ वर्ग ने सामन्तवाद का अन्त किया है। आपने यह भी लिखा है कि पूर्व के कालो मे वर्ग-संघर्ष इतना तीव्र और स्पष्ट नहीं था जितना कि पूँजीवादी समाज मे है। अन्य युगो की तुलना मे पूँजीवादी व्यवस्था मे श्रम का विभाजन काफी उन्नत अवस्था मे होता है। बड़ी मात्रा मे उत्पादन फैक्ट्री, कल-कारखानो और बड़े-बड़े औद्योगिक केन्द्रो पर होता है। उत्पादन के साधनो, यन्त्रो व उपकरणो आदि पर पूँजीपति का आधिपत्य होता है। मार्क्स ने पूँजीवादी समाज के शोषको या पूँजीपतियो को बुर्जुआ की संज्ञा दी है। ये बुर्जुआ वर्ग श्रम जीवियो पर कार्य की शर्तें लगाता है। इनके उत्पादन का लक्ष्य अधिक लाभ कमाना है, श्रमिको के कार्य के घण्टो को बढ़ाना है—कम-से-कम मजदूरी देना है और सभी प्रकार से अधिक से अधिक अतिरिक्त मूल्य को हड़पना है। मार्क्स के द्वन्द्ववाद एवं वर्ग-संघर्ष के सिद्धान्तों के अनुसार पूँजीपति समाज-व्यवस्था मे पूँजीपति या बुर्जुआ-वर्ग के विरुद्ध दूसरा वर्ग स्वतः उत्पन्न होता है। ये दूसरा शोषित-वर्ग श्रमिक-वर्ग है जिसे मार्क्स ने विशिष्ट नाम—सर्वहारा-वर्ग दिया है। आपका मत है कि यह सर्वहारा-वर्ग पूँजीपति-वर्ग पर आश्रित रहता है। इन श्रमिकों या सर्वहारा वर्ग की सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक स्थिति बहुत दयनीय होती है। ये अपना श्रम पूँजीपतियो को बेचते हैं। पूँजीवादी व्यवस्था मे बुर्जुआ-वर्ग और सर्वहारा-वर्ग एक-दूसरे से सम्बन्धित और अन्योन्याश्रित होते हैं। इन दोनों वर्गों को एक-दूसरे की आवश्यकता होती है।

पूँजीपति अपने कारखाने व फैक्ट्रियाँ आदि श्रमिकों के द्वारा चलाते हैं। अगर श्रमिक कारखानों में काम नहीं करें तो कारखाने बन्द हो जाएँ। पूँजीपति यदि श्रमिकों को कारखानों में काम न दे तो श्रमिक भूखे मर जायेंगे। मार्क्स का कहना है कि ये दोनों वर्ग एक-दूसरे के पूरक एवं आवश्यक होते हुए भी अपने-अपने उद्देश्यों व हितों के लिए परस्पर संघर्ष करते हैं। श्रमिक वर्ग अपना वेतन बढ़ाने के लिए, अपनी आर्थिक स्थिति को सुधारने के लिए, काम के घण्टे कम करने के लिए पूँजीपति-वर्ग से संघर्ष करता है। दूसरी ओर पूँजीपति अपना लाभ बढ़ाने के लिए, अपने हितों की रक्षा करने के लिए श्रमिकों को कुचलता है व उनकी माँगों का विरोध करता है। मार्क्स लिखते हैं कि यह विरोध कभी छिपे रूप में व कभी प्रकट रूप में अथवा कभी रुक-रुककर या लगातार एक-दूसरे के विरुद्ध संघर्ष के रूप में होता रहता है। श्रमिक-वर्ग पूँजीपतियों के विरुद्ध क्रान्ति की गर्जना करेंगे। मार्क्स यह भविष्यवाणी भी करते हैं कि इन दोनों वर्गों का परिणाम पूँजीवाद का विनाश होगा। पूँजीपति वर्ग का विनाश अवश्यम्भावी है। आपने द्वन्द्वात्मक सिद्धान्त के आधार पर यह भविष्यवाणी भी की है कि पूँजीपति वर्ग के विनाश के बीज स्वयं पूँजीपति व्यवस्था में ही विद्यमान होते हैं और ये ही विकसित होकर पूँजीपति-वर्ग का विनाश उसी प्रकार से करेंगे, जिस प्रकार से बुर्जुआओं (पूँजीपतियों) ने सामन्तवाद का विनाश किया था।

मार्क्स ने यह भी भविष्यवाणी की है कि जिन शस्त्रों से बुर्जुआओं ने सामन्तवाद का अन्त किया है उन्हीं शस्त्रों से सर्वहारा-वर्ग बुर्जुआ-वर्ग का नाश करेगा। मार्क्स की मान्यता है कि पूँजीवाद की प्रकृति ही ऐसी है कि वह अपनी कब्र स्वयं खोदता है (Capitalism digs its own grave)। मार्क्स ने यह भी कहा है कि वर्ग-संघर्ष की गति इस बात पर निर्भर करती है कि शोषक वर्ग—शोषित-वर्ग का किस तीव्रता से शोषण करता है। आपने सूत्र दिया है कि **"शोषण की गति जितनी तीव्र होगी वर्ग-संघर्ष की गति भी उतनी ही तीव्र होगी।"** मार्क्स ने भविष्यवाणी की है कि बुर्जुआ-वर्ग की समाप्ति के बाद साम्यवादी समाज की स्थापना होगी। यह समाज वर्ग-विहीन होगा व इस समाज में वर्ग-संघर्ष भी नहीं होगा। आपने यह भी लिखा कि वर्ग संघर्ष की जो प्रक्रिया दासत्व युग से चली आ रही है, उसके पुराने रूपों के स्थान पर नए रूप, उत्पीडन की पुरानी अवस्थाओं के स्थान पर नई अवस्थाएँ और संघर्ष के पुराने रूपों की जगह जो नए रूप खडे होते रहे हैं, वह क्रम साम्यवादी समाज की स्थापना के साथ समाप्त हो जायेंगे।

समाजवाद की स्थापना के तरीके
(Ways of Establishing Socialism)

कार्ल मार्क्स ने "कम्युनिस्ट पार्टी का घोषणा-पत्र" के पृष्ठ 62 पर लिखा है कि सर्वहारा-वर्ग अपना राजनैतिक प्रभुत्व पूँजीपति-वर्ग से धीरे धीरे सारी पूँजी छीनने के लिए उत्पादन के सारे औजारों को राज्य अर्थात् शासक-वर्ग के रूप में सर्वहारा वर्ग के हाथों में केन्द्रित करने के लिए तथा समग्र उत्पादन शक्तियों में यथाशीघ्र वृद्धि के लिए इस्तेमाल करेगा। पूँजीवाद को समाप्त करके आपने समाजवाद को स्थापित करने के लिए निम्नलिखित तरीके सुझाए हैं—

(1) भू-स्वामित्व का उन्मूलन और समस्त लगान का सार्वजनिक प्रयोजन के लिए उपयोग।

(2) भारी वर्द्धमान या आरोही आय-कर।

(3) उत्तराधिकार का उन्मूलन।

(4) सभी उत्प्रवासियों और विद्रोहियों की सम्पत्ति की जब्ती।

(5) सरकारी पूँजी और पूर्ण एकाधिकार से सम्पन्न राष्ट्रीय बैंक द्वारा राज्य के हाथ मे उधार का केन्द्रीयकरण।

(6) संचार और यातायात के साधनो का राज्य के हाथो मे केन्द्रीयकरण।

(7) राजकीय कारखानो और उत्पादन के औजारो का विस्तार करना, एक आय योजना बनाकर परती जमीन को जोतना और खेत की मिट्टी का सामान्यत: सुधार करना।

(8) हर एक के लिए काम करना समान रूप से अनिवार्य किया जाना। विशेषकर कृषि के लिए औद्योगिक सेनाएँ कायम करना।

(9) उद्योग और कृषि को मिलाना : धीरे-धीरे देहातो और शहरो का अन्तर मिटा देना।

(10) सार्वजनिक पाठशालाओ मे तमाम बच्चो के लिए मुफ्त शिक्षा व्यवस्था। वर्तमान रूप मे बच्चो से कारखानो मे काम लेना खत्म कर देना, शिक्षा और औद्योगिक उत्पादन को मिलाना आदि।

कार्ल मार्क्स ने कहा है कि इन उपर्युक्त वर्णित तरीको के द्वारा उन्नतिशील पूँजीपति देशो मे समाजवाद को जल्दी लाया जा सकता है। आपने पूँजीवाद समाप्त करने की विधि का उल्लेख भी किया।

समाजवाद की स्थापना की विधि
(Method of Establishing Socialism)

कार्ल मार्क्स ने समाजवाद के उपर्युक्त वर्णित तरीको को सफलतापूर्वक कार्यान्वित करने के लिए एव योजनाबद्ध क्रान्ति की तैयारी के लिए निम्नलिखित विधि का सुझाव दिया—

(1) संगठन की स्थापना (Establishment of Organisation)—मार्क्स ने कहा है कि समाजवाद को लाने के लिए शोषित और निर्धन व्यक्तियो का सगठन बनाना चाहिए। इसका नेतृत्व श्रमिको के हाथ मे होना चाहिए। आपके अनुसार श्रमिक वर्ग ही क्रान्तिकारी आन्दोलन का नेतृत्व कर सकता है। सम्पत्ति व साधनहीन व्यक्ति को बुर्जुआ की पूँजीपति-व्यवस्था को बनाए रखने मे भी कोई रुचि नहीं होगी।

(2) साम्यवादी सिद्धान्तो का प्रचार (Propagating Principles of Socialism)—मार्क्स ने कार्य-पद्धति की सफलता के लिए दूसरा सुझाव छात्रो मे साम्यवादी सिद्धान्तो का प्रचार करने का दिया। आपका कहना है कि छात्र उत्साही होते हैं इसलिए वे क्रान्ति मे गहरी रुचि रखते हैं। छात्रो को प्रचार द्वारा साम्यवाद के आन्दोलन का अनुयायी भी बनाना चाहिए।

(3) निरन्तर आन्दोलन (Continuous Movement)—मार्क्स ने कहा कि साम्यवाद की स्थापना के लिए जो आन्दोलन चलाया जाए उसे किसी प्रकार से बन्द नहीं करना चाहिए। आन्दोलन को निरन्तर जारी रखना चाहिए, जनता का विश्वास प्राप्त करना

चाहिए और पूँजीपति समर्थक व सरकार के विरुद्ध जनता की क्रान्ति करने के लिए तैयार करना चाहिए।

(4) साम्यवादी कार्यक्रम (Socialistic Programme)—मार्क्स ने कहा कि विश्व मे विभिन्न देशो की परिस्थितियाँ भिन्न-भिन्न हैं। कोई देश स्वतन्त्र है तो कोई देश परतन्त्र है। इसलिए जिस देश की जैसी परिस्थिति है, उसके अनुसार साम्यवादी कार्यक्रम बनाना चाहिए। जैसे—यदि कोई देश स्वतन्त्र है तो चुनाव के घोषणा-पत्र के द्वारा चुनाव मे बहुमत प्राप्त करके सत्ता प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए। जो देश परतन्त्र है वहाँ पर अन्य दलो के साथ मिलकर स्वतन्त्रता के लिए संघर्ष करना चाहिए। मार्क्स ने लिखा है कि साम्यवादियो का कार्यक्रम और उसका उद्देश्य किसी भी प्रकार से पूँजीवाद का विनाश करना होना चाहिए तथा सर्वहारा-वर्ग की सत्ता को स्थापित कराना होना चाहिए।

(5) शक्ति और हिंसा का प्रयोग (Use of Force and Violence)—मार्क्स शक्ति और हिंसा का प्रयोग करने के समर्थक थे। आपकी मान्यता थी कि पूँजीपति शासक वर्ग कभी भी शान्ति और स्वेच्छा से सत्ता नही छोड़ेगे। इसलिए उन्होने कहा कि मजदूर वर्ग को सत्ता मे आने के लिए तथा पूँजीपतियो को हटाने के लिए शक्ति, हत्या व हिंसा आदि का प्रयोग करना चाहिए। आपने बल-प्रयोग के द्वारा गृह-युद्ध का मान्य माना जिसके द्वारा सर्वहारा-वर्ग बुर्जुआ-वर्ग को हटाए तथा उनके उत्पादन के साधनो को छीन ले।

मार्क्स की मान्यता है कि सामाजिक परिवर्तन का एक प्रमुख साधन क्रान्ति है। समाज मे परिवर्तन योजनाबद्ध तरीको से जल्दी लाया जा सकता है। आपने कहा है कि जिन समाजो मे पूँजीवाद के विनाश के लिए योजनाबद्ध तरीके से प्रयास नहीं किए जायेगे उनमे भी अन्ततोगत्वा निम्नलिखित कारणो से स्वतः ही पूँजीवाद का विनाश अवश्यम्भावी है।

पूँजीवाद के विनाश के कारण
(Causes of Decline of Capitalism)

कार्ल मार्क्स ने **'कम्युनिस्ट पार्टी का घोषणा-पत्र', 'पूँजी', 'क्रिटिक ऑफ .कल इकोनोमी'** आदि कृतियो मे पूँजीवादी-व्यवस्था के विनाश के कारणो का उल्लेख किया है। आपने विचार व्यक्त किये है कि पूँजीवाद स्वय सर्वहारा-वर्ग को लडने के लिए यत्र प्रदान करता है। श्रमजीवी-वर्ग क्रान्ति करके अपना शासन स्थापित करेगा और धीरे-धीरे पूँजीवाद के सभी लक्षण समाप्त हो जायेगे। आपने पूँजीवाद के विनाश के निम्नलिखित कारणो का उल्लेख किया।

(1) अतिरिक्त मूल्य (Surplus Value)—कार्ल मार्क्स ने कहा कि पूँजीपति श्रमिको के श्रम के द्वारा अधिक-से-अधिक अतिरिक्त मूल्य को प्राप्त करने का प्रयास करता है। अतिरिक्त मूल्य वह लाभ है जो श्रमिक द्वारा उत्पादित माल को वास्तविक मूल्य और उस माल के बाजार के माल के अन्तर के रूप मे होता है। पूँजीपति इस अन्तर (अतिरिक्त मूल्य) को हडप लेता है। कार्ल मार्क्स की मान्यता है कि इस अतिरिक्त मूल्य मे श्रमिक का हिस्सा है जो उसे नहीं मिलता है एव पूँजीपति इस मूल्य के द्वारा श्रमिक का शोषण करता है। पूँजीपति जितना अधिक अतिरिक्त मूल्य को हडपता है, श्रमिक का उतना ही अधिक शोषण होता है जो उसी अनुपात मे श्रमिको मे असन्तोष पैदा करता है। आगे चलकर यही असन्तोष पूँजीपति वर्ग-व्यवस्था का विनाश का कारण बन जाता है।

(2) व्यक्तिगत लाभ के लिए उत्पादन (Production for Indivdual Profit)—मार्क्स का मत है कि पूँजीवादी-व्यवस्था मे पूँजीपति वस्तुओ का उत्पादन अधिक-से-अधिक व्यक्तिगत लाभ प्राप्त करने के लिए करता है। उसके सामने समाज के हित एवं उपभोग का आधार नहीं होता है। इससे समाज की माँग और उत्पादन में असन्तुलन पैदा हो जाता है। वह अस्थाई आर्थिक सकट पैदा कर देता है जिससे श्रमिको को हानि होती है। श्रमिको में निर्धनता बढ़ जाती है जो आगे चलकर पूँजीवाद के विरुद्ध सघर्ष पैदा करती है।

(3) विशाल उत्पादन, एकाधिकार एवं पूँजी का संचय (Large Production, Monopoly Cumulation of Capital)—मार्क्स ने कहा कि पूँजीवाद के विनाश के अनेक कारण हैं, जिसमे पूँजीपतियो का एकाधिकार और पूँजी सचय के साथ-साथ विशाल उत्पादन प्रमुख कारण है। पूँजीवाद फैक्ट्री प्रणाली पर आधारित है। फैक्ट्री प्रणाली मे उत्पादन की गति-तीव्र होने के कारण उत्पादन भी जितनी अधिक मात्रा मे चाहे किए जा सकते हैं। बड़े पूँजीपति अधिक उत्पादन करके अधिक-से-अधिक लाभ प्राप्त करते हैं। बाजार मे प्रतिस्पर्द्धा के कारण छोटे एवं मध्यम पूँजीपति टिक नहीं पाते। ये अपनी फैक्ट्री बड़े पूँजीपतियो को बेच देते हैं, इससे बड़े-बड़े पूँजीपतियो के हाथ मे फैक्ट्रियो, औद्योगिक केन्द्रो आदि का केन्द्रीयकरण हो जाता है। मार्क्स ने स्पष्ट किया है कि इस प्रक्रिया के फलस्वरूप पूँजीपतियो की सख्या कम हो जाती है और जो पूँजीपति प्रतिस्पर्द्धा मे जीत जाते हैं, वे अधिक पूँजीपति हो जाते हैं। दूसरी ओर श्रमिक अधिक निर्धन हो जाते हैं और उनकी सख्या भी बढ़ जाती है। छोटे और मध्यम वर्गीय पूँजीपति प्रतिस्पर्द्धा मे हारकर निर्धन हो जाते हैं और श्रमिक वर्ग मे मिल जाते हैं। मार्क्स का यह भी कहना है कि श्रमिको की संख्या बढ़ने और अधिक निर्धन होने से उनमे एकता और सगठन बढ जाता है। सर्वहारा-वर्ग की एकता एवं सगठन को पूँजीपति वर्ग बढाता है और यही आगे चलकर पूँजीपति-वर्ग का विनाश करता है।

(4) आर्थिक संकट (Economic Crisis)—मार्क्स ने लिखा है कि पूँजीपति अतिरिक्त मूल्य, व्यक्तिगत लाभ, उत्पादन व बाजार की प्रतिस्पर्द्धा आदि के द्वारा समय-समय पर अनेक आर्थिक संकट पैदा करते हैं। पूँजीपति धन का अधिक-से-अधिक संचय करते है जो श्रमिको मे गरीबी बढाता है। श्रमिको मे बेरोजगारी मे वृद्धि होती है, काम के घण्टे बढ जाते हैं, उनको श्रम के बदले मे कम वेतन मिलता है, यह सब समाज के बडे वर्ग श्रमिको मे अनेक आर्थिक संकट पैदा करता है। अधिक उत्पादन होने से बाजार में उत्पादित वस्तुओ की माँग कम हो जाती है। पूँजीपति ऐसी स्थिति में अपनी फैक्ट्रियाँ, कल-कारखाने, औद्योगिक केन्द्र आदि बन्द कर देते हैं—इससे श्रमिक बेरोजगार हो जाते हैं, घोर आर्थिक सकट पैदा हो जाता है, उनमे पूँजीपतियो के विरुद्ध असन्तोष बढ जाता है। मार्क्स के अनुसार आर्थिक-सकट, बेरोजगारी, निर्धनता व तालाबन्दी आदि के कारण सर्वहारा वर्ग बुर्जुआ वर्ग के विरुद्ध सघर्ष एवं क्रान्ति की ओर अग्रसर होता है।

(5) श्रमिक-यन्त्रों का दास (Labour Creatura of Tools)—मार्क्स का कथन है कि फैक्ट्री प्रणाली में जो उत्पादन-व्यवस्था होती है उसमे श्रमिक केवल यन्त्रो का

दास रह जाता है। उत्पादन की प्रक्रिया मे श्रम-विभाजन अनेक व्यक्तियो मे बँटे होने के कारण श्रमिक का वैयक्तिक महत्त्व एवं स्वाभिमान समाप्त हो जाता है। श्रमिक की उत्पादन की प्रक्रिया मे सृजनात्मक शक्ति भी समाप्त हो जाती है। इस असन्तोष के कारण श्रमिको में पूँजीवाद के विनाश के लिए चेतना जागृत हो जाती है और वह सगठित होकर पूँजीपति व्यवस्था के विरुद्ध सघर्ष करता है।

(6) श्रमिकों मे एकता (Unity in Labourer)—पूँजीपति व्यवस्था मे उत्पादन वृहद् स्तर पर होता है। बड़े-बड़े औद्योगिक केन्द्रो की स्थापना और विकास होता है। औद्योगीकरण आर केन्द्रीयकरण के कारण श्रमिक भी एक स्थान पर बडी सख्या मे साथ-साथ कल-कारखानो मे काम करते हे। वे लोग परस्पर मिलते-जुलते हैं, अपने सुख-दु:ख की चर्चा करते है, उनकी समस्याएँ, आर्थिक स्थिति, कष्ट व उद्देश्य आदि समान होने के कारण उनमें एकता पैदा हो जाती है व सहयोग की भावना का उदय होता है। यह सहयोग और एकता व्यक्तिगत सघर्ष को सामूहिक एव सगठित सघर्ष मे विकसित कर देती है। श्रमिक सगठित होकर अपने कल-कारखानो मे पूँजीपतियों से अपनी माँगे मनवाने के लिए सगठित रूप से बातचीत करते है व हडताल करते हैं। यही आगे चलकर क्रान्ति का रूप धारण कर लेता है और पूँजीवाद को उखाड फेकता है।

(7) अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक आन्दोलन (International Labour Movement)—मार्क्स ने ठीक ही लिखा है कि जो वर्ग शोषण करता है वह अपने विनाश के कारण को स्वय उत्पन्न एव पोषित करता है। पूँजीपति वर्ग-व्यवस्था मे भी यह बात निम्न प्रकार से मार्क्स ने स्पष्ट की है। आपका मत है कि पूँजीवादी व्यवस्था मे उत्पादन बहुत अधिक मात्रा मे होता है। इन उत्पादित वस्तुओ को बेचने के लिए राष्ट्रीय आर अन्तर्राष्ट्रीय बाजारो की व्यवस्था की जाती है। विश्व के विभिन्न क्षेत्रो मे उत्पादन के लिए कच्चा माल प्राप्त करने तथा उत्पादित वस्तुओं को अन्तर्राष्ट्रीय बाजारो मे पहुँचाने के लिए पूँजीवादी व्यवस्था ने सचार एव यातायात के साधनों का तीव्र गति से विकास किया। इन सचार और यातायात के साधनो के विकास के फलस्वरूप विश्व के सभी श्रमिक राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर पूँजीपति वर्ग को समाप्त करने के लिये सगठित कर दिया है। पूँजीपतियो द्वारा लाभ कमाने के लिये यातायात और सचार के साधनो का विकास करना उन्हीं के विनाश का कारण बन गया है। अन्तर्राष्ट्रीय स्तर सगठित हो सके है। इन सचार और यातायात के साधनो ने विभिन्न राष्ट्रो के श्रमिको को सगठित कर दिया है। पहले जहाँ श्रमिको का विरोध स्थानीय स्तर तक ही संगठित था, उसको इन नए साधनो ने श्रमिको को राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर श्रमिको का नारा—"दुनिया के मजदूरो एक हो!" बुलन्द हो गया है। कार्ल मार्क्स ने लिखा है कि विश्व के सभी श्रमिक सगठित होगे और क्रान्ति के द्वारा पूँजीवादी व्यवस्था को समाप्त कर देंगे।

साराश मे ये कार्ल मार्क्स के क्रान्तिकारी विचार, वर्ग, वर्ग-सघर्ष, शोषक वर्ग, शोषित वर्ग, अतिरिक्त मूल्य, समाजवादी व्यवस्था के स्थापना के तरीके, पूँजीवाद के विनाश के कारण व पूँजीवाद और वर्ग-सघर्ष आदि से सम्बन्धित हैं। सामाजिक विज्ञान और विशेष रूप स समाजशास्त्र मे मार्क्स के अनेक समर्थक होने के साथ-साथ अनेक कटु आलोचक भी हैं जिन्होंने इनकी निम्नलिखित आलोचना की है।

वर्ग-संघर्ष की आलोचना
(Criticism of Class-Struggle)

कार्ल मार्क्स के वर्ग एवं वर्ग-संघर्ष से सम्बन्धित विचारो की समाजशास्त्र में अनेक विद्वानो ने कटु आलोचना की है। मार्क्स के विचारो से सम्बन्धित निम्नलिखित कुछ प्रमुख आपत्तियाँ उठाई गई हैं—

(1) समस्त समाजों का इतिहास वर्ग-संघर्षो का इतिहास है (History of All Societies is the History of Class-Struggle)—डैलिवस्की (J Delevsky) ने अपनी कृति 'सोशियल एन्टागोनिज्म' (Social Antagonism) मे लिखा है कि कार्ल मार्क्स का यह कथन कि **"अभी तक आविर्भूत समस्त समाजों का इतिहास वर्ग-संघर्ष का इतिहास रहा"** गलत एवं अवैज्ञानिक है। आपका कहना है कि समाज मे संघर्षों के अनेक स्वरूप होते हैं, केवल वर्ग-संघर्ष ही नहीं होता है प्रजातीय संघर्ष, धार्मिक संघर्ष व राज्य समूहो मे संघर्ष आदि उदाहरण हैं जो आर्थिक वर्ग के संघर्षों से भिन्न हैं। इसके अतिरिक्त ये संघर्ष कभी-कभी आर्थिक संघर्ष से अधिक महत्त्वपूर्ण हो जाते हैं। समाजशास्त्र मे यदि हम देखें तो जातीय संघर्ष, साम्प्रदायिक संघर्ष व भाषा के आधार पर संघर्ष आदि अनेक प्रकार के संघर्ष देखने को मिलते हैं। इन तथ्यों के आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि समस्त मानव समाज का इतिहास मात्र वर्ग-संघर्ष का इतिहास नहीं है।

(2) संघर्ष की अवधारणा (Concept of Struggle)—कार्ल मार्क्स का वर्ग-संघर्ष का सिद्धान्त मूल रूप से शोषक एवं शोषित वर्गो के परस्पर संघर्ष के आधार पर सामाजिक व्यवस्था, सामाजिक परिवर्तन एवं विकास की व्याख्या करता है। समाजशास्त्रियो का कहना है कि सामाजिक व्यवस्था, सन्तुलन व संगठन समाज के विभिन्न समूहो (वर्गो) के परस्पर संघर्ष पर आधारित नहीं होता है बल्कि समूहो मे पारस्परिक सहयोग एव एकता पर आधारित होता है। मार्क्स का यह कथन कि केवल वर्ग-संघर्ष ही एक गत्यात्मक कारक है और वह मानव समाज का विकास करता है, त्रुटिपूर्ण कथन है।

क्रोपटकिन (Kropotkin) की कृति 'म्यूचुअल एड' (Mutual Aid) एक विश्वविख्यात कृति है जिसमे आपने अनेक अन्वेषणों के आधार पर निष्कर्ष निकाला है कि मानवता की प्रगति सहयोग और एकता के कारण हुई है न कि वर्ग-संघर्ष, घृणा या द्वेष के कारण।

टार्डे (Tarde) ने कटाक्ष किया है कि "इतिहास के प्रारम्भ से वर्ग एवं सेनाएँ परस्पर लड़ती रही है, लेकिन इन्होने रेखागणित, रसायन शास्त्र व यान्त्रिकी विज्ञान आदि का निर्माण नहीं किया है। इनके बिना मानव के लिए उद्योग एव युद्ध कला का विकास नहीं होता। यह सब इसलिए सम्भव हुआ कि कुछ विचारक एव सत्य के खोजी शान्तिपूर्वक अपनी प्रयोगशाला मे काम करते रहे एव अध्ययन करते रहे।"

मार्क्स का यह कथन कि केवल संघर्ष (आर्थिक वर्गों मे) विशेष महत्त्वपूर्ण है, समाजशास्त्रियो के अनुसार आधारहीन कथन एव निष्कर्ष है।

मैकाइवर और पेज (MacIver and Page) ने अपनी कृति 'समाज' में लिखा है कि मानव समाज मे कोई भी क्रिया सहयोग के बिना नहीं हो सकती। दो पहलवान जब तक सहयोग नहीं करेंगे, उनमे मल्लयुद्ध नहीं हो सकता। इसी प्रकार शोषक एव शोषित वर्ग जब

तक सहयोग नहीं करेंगे, उत्पादन भी सम्भव नहीं होगा। मैकाइवर व पेज ने कहा है कि **'समाज सहयोग है जो संघर्ष को पार करता है'** (Society is Co-operate crossed by Conflict)।

(3) केवल दो वर्ग (Only Two Classes)—मार्क्स ने अपनी कृतियो, विचारो, लेखो एव पत्रो मे हमेशा दो वर्गों—शोषक एवं शोषित का ही विवेचन किया है। लेकिन कुछ विद्वान मार्क्स के इन वर्गों को कल्पित मानते हैं। फ्रांसीसी श्रमिक संघवादी सोरल (Sorel) ने कहा है कि मार्क्स द्वारा वर्णित वर्गों की अवधारणा एक अमूर्त कल्पना है। मार्क्स की यह धारणा कि समाज में केवल दो ही वर्ग हैं, प्रमाणो के आधार पर असत्य सिद्ध होती है। डेविलोस्की ने कई प्रकार के सामाजिक वर्गों का उल्लेख किया है। जन साधारण भी जानते हैं कि समाज मे अनेक वर्ग हैं। इन वर्गों की भिन्नता के कारण ही अमेरिका के विश्वविद्यालयो के परिसर मे शोषण से सम्बन्धित अनेक प्रकार के वर्गों का अध्ययन उग्र उन्मूलनवादी समाजशास्त्र (Radical Sociology) के अन्तर्गत किया जाता है। यह सम्प्रदाय संघर्ष उपागम के अन्तर्गत आर्थिक वर्ग को महत्त्व न देकर सामाजिक स्तर, रग-भेद तथा अनेक प्रकार के वर्गों एव शोषण के विरोध मे अभियान चला रहा है।

(4) सामाजिक और आर्थिक वर्ग (Social and Economic Classes)—कार्ल मार्क्स ने अपने वर्ग-सघर्ष के सिद्धान्त मे सामाजिक और आर्थिक वर्ग को एक माना है। समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से आपका ऐसा मानना अवैज्ञानिक है। समाजशास्त्र मे वर्ग-निर्धारण के आधार पार्सन्स एव अन्य विद्वानो ने नातेदारी समूह की सदस्यता, व्यक्तिगत विशेषताएँ, अर्जित उपलब्धियाँ, द्रव्यजात, सत्ता, शक्ति, धर्म, शिक्षा व योग्यता आदि को माना है। इस प्रकार से समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से कार्ल मार्क्स की वर्ग की धारणा के आधार—सामाजिक और आर्थिक को एक मानना—पार्सन्स, किग्स्ले डेविस व मैकाइवर और पेज आदि के अनुसार अपूर्ण है। ऐसा लगता है कि मार्क्स ने अपने राजनैतिक उद्देश्यो की पूर्ति के लिए उनको एक माना है और केवल दो ही वर्गों की वकालत की है।

(5) सर्वहारा वर्ग द्वारा क्रान्ति (Revolution by Proletariate Class)—मार्क्स की यह कल्पना है कि सर्वहारा-वर्ग क्रान्ति करके समाज मे साम्यवाद स्थापित करेगा। आपने यह भी कहा है कि सर्वहारा-वर्ग बुर्जुआ-वर्ग को उखाड फेकेगा, शोषित वर्ग क्रान्ति द्वारा समाज को बदलता है। अगर हम मार्क्स के साहित्य का अध्ययन करे तो, उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि क्रान्ति के सूत्रधार बुद्धिजीवी लोग होते हैं। 19वीं शताब्दी मे स्वय मार्क्स ने अपनी कृतियो के द्वारा श्रमिको मे जागृति पैदा की। आपने 'कम्युनिस्ट पार्टी का घोषणा-पत्र' में बुर्जुआ वर्ग को उखाड़ फेकने के योजनाबद्ध तरीको को क्रमबद्ध और व्यवस्थित रूप से प्रस्तुत किया है। इस बात के अनेक साक्ष्य हैं कि विश्व मे जितनी भी क्रान्ति हुई हैं, उसके सूत्रधार बुद्धिजीवी रहे हैं। अत: मार्क्स की यह मान्यता कि 'क्रान्ति श्रमिक वर्ग करेगा' अवैज्ञानिक है।

(6) अवधारणा सम्बन्धी आपत्ति (Objections Against Concepts)—कार्ल मार्क्स के सम्बन्ध में वैज्ञानिको की एक प्रमुख आपत्ति यह रही है कि मार्क्स ने अनेक ऐसी अवधारणाओं एवं शब्दो का प्रयोग किया है, जो वैज्ञानिक अध्ययनो, निष्कर्षो तथा सिद्धान्तो में आपत्तिजनक हैं। मार्क्स ने लिखा कि साम्यवाद की स्थापना अवश्यम्भावी है, श्रमिक संघर्ष

तथा क्रान्ति करके बुर्जुआ वर्ग को उखाड़ फेकेंगे व समाज के विकास के क्रम में अन्त में वर्ग-विहीन एवं राज्य-विहीन समाज की स्थापना होगी, आदि मार्क्स की अवधारणाएँ एवं कथन अवैज्ञानिक हैं। विज्ञान केवल 'क्या है', 'क्यों है', 'कैसे है' व 'क्या होगा' आदि का अध्ययन करता है। मार्क्स के अध्ययन में इन लक्षणों का अभाव है इसलिए वैज्ञानिकों के अनुसार मार्क्स की शब्दावली एवं निष्कर्ष अवैज्ञानिक हैं।

(7) वर्ग-संघर्ष के परिणाम असत्य (False Results of Class-Struggle)—कार्ल मार्क्स ने भविष्यवाणी की थी कि वर्ग-संघर्ष के द्वारा पूँजीवाद समाप्त हो जायेगा और साम्यवाद की स्थापना होगी। आपने पूँजीवाद के सुधार की कल्पना नहीं की। वर्तमान परिस्थितियाँ मार्क्स की इस भविष्यवाणी को प्रमाणित नहीं करती है। विश्व के अनेक देशो मे श्रमिको की स्थिति मे अनेक सुधार किये गये हैं। पश्चिम राष्ट्रों—इंग्लैण्ड व अमेरिका आदि मे कानून द्वारा श्रमिको को अनेक सुविधाएँ प्रदान की गई हैं। श्रमिकों की आर्थिक स्थिति मे काफी सुधार किये गये हैं। इससे सर्वहारा वर्ग मे असन्तोष दूर हो गया है और सर्वहारा-वर्ग तथा बुर्जुआ-वर्ग मे संघर्ष कम हो गया है व श्रमिक पूँजीपतियो से सहयोग कर रहे हैं। ये तथ्य मार्क्स के वर्ग-संघर्ष से सम्बन्धित परिणामो को अप्रमाणित एवं असत्य सिद्ध कर रहे हैं।

(8) वर्ग-संघर्ष की प्रक्रिया असत्य (False Process of Class-Struggle)—कार्ल मार्क्स ने भविष्यवाणी की थी कि वर्ग-संघर्ष की प्रक्रिया दासत्व युग, सामन्ती युग व पूँजीपति युग से होती हुई साम्यवादी अवस्था मे पहुँचेगी। आपका कहना था कि औद्योगीकरण और पूँजीवाद के बाद क्रान्ति द्वारा साम्यवाद स्थापित होगा लेकिन रूस और चीन मे सामन्तवाद के बाद ही साम्यवाद की स्थापना हो गई। ये देश पूँजीपति अवस्था से नहीं गुजरे हैं। मार्क्स के अनुसार पूँजीपति देशो मे श्रमिक क्रान्ति होनी चाहिए थी लेकिन ऐसा नहीं हुआ। इस प्रकार से अनेक प्रमाण एवं तथ्य मार्क्स द्वारा प्रतिपादित वर्ग-संघर्ष के क्रमिक चरणो को असत्य सिद्ध करते हैं। इसके उपरान्त भी निष्कर्षत: यह कहा जा सकता है कि मार्क्स के वर्ग-संघर्ष के सिद्धान्त का समाजशास्त्र मे एक विशिष्ट स्थान है। इसके सिद्धान्त ने अन्य समाजशास्त्रियों को प्रभावित किया है, जिससे समाजशास्त्र के साहित्य मे विकास हुआ है।

कार्ल मार्क्स : अलगाव
(Karl Marx : Alienation)

कार्ल मार्क्स ने समाजशास्त्र को अलगाव की अवधारणा देकर अध्ययन के एक महत्त्वपूर्ण पक्ष को स्पष्ट किया है। आपने अलगाव की विभिन्न पक्षो, परिभाषा, स्वरूप तथा सामाजिक व्यवस्था पर इसके प्रभावो की विवेचना की है। मानव समाज मे अलगाव का प्रादुर्भाव तब हुआ, जब उत्पादन मशीनो के द्वारा होने लगा। मार्क्स के अनुसार प्राचीन काल मे अलगाव नहीं था। अलगाव के विभिन्न पक्षो का विवेचन मार्क्स के सम्बन्ध मे निम्नलिखित हैं—

अलगाव की परिभाषा एवं अर्थ (Meaning and Definition of Alienation)—अलगाव अंग्रेजी शब्द 'एलीनेशन' (Alienation) का हिन्दी रूपान्तर है। हिन्दी भाषा मे अलगाव के पर्यायवाची विलगाव और पृथक्करण आदि भी हैं। समाजशास्त्र मे एलीनेशन शब्द का पूर्ण रूप से सही अर्थ कोई भी शब्द प्रकट नहीं करता है। विगत वर्षों मे

समाजशास्त्र के साहित्य मे 'अलगाव' शब्द का ही अधिक प्रयोग किया गया है। पहले कभी इस शब्द का प्रयोग 'पागलपन' के लिए किया जाता था लेकिन अब अलगाव शब्द का प्रयोग चिन्ताग्रस्त मनोदशाओ तथा प्रवृत्तियो के लिए किया जाता है। 'अलगाव' वह स्थिति है जब व्यक्ति अपने आप से उदासीनता महसूस करता है। जब कोई व्यक्ति समाज और पर्यावरण से भी अपने आपको उदासीन महसूस करता है, अपने को असुरक्षित, अकेला और बेसहारा अनुभव करता है, तो यह अवस्था अलगाव की अवस्था कहलाती है। इस अवस्था मे व्यक्ति सामाजिक सम्बन्धो के बन्धनो से अपने आपको स्वतन्त्र करने की बात सोचने लगता है।

अलगाव की परिभाषा जान स्टुअर्ट मिल, टोकियाविले, हीगल, मार्क्स एवं अन्य समाजशास्त्रियो ने दी है। ये निम्न हैं—

1. जान स्टुअर्ट मिल—समाजशास्त्र मे 'अलगाव' शब्द की व्याख्या जान स्टुअर्ट मिल ने की है। आपका कथन है कि जब श्रमिक अपने कार्यो के प्रति पृथक्ता महसूस करते हैं तो वे विद्यमान सामाजिक व्यवस्था के प्रति असन्तोष व्यक्त करते हैं। इसी को मिल ने अलगाव कहा है।

2. टोकियाविले—टोकियाविले के अनुसार उत्पादन की प्रक्रिया मे श्रम विभाजन बढता है तो उसके साथ-साथ श्रमिक का अलगाव भी बढता जाता है।

3. कार्ल मार्क्स—कार्ल मार्क्स ने अलगाव की अवधारणा, इसके स्वरूप व परिभाषा आदि पर अपनी कृति 'दास कैपिटल' में प्रकाश डाला है। मार्क्स ने हीगल से ही 'अलगाव' की अवधारणा ग्रहण की है लेकिन मार्क्स के अलगाव से सम्बन्धित विचार हीगल के विचारो से बिल्कुल भिन्न हैं। हीगल की व्याख्या दार्शनिक और आदर्शवादी है, जबकि मार्क्स की व्याख्या व्यावहारिक एव भौतिकवादी है।

मार्क्स क अनुसार अलगाव व्यक्ति की वह दशा है जिसमे उसके अपने कार्य एक पराई शक्ति बन जाते हैं जो कि उसके द्वारा शासित न होकर, उससे ऊँची शक्ति (शोषक) द्वारा शासित होते हैं। य शक्ति व्यक्ति के विरुद्ध भी होती है।

मार्क्स ने अलगाव का और स्पष्ट करते हुए लिखा है कि अलगाव कोई आत्मिक अथवा प्राकृतिक प्रक्रिया नहीं है, बल्कि यह एक निश्चित ऐतिहासिक अवस्था मे मानवीय शोषण के कारण उत्पन्न गरीबी, दु.ख, अन्याय और अज्ञान का परिणाम है।

अलगाव की उत्पत्ति (Origin of Alienation)—अलगाव की उत्पत्ति मानव समाज में तब हुई, जब उत्पादन मे श्रम के विभाजन में वृद्धि हुई तथा मशीनीकरण आया। मार्क्स का कहना है कि प्रारम्भ मे मनुष्य अपने हाथो से उत्पादन करता था, उसके पास उत्पादन के बहुत सीमित साधन थे, मनुष्य स्वय प्रारम्भ से लेकर अन्त तक वस्तुओं का निर्माण करता था। उस काल मे व्यक्ति का उत्पादन के साधनो, उत्पादन की विधियों, उत्पादित वस्तुओं और उपभोक्ताओ या ग्राहको से सीधा सम्बन्ध होता था। उत्पादन के लिए आवश्यक वस्तुओं, पूँजी व उत्पादित वस्तु आदि पर स्वय का स्वामित्व होता था। इन विशेषताओ के कारण व्यक्ति का उत्पादन की प्रक्रिया के प्रति विशेष लगाव था। उत्पादन के द्वारा उसे मानसिक एव आर्थिक सन्तोष मिलता था। इस काल मे 'अलगाव' जैसा कोई असन्तोष विद्यमान नहीं था।

मार्क्स ने लिखा है कि पूँजीवादी व्यवस्था मे उत्पादन की प्रक्रिया मे श्रमिक का योगदान बहुत कम होता है। उत्पादन की प्रक्रिया पर पूँजीपति का स्वामित्व होता है श्रमिक का इस प्रक्रिया पर कोई अधिकार नहीं होता है। उत्पादन के साधनो, औजारो, कच्चे माल, पूँजी, उत्पादित की हुई वस्तु आदि पर पूँजीपति का आधिपत्य होने के कारण श्रमिक उत्पादन की प्रक्रिया के प्रति उदासीन रहता है। ये परिस्थितियाँ मार्क्स के अनुसार श्रमिक मे अलगाव पैदा कर देती है। श्रमिक की अपने श्रम के प्रति भी जो अरुचि पैदा हो जाती है उसका प्रभाव श्रमिक के अन्य सामाजिक क्षेत्रो मे भी पड़ता है। वह सामाजिक क्रिया-कलापो मे रुचि नही लेता है, उत्पादित वस्तु और ग्राहक से उसका सीधा-सम्बन्ध नहीं होता है। इतना ही नहीं, बल्कि उसका स्वय के प्रति और अपने सगे-सम्बन्धियो के प्रति भी अलगाव पैदा हो जाता है। मार्क्स ने इन विभिन्न प्रकार के अलगाव के स्वरूपो पर भी प्रकाश डाला है।

अलगाव के स्वरूप
(Forms of Alienation)

मार्क्स ने **'इकोनोमिकल एण्ड फिलोसोफिकल मैन्युस्क्रिप्ट', 1844** (Economical and Philosophical Manuscript, 1844) कृति मे अलगाव से सम्बन्धित अपने विचार व्यक्त किए हैं। **इस्तवेन मैसजारोस** (Instvan Meszaros) ने **"मार्क्स थ्योरी ऑफ एलीनेशन"** मे मार्क्स के अलगाव सम्बन्धी विचारो को सक्षिप्त रूप मे प्रस्तुत किया है। आपने मार्क्स के अलगाव की अवधारणा के चार प्रमुख पक्ष बताए हैं, जो निम्न हैं—

(1) उत्पादित वस्तुओ के प्रति अलगाव।
(2) स्वय के प्रति अलगाव।
(3) मानव जाति से अलगाव।
(4) व्यक्ति का व्यक्ति से अलगाव।

(1) उत्पादित वस्तुओ के प्रति अलगाव (Alienation towards Production Commodity)—मैसजारोस लिखते हैं कि मार्क्स का कहना है कि मजदूर जानता है कि जो कुछ वह उत्पादन करता है, वह उत्पादन उसका नहीं है। इसका परिणाम यह होता है कि श्रमिक की उत्पादित वस्तुओं के प्रति अलगाव की भावना पैदा हो जाती है। श्रमिक उत्पादन की प्रक्रिया मे एक छोटे-से भाग की भूमिका अदा करता है इसलिए वह अपने आपको वस्तु का एकमात्र निर्माता नहीं कह सकता। श्रमिक का वस्तु की क्रय-विक्रय सम्बन्धी प्रक्रिया पर कोई नियन्त्रण नहीं होता है। ये सब परिस्थितियाँ श्रमिक मे उत्पादित वस्तु के प्रति अलगाव पैदा करती है।

(2) स्वयं के प्रति अलगाव (Alienation towards Himself)—मार्क्स ने अलगाव का दूसरा स्वरूप व्यक्ति को अपने स्वय के प्रति अलगाव की भावना बताया है। आपका कहना है कि पूँजीपति व्यवस्था मे श्रम विभाजन के कारण श्रमिक उत्पादन की प्रक्रिया मे एक छोटा-सा हिस्सा होता है। वह अपना श्रम बेचता है व जीवनपर्यन्त उत्पादन की प्रक्रिया मे एक ही कार्य को बार-बार करता है इससे श्रम के प्रति उसकी अरुचि उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है। मार्क्स ने श्रम को एक मानवीय क्रिया कहा है जो मानव की मानवता को परिभाषित करती है। पूँजीपति व्यवस्था मे श्रम मानवीय क्रिया न रहकर जीविकोपार्जन का या अस्तित्व को बनाये रखने का साधन रह जाता है। श्रमिक जो कार्य

सम्बन्धी स्वतन्त्रता समाप्त हो जाती है। उसका श्रम एक वस्तु बन जाता है। श्रम आन्तरिक सन्तुष्टि न रहकर याह्य मजबूरी हो जाती है, जो व्यक्ति मे अलगाव पैदा कर देती है। मार्क्स ने इसी अलगाव को निम्न शब्दो मे व्यक्त किया है–

"........श्रम मजदूर के लिए बाह्य है, कि यह उसके स्वभाव का एक अंग नहीं है, परिणामस्वरूप वह अपने कार्य मे अपने को सन्तुष्ट नहीं पाता है, वरन् अपने को नकारता है, दरिद्रता का अनुभव करता है, शारीरिक एवं मानसिक ऊर्जा का विकास नहीं कर पाता है, वरन् शारीरिक थकान और मानसिक रूप से उखड़ापन अनुभव करता है।............उसका काम ऐच्छिक नहीं वरन् लादा गया है, बेगारी का श्रम है।...........अन्त में मजदूर के लिए काम का अलगाव लक्षण इस तथ्य मे प्रकट होता है कि यह काम उसका नहीं, वरन् किसी दूसरे के लिए है और काम मे वह अपने से नहीं, वरन् किसी दूसरे से जुड़ा होता है।"

(3) मानव जाति से अलगाव (Alienation from Mankind)—मार्क्स ने तीसरे प्रकार का अलगाव श्रमिक एव मानव जाति के बीच बताया है। आपका कहना है कि पूँजीपति व्यवस्था मे श्रम-विभाजन एव उत्पादन की प्रकृति व्यक्ति मे मानव जाति के प्रति अलगाव पैदा कर देती है। आप लिखते हैं कि श्रमिक को समाज मे रहकर अपने अस्तित्व के लिए आवश्यक दशाओ का सामना करना पडता है। पूँजीवादी व्यवस्था मे उसकी इतनी अधिक अरुचि पैदा हो जाती है कि वह अपने से ही नहीं वरन् अपने परिवार के सदस्यो, मित्रो, समुदाय और मानव जाति से अलगाव अनुभव करता है। वह इन सब प्रकार के सदस्यो से दूर हटता जाता है। उसका इतना अधिक शोषण होता है कि वह अपने जीवन और ससार के प्रति निष्क्रिय हो जाता है। पूँजीपति व्यवस्था श्रमिक को मुद्रा और उत्पादन के साधनो का निष्क्रिय दास बना देती है और यही निष्क्रियता व्यक्ति मे मानव जाति के प्रति अलगाव पैदा करती है।

(4) व्यक्ति का व्यक्ति से अलगाव (Alienation between Individuals)—मार्क्स ने चतुर्थ रूप जो प्रस्तुत किया है, वह तीसरे प्रकार के अलगाव का ही पर्याय है। मार्क्स का कहना है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने प्राकृतिक और सामाजिक लक्षणो से अलग-थलग पड जाता है तब प्रत्येक व्यक्ति समाज के अन्य व्यक्तियो से भी अलगाव की स्थिति मे आ जाता है।

मार्क्स ने अलगाव के उपर्युक्त स्वरूप एक प्रकार के समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य के अनुसार लिखे हैं। समाजशास्त्र मे पूर्ण समाज का अध्ययन व्यक्ति का व्यक्ति के साथ, व्यक्ति का समूह के साथ, समूह का समूह के साथ किया जाता है। मार्क्स ने इसी प्रकार के अलगाव के स्वरूप व्यक्ति के स्तर पर, समूह के स्तर पर और समाज के स्तर पर भिन्न-भिन्न बताये है। एक प्रकार से पूँजीवादी व्यवस्था समाज मे विभिन्न प्रकार के अलगावो को पैदा करके व्यक्ति, समूहो और समाज मे असन्तुलन पैदा करती है। मार्क्स के अध्ययनो मे अलगाव की अवधारणा एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है।

सामान्य निष्कर्ष
(General Conclusion)

कुछ समाजशास्त्रियो ने मार्क्स के समाजशास्त्रीय सिद्धान्त पर टिप्पणी करते हुए लिखा है कि—(1) मार्क्स ने जो कुछ शुद्ध वैज्ञानिक दृष्टिकोण से कहा है वह नया नहीं है।

मार्क्स से पहले भी अनेक लेखको और विचारकों ने इस प्रकार के सिद्धान्त एवं अवधारणाएँ प्रस्तुत की हैं। (2) मार्क्स ने जो कुछ मौलिक विचार व्यक्त किये हैं, वे वैज्ञानिकता से बहुत परे हैं। (3) मार्क्स के विचारो का केवल एक गुण यह है कि इन्होने जो कुछ लिखा है उसे ये बहुत प्रभावशाली तरीके से प्रस्तुत किया है। इतने प्रभावशाली तरीके से पहले किसी ने विचार प्रस्तुत नहीं किये।

अभ्यास प्रश्न

निबन्धात्मक प्रश्न

1 वर्ग की परिभाषा दीजिए और इसके निर्धारण के आधार बताइये।

2 कार्ल मार्क्स के अनुसार वर्ग की परिभाषा एव निर्धारण के आधारो की विवेचना कीजिये।

3 "अभी तक आविर्भूत समस्त समाज का इतिहास वर्ग-सघर्षों का इतिहास रहा है।" मार्क्स के सन्दर्भ मे इसकी विवेचना कीजिये।

4. वर्ग-सघर्ष पर मार्क्स के विचारो का आलोचनात्मक मूल्यॉकन कीजिये।

5. कार्ल मार्क्स के वर्ग-सघर्ष के सिद्धान्त का मूल्यॉकन कीजिये।

(राज वि 1993)

6 अलगाव की परिभाषा देते हुए उसके कारणो की विवेचना कीजिये।

7 मार्क्स द्वारा प्रतिपादित समाज के वर्ग-प्रारूप को स्पष्ट कीजिये

(राज. वि 1996)

8 मार्क्स ने अलगाव के क्या स्वरूप एव कारण बताये हैं? क्या अलगाव की समस्या का कोई समाधान है? (राज वि 1996)

लघुउत्तरात्मक प्रश्न

निम्नलिखित पर सक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिए :—

1 अलगाव
2 वर्ग की परिभाषा
3 वर्ग की कोई तीन विशेषताएँ
4 वर्ग-विभाजन के कोई तीन आधार
5 वर्ग के प्रकार गिनाइए
6 दासत्व युग मे वर्ग
7 पूँजीपति समाज मे वर्ग
8. शोषक वर्ग
9. शोषित वर्ग
10 पूँजीवाद के विनाश के कोई दो कारण
11 अलगाव के किसी एक स्वरूप का वर्णन
12. मानव जाति से अलगाव

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. निम्नलिखित कथनो मे रिक्त स्थानो की पूर्ति के लिए कोष्ठक मे दिए गए विकल्पों मे से सही विकल्प का चयन कीजिए—
   (i) मार्क्स ने वर्ग-संघर्ष की अवधारणा...... से ग्रहण की है। (फिकटे/हीगल)
   (ii) मार्क्स वर्ग निर्माण का . . . आधार मानते हैं। (आर्थिक/सामाजिक)
   (iii) मार्क्स ने पूँजीपतियो के लिए ... शब्द का प्रयोग किया। (बुर्जुआ/प्रोलिटेरियट)
   (iv) मार्क्स के अनुसार वास्तविक जगत का निर्माण .... .से होता है। (विचार/पदार्थ)
   (v) मार्क्स पूँजीवाद के विनाश के बाद समाज की स्थापना की वकालत करते हैं। (साम्यवादी/समाजवादी
   (vi) मार्क्स समाज में धर्म के .. .. रहे हैं। (समर्थक/विरोधी)
   [उत्तर- (i) हीगल, (ii) आर्थिक, (iii) बुर्जुआ, (iv) पदार्थ; (v) साम्यवादी, (vi) विरोधी]
2. "दुनिया के मजदूरो एक हो!" का नारा किसने दिया है?
   (अ) मार्क्स (ब) हीगल (स) फिकटे (द) वेबर
   [उत्तर- (अ)]
3. मार्क्स ने द्वन्द्ववाद सम्बन्धी विचार किससे ग्रहण किए हैं?
   (अ) हीगल (ब) फिकटे (स) स्पेन्सर (द) थोरे
   [उत्तर-(अ)]
4. 'इकोनोमिकल एण्ड फिलोसोफिकल मैन्यूस्क्रिप्ट' का लेखक कौन हैं?
   (अ) हीगल (ब) मार्क्स (स) वेबर (द) दुर्खीम
   [उत्तर-(ब)]
5. मार्क्स ने अलगाव की अवधारणा के कितने प्रमुख पक्ष ताए हैं?
   (अ) चार (ब) तीन (स) पाँच (द) दो
   [उत्तर-(अ)]
6. मार्क्स ने किस कृति मे अलगाव पर प्रकाश डाला है?
   (अ) दास कैपिटल (ब) जर्मन आइडियोलॉजी
   (स) दा होली फैमिली (द) दा कम्युनिस्ट मैनिफेस्टो
   [उत्तर-(अ)]
7. मार्क्स ने अलगाव की अवधारणा किससे ग्रहण की है?
   (अ) फिकटे (ब) स्पेन्सर
   (स) हीगल (द) किसी से भी नहीं
   [उत्तर-(स)]
8. मार्क्स की अलगाव की व्याख्या है—
   (अ) व्यावहारिक (ब) भौतिकवादी
   (स) उपरोक्त दोनो (द) कोई सी भी नहीं
   [उत्तर-(स)]

अध्याय-12

राधाकमल मुकर्जी : सामाजिक मूल्य, सामाजिक विज्ञान का सिद्धान्त

(Radhakamal Mukerjee : Social Values, Theory of Social Science)

(1889-1968)

समाजशास्त्र और सामाजिक विचारधारा के विकास में जिन भारतीय विद्वानों ने अपना महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है, उनमें राधाकमल मुकर्जी का नाम सदैव स्मरणीय रहेगा। समाजशास्त्र में उनका महत्त्व सामाजिक मूल्यों से सम्बन्धित विचारों के कारण है। उनके विचार उनकी कृति **"इन्स्टीट्यूशनल थ्योरी ऑफ इकोनोमिक्स इन सोशियोलोजी"** में निहित है। उन्होंने अपने विचार **"ए जनरल थ्योरी ऑफ सोसाइटी"** में दिए हैं, जिसमें उन्होंने सामाजिक मूल्यों का विश्लेषण प्रस्तुत किया है। इसके विषय में बोगार्डस ने अपनी कृति **"दा डवलपमेण्ट ऑफ सोशियल थॉट"** में कहा है कि "मुकर्जी ने सामाजिक मूल्यों का जो विश्लेषण प्रस्तुत किया है वह केवल—पूर्व और पश्चिम—दोनों का ही समन्वय नहीं करता, अपितु सार्वभौमिक सामाजिक अन्तःक्रिया के सन्दर्भ में पूर्वीय तथा पाश्चात्य सामाजिक विचारधारा के एक समन्वय का परिणाम है।"

पूर्व और पश्चिम की विचारधाराओं को समन्वित करने की योग्यता प्राप्त करने का कारण यह था कि मुकर्जी शिक्षा प्राप्त करने के उद्देश्य से यूरोप में रहे हैं।

जीवन चित्रण एवं रचनाएँ
(Life-Sketch and Works)

राधाकमल मुकर्जी का जन्म 7 दिसम्बर सन् 1889 को पश्चिमी बंगाल के बरहामपुर (मुर्शिदाबाद) जिले में हुआ था। उनके पिता गोपालचन्द्र मुकर्जी एक सुविख्यात वकील थे। उनका परिवार बौद्धिक दृष्टि से सम्पन्न था, बड़े भाई की रुचि पूर्व और पश्चिम के साहित्य के अध्ययन में विशेष थी, घर में पुस्तकों का बाहुल्य था, इसका प्रभाव यह हुआ कि मुकर्जी को भी भारतीय दर्शन के सम्बन्ध में अपने ज्ञान की वृद्धि का अवसर पर्याप्त रूप से मिल सका। उन्होंने इतिहास का भी अध्ययन रुचिपूर्वक किया। मुकर्जी की शिक्षा प्रेसीडेंसी कॉलेज, कलकत्ता में हुई। सन् 1910 में आप बहरामपुर के कृष्णनाथ कॉलेज में अर्थशास्त्र के प्राध्यापक बन गये और पाँच वर्ष तक उसी पद पर रहे। इस काल के दौरान उन्होंने अर्थशास्त्र से सम्बन्धित कई शोध कार्य किये, जिनके आधार पर सन् 1916 में आपकी प्रथम कृति "दा फाउन्डेशन ऑफ इण्डियन इकोनोमिक्स" का प्रकाशन हुआ।

सन् 1915 मे उन्हे बंगाल मे सहकारिता आन्दोलन पर सामाजिक सर्वेक्षण व शोध कार्य के लिए 'प्रेमचन्द्र-रामचन्द्र छात्रवृत्ति' प्रदान की गई।

सन् 1916 मे मुकर्जी की नियुक्ति लाहौर (पजाब) के सनातन धर्म कॉलेज मे एक वर्ष के लिए प्राचार्य पद पर हुई। सन् 1917 मे उन्होंने 10 व्याख्यान ''भारतीय अर्थशास्त्र के सिद्धान्त'' विषय पर पजाब विश्वविद्यालय में दिए। सन् 1917 से 1921 तक पाँच वर्ष तक आपने कलकत्ता विश्वविद्यालय मे अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र और राजनैतिक दर्शनशास्त्र विषय का अध्यापन किया। सन् 1920 मे कलकत्ता विश्वविद्यालय मे ही उन्होने ''भारतीय ग्रामीण समुदाय मे सामाजिक एव आर्थिक परिवर्तन'' विषय पर डॉक्टरेट की उपाधि प्राप्त की। सन् 1921 से 1952 तक आप लखनऊ विश्वविद्यालय मे अर्थशास्त्र एव समाजशास्त्र विभाग के प्रोफेसर एव अध्यक्ष पद पर कार्यरत रहे। वहाँ पर उन्होने अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र और मानवशास्त्र के शोध-कार्य और अध्ययन-कार्य में भी समन्वित दृष्टिकोण और पद्धतिशास्त्र का शुभारम्भ किया। उन्होने ग्रामीण अर्थशास्त्र, श्रमिक अर्थशास्त्र, सामाजिक परिस्थितिशास्त्र, सामाजिक मनोविज्ञान एव सामाजिक दर्शनशास्त्र से सम्बन्धित अनेक लेखो एवं अध्ययन-प्रतिवेदनो का भी प्रकाशन कराया। इन विषयो को उन्होने एक महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान कराया, जिनको कि उस समय तक उपेक्षा की दृष्टि से देखा जाता था।

सन् 1945 से 1947 तक आप ग्वालियर सरकार के आर्थिक सलाहकार के रूप मे कार्यरत रहे। मुकर्जी अन्तर्राष्ट्रीय स्तर के अनेक सरकारी व शैक्षिक सगठनो के चेयरमैन व सदस्य भी रहे। 1946 में आप एफ. ए ओ के अर्थशास्त्र एव साख्यिकी कमीशन के अध्यक्ष चुने गए। सन् 1955 से 1958 की अवधि मे उन्होने लखनऊ विश्वविद्यालय के कुलपति का पद भार सम्भाला। उस पद से अवकाश ग्रहण करने के उपरान्त वे उसी विश्वविद्यालय के ''जे के इन्स्टीट्यूट ऑफ सोशियोलोजी एण्ड ह्यमन रिलेशन्स'' के डाइरेक्टर के रूप मे चयनित किये गये और इस पद पर कार्य करते हुए आप सन् 1968 मे दिवगत हो गए।

रचनाएँ (Works)—मुकर्जी ने अनुमानतः 53 पुस्तके लिखी हैं और अनेक पत्र-पत्रिकाओ मे आपने शोध लेखो का प्रकाशन कराया है। अनेक विद्वानो की विचारधाराओ व कृतियो का भी उनकी कृतियो पर प्रभाव पडा है। मुकर्जी ने आर्थिक समस्याओ के अध्ययन के लिए सस्थागत उपागम अपनाने पर जोर दिया है। साथ ही भारतीय ग्रामीण समस्याओ का आनुभविक अध्ययन किया, जिसके फलस्वरूप ही आपकी कृति ''लेण्ड प्रोब्लम इन इण्डिया'' प्रकाशित हुई। सामाजिक कल्याण मे उनकी रुचि थी, इसी कारण सन् 1906 से ही आपने ऋण समितियो और सहकारी समितियो मे जन-समस्याओ का निराकरण करने मे सहायता देना आरम्भ कर दिया था। मुकर्जी अनेक विद्वानो, जैसे—ब्रजेन्द्र नाथ सील, नरेन्द्र सेन गुप्ता, रॉबर्ट पार्क, बर्गेस, ऑगबर्न, रॉस व पैट्रिक गेडिस आदि से प्रभावित रहे। उनकी कृतियो और विचारधाराओ पर इन विद्वानो का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है। सील जैसे विद्वान् का प्रभाव उनकी कृति ''दा प्रिंसिपल्स ऑफ कम्पेरेटिव इकोनोमिक्स'' पर स्पष्ट रूप से पड़ा है, जिसमे तुलनात्मक पद्धति पर बल दिया गया है। सेन गुप्ता के साथ मिलकर आपने ''माइण्ड इन सोसाइटी : इन्ट्रोडक्शन टू सोशियल साइकोलोजी'' नामक कृति की रचना की। ''वॉर्डरलैण्ड ऑफ इकोनोमिक्स'' का लेखन मुकर्जी ने गेडिस द्वारा प्रारम्भ की गई ''समाजशास्त्र में ऊर्जा की अवधारणा'' के आधार पर किया है। आपने अपनी कृति ''रीजनल

सोसाइटी'' के लेखन में ई ए रॉस से तथा ''इन्स्टीट्यूशनल थ्योरी ऑफ इकोनोमिक्स'' के लेखन में प्रो कॉमन्स का भरपूर सहयोग एवं परामर्श प्राप्त किया है। इसके अतिरिक्त अनेक पाश्चात्य मनीषियों व समाजशास्त्रियों, जैसे—सोरोकिन, ब्रॉउ, रॉबर्ट इडलिच आदि की मित्रता का भी उन्हें अध्ययन क्षेत्र मे भरपूर सहयोग व प्रोत्साहन प्राप्त हुआ है।

मुकर्जी ने अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र, परिस्थितिकीशास्त्र, दर्शनशास्त्र, मनोविज्ञान, संस्कृति, कला, धर्म, रहस्यवाद, प्रतीको व मूल्यो का समाजशास्त्र व आचार जैसे अनेक महत्त्वपूर्ण विषयो पर लेखन कार्य किया। जीवन के अन्तिम वर्षों मे आपका रूझान *अध्यात्मवाद की ओर हो गया था।* उन्होंने *''भगवद् गीता''* पर एक विस्तृत टीका लिखी जो उनकी मृत्यु के उपरान्त ''दा सोंग ऑफ दा सैल्फ सुप्रीम'' नाम से प्रकाशित हुई।

आपकी कुछ प्रमुख कृतियाँ निम्नलिखित हैं—

1. 'दा फाउन्डेशन्स ऑफ इण्डियन इकोनोमिक्स' (1916)
2 'दा प्रिंसिपल्स ऑफ कम्पेरेटिव इकोनोमिक्स' (1922)
3 'डेमोक्रेसीज ऑफ द ईस्ट' (1923)
4 'बॉर्डरलेण्ड्स ऑफ इकोनोमिक्स' (1925)
5 'रीजनल सोशियोलोजी' (1926)
6. 'माइण्ड इन सोशियोलोजी : इन्ट्रोडेक्शन टू सोशियल साइकोलोजी' (1928)
7 'दा थ्योरी एण्ड आर्ट ऑफ द मिस्टिसिज्म' (1937)
8 'मैन एण्ड हिज हेबिटेशन' (1940)
9. 'सोशियल इकोलोजी' (1945)
10 'दा सोशियल फक्शन ऑफ आर्ट' (1948)
11 'दा सोशियल स्ट्रक्चर ऑफ वैल्यूज' (1949)
12. 'दा इण्डियन स्कीम ऑफ लाइफ' (1949)
13 'दा डाइनेमिक्स ऑफ मोरल्स' (1951)
14 'ए हिस्ट्री ऑफ इण्डियन सिविलाइजेशन' (1956)
15 'दा हॉरिजन ऑफ मैरेज' (1956)
16. 'दा कल्चर एण्ड आर्ट ऑफ इण्डिया' (1959)
17 'दा फिलोसोफी ऑफ सोशियल साइन्स' (1960)
18 'दा फिलोसोफी ऑफ पर्सनेलिटी' (1963)
19 'दा डाइमेन्शन्स ऑफ ह्यूमन इवोल्यूशन' (1964)
20 'दा डाइमेन्शन्स ऑफ वैल्यूज' (1964)
21 'दा डेन्सिटी ऑफ सिविलाइजेशन' (1964)
22. 'वननेस ऑफ मैनकाइण्ड' (1968)
23 'दा कॉस्मिक आर्ट ऑफ इण्डिया' (1968)
24 'दा कम्यूनिटी ऑफ कम्यूनिटीज' (1966)

25. 'दा फिलोसोफी ऑफ मैन' (1966)

26 'दा सोग ऑफ दा सैल्फ सुप्रीम' (1971)

राधाकमल मुकर्जी के प्रमुख समाजशास्त्रीय योगदानों की व्याख्या निम्न प्रकार से की जा सकती है।

सामाजिक विज्ञान का सिद्धान्त
(Theory of Social Science)

मुकर्जी के मत मे समाजशास्त्र, मनोविज्ञान, सामाजिक मानवशास्त्र और मानव परिस्थिति शास्त्र मे हुई प्रगतियो के आधार पर निष्कर्ष निकलता है कि अब सामाजिक विज्ञानो का एक घनिष्ठ एकीकरण होने और समाज के एक सामान्य सिद्धान्त के निर्माण करने का समय आ गया है। समाज का यही सामान्य सिद्धान्त सामाजिक सम्बन्धो और सरचनाओ के सम्बन्ध मे सभी समाज-विज्ञानों से प्राप्त सिद्धान्तों, नियमों व व्याख्याओ का सग्रह ही है। यह एक समग्ररूप मे समाज से सम्बन्धित एकीकृत और समन्वित ज्ञान का समूह है। मुकर्जी का कहना है कि "यदि विभिन्न सामाजिक विज्ञानो के बीच पाई जाने वाली खाई को पाटा नहीं जायेगा और यदि अलग-अलग सामाजिक विज्ञान सामाजिक जीवन के उस पक्ष से ही अपने को सम्बन्धित रखेगे, तो समाज का एक समग्र रूप और समाज का एक सामान्य विज्ञान कभी भी उभरकर सामने नहीं आयेगा। क्योकि समाज अन्तःसम्बन्धित वास्तविकताओं की समग्रता है। समाज इसीलिए विभाजन के योग्य नहीं है और समाज के विषय मे कोई वास्तविक बोध तभी सम्भव हो सकता है, जब एक समग्रता के रूप में समाज की आदतो, मूल्यो और प्रतीको का अध्ययन किया जाए।"

मुकर्जी के मत में समाज के सामान्य सिद्धान्त के निर्माण के लिए यह आवश्यक है, कि सामाजिक तथ्यो, सामाजिक सम्बन्धो और अनुभवो की सामान्यता को अमूर्त औपचारिक प्रतिमान के रूप मे तर्कयुक्त क्रमबद्धता में प्रस्तुत किया जाए।" मुकर्जी के मत मे इसका कारण यह है कि "सामाजिक जीवन मे कोई शुद्ध, प्राणिशास्त्रीय इच्छाएँ एव सवेग नहीं होते, बल्कि इनका समीकरण, समन्वय व रूपान्तरण अर्थात्, मूल्यो और प्रतीको के रूप मे हो जाता है। मुकर्जी के मत मे समाज का सामान्य सिद्धान्त दो बातो पर निर्भर है—एक तो यह कि सामाजिक तथ्यो और अनुभवो की बहु-विमितीय प्रकृति को स्पष्ट स्वीकार किया जाए और दूसरा यह कि सामाजिक तथ्यो के समन्वित स्वरूप को मूल्यो तथा प्रतीकों के सन्दर्भ मे समझने व विश्लेषित करने का प्रयास किया जाए। इसके लिये प्राकृतिक विज्ञानो एव समाज-विज्ञानो की सहायता ली जा सकती है।"

महत्त्वपूर्ण अवधारणाओं की परिभाषाएँ
(Definitions of Important Concepts)

मुकर्जी के मत मे समाज के सामान्य सिद्धान्त मे मूल्यो का महत्त्वपूर्ण स्थान होता है क्योकि "समस्त मानव-सम्बन्ध और व्यवहार अपनी ही प्रकृति के कारण मूल्य हैं।" इन मूल्यो को मानव में, मानव से और मानव के लिए ही खोजा जाता है। समाज मूल्यो का ही संगठन और सकलन है अतः समाज के सामान्य सिद्धान्त का प्रतिपादन मूल्यो के सन्दर्भ मे ही सम्भव है और समाज के सामान्य सिद्धान्त का प्रतिपादन करने के दौरान कई समाजशास्त्रीय

अवधारणाओ, जैसे—संस्था, संस्कृति, सामाजिक सम्बन्ध, समूह व समाज आदि को भी मुकर्जी ने परिभाषित किया जो निम्नलिखित है—

1. संस्था (Institution)—संस्था को उन अधिक संगठित, औपचारिक तथा सुस्थिर सामाजिक सम्बन्धो व व्यवहारो के रूप मे परिभाषित किया जा सकता है, जो मनुष्यो के कतिपय सामान्य व स्थाई लक्ष्यो एवं मूल्यो की पूर्ति करते हैं।

2. संस्कृति (Culture)—संस्कृति एक समाज के सदस्यो के विश्वासो, मूल्यो तथा व्यवहारो का पूर्णयोग अथवा समष्टि है, तथा उन प्रतीको की समष्टि है, जो इन विश्वासो, मूल्यो और व्यवहारो को सचालित करते हैं।

3. सामाजिक सम्बन्धों (Social Relations)—इनको परिभाषित करते हुए मुकर्जी ने लिखा है कि सामाजिक सम्बन्धों को मनुष्यों की एक-दूसरे के प्रति अभिव्यक्त उन मनोवृत्तियो तथा व्यवहारों के रूप में परिभाषित किया जा सकता है जो उनके सामान्य लक्ष्यो तथा मूल्यो के द्वारा प्रस्तुत व निर्देशित होते हैं।

4. समूह (Group)—समूह सहयोगी व्यक्तियो का वह क्रमबद्ध सामाजिक सम्बन्ध व व्यवहार है, जिनका उद्भव उनके सामान्य लक्ष्यों तथा मूल्यो के समन्वय तथा आपूर्ति के कारण होता है।''

5. समाज (Society)—समाज को परिभाषित करते हुए मुकर्जी का कहना है कि समाज सामाजिक सरचनाओ और प्रकार्यों का वह योग है जो लोकाचारो, विश्वासो, सम्बन्धो और व्यवहारों के एक व्यवस्थित व क्रमबद्ध प्रतिमान को प्रस्थापित, रक्षा तथा सचालित करता है।''

समाज से सम्बन्धित मुकर्जी के विचारो को और अधिक स्पष्ट रूप से इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है, ''समाज सरचनाओं व प्रकार्यों का वह योग है, जिसके माध्यम से मनुष्य अपने पर्यावरण के तीन आयामो अथवा स्तरों—परिस्थितिगत, मनोसामाजिक तथा लक्ष्यपूर्ण नैतिक ससार के साथ अपना अनुकूलन करता है एवं अपनी जीविका, प्रस्थिति तथा मूल्य-पूर्ति सम्बन्धी अपनी-अपनी आधारभूत आवश्यकताओ की पूर्ति करता है।'' परिस्थितिगत ससार मे विकास के लिए सन्तुलन घटित होता है। मनो-सामाजिक ससार मे उसके अन्तर्गत आने वाली सभी सस्थाओ और सस्कृति मे एक प्रकार का सन्तुलन उत्पन्न होता है, तथा लक्ष्यपूर्ण नैतिक ससार मे व्यक्ति की विभिन्न प्रस्थितियों, प्रत्याशाओ और मूल्यों के मध्य समायोजन स्थापित होता है। यह सस्कृति का कार्य है जो संस्थागत जीवन के विभिन्न भागो के मध्य एक प्रकार के सन्तुलन को बनाए रखते हुए समाज के सरक्षक के रूप मे कार्यरत रहता है।

समाज का सामान्य सिद्धान्त
(General Theory of Society)

मुकर्जी ने मूल्यो के आधार पर समाज का सामान्य सिद्धान्त प्रतिपादित किया है। आपका मानना है कि समाज मूल्यो का ही सगठन एव सकलन है। मुकर्जी ने समाज का सामान्य सिद्धान्त प्रतिपादित करने से पूर्व समाज को विभिन्न दृष्टिकोणो से परिभाषाएँ दी हैं, जो अग्र प्रकार हैं—

1. परिस्थितिशास्त्र—परिस्थितिशास्त्र के दृष्टिकोण से समाज एक प्रदेश है।

2. अर्थशास्त्र—अर्थशास्त्रीय दृष्टिकोण से समाज एक वर्ग है।

3. नीतिशास्त्र—नीतिशास्त्रीय दृष्टिकोण से समाज चरित्र निर्माण के लिए सहभागिता अथवा समागम है।

4. समाजशास्त्र—समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से समाज एक संस्था है।

निष्कर्ष—मुकर्जी का कहना है कि समाज के सामान्य सिद्धान्त में इन सभी आधारभूत पक्षों—प्रदेश, वर्ग, सहभागिता और संस्था को समाविष्ट करना आवश्यक है।

समाज : एक मुक्त-व्यवस्था
(Society : An Open System)

मुकर्जी का समाज के सम्बन्ध मे यह सामान्य सिद्धान्त इस मान्यता पर आधारित है कि समाज एक मुक्त-व्यवस्था (Open System) है। जबकि इससे पूर्व के विद्वानो के मत मे समाज को एक बन्द-व्यवस्था के रूप मे माना जाता था। मुकर्जी के मतानुसार समाज के सामान्य विज्ञान में मुक्त-व्यवस्था के सिद्धान्त को इस प्रकार प्रतिपादित करना होगा कि उसके द्वारा जीवन-निर्वाह, प्रस्थिति, जीवनस्तर व्यवस्था एवं चरित्र को वह गतिशीलता प्रकट हो जिसके द्वारा सामाजिक-सम्बन्धो को आगे बढ़ाया जा सके, जिससे वे अधिकाधिक उद्देश्यपूर्ण बनें। उन्होंने मुक्त-व्यवस्था के निम्नलिखित तीन पक्षो पर प्रकाश डाला है।

मुक्त-व्यवस्था के प्रमुख पक्ष
(Major Aspects of Open System)

(1) प्रदेश एवं जीवन-निर्वाह की मुक्त-परिस्थितिगत व्यवस्था (The Open Ecological System of Region and Sustenance)—इसमें समाज के सदस्यों को अपने जीवन-निर्वाह के लिए अपनी परिस्थितिगत व्यवस्था अर्थात् भूमि, पेड़-पौधे, पशु-पक्षियो आदि से अनुकूलन करना पड़ता है। परिस्थितिगत नियम भी व्यवस्थित, सार्वभौमिक एव स्थित होते हैं, फिर भी व्यक्ति अपनी आवश्यकतानुसार उन्हें अपने पक्ष अथवा विपक्ष मे बदल सकता है। अपनी पारस्परिक अन्त.क्रियाओ के द्वारा वह अपने जीवन-निर्वाह की अनेक नवीन परिस्थितियो को उत्पन्न कर सकता है और करता भी है। यही परिस्थितिगत खुलापन है अथवा मुक्त-व्यवस्था है।

(2) संस्था एवं प्रस्थिति की मुक्त-समाजशास्त्रीय व्यवस्था (The Open Sociological System of Institution and Status)—मुक्त-व्यवस्था का द्वितीय पक्ष यह है कि संस्था ही संचार, नियन्त्रण तथा प्रस्थिति के प्रतिमानो को एक नियमित एवं क्रमबद्ध स्वरूप प्रदान करती है, इसके उपरान्त भी व्यक्ति अपने लक्ष्यो, रुचियो एव मूल्यो के सन्दर्भ मे भिन्न-भिन्न प्रकार की संस्थाओ एव प्रस्थिति-योजनाओ को इस प्रकार बनाता और बनाए रखता है कि उनमे पर्याप्त लचीलापन हो।

(3) समूह और मूल्य की मुक्त-नैतिक व्यवस्था (The Open Ethical System of Group and Value)—मुक्त व्यवस्था का तृतीय पक्ष यह है कि मानव और समाज दोनों मिलकर परिवर्तित अवस्थाओ के अनुरूप नवीन नैतिकताओ को विकसित करने मे सक्षम होते हैं। यद्यपि मानव-मूल्य और ऐच्छिक समिति के बीच अन्त.क्रियाएँ एवं आदान-प्रदान अत्यधिक सगठित एव प्रतिमानबद्ध होता है।

समाज के प्रकार्य
(Functions of Society)

मुकर्जी ने उन प्रकार्यों का भी वर्णन किया है जिनको प्रत्येक समाज को अपने अस्तित्व को बनाए रखने के लिए नियमित रूप से पूर्ण करते रहना चाहिए ये प्रकार्य निम्नलिखित हैं—

(1) प्रत्येक समाज को जीवन-निर्वाह व भरण-पोषण के लिए परिस्थितिगत सन्तुलन को बनाए रखना आवश्यक होता है अर्थात् जीवित रहने की पर्याप्त जनसंख्या दर को बनाए रखना पड़ता है। क्योंकि यदि मृत्युदर अधिक होगी तो कभी समाज का अस्तित्व ही समाप्त हो जायेगा और इसी प्रकार यदि साधनों के अनुपात में जन्मदर अत्यधिक हो जायेगी तो भी समाज को कठिनाइयों का सामना करना पड़ जायेगा।

(2) प्रत्येक समाज के लिए यह आवश्यक है कि वह परिस्थितिगत एवं जनसख्यात्मक सन्तुलन को बनाए रखने के लिए सामाजिक नियन्त्रण की व्यवस्था को बनाए रखे। क्योंकि किसी भी समाज के अस्तित्व को बनाए रखने के लिए सामाजिक नियन्त्रण, कानूनी एवं नैतिक व्यवस्था और संस्थागत स्थिरता का होना अत्यावश्यक है।

(3) प्रत्येक समाज का यह भी कार्य है कि वह जीवन के सीमित मूल्यों, वस्तुओं और सेवाओं का समुचित चुनाव करे, उन्हें बाँटे, उनका उपयोग करे। साथ ही अपने सदस्यों को वर्गों में व्यवस्थित रखते हुए उनके लिए उचित जीवन-स्तर को बनाए रखे।

(4) समाज के अस्तित्व के लिए यह भी आवश्यक है कि समाज के सामान्य-वर्ग और अभिजात-वर्ग (Elite) के मध्य सत्ता और स्वतन्त्रता का उचित विभाजन हो। आय व सम्पत्ति पर अधिकार, सीमित वस्तुओं के व मूल्यों के उत्पादन एवं वितरण आदि की भी समाज उचित व्यवस्था करे।

(5) समाज का महत्त्वपूर्ण कार्य यह भी है कि वह व्यक्तियों व समूहों के मध्य उत्पन्न होने वाले विवादों को रोकने एवं नियमित करने के लिये उचित व्यवस्था करे। कानून, शिक्षा एवं उचित मूल्यों की व्यवस्था को विकसित करे एवं स्वतन्त्रता और समानता के सिद्धान्तों को स्वीकारे।

(6) समाज को अपने अस्तित्व को बनाये रखने के लिये यह भी आवश्यक है कि वह सर्वोच्च मूल्यों की व्यवस्था करे। उसे सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक संस्थाओं को व प्रस्थिति-प्रतिष्ठा के अधिकार को, स्वतन्त्रता व प्रतिबन्धों के अधिकार व कर्तव्य को व्यक्तित्व के विकास के सन्दर्भ में ही विचार करना चाहिए।

निष्कर्षतः मुकर्जी बन्द-व्यवस्था के स्थान पर समाज की मुक्त-व्यवस्था के समर्थक हैं। बन्द-व्यवस्था में मानव की गतिशीलता और प्रगति दब जाती है और मनुष्य की सृजनात्मक प्रवृत्तियों को आवश्यक प्रोत्साहन नहीं मिल पाता।

समाज का महाविज्ञान
(Master-Science of Society)

मुकर्जी की कल्पना समाज का एक महाविज्ञान बनाने की थी जिसमें मानव परिस्थितिशास्त्र (Human Ecological), समाजशास्त्रीय सिद्धान्त और मूल्यों व प्रतीकों

के सिद्धान्त सम्मिलित होंगे। इन तीनों का पृथक्-पृथक् अस्तित्व भी रहेगा और परस्पर आदान-प्रदान के घनिष्ठ सम्बन्ध भी होंगे। इस आदान-प्रदान से सभी को लाभ होगा और महाविज्ञान के विकास का मार्ग भी प्रशस्त होगा, जो समग्र रूप मे समाज के सम्बन्ध मे व्यवस्थित ज्ञान दे सकेगा। इस सामान्य सिद्धान्त के आधार पर विभिन्न सामाजिक विज्ञान एकता के सूत्र मे बँध जायेगे और उनके मध्य की दूरियाँ भी कम हो जायंगी। इस दृष्टि से यह महाविज्ञान स्वय समाजशास्त्र से ज्यादा विस्तृत एक विज्ञान होगा। मुकर्जी ने अपनी कृति **'ए जनरल थ्योरी ऑफ सोसाइटी'** मे समाजशास्त्र को इस रूप मे परिभाषित किया है—समाजशास्त्र समाज के सामान्य सिद्धान्त का एक ऐसा पक्ष है, जिसका सम्बन्ध सस्थाओ की संरचना के अन्तर्गत संचार और प्रस्थिति के सामाजिक सम्बन्धो से है।" समाजशास्त्र के अध्ययन की वस्तु व्यक्तियो के मध्य पाए जाने वाले पारम्परिक प्रस्थिति-सम्बन्ध हैं, जैसे—नातेदारी, प्रतिस्पर्द्धा, सहयोग व आधिपत्य आदि। समाजशास्त्र का प्रकार्य सामाजिक मूल्यो का वस्तुनिष्ठ दृष्टिकोण से अध्ययन करना है। अर्थात् पुराने व नए मूल्यो का मूल्यॉकन करना और पनपते हुए मूल्यो की प्रवृत्तियो को सामाजिक परिस्थिति, आवश्यकता और अनुभव के सन्दर्भ मे समझने का प्रयास करना है।

मुकर्जी के मतानुसार मानवीय सम्बन्धो के वास्तविक अध्ययन के लिए यह अनिवार्य है कि सभी सामाजिक विज्ञानों मे एकता हो और यह कार्य समाज का महाविज्ञान ही कर सकता है। मानवीय सम्बन्धो के ये विविध स्वरूप—सामाजिक आविष्कारो, जीवन की विविध अभिव्यक्तियो, उच्चतर मूल्य अनुभव की प्राप्ति के लिए किए गये प्रयासो तथा मानव-जीवन के स्पष्ट अर्थ को ढूँढने मे प्रकट होते हैं।

मुकर्जी के अनुसार आज समाज को एक ऐसे समाज-विज्ञान के सिद्धान्त की आवश्यकता है, जिसके द्वारा सामाजिक मूल्यो को मापा जा सके, साथ ही ऐसे महाविज्ञान की भी आवश्यकता है जो मानव-जाति से सम्बन्धित व अभी तक न खोजे गए प्रश्नों के उत्तर दे सकेगा। यह विज्ञान समाजशास्त्र से भी विस्तृत होगा। यद्यपि आज समाजशास्त्र का अध्ययन-क्षेत्र काफी बढ रहा है। समाज की अनेक शाखाएँ, जैसे—मूल्यो का समाजशास्त्र, प्रतीको का समाजशास्त्र, कलाओं का समाजशास्त्र तथा धर्म का समाजशास्त्र आदि मिलकर कार्य कर रही हैं, फिर भी यह महाविज्ञान और भी उच्चतर आदर्श की ओर अग्रसर होगा।

मुकर्जी के मत मे समाज के इस महाविज्ञान का दृष्टिकोण विश्वव्यापी होगा, जो विश्व-समुदाय की समस्याओ को सुलझायेगा और मानव जाति के समान मूल्यो का समादर करेगा, चाहे वे मूल्य विभिन्न देशो व समाजो के ही क्यों न हो। यह महाविज्ञान एक ऐसे दर्शन को भी अपनाएगा जो विभिन्न सामाजिक विज्ञानों मे पाए जाने वाले पूर्वानुमानो का परीक्षण एवं पुनर्निर्माण, परिवर्तित हो रहे सामाजिक—पर्यावरण सम्बन्धी सम्बन्धो व मूल्यो के सन्दर्भ मे करेगा तथा स्वय को सुधारने की पद्धति को भी अपनाएगा।

मुकर्जी का मानना है कि समाज का यह महाविज्ञान उन समस्याओ का भी समाधान खोजेगा कि समाज मे एकता, व्यवस्था, सुरक्षा, स्वतन्त्रता एवं सहभागिता किस प्रकार प्राप्त की जा सकती है। यह मानव सम्बन्धो के सामाजिक और नैतिक पक्षो के पारस्परिक सम्बन्धो को भी स्पष्ट करेगा। यह उन प्रक्रियाओ को भी परिभाषा करेगा, जिनके द्वारा एक सस्कृति विशेष के आदर्श-मूल्यो को प्रौद्योगिकी द्वारा नवीन स्वरूप प्रदान होता है, अथवा वे

समाप्त हो जाते है। यह महाविज्ञान ईश्वर को परिपूर्णता और पवित्रता के साथ-साथ सौन्दर्य और सदाचार के समन्वित प्रतीक के रूप मे मान्यता प्रदान करेगा और यह स्वीकार करेगा कि ईश्वर सभी प्राणियों के हृदय मे निवास करते हैं और वे धीरे-धीरे किन्तु लगातार मानवता को सार्वभौम स्वतन्त्रता और पूर्णता की ओर ले जाते हैं।

सामाजिक मूल्य
(Social Values)

राधाकमल मुकर्जी ने मूल्य सम्बन्धी विचारों का जो सिद्धान्त विकसित किया है उसके कारण उनकी ख्याति देश व विदेश मे पर्याप्त रूप से हुई है। मूल्यो के सम्बन्ध में उनके विचार ''द सोशियल स्ट्रक्चर ऑफ वैल्यूज'' एवं ''दा डायमेन्शन्स ऑफ वैल्यूज'' मे व्यक्त किए गए हैं। ''दा सोशियल स्ट्रक्चर ऑफ वैल्यूज'' नामक कृति मे आपने मूल्यो के समाजशास्त्रीय सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है जिसमें मूल्यों की उत्पत्ति एवं विकास, मूल्यो के मनोवैज्ञानिक नियमो एवं मूल्यो की सुरक्षा आदि पर प्रकाश डाला गया है। दूसरी कृति ''दा डाइमेन्शन्स ऑफ वैल्यूज'' मे मूल्यो के विभिन्न आयामों का उल्लेख किया गया है जिसमें मनोविज्ञान, जीवविज्ञान, दर्शनशास्त्र व तत्त्व मीमांसा आदि मे पाये जाने वाले मूल्यों की व्याख्या प्रस्तुत की गई है। मूल्यों के सम्बन्ध मे आपका मानना है कि मूल्यो का एक सामाजिक-सांस्कृतिक आधार होता है इसी कारण प्रत्येक समाज के मूल्यो मे एक भिन्नता दिखाई पडती है। आपका मत है कि मूल्यो के बारे मे जब तक कोई सार्वभौम सिद्धान्त विकसित नहीं किया जाता, तब तक मानव जाति की वास्तविक प्रगति नहीं हो सकती। मुकर्जी के मत मे **मूल्य वे सामाजिक मानक या आदर्श हैं जिनके आधार पर विभिन्न सामाजिक परिस्थितियों एवं विषयों का मूल्याँकन किया जाता है।** मूल्य सामाजिक जीवन के लिए महत्त्वपूर्ण होते हैं। इनके द्वारा सभी प्रकार की वस्तुओ का मूल्याँकन किया जा सकता है इनमे विचार, क्रिया, गुण, वस्तु, समूह, लक्ष्य अथवा साधन आदि कुछ भी हो सकता है। मूल्यो का एक भावात्मक आधार होता है। अर्थात् मूल्य ही व्यक्तियो की भावनाओ को प्रभावित करते हैं अत: जब कोई व्यक्ति किसी चीज के विषय मे विचार करता है, निर्णय लेता है अथवा मूल्याँकन करता है तो उस पर भावनाओ (Emotions) अथवा उद्वेगो का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है।

मूल्य सामाजिक जीवन के विभिन्न पक्षो से सम्बन्धित होते है, उदाहरणार्थ—परिवार के मूल्य अलग हैं तो राष्ट्र के स्तर पर वे अलग प्रकार के होंगे। इसी प्रकार राजनीति, धर्म, आर्थिक जीवन व सामाजिक जीवन से सम्बन्धित विभिन्न प्रकार के मूल्य होते हैं। मूल्यो का एक बोधात्मक तत्त्व होता है —जो यह निर्धारित करता है कि क्या उचित है, क्या अनुचित? क्या करना चाहिए, क्या नहीं। इस दृष्टि से मूल्यो का सम्बन्ध आदर्शों व नियमो से होता है। कभी-कभी तो मूल्यों और आदर्शों मे अन्तर करना भी कठिन हो जाता है। जॉनसन का मानना है कि विस्तृत दृष्टिकोण से देखने पर मूल्य और आदर्श के बीच पाए जाने वाला अन्तर स्वत: ही गायब हो जाता है।

सामाजिक मूल्यों का अर्थ एवं परिभाषा
(Meaning and Definition of Social Values)

मुकर्जी ने मूल्यो को परिभाषित करते हुए कहा है, **''मूल्य समाज द्वारा मान्यता-प्राप्त इच्छाएँ अथवा लक्ष्य है, जिनका अन्तरीकरण सीखने अथवा सामाजीकरण की प्रक्रिया के माध्यम से होता है तथा जो व्यक्तिनिष्ठ अधिमान, मानक तथा अभिलाषाएँ**

वन जाते हैं।" मुकर्जी के मत में मूल्य मानव-समूहों और व्यक्तियों के द्वारा प्राकृतिक और सामाजिक ससार से सामंजस्य करने के उपकरण हैं। ये ऐसे प्रतिमान हैं जो मनुष्य की विभिन्न प्रकार की आवश्यकताओ को पूर्ति हेतु मार्गदर्शन करते हैं। इन्हे सामाजिक अस्तित्व का केन्द्रीय तत्त्व कहा जा सकता है जिनकी रक्षा के लिए समूह के सदस्य हर सम्भव त्याग करने को तत्पर रहते हैं। मूल्यो के प्रति सदस्यों को स्वाभाविक आस्था होती है अर्थात् मुकर्जी के मत मे मूल्य "समाज द्वारा स्वीकृति-प्राप्त आकाक्षाएँ और लक्ष्य" हैं। इसे इस रूप में स्पष्ट किया जा सकता है—मूल्य समाज के नियम, कानून, प्रथा, नीति, प्रतीक एव सस्थाओ मे व्याप्त होते हैं—जिसे समाज उचित मानता है वही मूल्य होते हैं। मुकर्जी का कहना है कि मनुष्य को मूल्य अपने जीवन से, अपने पर्यावरण से, अपने आप से, समाज और संस्कृति से ही नहीं, अपितु मानव अस्तित्व व अनुभव से प्राप्त होते हैं। मनुष्य को अपने परिस्थितिगत पर्यावरण से सन्तुलन बनाए रखने की आवश्यकता होती है, अपने भरण-पोषण एवं जीवन-निर्वाह के लिए अनेक समस्याओ का सामना करना पड़ता है, अपने समाज एवं समूह के लोगों के साथ सम्बन्ध बनाए रखने पड़ते हैं, अपनी संस्कृति के मध्य आदान-प्रदान की प्रक्रिया मे भागीदार होना पड़ता है। इन सबके कारण समाज के सदस्यो के लिए समाज द्वारा प्रतिमान व मानदण्ड निर्धारित करने आवश्यक होते हैं जिन्हे व्यक्ति सामाजीकरण की प्रक्रिया के दौरान अपने व्यक्तित्व मे सम्मिलित कर लेता है अर्थात् मूल्य समाज के सदस्यों के बीच होने वाली अन्त:क्रियाओं के फलस्वरूप धीरे-धीरे उत्पन्न होते हैं। मुकर्जी के अतिरिक्त अन्य विद्वानों ने भी मूल्यो को अपने-अपने दृष्टिकोण से परिभाषित किया है, जो निम्नलिखित हैं—

1. फिचर के मतानुसार, "समाजशास्त्रीय दृष्टि से मूल्यो को उन कसौटियो के रूप मे माना जा सकता है, जिनके द्वारा समूह या समाज व्यक्तियो, प्रतिमानो उद्देश्यो और अन्य सामाजिक-सास्कृतिक वस्तुओं के महत्त्व का निर्णय करते हैं।" इस प्रकार फिचर मूल्यो को सम्पूर्ण सस्कृति और समाज को अर्थ एव महत्त्व प्रदान करने वाली कसौटियाँ मानते हैं।

2 वुड्स ने मूल्यों को परिभाषित करते हुए कहा है कि "सामाजिक मूल्य वे सामान्य सिद्धान्त हैं, जो दिन-प्रतिदिन के जीवन मे व्यवहार को नियन्त्रित करते हैं। ये मानव-व्यवहार को दिशा प्रदान करने के साथ-साथ अपने आप में आदर्श एव उद्देश्य भी हैं।"

3 जॉनसन ने अपनी कृति 'सोशियोलोजी' में कहा है, "मूल्यो को एक साधारण या मानक के रूप मे परिभाषित किया जा सकता है जो कि सास्कृतिक हो सकता है अथवा केवल व्यक्तिगत। इसके द्वारा वस्तुओ की तुलना की जाती है और वह एक-दूसरे के सन्दर्भ मे स्वीकार या अस्वीकार की जाती है, वांछित अथवा अवांछित, अच्छी अथवा बुरी, अधिक या कम उचित मानी जाती है।"

4. हारालाम्बोस के मत मे, "मूल्य एक विश्वास है, जो यह बताता है कि क्या अच्छा और वाछनीय है। क्या महत्त्वपूर्ण है, लाभप्रद है और प्राप्त करने योग्य है।"

उपर्युक्त सभी परिभाषाओं के आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि सामाजिक मूल्य वे मानक हैं जिनके आधार पर किसी व्यक्ति की भावनाओ, व्यवहारो, गुणों, लक्षणो एव साधनों आदि को उचित अथवा अनुचित, अच्छा अथवा बुरा माना जा सकता है।

मूल्य और प्रतीक
(Value and Symbols)

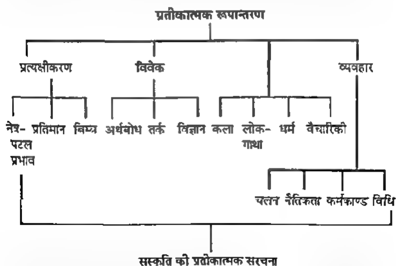
मुकर्जी ने मूल्यों के साथ-साथ प्रतीको को भी परिभाषित किया है जिसे मूल्यों के सन्दर्भ मे ही समझा जा सकता है। मुकर्जी के मत में मानवीय सस्कृति प्रतीकात्मक रूपान्तरण

का फल है। मूल्य-समाज के नियम, कानून, प्रथा व नीति आदि में विद्यमान होते हैं। जिसे समाज उचित समझता है, वही मूल्य हैं। सीखने की प्रक्रिया से मूल्य प्रतीक के रूप मे उसके व्यक्तित्व का एक अग बन जाते है। व्यक्ति और समाज की अन्तःक्रिया से मूल्यो की अनुभूति के तीन स्तर हैं—

(1) भीड़ (Crowd)—पहला स्तर भीड है, जिसमें संगठन और एकता अस्थायी होती है। मूल्यो का कार्य केवल संवेगो को जाग्रत करना है।

(2) हित-समूह (Interest-Group)—दूसरा हित-समूह है, जिसमे सहानुभूति और सहयोग अधिक मात्रा मे होता है। सगठन तुलनात्मक दृष्टिकोण अधिक स्थाई होता है, और मूल्यो की मात्रा अधिक और गहन होती है। प्रत्येक व्यक्ति का हित दूसरे से जुड़ा हुआ होता है।

(3) समुदाय या समाज (Community or Society)—तीसरा स्तर समुदाय या समाज है जिसमें एकता अधिक होती है। बाद मे यह स्तर सार्वलौकिक हो जाता है जिससे व्यक्ति अपने सीमित दायरे से निकलकर, सामाजिक बन्धनों को भी पार कर जाता है। धर्म और कला के प्रतीकात्मक मूल्य व्यक्ति को सांसारिक बन्धनो से मुक्त कराके इसको सृजनात्मक कार्यों की ओर उन्मुख कर देते हैं। इस प्रकार मूल्यो के माध्यम से व्यक्ति अपने परिवेश से समायोजन स्थापित करता है—मुकर्जी के मतानुसार पहला जैविकीय और भौतिक स्तर है, दूसरा प्रतीकात्मक स्तर है। मनुष्य मे प्रतीको का निर्माण कर सकने की क्षमता है जिसके परिणामस्वरूप सस्कृति का निर्माण हुआ है। व्यक्ति का व्यक्तित्व और आचरण भी प्रतीक का रूपान्तरण है। मुकर्जी के प्रतीकात्मक रूपान्तरण की प्रक्रिया को अग्रलिखित क्रम में बताया जा सकता है—



सस्कृति की प्रतीकात्मक सरचना

विज्ञान, कल्पना, भाषा, नैतिकता, धर्म, कला, दर्शन आदि जो कुछ व्यक्ति पर निर्मित किया गया है, वह इस ससार का प्रतीकात्मक आयाम है। साथ ही मनुष्य द्वारा भौतिक परिवेश को नियन्त्रित करने के लिए जो प्रयास किये गये हैं, वे भी प्रतीकात्मक सृजन

के अन्तर्गत ही आते हैं। मुकर्जी प्रतीकों मे सम्प्रेषण (Communication) को भी सम्मिलित करते हैं—इस प्रकार प्रतीकों के गुण पर ही नैतिकता की पृष्ठभूमि रखी जा सकती है।

मानवीय मूल्यों का उद्विकास
(Evolution of Human Values)

मुकर्जी के मत में मूल्यों की उत्पत्ति सामाजिक संरचना विशेष के सदस्यों के मध्य होने वाली अन्त.क्रियाओ के परिणामस्वरूप शनैः-शनैः होती है। मुकर्जी का विश्वास है कि मानवीय जीवन का आधार तो जैविकीय है, किन्तु उद्विकास के साथ मनुष्य में कल्पना, बुद्धि, तर्क व प्रतीक-निर्माण की क्षमताएँ विकसित हो गई। इन क्षमताओं के कारण मनुष्य का नैतिक उद्विकास हो जाता है और इसके बाद व्यक्ति मे लोकातीत होने का गुण आ जाता है अर्थात् जैसे-जैसे व्यक्ति सार्वलौकिक मूल्यो को आत्मसात् करता जाता है, वैसे-वैसे उसका उद्विकास होता जाता है। मनस, मूल्य और संस्कृति के विकास के साथ मनुष्य मे नैतिक उद्विकास की सम्भावना उत्पन्न हो जाती है। मानवीय मूल्य यद्यपि अनन्त होते हैं, लेकिन उनका प्रकटीकरण अपरिवर्तनशील सामाजिक जगत् मे ही हो सकता है। उद्विकास की प्रक्रिया अनवरत है तथा इस प्रक्रिया मे सोपानों का श्रेणीक्रम प्राकृतिक रूप मे उनका प्रमाण बन जाता है—जैविकीय-परिस्थितिकीय, सामाजिक और लोकातीत। मुकर्जी ने नैतिकता के आयामों, मूल्यो और उद्गुणों को सारिणी इस प्रकार प्रस्तुत की है—

मूल्यों एवं नैतिकता के उद्विकास के आयाम

उद्विकास क्रम	मूल्य	सामाजिक संकुल	नैतिकता प्रतिमान	व्यवस्था के गुण
1 जैविकीय परिस्थितिकीय	रक्षण, प्रभुत्व एव सातत्य	हित-समूह	पारस्पर्य	व्यवहार-बुद्धि
2 सामाजिक	प्रस्थिति	समुदाय	न्याय	निष्ठा
3 लोकातीत	व्यक्तित्व और चरित्र	सम्पूर्ण मानव समुदाय	प्रेम	श्रद्धा

उपर्युक्त तालिका को इस रूप मे समझा जा सकता है। नैतिकता के मूल्यों की उत्पत्ति अहं की सीमा को पार करने पर होती है। दूसरो के साथ सम्बन्ध और पारस्पर्य से मूल्यो का विकास होने लगता है। परा-अहं के मूल्य अन्त.करण और निष्ठा से उत्पन्न होते हैं। व्यक्ति का सम्बन्ध जैसे-जैसे अपने से विस्तृत सामाजिक क्षेत्र से जुड़ता जाता है, उसके मूल्य भी उद्विकसित होने लगते हैं। मुकर्जी ने सामाजिक संकुल और मूल्यो का श्रेणीक्रम स्थापित करते हुए हित-समूह, समुदाय और सम्पूर्ण मानव-समुदाय के तीन स्तर बताए हैं।

1. हित-समूह (Interest Group)—हित-समूह में भीड की तुलना मे स्थायित्व अधिक होता है। राजनैतिक-दल व समिति आदि इसके उदाहरण हैं—मानव के निजी हित बिना पारस्पर्य के पूरे नहीं हो सकते अत. सहयोग, सहानुभूति और दूसरो के हितो को ध्यान

मे रखने से न्यूनतम मूल्य उत्पन्न होते हैं और अपने सीमित हितो की पूर्ति के लिए सहयोग व संघर्ष आदि करते रहते हैं। इस समूह का प्रमुख गुण 'व्यावहारिक बुद्धि' है।

2. समुदाय (Community)—समुदाय अथवा समाज के अन्तर्गत हित पूरे समुदाय के सहयोगात्मक जीवन मे जुड जाते हैं। ये हित-समूह की अपेक्षा अधिक व्यापक होते हैं। इस संगठन का प्रमुख गुण 'निष्ठा' है।

3. सम्पूर्ण मानव समाज (Total Human Society)—जब मानव का तादात्म्य सम्पूर्णता से हो जाता है तो मूल्य सार्वलौकिक हो जाते हैं। प्रेम, समानता, बन्धुत्व आदि ऐसे उच्च गुण है जिनके पालन मे व्यक्ति को त्याग व तपस्या करनी होती है। इस समूह का प्रमुख गुण 'श्रद्धा' है।

मुकर्जी स्पष्ट रूप से मानते हैं कि मनुष्य के नैतिक मूल्यों का उद्‌विकास हित-समूह के माध्यम से 'आदर्श समाज' अथवा ससार के मुक्त समाज की ओर हो रहा है। व्यक्ति मूल्य और परम्परा के स्तरो पर पक्ष और प्रतिपक्ष मे जो द्वन्द्व होता है, उससे सत्य का सश्लेषित रूप सामने आता है। मुकर्जी के मत मे यही उद्‌विकास को द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया है।

मूल्यों का वर्गीकरण
(Classification of Values)

मूल्यो का वर्गीकरण विभिन्न विद्वानो द्वारा विभिन्न प्रकार से किया गया है।

1. स्प्रैंगर ने मूल्यो को छः प्रकार का बताया है—

(i) सैद्धान्तिक अथवा बौद्धिक मूल्य (Theoretical or Intellectual Values)

(ii) आर्थिक अथवा व्यावहारिक मूल्य (Economic or Practical Values)

(iii) सौन्दर्यात्मक मूल्य (Aesthetic Values)

(iv) सामाजिक अथवा परार्थवादी मूल्य (Social or Altruistic Values)

(v) राजनैतिक अथवा सत्तावादी मूल्य (Political or Power-seeking Values)

(vi) धार्मिक अथवा रहस्यात्मक मूल्य (Religious or Mystical Values)

2. मुकर्जी मूल्यो को दो वर्गों मे विभाजित करते हैं— (i) साध्य मूल्य, एवं (ii) साधन मूल्य।

साध्य मूल्य (Intrinsic Values)—ये लक्ष्य तथा सन्तोष (Goals and Satisfactions) हैं जिन्हे मनुष्य और समाज जीवन और मस्तिष्क के विकास के लिए स्वीकार करते हैं, जो व्यक्ति के व्यवहार मे अन्तर्निहित होते हैं और जो स्वय साध्य होते हैं।

साधन मूल्य (Instrumental Values)—ये वे मूल्य हैं जिन्हे मनुष्य और समाज प्रथम प्रकार के अर्थात् साध्य मूल्यो को प्राप्त करने के लिए व उन्हे उन्नत बनाने के लिए साधन के रूप मे मानते हैं। स्वास्थ्य, सम्पत्ति, सुरक्षा, सत्ता एव प्रस्थिति आदि से सम्बन्धित मूल्य 'साधन मूल्य' है जिनका उपयोग किन्हीं लक्ष्यो व सन्तोषो की प्राप्ति के साधन के रूप मे किया जाता है। मुकर्जी साध्य मूल्यों को अमूर्त अथवा लोकातीत (Transcendent) मूल्य

और साधन मूल्यों को विशिष्ट (Specific) अथवा अस्तित्वात्मक (Existential) मूल्य भी कहते हैं, क्योंकि साध्य, लोकातीत या अमूर्त मूल्य समाज एवं व्यक्ति के जीवन के उच्चतम लक्ष्यों से सम्बन्धित होते हैं; जबकि साधन, विशिष्ट अथवा अस्तित्वात्मक मूल्यों को लौकिक लक्ष्यों की पूर्ति के साधन के रूप में प्रयुक्त किया जाता है। साधन मूल्यों के बुद्धिमत्तापूर्ण उपयोग के बिना साध्य मूल्य पूर्णता को प्राप्त नहीं कर सकते। मनुष्य का सम्बन्ध भी साध्य मूल्यों की तुलना में साधन मूल्यों से ज्यादा होता है। इसी कारण साधन व मूल्यों की विवेचना सामाजिक विज्ञानों द्वारा अधिक की जाती है।

3. सी. एम. केस ने सामाजिक मूल्यों को निम्नांकित चार भागों में विभाजित किया है—

(i) सावयवी मूल्य (Organic Values)—ये मूल्य अंग, पानी और भार आदि से सम्बन्धित होते हैं।

(ii) विशिष्ट मूल्य (Specific Values)—प्रत्येक व्यक्ति की अपनी व्यक्तिगत रुचियाँ व विचार आदि होते हैं जिनके आधार पर वह किसी चीज का मूल्यांकन करता है।

(iii) सामाजिक मूल्य (Social Values)—ये मूल्य समाज की परम्पराओं, व्यवहार व आदतों आदि से सम्बन्धित होते हैं।

(iv) सांस्कृतिक मूल्य (Cultural Values)—ये मूल्य संस्कृति से सम्बन्धित होते हैं। उपकरण, प्रतीक, सत्य, सुन्दरता आदि के मूल्य इससे सम्बन्धित होते हैं।

4. लीविस ने मूल्यों के दो प्रकार बताए हैं— (i) साध्य या अन्तर्निष्ठ (Intrinsic or Inherent) मूल्य तथा (ii) बाह्य या साधन (Extrinsic or Instrumental) मूल्य।

5. गोलाइटली ने मूल्यों के दो प्रकार— (i) मौलिक (Essential) एवं (ii) क्रियात्मक (Operational) बताये हैं—लीविस और गोलाइटली दोनों के वर्गीकरण पर ही आधारित मुकर्जी का वर्गीकरण है।

6 पैरी ने मूल्यों को चार भागों में विभाजित किया है— (i) नकारात्मक, (ii) सकारात्मक, (iii) विकासवादी एवं (iv) वास्तविक।

कुछ विद्वानों के मत में मूल्य सौन्दर्यवादी, सुखवादी, धार्मिक, आर्थिक, नैतिक और तार्किक आदि अनेक प्रकार के होते हैं। इस प्रकार मूल्यों के आधार पर ही विभिन्न क्षेत्रों में व्यवहारों और वस्तुओं का मूल्यांकन किया जाता है।

सामाजिक मूल्यों की विशेषताएँ
(Characteristics of Social Values)

1. सामूहिकता (Collectiveness)—सामाजिक मूल्यों की विशेषता यह होती है कि इनका सम्बन्ध सम्पूर्ण समाज से होता है और सम्पूर्ण समूह द्वारा इन्हें मान्यता प्राप्त होती है। इनका निर्माण भी सामूहिक होता है अर्थात् सामाजिक मूल्य अन्तःक्रिया की उपज एवं परिणाम होते हैं।

2. सामाजिक मानक (Social Standard)—सामाजिक मूल्य सामाजिक मानक हैं जिनके द्वारा किसी वस्तु, व्यवहार व लक्ष्य आदि को उचित अथवा अनुचित, अच्छा अथवा बुरा ठहराया जा सकता है। ये उच्चस्तरीय सामाजिक मानदण्ड हैं।

3. भावात्मकता (Emotionality)—सामाजिक मूल्य किसी व्यक्ति विशेष से सम्बन्धित न होकर सम्पूर्ण समाज से सम्बन्धित होते हैं। इन मूल्यों के साथ लोगों की भावनाएँ जुड़ी हुई होती हैं अतः व्यक्तिगत हितों को त्यागकर भी लोग इन मूल्यों की रक्षा करते हैं। देश-भक्ति के लिए प्राणोत्सर्ग करना, सतीत्व की रक्षा करने के लिए जौहर करना इसी प्रकार के मूल्य हैं।

4. एकमतता (Unanimity)—सामाजिक मूल्यों के विषय मे समाज के सभी लोगो मे एकमतता पाई जाती है—ये सभी के द्वारा मान्यता प्राप्त एवं स्वीकृत होते हैं। जब कोई व्यक्ति इन मूल्यों की अनुपालना नहीं करता तो समूह द्वारा उस पर प्रतिक्रिया व्यक्त की जाती है।

5. गतिशीलता (Mobility)—सामाजिक मूल्यों की एक विशेषता गतिशीलता होती है अर्थात् समय और परिस्थिति के अनुसार इनमे परिवर्तन आता रहता है। जब-जब समाज की आवश्यकताएँ बदलती हैं, तब-तब सामाजिक मूल्य भी बदल जाते हैं क्योंकि मूल्य सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए ही होते हैं।

6. सामाजिक-सांस्कृतिक आधार (Social-Clutural Cases)—मूल्यों की एक विशेषता यह है कि मूल्यों की सामाजिक-सांस्कृतिक पृष्ठभूमि होती है, इसी कारण प्रत्येक समाज के मूल्यों मे विभिन्नता देखने को मिलती है। भारतीय मूल्य पाश्चात्य मूल्यों से पूर्णतया भिन्न हैं। भारतीय समाज मे विवाह एक पवित्र धार्मिक बन्धन है जिसे आसानी से नहीं तोड़ा जा सकता जबकि अमरीका के समाज मे विवाह से सम्बन्धित मूल्यों का महत्त्व न होने से वहाँ विवाह-विच्छेद आसानी से किया जा सकता है।

7. विभिन्न प्रकार (Various Types)—मूल्य सामाजिक जीवन के विभिन्न पक्षों से सम्बन्धित और विभिन्न प्रकार के होते हैं—परिवार से सम्बन्धित मूल्य, राष्ट्र से सम्बन्धित मूल्य और उसी भाँति विवाह, सामाजिक मान्यता, धर्म, राजनीति आदि अनेक विषयों से सम्बन्धित अनेक प्रकार के मूल्य होते हैं।

8. बोधात्मक तत्त्व (Cognitive Element)—मूल्य की एक विशेषता यह है कि सभी मूल्यों मे एक बोधात्मक तत्त्व होता है अर्थात् मूल्य आदर्श नियमों से अधिकांशतः सम्बन्धित होते हैं। कभी-कभी तो मूल्यों और आदर्शों मे अन्तर करना सम्भव नहीं होता। मूल्य 'क्या उचित है?' की धारणा से सम्बन्धित होते हैं, इसी कारण जॉनसन का मानना है कि विस्तृत दृष्टिकोण से देखने पर मूल्य और आदर्श नियम के बीच पाए जाने वाले अन्तर स्वतः गायब हो जाते हैं।

9. सार्वभौमिकता (Universality)—मूल्यों की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता यह होती है कि मूल्य सभी समाजों मे विद्यमान होते हैं मूल्यों के आधार पर ही किसी समाज के व्यक्तियों के व्यवहार व क्रियाएँ स्पष्ट की जाती हैं। सामाजिक प्रगति का मूल्यांकन किया जाता है व समाज का निर्माण किया जाता है। व्यक्ति के व्यवहारों को मूल्य ही निर्देशित करते हैं। कोई भी समाज ऐसा नहीं है जिसके अपने मूल्य न हों अर्थात् मूल्य सार्वभौमिक होते हैं।

10. सामाजिक-कल्याण के लिए आवश्यक (Necessary for Social welfare)—सामाजिक मूल्यों की एक विशेषता यह है कि समाज के कल्याण के लिए उनका

होना भी आवश्यक है। मूल्य ही समाज मे एकरूपता, एकमतता व सगठन लाते हैं। यदि किसी समाज के कोई मूल्य ही न हों तो वह समाज निरंकुश-स्वच्छंद हो जायेगा, उनके सम्बन्धो में भी प्रगाढता नहीं आ सकेगी। अत: समाज के कल्याण के हितार्थ मूल्य आवश्यक है।

मूल्यों का सोपान व संस्तरण
(The Scale and Hierarchy of Values)

जैसाकि पिछले पृष्ठो मे मानवीय मूल्यो के उद्‌विकास के सम्बन्ध मे प्रकाश डाला गया है, मूल्यो मे एक सस्तरण देखने को मिलता हे सभी मूल्य समान स्तर के नहीं होते हैं—इस संस्तरण का सम्बन्ध मूल्यो के आयामो से है। मुकर्जी ने मूल्यो के तीन आयाम बताए है —(i) जैविक (Biological), (ii) सामाजिक (Social), तथा (iii) आध्यात्मिक (Spiritual)।

1. जैविक मूल्य (Biological Values)—जैविक मूल्य स्वास्थ्य, कुशलता व सुरक्षा आदि से सम्बन्धित होते हैं। मानव-जीवन जैविक आधार पर ही निर्भर है। जब शरीर स्वस्थ व उपयुक्त होगा तभी वह जीवन-निर्वाह करने मे सक्षम होगा, इसलिए मूल्यो के संस्तरण मे *सर्वप्रथम जैविक मूल्यो का स्थान है।*

2. सामाजिक मूल्य (Social Values)—जैविक-जीवन समाज की सहायता के बिना सम्भव नहीं हो सकता। इस कारण जैविक मूल्यो के पश्चात् सामाजिक मूल्यों का स्थान है। सामाजिक मूल्यो मे सम्पत्ति, प्रेम, न्याय आदि को लिया जाता है।

3. आध्यात्मिक मूल्य (Spiritual Values)—जैविक और सामाजिक मूल्यों की वास्तविकता 'सत्यम् शिवम् सुन्दरम्' की प्राप्ति में निहित है जिसे जैविक और सामाजिक स्तर से गुजरते हुए ही प्राप्त किया जा सकता है। इसी कारण आध्यात्मिक मूल्य सबसे उच्च स्तर के होते हैं—सत्य, सुसगति, सुन्दरता तथा पवित्रता से सम्बन्धित होते हैं—इन्हें साध्य, अन्तर्निष्ठ अथवा लोकातीत मूल्य कहा जाता है। आध्यात्मिक मूल्यो को सर्वोच्च मूल्य कहा जाता है, सामाजिक और जैविक मूल्यो का स्थान इसके उपरान्त है, जिनका उद्देश्य सामाजिक संगठन और सुव्यवस्था को बनाये रखना है इसीलिये ये साधन मूल्य, बाह्य मूल्य अथवा क्रियात्मक मूल्य कहलाते हैं। जैविक मूल्यों को जीवन को बनाये रखने के लिये आवश्यक माना जाता है, ये भी साधन मूल्य ही हैं। मुकर्जी ने इन मूल्यो को अपनी कृति "दा डाइमेन्शन्स ऑफ वैल्यूज" में निम्नलिखित रूप मे इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

मूल्यों का सोपान व संस्तरण

मूल्यों के आयाम	मूल्यों के गुण	मूल्यों का संस्तरण
1. जैविक : स्वास्थ्य, उपयुक्तता, कुशलता, सुरक्षा एवं निरन्तरता।	साधन मूल्य, बाह्य मूल्य क्रियात्मक मूल्य।	जीवन-निर्वाह तथा अग्रगति।
2. सामाजिक : सम्पत्ति, प्रस्थिति, प्रेम, एवं न्याय।	साधन मूल्य, बाह्यमूल्य, क्रियात्मक मूल्य।	सामाजिक सगठन एव सुव्यवस्था।

एवं न्याय।	क्रियात्मक मूल्य।	एवं सुव्यवस्था।
3. आध्यात्मिक :		
सत्य, सौन्दर्य, सुसंगति, एवं पवित्रता।	साध्यमूल्य, अन्तर्निष्ठ मूल्य, लोकातीत मूल्य।	आत्म-लोकाती-करण।

उपर्युक्त विवेचन के क्रम में मुकर्जी ने निम्नलिखित सामान्यीकरण प्रस्तुत किया है—

(1) साध्य-मूल्य साधन-मूल्यों की तुलना में श्रेष्ठ होते हैं, क्योंकि साध्य मूल्य ही मानव-जीवन को सार्थकता प्रदान करते हैं।

(2) साध्य-मूल्य और साधन-मूल्य परस्पर घुलते-मिलते एवं एक-दूसरे में व्याप्त होते रहते हैं। साधन-मूल्य साध्य-मूल्यो के साथ संयुक्त रहकर अपना क्रियारूप बनाए रखते हैं।

(3) व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में मूल्यों की द्वन्द्वात्मक गति होती है।

(4) वास्तविकता मे जैविक मूल्यों से उच्चतर मूल्यों को कुछ सीमा तक तो प्राप्त किया जा सकता है किन्तु व्यक्ति उन श्रेष्ठ मूल्यों को प्राप्त करने का प्रयास करता रहता है।

(5) उच्चतर अथवा आत्म-लोकातीकरण मूल्यों का कार्य जीवन को बनाए रखने के कार्य से उच्च श्रेणी का है।

(6) सार्वभौम मूल्य वे आदर्श-नियम हैं जो कि मूल्यों की संस्तरणात्मक व्यवस्था को नियंत्रित एवं निर्देशित करते हैं।

मूल्यों का श्रेणीकरण
(Gradation of Values)

मुकर्जी की कृति "दा सोशियल स्ट्रक्चर एण्ड वैल्यूज़" के मतानुसार सभी मूल्य समान स्तर के नहीं होते अर्थात् इनमें संस्तरणात्मकता होती है और यह स्तर सामाजिक संगठन के स्तरों पर निर्भर करता है। उन्होने सामाजिक संगठन के चार स्तर बताए हैं। इन स्तरों के आधार पर ही नैतिकता का विकास होता है। मूल्यो का श्रेणीकरण इस प्रकार है—

(1) भीड़ (Crowd)—यह सर्वाधिक अस्थाई समूह है। यह रचनात्मक नहीं होता और आदिम प्रकार के सम्बन्धों एवं व्यवहारो को प्रदर्शित करता है। यह आदिम प्रवृत्तियों व संवेगों से परिपूर्ण होता है, नैतिकता का अभाव होता है। इसलिए यह विनाशकारी होता है। मुकर्जी का मानना है कि भीड़ का रचनातंत्र कुछ इस प्रकार का होता है कि इसके द्वारा व्यक्ति सीधी कार्यवाही द्वारा बुराइयों का समाधान तत्काल चाहता है। आधुनिक समय में राजनैतिक सत्ता प्राप्त करने अथवा आर्थिक लाभ के लिए भीड़ का प्रयोग क्रान्ति की स्थिति को उत्पन्न करने के लिये किया जाता है अतः इसके कोई आदर्श-नियम नहीं होते हैं, न ही इसके कोई मूल्य अथवा मानदण्ड होते हैं।

(2) स्वार्थ-समूह (Interest Group)—सामाजिक संगठन का दूसरा प्रारूप स्वार्थ-समूह है। इसका गठन कुछ स्वार्थों की पूर्ति के लिए ही किया जाता है अतः स्वार्थ-समूहों का सम्बन्ध प्रायः ऐसे आंशिक, भाज्य तथा साधन मूल्यों से होता है, जिसके भागीदार

समुदाय के सभी व्यक्ति नहीं हो सकते हैं। श्रमिक-संघ, व्यापार संघ, राजनैतिक दल एवं क्लब आदि इसके उदाहरण हैं, जिनका गठन पारस्परिक सहयोग, एकता, निष्पक्षता एवं सहयोग आदि मूल्यो के आधार पर ही हो सकता है, किन्तु वे मूल्य संघ के सदस्यों और उनके निजी उद्देश्यो की पूर्ति तक ही सीमित होते हैं। अतः कुछ लोग ही इसके भागीदार होते हैं।

(3) समाज या समुदाय (Society or Community)—यह संगठन स्वार्थ-समूह की तुलना मे सामाजिक सगठन के अधिक विस्तृत, तार्किक और नैतिक आधारों को प्रस्तुत करता है। समाज मे व्यक्ति अन्य सदस्यो की इच्छाओ, संवेगों और स्वार्थों को ध्यान में रखकर सहयोगी व्यवहार करता है। इसमे व्यक्ति के साथ व्यक्ति व स्वार्थ के साथ स्वार्थ का अधिक समजन देखने को मिलता है।

(4) सामूहिकता (Collectivity)—सामाजिक सगठन का श्रेष्ठतम रूप सामूहिकता मे देखने को मिलता है। यह एक सुदृढ और सार्वभौमिक रूप है जो सचेत, अनुशासन व उच्चस्तरीय विवेक का परिणाम होता है। इसमे व्यक्ति प्रेम, समानता, विश्वबन्धुत्व, सहयोग, सामाजिक उत्तरदायित्व जैसे मूल्यो को ग्रहण करता है। इसमे स्वार्थवाद पर परार्थवाद की विजय देखने को मिलती है।

मूल्य के नियम
(Laws of Values)

मुकर्जी ने अपनी कृति "दा सोशियल स्ट्रक्चर ऑफ वैल्यूज" मे मूल्यो के कुछ नियमो का उल्लेख किया है, जो निम्नलिखित हैं—

(1) समाज के नियत्रण अथवा अनुमोदन के कारण समस्त मानवीय अभिप्रेरणाएँ मूल्यो मे रूपान्तरित हो जाती हैं। समाज इन प्रेरणाओ को टालता है, और उनकी अभिव्यक्ति के साधनो को निश्चित करता है।

(2) आधारभूत अथवा मौलिक मूल्यो की सन्तुष्टि हो जाने पर उन मूल्यो के प्रति उदासीनता उत्पन्न हो जाती है। इस स्थिति मे समाज और सस्कृति द्वारा नवीन लक्ष्य एव साधन प्रस्तुत किये जाते हैं जिनके कारण पुनः नये मूल्यो का जन्म होता है। इसे 'मूल्यो के चक्र का नियम' (Law of the Cycle of Values) कहा जाता है।

(3) मूल्य परस्पर घुलमिल जाते हैं और उनके सम्मिलन से निरन्तर बदलाव दिखाई देता है। यह सम्मिलन कभी सन्तुलित और कभी असन्तुलित रूप मे देखने को मिलता है।

(4) विभिन्न मूल्यो मे आपस में प्रतिस्पर्द्धा चलती रहती है, इससे मूल्यो मे एक सस्तरण विकसित हो जाता है जिसके अन्तर्गत साध्य-मूल्यो को साधन-मूल्यो की तुलना मे उच्चतर स्तर प्रदान किया जाता है।

(5) समाज अथवा सस्कृति व्यक्ति को मूल्यो के मौलिक प्रतिमान प्रदान करती है। मानवीय मूल्य मनुष्य के सामाजिक सम्बन्धो के द्योतक हैं। यह सस्कृति, परम्परा व प्रशिक्षण ही हैं जो उन मौलिक मूल्यो का निर्माण करते हैं।

(6) मनुष्य का विवेक एव निर्णय और समाज का अनुभव मूल्यो के एक सोपान का निर्माण करते हैं जिससे उत्तम, मध्यम और अधम मूल्यो के बीच भेद पैदा हो जाता है।

(7) मूल्यों में वैयक्तिकता, विभिन्नता एवं अनोखापन पाया जाता है। व्यक्ति अपनी बुद्धि, आदत, आवश्यकता और क्षमता के आधार पर उनका चयन करता है।

(8) अनेक मूल्य परस्पर संघर्ष करते हैं। ऐसी स्थिति में व्यक्ति अपनी शिक्षा, अनुभव और आदर्श नियमों के आधार पर उपयुक्त मूल्यों का चयन करता है।

(9) सामाजिक पर्यावरण, समूह, संस्थागत सम्बन्ध एवं अनुभव की सामाजिक परिस्थिति में ही मूल्यों में गुणात्मक सुधार घटित होता है। जैसे-जैसे एकात्मकता से सामूहिकता की ओर आगे बढ़ा जाता है, वैसे-वैसे मूल्य भी अधिकाधिक सम्पूर्ण, आत्मनिर्भर और स्थाई होते जाते हैं।

(10) प्रत्येक समूह और संस्था व्यक्ति के अपने स्वार्थ के कारण एक प्रकार की द्वैतीयकता को प्राप्त कर लेते हैं जिसके माध्यम से व्यक्ति एक उद्देश्य को प्राप्त कर एक आदर्श तक पहुँच जाता है।

(11) कला, संगीत, साहित्य एवं धर्म से सम्बन्धित अन्तर्दृष्टि और सहानुभूति के गुण महान् व्यक्तियों में बहुतायत से होते हैं जिसके कारण उनके मौलिक मूल्यों को जाना जा सकता है और उन्हें अन्य व्यक्तियों तक प्रभावशाली ढंग से संप्रेषित किया जा सकता है।

(12) व्यक्ति का आदर्श-मूल्य, उसकी अर्न्तदृष्टि, सौन्दर्यात्मक एवं धार्मिक बोध, उसका व्यावहारिक आविष्कार एवं उत्साह आदि का प्रमुख स्रोत सामाजिक संस्कृति होती है जो व्यक्ति के जीवन को प्रभावित करती है।

मूल्य और व्यक्तित्व
(Value and Personality)

मुकर्जी का मानना है कि मूल्यों का विशेष महत्त्व व्यक्तित्व का निर्माण करने में है। व्यक्ति का व्यक्तित्व जितना अधिक आदर्श मूल्यो को अपनाता है, उतना ही अधिक व्यक्ति समाज से अपना समंजन कर पाता है। प्रत्येक समाज के लिए भी यह आवश्यक है कि वह व्यक्तित्व के सर्वोच्च मूल्यों का निर्माण करे क्योंकि यदि किसी समाज के मूल्य व्यवस्थित, नियमित एवं श्रेष्ठ नहीं होंगे, तो वह समाज जीवित नहीं रह पाएगा और उसके अभाव में उसकी सभ्यता का भी शीघ्र अन्त हो जायेगा क्योंकि सभ्यताओ का उत्थान-पतन उनके द्वारा व्यक्ति के विकास पर दिए जाने वाले बल पर ही सम्भव होता है। अतः मुकर्जी का मानना है कि किसी समाज को जीवित रहने के लिए नियमित रूप से व्यक्तित्व के सर्वोच्च मूल्यों की पूर्णता का प्रयास करना चाहिए।

सामाजिक मूल्यों का महत्त्व या कार्य
(Importance or Functions of Values)

मुकर्जी के मत मे समाज और व्यक्ति के जीवन मे मूल्यो का अत्यधिक महत्त्व है। उनके अनुसार भौतिकशास्त्र के लिए गति और गुरुत्वाकर्षण का जो महत्त्व है व शरीर विज्ञान के लिए पाचन-प्रक्रिया और रक्त-संचार का जो महत्त्व है, वही महत्त्व सामाजिक विज्ञानो के लिए मूल्यों का है। मूल्यों को समाज से पृथक् नहीं किया जा सकता। मुकर्जी कहते हैं, "समाज मूल्यों का एक संगठन एवं संकलन है।" सामाजिक क्रिया में सामूहिक अनुभव होते हैं, जिनका निर्माण—व्यक्तिगत एवं सामाजिक—दोनों ही प्रकार की मनोवृत्तियों और

प्रत्युत्तरों द्वारा होता है। ये मूल्य समाजों का निर्माण करते हैं और सामाजिक सम्बन्धों को संगठित भी करते हैं।

मुकर्जी का मत है कि यदि कोई समाज अपने अस्तित्व को बनाए रखना चाहता है, तो उसे व्यक्तित्व के सर्वोच्च मूल्यों की पूर्ति अवश्य करनी चाहिये। मानव कल्याण के लिए भी मूल्यों का पालन एवं संरक्षण अत्यावश्यक है। समाज में एकता, संगठन एवं नियन्त्रण भी मूल्यों द्वारा ही सम्भव होता है। मूल्यों के अभाव में समाज का अस्तित्व ही नहीं रहेगा। मुकर्जी के मतानुसार मूल्यों का महत्त्व अथवा कार्य निम्नलिखित हैं—

(1) व्यक्ति के लिए महत्त्वपूर्ण (Important for the Individual)—व्यक्ति के जीवन में मूल्यों का अत्यधिक महत्त्व है। मुकर्जी का कहना है कि मूल्य मनुष्य के सामाजिक जीवन के अनुरूप स्थिर और सगतपूर्ण तरीके से उसके आवेगों एवं इच्छाओं को संगठित करके, व्यक्ति के उद्‌विकास और चयन में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। यह वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा मनुष्य को स्वकेन्द्रित, तात्कालिक तथा अस्थिर आवश्यकताओं को एक स्थाई मानसिक समूहों में रूपान्तरित किया जाता है। हॉब्स के शब्दों में जिसके बिना जीवन घिनावना, पशुवत् एवं संक्षिप्त बन जायेगा। व्यक्ति मूल्यों के आधार पर ही अपनी सामाजिक परिस्थितियों से सरलता से अनुकूलन कर लेता है। मूल्यों के कारण ही व्यक्ति समूह के अंग के रूप में स्वयं को मानने लगता है। इस प्रकार व्यक्ति को जीवन-मूल्यों के कारण ही अर्थपूर्ण माना जा सकता है। व्यक्तित्व के निर्माण तथा संगठन में भी मूल्यों का अत्यधिक महत्त्व है।

(2) समाज में एकरूपता उत्पन्न करने में महत्त्वपूर्ण (Important in bringing Unanimity in the Society)—व्यक्ति समाज में प्रचलित मूल्यों के अनुसार ही आचरण करते हैं इसके परिणामस्वरूप सभी के व्यवहारों में एकरूपता आ जाती है। इस प्रकार मूल्य समाज में एकरूपता को उत्पन्न करने में सहायक होते हैं।

(3) समाज के आदर्श विचारों व व्यवहारों के निर्धारक (Determinant of Ideal Values and Behaviour for the Society)—मूल्य समाज के विचारों व व्यवहारों का निर्धारण करते हैं क्योंकि सामाजिक मूल्यों में आदर्श निहित होते हैं। इन्हें सामाजिक स्वीकृति व मान्यता प्राप्त होती है, इसलिए सामाजिक मूल्यों को आदर्श विचारों व व्यवहारों का प्रतीक माना गया है।

(4) व्यक्तित्व के निर्माण तथा संगठन में सहायक (Helpful in the Deveopment and Organisation of the Personality)—सामाजिक मूल्य व्यक्तित्व के निर्माण और संगठन के लिए भी महत्त्वपूर्ण हैं। मुकर्जी के मतानुसार मूल्य व्यवस्था व्यक्तित्व की संरचना को परिभाषित एवं नियन्त्रित करती है और इसके बदले में व्यक्ति अपने आचरणों द्वारा मूल्यों की परिशुद्धि और उनका परिमार्जन करता है। इस प्रकार दोनों के आपसी सम्बन्ध के कारण ही मूल्यों में परिवर्तन, परिवर्द्धन एवं परिमार्जन होता रहता है।

(5) भौतिक संस्कृति के महत्त्व को बढ़ाने वाले (Increas the inportance of the Material Culture)—सामाजिक मूल्य भौतिक संस्कृति, जैसे—कार, मकान, टेलीफोन व टेलीविजन आदि के लिए भी महत्त्वपूर्ण हैं क्योंकि इनसे सामाजिक प्रतिष्ठा में वृद्धि होती है। सामाजिक मूल्य इन भौतिक वस्तुओं को उपयोगी एवं प्रतिष्ठासूचक मानते हैं।

(6) सामाजिक क्षमता का मूल्यांकन (Evaluation of Social Potentiality)—मूल्य ही समूह और व्यक्ति की क्षमता का मूल्यांकन करते हैं। इन मूल्यो के आधार पर ही व्यक्ति यह जानने में सक्षम होते हैं कि दूसरे लोग उन्हे किस दृष्टि से देखते हैं अथवा संस्तरण मे वे कहाँ स्थित हैं।

(7) सामाजिक नियन्त्रक (Social Controller)—मुकर्जी का मत है कि सामाजिक मूल्य सामाजिक नियन्त्रण मे सहायक होते हैं। मूल्यो में आदेश-सूचक और अनिवार्यता के तत्व होते हैं जिन्हें समाज मे प्रचलित जनरीतियों, प्रथाओ और नैतिक नियमों के कारण बल मिलता रहता है। परिणामस्वरूप समाज द्वारा विपरीत आचरण करने वालों को दण्ड एवं समाज के अनुरूप आचरण करने वालों को पुरस्कार की व्यवस्था की जाती है।

(8) अनुरूपता और विपथगमन को स्पष्ट करते हैं (Specify unanimity and Devpation)—जो व्यवहार सामाजिक मूल्यो के अनुकूल होते हैं, उन्हे अनुरूपता और इनके विपरीत व्यवहारो को विपथगमन कहा जाता है। सामाजिक मूल्य, सामाजिक अस्तित्व के लिए आवश्यक हैं और कोई भी समाज इनके उल्लधन की आज्ञा नहीं देता, ऐसा करने वाले को दण्डित किया जाता है। इस प्रकार सामाजिक मूल्य सामाजिक विघटन को रोकने के लिए और सामाजिक व्यवस्था बनाए रखने के लिए आवश्यक हैं।

(9) सामाजिक संगठन और एकीकरण के लिए महत्त्वपूर्ण (Important for Social organisation and Integration)—सामाजिक मूल्य समाज मे संगठन और एकीकरण को जन्म देते हैं। व्यक्ति समाज द्वारा स्वीकृत व्यवहारो के अनुसार आचरण करते हैं तो उससे समाज मे एकीकरण व संगठन बना रहता है—समाज मे समान आदर्शों, व्यवहारों एव मूल्यो को स्वीकार करने के कारण सामुदायिक भावना का जन्म होता है। समान मूल्यों को स्वीकार करने वाले अपने आपको निकट का मानते हैं अत: परस्पर सहयोग करते हैं उससे समाज मे भी संगठन बना रहता है।

मुकर्जी का मानना है कि सामाजिक जीवन के विभिन्न पक्षो से सम्बन्धित मूल्यों में एक प्रकार्यात्मक सम्बन्ध होता है, जिसके परिणामस्वरूप सामाजिक सम्बन्धो मे तालमेल बना रहता है और समाज में व्यवस्था और सन्तुलन बना रहता है। उदाहणार्थ—परिस्थितिगत स्तर पर प्राकृतिक साधनो के उपयोग सम्बन्धी मूल्य होते हैं, आर्थिक स्तर पर—आय का वितरण, समाज-कल्याण व जीवन-स्तर से सम्बन्धित मूल्य होते हैं, राजनैतिक स्तर पर समानता, सत्ता व स्वतन्त्रता आदि से सम्बन्धित मूल्य होते हैं, वैधानिक स्तर पर न्याय, समानता, स्वतन्त्रता व सुरक्षा आदि से सम्बन्धित मूल्य होते हैं। उसी भाँति सामाजिक स्तर पर सामाजिक संगठन एवं व्यवस्था से सम्बन्धित मूल्य होते हैं। नैतिक स्तर पर सहयोग, सहानुभूति, प्रेम व न्याय आदि से सम्बन्धित मूल्य होते हैं—इस प्रकार मुकर्जी के मत मे सुसंस्कृत समाज का प्रथम लक्षण सर्वश्रेष्ठ मूल्य ही होते हैं। मूल्यो के साथ सामाजिक विज्ञानो के प्रकार्यात्मक सम्बन्ध को निम्नलिखित तालिका द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है—

सामाजिक विज्ञानों के प्रकार्य और मूल्य

क्र स	सामाजिक विज्ञान	प्रकार्य	संस्थानिक मूल्य
1	मानवीय परिस्थितिकी	प्रभुत्व, आरक्षण, सातत्य	उपयुक्तता
2	मनोविज्ञान	व्यवहार	समग्रता
3	समाज विज्ञान	सम्प्रेषण और प्रस्थिति	संगठनात्मक एकता
4	अर्थशास्त्र	विकल्प चयन	जनकल्याण
5	राजनैतिकशास्त्र	स्वतन्त्रता एवं नियन्त्रण	समानता
6	न्यायशास्त्र	सुरक्षा, सामाजिक सम्बन्ध	सुरक्षा
7	नीतिशास्त्र	नैतिक मूल्यो का उत्थान	नि:स्वार्थता

मुकर्जी ने व्यक्ति, समाज और मूल्य में पाए जाने वाले पारस्परिक सम्बन्धो को दर्शाने के लिए दीपक की बत्ती, तेल और ज्योति का उदाहरण प्रस्तुत किया है। जिसमें व्यक्ति को बत्ती, समाज को तेल और मूल्यो को ज्योति कहा गया है। तेल (समाज) के बिना बत्ती (व्यक्ति) अधूरी है, और ज्योति (मूल्यो) के बिना बत्ती और तेल (व्यक्ति और समाज) निरर्थक हैं। अर्थात् मूल्य ही अन्ततोगत्वा व्यक्ति और समाज के जीवन में ज्योति लाते हैं। मुकर्जी का कहना है कि **"मनुष्य और समाज—तैरती हुई बत्ती और गहरे तेल के बीच चलने वाले अनन्त आदान-प्रदान से मूल्य अनुभव की उजली, स्थिर ज्योति पनपती है, जो कि हमारे नीरस और निरानन्द विश्व को निरन्तर प्रकाशित करती रहती है।"**

मुकर्जी के मतानुसार यदि समाज अपने अस्तित्व को बनाए रखना चाहता है तो यह आवश्यक है कि वह सर्वोच्च मूल्यो की नियमित पूर्ति करता रहे। व्यक्तित्व की सर्वोत्तम खोज सुन्दरता, अच्छाई और प्रेम के उच्चतर आध्यात्मिक मूल्य (Higher Spiritual Values of Beauty, Goodness and Love) है। इन्हीं के आधार पर संस्थाओं की सृष्टि और पुन:सृष्टि होती है। अत: सम्पूर्ण मानव-समाज और मानव-कल्याण के लिए मूल्य अति महत्त्वपूर्ण हैं।

मूल्य और विमूल्य
(Values and Disvalues)

राधाकमल मुकर्जी ने मूल्यो के साथ-साथ विमूल्यो का भी उल्लेख किया है। आपने नकारात्मक मूल्यों को ही विमूल्य या अपमूल्य कहा है—मुकर्जी का कहना है कि सामाजिक व्यवहार के सभी आयामो में मूल्यों के साथ विमूल्य भी उपस्थित रहते हे।

सामाजिक मान्यताओं की अवमानना करना अथवा सामाजिक मूल्यों का उल्लंघन करना ही विमूल्य कहलाता है। अपराध, भ्रष्टाचार, द्वेष, हिंसा, विघटन व शोषण आदि विमूल्य ही हैं। विमूल्यो की उत्पत्ति सामाजिक जीवन में बुराइयो के फलस्वरूप होती है।

मूल्य और विमूल्य मे अन्तर स्पष्ट करते हुए मुकर्जी का मानना है कि 'सत्य की सदा विजय होती है' यह एक श्रेष्ठतम मूल्य का उदाहरण है, किन्तु 'राजनीति मे कुछ भी अनुचित नहीं होता है' यह विमूल्य का उदाहरण है। 'क्षमा कर देना ही सबसे बड़ी सजा है' यह मूल्य है किन्तु 'खून का बदला खून' यह विमूल्य है। 'परिश्रम का फल मीठा होता है' यह एक उच्चतर मूल्य है, किन्तु 'जिओ और जीने दो' यह विमूल्य का उदाहरण है। इस प्रकार व्यक्ति मूल्योंकी अवहेलना करके विमूल्यो को स्वीकार कर लेता है। वैयक्तिक स्तर पर बेईमानी, हिंसा, घृणा व अवहेलना आदि विमूल्यों के उदाहरण है। "अपने पड़ोसी से प्रेम करो" सामाजिक मूल्य है, जबकि "दुष्ट के साथ दुष्टता का व्यवहार करो" विमूल्य का उदाहरण है। इसी प्रकार हिंसा, शोषण, साम्प्रदायिकता, क्षेत्रवाद, भाषावाद और राजद्रोही गतिविधियाँ आदि विमूल्यो के उदाहरण हैं। विमूल्य उन संस्थाओं या व्यवहारों के माध्यम से अभिव्यक्त होते हैं, जो कानून और सामाजिक-संहिताओ की अवमानना करते हैं।

मुकर्जी के मतानुसार विमूल्यों की उत्पत्ति तीन कारणो से होती है—

(1) शारीरिक अथवा जैविकीय आवश्यकताएँ (Physical or Biological Necessities)—विमूल्यों की उत्पत्ति का प्रथम कारण जैविकीय हैं। जब व्यक्ति अपनी आवश्यक आवश्यकताओ, जैसे—भोजन, आवास और वस्त्र आदि की भी पूर्ति नहीं कर पाता अर्थात् शारीरिक कष्ट, कुपोषण, सुविधाओं का अभाव, अभिवृद्धि मे बाधा, वस्त्र व आवास की अपर्याप्तता, बीमारी व सुरक्षा का अभाव आदि असुविधाएँ उसे सताती हैं तो विमूल्यो की उत्पत्ति होती है।

(2) मानसिक आवश्यकतायें (Mental Necessities)—मानसिक आवश्यकताओं की समुचित पूर्ति न होने पर भी विमूल्यों की उत्पत्ति होती है। जब व्यक्ति को प्रेम, प्रतिष्ठा, प्रस्थिति एवं सुरक्षा विषयक मौलिक आवश्यकताओं की पूर्ति मे बाधा उत्पन्न होती है, तो उस स्थिति मे वह मानसिक तनावों एवं संघर्षों का शिकार हो जाता है। क्योंकि मनोवैज्ञानिक आधार पर आत्मसन्तोष के लिए इनकी पूर्ति आवश्यक होती है—इसके अभाव मे व्यक्ति में कृत्रिम एवं विकृत मूल्य विकसित हो जाते हैं, जो उसकी इच्छाओं और आकांक्षाओं की पथभ्रष्ट तरीकों से पूर्ति करते हैं—यही विमूल्य होते हैं।

(3) सामाजिक आवश्यकतायें (Social Necessities)—सामाजिक आवश्यकताओ की पूर्ति न होने पर भी विमूल्यो की उत्पत्ति हो जाती है। जब व्यक्ति के समक्ष संघर्षात्मक स्थितियाँ उत्पन्न हो जाती हैं तो वह उनको सहन करने अथवा भुलाने के लिए गलत रास्ते अपनाता है। शराब पीना, पारिवारिक सन्तुलन में बाधा डालना आदि स्थितियाँ समाज में विघटन पैदा करती हैं—क्योंकि जब व्यक्ति अपने दुःख-दर्द को भुलाने के लिए अत्यधिक शराब का सेवन करता है तो इससे उसके परिवार की सुख-शान्ति भंग होती है, आर्थिक कष्ट होता है और स्वास्थ्य भी खराब हो जाता है—इन सबसे पारिवारिक और फिर सामाजिक सन्तुलन विकृत हो जाता है—उससे उत्पन्न समस्याएँ समाज मे विमूल्यों को विकसित करती हैं। इस प्रकार आवश्यकताओ का अभाव ही विमूल्यो का कारण होता है।

मुकर्जी के मत मे विमूल्यो की वृद्धि से समाज मे वैयक्तिक एव सामाजिक एकीकरण की व्यवस्था की जा सकती है तथा रचनात्मक उपायो मे विकृत व्यक्तित्व वाले व्यक्तियो के लिए पुनर्वास जैसे उपायों को लागू किया जा सकता है। इस प्रकार मूल्यो को लोगो की आकाक्षाओ के अनुरूप बनाना आवश्यक है।

सुधारात्मक उपायो मे विचलित व्यवहार वाले व्यक्तियो के लिए सामाजिक एकीकरण की व्यवस्था की जा सकती है तथा रचनात्मक उपायो में विकृत व्यक्तित्व वाले व्यक्तियो के लिए पुनर्वास जैसे उपायो को लागू किया जा सकता है। इस प्रकार मूल्यो को लोगों की आकाक्षाओ के अनुरूप बनाना आवश्यक है।

सामाजिक परिस्थिति विज्ञान
(Social Ecology)

सामाजिक परिस्थिति सम्बन्धी विचार मुकर्जी ने अपनी कृति **"सोशियल इकोलोजी"** मे स्पष्ट किए हैं। मुकर्जी का मानना है कि अर्थशास्त्र, जनांकिकी और प्रादेशिक समाजशास्त्र के सामान्य निष्कर्षों को परिस्थिति विज्ञान के क्षेत्र में प्रयुक्त किया जा सकता है। वास्तव मे मुकर्जी अर्थशास्त्री थे और अर्थशास्त्र के क्षेत्र मे आपने अपने अमूल्य विचार व्यक्त किये हैं। आपने अर्थशास्त्र और समाजशास्त्र के बीच पाए जाने वाले भेद को कम करके, दोनो को निकट लाने का इस पुस्तक मे प्रयास किया है। आपके सामाजिक परिस्थिति विज्ञान या परिस्थितिकी से सम्बन्धित विचारो का सविस्तार वर्णन अगले अध्याय मे किया गया है।

प्रादेशिक समाजशास्त्र
(Regional Sociology)

"रीजनल सोशियोलोजी" (1926) मुकर्जी की प्रसिद्ध कृति है जिसमे उन्होने प्रादेशिकता के विषय में अपने मौलिक विचार प्रस्तुत किए हैं। उन्होने यह स्पष्ट करने का प्रयास किया है कि किसी प्रदेश की प्राकृतिक विशेषताएँ वहाँ के वासियो की मनोवृत्तियो, प्रथाओ, आचारो, सस्थाओं और चरित्र को बनाने मे अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं। आपने प्रादेशिक अर्थशास्त्र को ऐसे विज्ञान के रूप मे प्रस्तुत किया है, जिसका सम्बन्ध एक भौगोलिक क्षेत्र का मानव व्यवहार और मानव जीवन के बीच पाए जाने वाले प्रकार्यात्मक सम्बन्धो के अध्ययन से है। इसमे विभिन्न प्रदेशो के लोगो के सामाजिक जीवन और उनके व्यवहारो का तुलनात्मक अध्ययन भी किया जाता है। वे प्रादेशिकता को भी मानव-व्यवहार की एक विशेष अभिव्यक्ति मानते हैं जो अपने क्षेत्र विशेष को परिस्थितियो द्वारा प्रभावित, नियत्रित और निर्देशित होती है। इस प्रकार प्रादेशिक समाजशास्त्र भी विज्ञान की एक शाखा है।

मुकर्जी प्रादेशिक समाजशास्त्र के अन्तर्गत निम्नलिखित पक्षो का अध्ययन करने पर जोर देते हैं—

(i) प्रादेशिक जीवन के जाल का अध्ययन।

(ii) प्रदेश तथा प्रादेशिक समूह के सन्दर्भ मे मानव परिस्थितिकी का अध्ययन।

(iii) सामाजिक प्ररूपो के प्रादेशिक आधार का अध्ययन।

(iv) आर्थिक एवं सामाजिक प्ररूपो के बीच अनुकूलन का अध्ययन।

(v) राजनैतिक सम्बन्धो पर आर्थिक परिस्थितियों के प्रभाव का अध्ययन, तथा,

(vi) प्रादेशिक समाजशास्त्र की प्रवृत्तियो का अध्ययन।

मुकर्जी के विचार में प्रत्येक प्रदेश वहाँ के निवासियो के लिए एक विशिष्ट पर्यावरण को प्रस्तुत करता है, जो समान तथा स्थिर होता है। साथ ही प्रत्येक प्रदेश स्पष्टतया पहचाने जाने वाली विशिष्ट प्रकार की संरचनाओ को जन्म देता है, तथा विशिष्ट सामाजिक प्ररूपों को भी जन्म देता है। इस प्रकार मुकर्जी अपने इस नवीन विज्ञान मे प्रदेश के लोगों को एक साँचे के रूप में स्वीकारते हैं।

प्रादेशिक समाजशास्त्र के सन्दर्भ मे मुकर्जी तीन सिद्धान्तों को स्वीकार करते हैं।

(1) एक प्रदेश विशेष का प्रभाव सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक एवं वैधानिक संस्थाओं पर सामान्य रूप से पड़ता है, इस कारण प्रादेशिक समाजशास्त्र इन सभी संस्थाओं को परस्पर घुली-मिली मानता है।

(2) प्रादेशिक समाजशास्त्र का कार्य-स्थान, कार्य और जनता (Place, Work and Folk) के पारस्परिक सम्बन्धो का अध्ययन करना और उनके निष्कर्षों से नगरों और प्रदेशों मे पाए जाने वाले नवीन जीवन का अध्ययन करना है।

(3) प्रादेशिक समाजशास्त्र जो सामाजिक अनुसन्धान करता है, उसका आधार सामाजिक मनोविज्ञान और सामाजिक मानवशास्त्र के ज्ञान पर निर्भर करता है।

इससे निष्कर्ष निकलता है कि मुकर्जी अपने प्रदेश के साथ मानव का मात्र प्राकृतिक ही नहीं, अपितु मनोवैज्ञानिक सम्बन्ध भी मानते हैं। क्योंकि व्यक्ति को अपने जन्म-स्थान के प्रति अपनत्व एव लगाव होता है इसी कारण वह वहाँ की भाषा, रहन-सहन, रीति-रिवाज, खान-पान, जीवन का तरीका, शिल्पकला व संस्कृति को सरलता से ग्रहण कर लेता है और उस जीवन से अपना समायोजन शीघ्रता मे कर लेता है। व्यक्ति का जन्म-स्थल ही उसकी प्रथम पाठशाला होती है। प्रदेशो के मानव की सम्पूर्णता पर प्रभाव का अध्ययन करना प्रादेशिक समाजशास्त्र का लक्ष्य है। यद्यपि आधुनिक समय की परिस्थितियाँ मानव-जीवन को विषम बनाती जा रही हैं, फिर भी प्रदेश का प्रभाव उस पर विद्यमान है।

आर्थिक दृष्टि से देखे तो प्रत्येक प्रदेश का आर्थिक विकास और अवरोध दो कारणो से प्रभावित रहा है।

(i) उस क्षेत्र में प्राप्त प्राकृतिक सम्पदा और साधन, तथा

(ii) उस सम्पदा का उपयोग करने की मानव की क्षमता और संगठन का स्तर। कृषि अथवा उद्योग, पशुपालन आदि सभी आर्थिक विकास के साधन मानव की सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक व मानसिक गतिविधियो को प्रभावित करते हैं और मानव को अपने प्रदेश की जलवायु, पशु-पक्षी, वनस्पति व खनिज पदार्थ आदि से अनुकूलन करना पडता है। यद्यपि आज विज्ञान के प्रभाव व नवीन आविष्कारो ने पर्यावरण के प्रभाव को क्षीण कर दिया है जो कि कुछ समय पूर्व तक अत्यधिक रूप में था।

मुकर्जी का मानना है कि प्रदेश विशेष में एक विशिष्ट संस्कृति जन्म लेती है जिसका कारण पर्यावरण और सामाजिक कारणो के बीच की अन्त:क्रिया होता है। प्रत्येक प्रदेश की संस्कृति अलग होती है और इसके कारण कोई भी दो प्रदेश परस्पर भिन्नता लिए

हुए होते हैं। यह भिन्नता उन्हे राष्ट्र की मुख्यधारा से अलग कर देती है जिसके कारण प्रान्तवाद अथवा सकुचित प्रादेशिकता की भावना विकसित होती है। यह संकुचित प्रादेशिकता की भावना अपने प्रदेश की भाषा और सस्कृति को श्रेष्ठ और अन्य को हीन मानती है। परिणामस्वरूप उस प्रदेश के लोग अपने लिए राजनैतिक और आर्थिक सुविधाएँ प्राप्त करने का प्रयास करते हैं और राष्ट्रीय हितो को कोई महत्त्व नही देते। परिणाम यह होता है कि प्रादेशिक भक्ति तो बढ़ती जाती है और राष्ट्रवाद की भावना कमजोर होती जाती है।

अत: मुकर्जी की मान्यता है कि जब प्रदेशवाद की भावना बलवती हो जाती है तो वह नियंत्रण के बाहर हो जाती है और एक विद्रोह के रूप मे उभरती है। ऐसी स्थिति से बचने के लिए आवश्यक है कि उसे सृजनात्मक एवं रचनात्मक कार्यों मे लगाया जाए।

सामाजिक पुनर्निर्माण
(Social Reconstruction)

मुकर्जी ने सामाजिक पुनर्निर्माण के सम्बन्ध मे भी अपने महत्त्वपूर्ण विचार व्यक्त किए व इसके लिए एक योजना प्रस्तुत की है। मुकर्जी का कहना है कि जब समाज में सामाजिक विघटन उत्पन्न हो जाता है, अव्यवस्था हो जाती है अथवा सघर्ष की स्थिति आ जाती है तो ऐसी समस्यात्मक स्थिति मे सामाजिक पुनर्निर्माण की आवश्यकता होती है जिससे समाज को पुन: सगठित किया जा सके, किन्तु सामाजिक पुनर्निर्माण सभी समाजो पर समान रूप से लागू नहीं किया जा सकता, क्योकि प्रत्येक समाज की समस्याएँ भिन्न-भिन्न होती हैं। आधुनिक समय मे समाजो में व्याप्त पक्षपात, घृणा, सन्देह आदि के कारण समस्याओं की अधिकता हो गई है। परिणामस्वरूप असन्तुलन एव विघटन की स्थिति उत्पन्न हो गई है। मानव में अहवाद व आक्रामक व्यवहार की अधिकता हो गई है। इन सभी समस्याओ के निराकरण के लिए सामाजिक पुनर्निर्माण की अतीव आवश्यकता है। मुकर्जी के अनुसार सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक सभी क्षेत्रों मे पुनर्निर्माण निम्नलिखित रूप से हो सकता है।

(i) सामाजिक क्षेत्रों में पुनर्निर्माण (Reconstruction in Social Field)—वर्तमान समय मे औद्योगीकरण, नगरीकरण, पाश्चात्य सभ्यता और सस्कृति का प्रभाव बढ़ रहा है, इसका प्रभाव यह हुआ है कि अब समाज के मूल्यो मे अनेक परिवर्तन हो रहे हैं। मानव-मनोवृत्ति व आदतें भी बदल रही हैं। समाज का नियंत्रण ढीला होता जा रहा है। इसका प्रभाव परिवार व जाति प्रथा पर भी पड रहा है। जाति प्रथा समाप्त हो रही है। ग्रामीण-समुदायो का ह्रास हो रहा है, सयुक्त परिवार समाप्त हो चले हैं। इन सबका प्रभाव सामाजिक जीवन पर भी पड रहा है, सामाजिक क्षेत्रो मे पुनर्निर्माण के अन्तर्गत उन कारणो की खोज करनी होगी जो सामाजिक जीवन को प्रभावित कर रहे हैं व उनमें सन्तुलन ला रहे हैं। पुनर्निर्माण के दृष्टिकोण से इन समस्याओ को सुलझाना आवश्यक है। परिवर्तन के कारण जो समस्याएँ आ गई हैं उनको दूर करके परिवार व समाज के आदर्शों, मूल्यो को विकसित करना आवश्यक है जिससे सामाजिक अनुकूलन हो सके। साथ ही ऐसे नियमो को विकसित करना आवश्यक है जो समाज मे व्याप्त बुराइयो को दूर कर सके।

(ii) आर्थिक क्षेत्र में पुनर्निर्माण (Reconstruction in Economic Field)—आर्थिक दृष्टिकोण से भी पुनर्निर्माण की अतीव आवश्यकता है, इसके लिए अनेक महत्त्वपूर्ण

कार्य किए जा सकते हैं, जैसे—ग्रामीण क्षेत्रों में कृषि और उद्योगों का आधुनिकीकरण किया जाना आवश्यक है। ग्रामीण क्षेत्रों मे शिक्षा का अधिकाधिक विकास करना आवश्यक है तथा समाज की अनेक कुरीतियो, जैसे—दहेज, बालविवाह, पर्दाप्रथा व विधवा पुनर्विवाह निषेध आदि के विरुद्ध जनमत तैयार किया जाना चाहिए। नगरो में श्रमिक और पूँजीपतियो के सम्बन्धो मे सुधार, श्रमिकों को शोषण-मुक्त कराकर उन्हे उनके अधिकारों को दिलवाना आवश्यक है। श्रमिकों के लिए सामाजिक कल्याण व सुरक्षा आदि की सेवाएँ उपलब्ध कराई जानी चाहिए।

(iii) राजनैतिक पुनर्निर्माण (Political Reconstruction)—मुकर्जी राजनैतिक पुनर्निर्माण के अन्तर्गत 'मानव जाति के राष्ट्रमण्डल' की स्थापना करने का सुझाव देते हैं जिससे विभिन्न राष्ट्रों के मध्य विवादो को निपटाने, प्रतिस्पर्द्धा को कम करने, गलतफहमियो को दूर करने और राष्ट्रों में परस्पर भाई-चारे की भावना पैदा करने का कार्य हो सके। इससे राष्ट्रो के बीच का संघर्ष कम होगा और सभी राष्ट्र समान रूप से शक्तिशाली बन सकेगे किन्तु इन सबके लिए कुछ राजनैतिक मूल्यो का विकसित करना आवश्यक है, यथा—प्रत्येक देश अपने पड़ोसी देश के अधिकारो एवं कर्तव्यो को स्वीकारे तथा समानता, स्वतन्त्रता, न्याय, राजभक्ति और सत्ता आदि के मूल्यो को अपनाए। इससे अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर भी सहयोग और न्याय की वृद्धि होगी व विश्वस्तर पर सबकी उन्नति होगी।

(i) औद्योगिक पुनर्निर्माण (Industrial Reconstruction)—मुकर्जी का मानना है कि औद्योगिक क्षेत्र मे मशीनो की सहायता से उत्पादन में वृद्धि की जाए किन्तु श्रमिको का आर्थिक शोषण न हो, न ही उनकी छँटनी की जाए। इस प्रकार मुकर्जी मशीनों का विरोध नहीं करते किन्तु वे *श्रमिक और मशीनो के मध्य ऐसा तालमेल चाहते हैं जिससे श्रमिको का* शोषण भी न हो और उत्पादन मे वृद्धि हो सके। श्रमिकों को उनकी सेवा का उचित भुगतान मिल सके, जिससे वे सुखी रह सके।

मुकर्जी पाश्चात्य देशो की नकल का भी विरोध करते हैं क्योंकि वहाँ का पर्यावरण यहाँ से भिन्नता लिए हुए है। अतः पाश्चात्य देशो की नकल करके हम अपनी आर्थिक व सामाजिक परम्पराओ की अवहेलना ही करेगे, जो देश की उन्नति मे बाधक होगी।

इस प्रकार मुकर्जी ने अपनी रचनाओ के माध्यम से यह कहना चाहा है कि आज जो मूल्यों का ह्रास हो रहा है, जीवन-शैली में बदलाव आ रहा है, उसमे व्यक्ति की क्या भूमिका होनी चाहिए। *मुकर्जी समाज-विज्ञान के अग्रज रहे हैं, वे ऐसे समाज-विचारक रहे हैं* जिनके विचारो का महत्त्व सर्वव्यापी है। वे एक दार्शनिक, विचारक, रहस्यवादी एवं समाज वैज्ञानिक के रूप मे सर्वमान्य रहे हैं।

अभ्यास प्रश्न

निबन्धात्मक प्रश्न

1. मुकर्जी की जीवनी एव कृतियो पर प्रकाश डालिए।
2. 'मूल्यों का समाजशास्त्र' पर मुकर्जी के योगदान का मूल्यॉकन कीजिए।
3. समाजशास्त्र के क्षेत्र मे राधाकमल मुकर्जी के योगदान को बताइए।

4. मुकर्जी का "सामाजिक विज्ञान का सिद्धान्त" स्पष्ट कीजिए।
5. प्रादेशिकता एव प्रादेशिक समाजशास्त्र पर मुकर्जी के विचार स्पष्ट कीजिए।
6. मुकर्जी कृत मूल्यो के उद्‌विकासो को स्पष्ट करते हुए मूल्यों की विशेपताएँ बताइए।
7. 'मूल्यो का सस्तरण' मे आपका क्या अभिप्राय है? सामाजिक मूल्यो के महत्व को स्पष्ट कीजिए।
8. राधाकमल मुकर्जी के समाज विज्ञान के सिद्धान्त की विवेचना कीजिए। (राज. वि 1996)
9 राधाकमल मुकर्जी के मामाजिक मूल्यो के सिद्धान्त की आलोचनात्मक जाँच कीजिये। (राज वि 1996)

लघुउत्तरात्मक प्रश्न

निम्नलिखित पर सक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिए :—

1 मुकर्जी के अनुसार मुक्त-व्यवस्था के प्रमुख
2 मुकर्जी के अनुसार समाज के तीन प्रमुख प्रकार्य
3 समाज का महाविज्ञान
4 सामजिक मूल्य की दो परिभाषाएँ
5 सामाजिक मूल्यो की तीन विशेपताएँ
6 सामाजिक मूल्यो का महत्व
7 प्रादेशिक समाजशास्त्र
8 सामाजिक परिस्थितिकी
9 सामाजिक पुनर्निर्माण

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1 राधाकमल मुकर्जी किस राज्य के निवासी थे?
(अ) राजस्थान (ब) उत्तरप्रदेश
(स) पश्चिमी बगाल (द) बिहार
[उत्तर- (स)]

2. राधाकमल मुकर्जी का जन्म कब हुआ था?
(अ) 1889 (ब) 1893
(स) 1894 (द) 1844
[उत्तर-(अ)]

3. राधाकमल मुकर्जी का देहान्त कब हुआ था?
(अ) 1983 (ब) 1968
(स) 1962 (द) 1964
[उत्तर-(ब)]

4 'इन्स्टीट्यूशनल थ्योरी ऑफ इकोनोमिक्स इन सोशियोलोजी' किसने लिखी है?
(अ) राधाकमल मुकर्जी (ब) डॉ डी पी मुकर्जी
(स) दुर्खीम (द) वेबर
[उत्तर-(अ)]

5. 'सोशियल इकोलोजी' 1945 के रचयिता कौन हैं?
   (अ) घुर्ये (ब) श्रीनिवास
   (स) राधाकमल मुकर्जी (द) वेबर
   [उत्तर-(स)]
6. मूल्यों के आधार पर समाज का सामान्य सिद्धान्त किस भारतीय समाजशास्त्री ने प्रतिपादित किया है?
   (अ) डॉ. डी. पी. मुकर्जी (ब) राधाकमल मुकर्जी
   (स) जी. एस. घुर्ये (द) एम एन श्रीनिवास
   [उत्तर-(ब)]
7. निम्नांकित में से सत्य कथनों का चयन कीजिए—
   (1) राधाकमल मुकर्जी के अनुसार परिस्थितिशास्त्र के दृष्टिकोण से समाज एक प्रदेश है।
   (2) राधाकमल मुकर्जी ने लिखा है कि अर्थशास्त्रीय दृष्टिकोण से समाज एक वर्ग नहीं है।
   (3) राधाकमल मुकर्जी का कहना है कि नीतिशास्त्र के दृष्टिकोण से समाज चरित्र निर्माण के लिए सहभागिता है।
   (4) राधाकमल मुकर्जी के अनुसार समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से समाज एक संस्था है।
   [उत्तर-सत्य कथन— (1); (3), (4)]
8. 'दा डायमेन्शन्स ऑफ वैल्यूज' के लेखक कौन हैं?
   (अ) राधाकमल मुकर्जी (ब) रामकृष्ण मुकर्जी
   (स) डी. पी. मुकर्जी (द) श्रीनिवास
   [उत्तर-(अ)]
9. राधाकमल मुकर्जी ने मूल्यों को कितने वर्गों में विभाजित किया है?
   (अ) दो (ब) चार (स) छः (द) पाँच
   [उत्तर-(अ)]
10. मूल्यों को दो वर्गों—(1) साध्य-मूल्य, और (2) साधन-मूल्य में किस विद्वान ने विभाजित किया है?
   (अ) वेबर (ब) दुर्खीम
   (स) पैरी (द) राधाकमल मुकर्जी
   [उत्तर-(द)]
11. सामाजिक परिस्थितिकी के प्रमुख दो पहलू—(1) व्यावहारिक परिस्थितिकी और (2) समुदाय परिस्थितिकी—किसने बताए हैं?
   (अ) डी. पी. मुकर्जी (ब) वेबर
   (स) राधाकमल मुकर्जी (द) दुर्खीम
   [उत्तर-(स)]

❒

अध्याय-13

राधाकमल मुकर्जी : सामाजिक पारिस्थितिकी
(Radhakamal Mukerjee : Social Ecology)

राधाकमल मुकर्जी ने विश्वविख्यात पुस्तक 'Social Ecology' सन् 1945 मे लिखी थी। आप लखनऊ विश्वविद्यालय में अर्थशास्त्र और समाजशास्त्र विभाग के अध्यक्ष थे। मूलतः आप अर्थशास्त्री थे। आपने अर्थशास्त्र के अतिरिक्त समाजशास्त्र मे भी पुस्तकें एवं अनेक लेख लिखे थे। आपकी पुस्तक Regional Sociology भी समाजशास्त्र मे एक महत्त्वपूर्ण योगदान है। आपने अनेक पुस्तको एव लेखो में समाजशास्त्र और अर्थशास्त्र के मतभेदो को कम करने एवं इनमे परस्पर निकटता लाने का प्रयास किया है। सामाजिक पारिस्थितिकी (Social Ecology) कृति मे भी आपने इसी उद्देश्य को पूर्ण करने के साथ साथ जीव विज्ञान, पर्यावरण, परिस्थिति विज्ञान के अनेक उदाहरण देकर इनमे परस्पर सम्बन्धो तथा निर्भरता पर भी प्रकाश डाला है। राधाकमल मुकर्जी की इस पुस्तक **'सामाजिक पारिस्थितिकी'** मे कुल पन्द्रह अध्याय हैं। इसके अतिरिक्त पुस्तक में भूमिका एवं अनुक्रमणिका भी दी गई है। आपने पुस्तक की भूमिका मे विस्तार से परिस्थितिकी एवं समाजशास्त्र के परस्पर सम्बन्धो, अन्तर तथा परस्पर निर्भरता पर प्रकाश डाला है। पुस्तक मे जो विषय लिए गए हैं वे अध्यायवार क्रम से निम्न प्रकार हैं— अध्याय I समाज और सहजीवितता, II प्रतिस्पर्धा और विशेषीकरण की सीमाएँ, III प्रभुत्व और दूरी के प्रकार्य; IV पारिस्थितिक एव सामाजिक पिरामिड, V मानवीय समूहन की गतिशीलता एव परिचालन, VI जनसख्या का पारिस्थितिक सतुलन, VII प्रस्थिति—पारिस्थितिक और सामाजिक, VIII मानव की साम्प्राजिक और नैतिक सीमाएँ, IX पारिस्थितिक एव सामाजिक गतिशीलता, X समय, तकनीक एव समाज, XI सामाजिक गतिशीलता की स्वतत्रता, XII पारिस्थितिक एव सामाजिक सगठन के सास्कृतिक प्रतिमान, XIII आर्थिकी के पीछे पारिस्थितिकी, XIV राजनीति के पीछे पारिस्थितिकी, और XV सामाजिक संतुलन।

पुस्तक का उद्देश्य
(Aim of the Book)

राधाकमल मुकर्जी का इस पुस्तक को लिखने का उद्देश्य सामाजिक पारिस्थितिकी की अवधारणाओं का वैज्ञानिक वर्गीकरण करना, और ऐसी वैज्ञानिक अध्ययन पद्धति का विकास करना रहा है जिसके द्वारा सामाजिक पारिस्थितिकी को नवीन प्रकार्यात्मक और परिमाणात्मक समाजशास्त्र का आधार बनाया जा सके। मुकर्जी ने इस कृति मे प्रमुख पारिस्थितिकी-अवधारणाओ और प्रक्रियाओ को भी प्रस्तुत करने का प्रयास किया है जो समाजशास्त्र के ढांचे को पुन निश्चित करने मे सहायक हो सकेगा। मुकर्जी के अनुसार, समाजशास्त्र के अध्ययन को भौतिक इकाई, क्षेत्र होती है। क्षेत्र एक प्रकार से व्यक्तियों का

पारिस्थितिकी समूहन है, एक आर्थिक ढाँचा और सांस्कृतिक व्यवस्था है। आपने लिखा है, "एक अर्थ में, इस पुस्तक को तुलनात्मक सामाजिक पारिस्थितिकी को लिखने का एक प्रयास माना जाए जिस पर तुलनात्मक अर्थशास्त्र और समाजशास्त्र की आधारशिला स्थित है।" आपकी मान्यता है कि—प्रदेश, जनसंख्या और समाज—तीन पृथक् कारक नहीं हैं। ये परस्पर एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं और एक स्वाभाविक प्राकृतिक सन्तुलन बनाते हैं। प्रत्येक को दूसरे के सन्दर्भ में समझना चाहिए।

सामाजिक पारिस्थितिकी का क्षेत्र (Scope of Social Ecology)

राधाकमल मुकर्जी ने सामाजिक पारिस्थितिकी का क्षेत्र स्पष्ट करते हुए लिखा है, "सामाजिक पारिस्थितिकी का क्षेत्र मानव को सामाजिक संरचनाओं और कार्यों का व्यवस्थान, प्रदेश, व्यवसाय और समाज को अन्तःक्रिया की प्रक्रियाओं—पर्यावरण के प्रकार्य और जीव के समाजशास्त्रीय समकक्ष—जिनसे सभी सामाजिक घटनाएँ उत्पन्न होती हैं, का अध्ययन करना है।"

प्रमुख अवधारणाएँ (Major Concepts)

मुकर्जी ने अपनी कृति मे सामाजिक पारिस्थितिकी तथा इससे सम्बन्धित निम्न प्रमुख अवधारणाओं की परिभाषाएँ दी हैं—

(1) सामाजिक पारिस्थितिकी (Social Ecology)—मुकर्जी के अनुसार, सामाजिक पारिस्थितिकी स्थान, व्यवसाय और समय, व्यक्तियों और समूहों की प्रतिस्पर्धा, सहयोग, संघर्ष, व्यवस्थान और उत्तराधिकार की प्रक्रियाओं के सम्बन्धों का अध्ययन करती है। दूसरी ओर समाज व्यक्ति का सीमित पर्यावरण में संख्या वृद्धि के लिए पारिस्थितिक अनुकूलन है और इसीलिए सभी मानवीय अन्तःक्रियाओं की व्याख्या पारिस्थितिकी प्रक्रिया के द्वारा की जा सकती है।

मुकर्जी ने सामाजिक पारिस्थितिकी का समाज से सम्बन्ध स्पष्ट करते हुए लिखा है, "सामाजिक पारिस्थितिकी समाज को मानव की जनसंख्या वृद्धि के प्रति अनुक्रिया मानती है, जो श्रम के विभाजन और सामाजिक संगठन की पहल एवं सुधार करती है और उपकरणों की सम्पदा, व्यवसायों, जीवन के प्रतिमानों और परम्पराओं का संधारण करती है। प्रत्येक क्षेत्र में समाजशास्त्र के अन्वेषण की इकाई समुदाय होती है न कि मानव, सम्बन्ध होते हैं न कि व्यक्ति। मानव सम्बन्ध परिस्थितियों और संस्कृति से व्यवस्थान का प्रतिनिधित्व करते हैं।

(2) मानव पारिस्थितिकी (Human Ecology)—मुकर्जी ने मानव पारिस्थितिकी के सम्बन्ध मे लिखा है, "*सामाजिक पारिस्थितिकी पर्यावरण से मानव के व्यवस्थान के स्वरूप और प्रक्रिया का अध्ययन करती है।*" मानव परिस्थितिकी की दो उप-शाखाएँ हैं— (1) संपारिस्थितिकी और (2) स्वपारिस्थितिकी। आपने इन दो उप-शाखाओ का वर्णन इस आधार पर किया है कि पारिस्थितिकी या पर्यावरण के कारक—व्यक्ति एवं समुदाय—दोनों को प्रभावित करते हैं।

2.1 संपारिस्थितिकी या सामुदायिक पारिस्थितिकी (Synecology)—मुकर्जी ने मानव पारिस्थितिकी के समुदाय पक्ष को सामुदायिक पारिस्थितिकी या सपारिस्थितिकी

कहा है। इसमे पर्यावरण सम्बन्धी कारको का प्रभाव समुदाय पर तथा समुदाय की पर्यावरण के प्रति प्रतिक्रिया का क्रमबद्ध तथा व्यवस्थित अध्ययन किया जाता है। मुकर्जी का कहना है, मानव पारिस्थितिकी के सामुदायिक पक्ष को भी सामुदायिक पारिस्थितिकी कह सकते हैं। इसके अन्तर्गत मानव जीवशास्त्र, मानव भूगोल, अर्थशास्त्र, समाज मनोविज्ञान तथा तकनीकी के साथ पारिस्थितिकी की अन्तःक्रिया के कारण प्राप्त अन्तःवैज्ञानिक दृष्टिकोण आते हैं। सामाजिक प्रगति को पारिस्थितिकी या पर्यावरण सम्बन्धी कारक प्रभावित करते हे। इनका अध्ययन लाभकारी है।

2.2 स्वपारिस्थितिकी या वैयक्तिक पारिस्थितिकी (Autecology)—स्वपारिस्थितिकी पर्यावरण सम्बन्धी कारकों के प्रति व्यक्ति की प्रतिक्रिया का अध्ययन करती है। मुकर्जी ने लिखा है कि स्वपारिस्थितिकी व्यक्ति का अध्ययन पर्यावरण, भौतिक और जैविक के सम्बन्ध मे करती है।

स्वपारिस्थितिकी और मपारिस्थितिकी—दोनो परस्पर एक-दूसरे पर निर्भर एव अन्तर्सम्बन्धित हैं। मुकर्जी का मानना है कि जैसे जैसे समाज की प्रगति होती है, वैसे-वैसे मानव मस्तिष्क का कार्य और महत्त्व बढता जाता है और पारिस्थितिकी अवस्थाओ का महत्त्व व कार्य घटता जाता है, किन्तु मानव प्रगति के साथ पर्यावरण का प्रभाव समाप्त नहीं होता है बल्कि पर्यावरण और पारिस्थितिकी के कारको का प्रभाव तो मानवीय सम्बन्धो तथा उसकी सृजन करने की क्षमता पर पडता ही है जो सामाजिक प्रगति को भी निर्देशित एवं नियन्त्रित करता है। इस रूप मे पारिस्थितिकी—व्यक्ति और समुदाय—दोनो को प्रभावित करती है। वैयक्तिक-परिस्थितिकी और समुदाय-पारिस्थितिकी दोनो परस्पर अन्तसंम्बन्धित है और एक-दूसरे पर निर्भर है क्योकि व्यक्ति पर्यावरण सम्बन्धी कारको के प्रति जो प्रतिक्रिया व्यक्त करता है, उसका प्रभाव समुदाय पर पडता है और समुदाय की पर्यावरण के प्रति जो प्रतिक्रिया व्यक्त की जाती है उसका प्रभाव व्यक्ति पर पड़ता है। व्यक्ति व समुदाय दोनो को ही कुछ सीमा तक पर्यावरण से भी अनुकूलन करना होता है—निष्कर्षतः परिस्थितिकी के कारक—व्यक्ति और समुदाय—दोनो को ही प्रभावित करते हैं। पर्यावरण से अनुकूलन व्यक्ति और समुदाय दोनो करते हैं।

(3) व्यावहारिक पारिस्थितिकी (Applied Ecology)—यह सामाजिक पारिस्थितिकी का वह पक्ष है जो जनसख्या, प्राकृतिक साधनो, वनस्पति एवं पशुजगत् के पारिस्थितिकी सन्तुलन के साथ कारण-प्रभाव सम्बन्धो का अध्ययन करता है। यह उपयोगी एव व्यावहारिक पक्ष का विशेष ध्यान रखता है अर्थात् समाज के विकास के स्वरूपो के सन्दर्भ मे अध्ययन करके निष्कर्ष निकालता हे एवं सामान्यीकरण करता है।

(4) अध्ययन की इकाई : मानव प्रदेश (Unit of Study Human Region)—मुकर्जी ने सामाजिक पारिस्थितिकी के अध्ययन की इकाई मानव प्रदेश बताई है। आपने इसके महत्त्व को निम्न शब्दो मे स्पष्ट किया है—"मानव सम्बन्धो के अध्ययन के लिए मानव प्रदेश ही उचित इकाई है क्योकि एक प्रदेश विशेष मे ही हम एक-दूसरे के साथ अन्तःक्रिया करने वाले संस्कृति के धारक मानव समूहो तथा पौधे, पशु एव अन्य निर्जीव पर्यावरण के बीच पाए जाने वाले जटिल अन्तर्सम्बन्धो को ठीक तरह से समझ सकते हैं। सम्भवतः मानवीय सामाजिक व्यवहारो, सामाजिक संस्थाओ तथा अनुकूलन की मानवीय समस्याओ को प्रादेशिक संकुल से पृथक् करके पूर्ण रूप से नहीं समझा जा सकता है।"

सामाजिक पारिस्थितिकी के कार्य
(Functions of Social Ecology)

राधाकमल मुकर्जी ने सामाजिक पारिस्थितिकी के तीन महत्त्वपूर्ण कार्यों का वर्णन किया है, जो निम्न प्रकार हैं—

(1) अनुकूलन (Adaptation)—मुकर्जी के अनुसार सामाजिक पारिस्थितिकी का प्रथम और महत्वपूर्ण कार्य मानव और मानवीय सस्थाओ का एक विशिष्ट प्रदेश के साथ अनुकूलन की प्रक्रिया का चयन करना होता है। इस अनुकूलन मे—प्राकृतिक और जैविक—दोनों प्रकार के कारकों का अध्ययन किया जाता है। प्राकृतिक कारको के अन्तर्गत प्रदेश विशेष की मिट्टी, जलवायु, भूमि की रचना, जैसे—पठार, पहाड़, दलदल क्षेत्र, समतल भूमि आदि आते हैं उनके साथ अनुकूल के साथ-साथ जैविक कारको, जैसे—पेड़-पौधे, एवं पशुजगत के साथ अनुकूलन करना भी सम्मिलित है।

(2) संगठनात्मक सम्बन्ध (Integrating relations)—मानव की क्रियाओ को संगठित करने वाली कुछ शक्तियाँ होती हैं, उनका पता लगाना सामाजिक पारिस्थितिकी का द्वितीय कार्य है। ये संगठनात्मक शक्तियाँ स्थानिक, भोजन सम्बन्धी एवं पर्यावरण सम्बन्धी कारक होती हैं। इन कारको एवं शक्तियो को खोज निकालना ज्ञान-विज्ञान का कार्य है।

(3) सन्तुलन को मापना (To measure equilibrium)—सामाजिक पारिस्थितिकी का तृतीय महत्त्वपूर्ण कार्य एक प्रदेश विशेष मे मानव एवं अन्य सजीव और प्राकृतिक कारको में परस्पर दबावो का अध्ययन करके सतुलन की स्थिति को ज्ञात करना है। मानव के स्थायित्व, अस्तित्व और प्रभुत्व की स्थिति ज्ञात करना कि उसके ऊपर अन्य कारको का अनुकूल प्रभाव पडा है अथवा प्रतिकूल। मानव समाज की स्थिति कैसी है? ये कुछ बातें सामाजिक परिस्थितिकी द्वारा ज्ञात की जाती हैं।

पारिस्थितिकी एवं अनुकूलन
(Ecology and Adaptation)

मुकर्जी पारिस्थितिकी के अन्तर्गत प्राकृतिक अवस्थाओ के महत्त्व को मानते है, क्योंकि इनके साथ आज भी व्यक्ति को अनुकूलन करना पड़ रहा है, भले ही उसने विज्ञान की सहायता से प्रकृति पर विजय प्राप्त कर ली हो।

मुकर्जी का मानना है कि प्रकृति पर विजय प्राप्त करने के लिए यदि मानव प्रकृति का अनुसरण नहीं करेगा तो उसमे (प्रकृति मे) असन्तुलन पैदा हो जाएगा जिसके परिणामस्वरूप प्राकृतिक विपत्तियो के आने की सम्भावना रहेगी। इस कारण परिस्थितिगत ताल-मेल अत्यावश्यक है। मुकर्जी का कहना है कि किसी ऋतु-विशेष एव प्रदेश-विशेष मे कुछ विशेष प्रकार के रोगो का आक्रमण दिखाई देता है, जिसके साथ व्यक्ति को अनुकूलन करना पड़ता है। उन्होने सामजस्य की चर्चा करते हुए कहा है, "जीवन के जाल के जटिल, बहुविध तथा विस्तृत धागे जीवित विश्व के विभिन्न अशो को एक साथ बाँधते हैं, इसीलिए उनमे सामंजस्य का बना रहना अत्यन्त आवश्यक है। एक प्रदेश के पेड़-पौधो की निर्मम कटाई करके देखिए अथवा खरीफ के स्थान पर रबी की फसल की बुवाई करके देखिये अथवा मच्छरों की वृद्धि को रोकिये तो इन सबकी विपरीत प्रतिक्रिया दिखाई देगी। भारत मे मच्छरो के प्रकोप के कारण असम और बंगाल में मलेरिया का प्रकोप अत्यधिक होता

है—इन परिस्थितियो से अनुकूलन करने के लिए वहाँ की जलवायु में चाय की खेती खूब होती है जिसके सेवन से मलेरिया के फैलने पर रोक लगती है।" इस प्रकार मुकर्जी के मत में परिस्थितिगत विशेषताएँ अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिकाएँ निभाती हैं और असन्तुलन को रोकती हैं।

मुकर्जी ने धर्म, जादू-प्रथा, परम्परा और विश्वास आदि सभी पर पर्यावरण के प्रभाव का अध्ययन किया है। आदिम समाज में एक प्रथा 'टोटम' प्रचलित है। जिसमे कुछ विशेष प्रकार के पेड-पौधो व पशु-पक्षियो को मारना निषिद्ध होता है। इसका कारण यह है कि पेड़-पौधों अथवा पशु-पक्षियों को मारने से पर्यावरण का सन्तुलन बिगड़ जाता है। इसी कारण 'टोटम' के माध्यम से इस प्रकार का निषेध लगाया गया है। आदिम समाजो में तूफान को रोकने व वर्षा लाने के लिए जादू का प्रयोग किया जाता है इसके पीछे भी उद्देश्य पर्यावरण पर मनुष्य का नियन्त्रण स्थापित करना है। टोडा जनजाति में भैंसों से सम्बन्धित कई प्रथाएँ व कर्मकाण्ड प्रचलित हैं, जैसे—ये लोग भैंसो को पवित्र मानते हैं और भैंस-पालन से ही अपना जीवन-निर्वाह करते हैं इन सबके पीछे भी सभी का उद्देश्य पशु-जगत से सम्बन्ध बनाए रखना ही होता है। कृषि कार्य के पूर्व खेतों की पूजा करना, विवाह में सभी देवी-देवताओ का आह्वान करना आदि का उद्देश्य भी पर्यावरण की विभिन्न शक्तियो के साथ मानवीय सम्बन्धों के सन्तुलन को ही प्रकट करता है। इसी प्रकार प्रथाएँ भी पर्यावरण के सन्तुलन को स्पष्ट करती हैं, उदाहरण के लिए हिन्दुओ में विवाह के अवसर पर 'घूरा' पूजने की प्रथा है। उसका उद्देश्य भी प्राकृतिक शक्तियो को मान्यता प्रदान करना है।

मुकर्जी ने परिस्थिति की अवस्थाओ एव शक्तियों के साथ मानव के अनुकूलन की निम्नलिखित तीन स्तरो पर चर्चा की है—

(1) प्राचीन समय में ज्ञान, विज्ञान का विकास कम था। अत. उस समय लोग पर्यावरण पर अत्यधिक निर्भर थे क्योंकि प्रकृति के साथ अनुकूलन करने के अतिरिक्त उनके पास कोई अन्य विकल्प ही नहीं था।

(2) इसके पश्चात् व्यक्ति ने अपनी आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए पर्यावरण के साथ तार्किक और क्रमबद्ध अनुकूलन किया।

(3) इसके बाद की स्थिति आधुनिक काल की है जिसमें पर्यावरण को मानव का सहयोगी माना जाता है। वह (व्यक्ति) पर्यावरण में छिपी असीमित सम्भावनाओ की खोज करके उनका उपयोग जन-कल्याण के लिए कर सकता है। व्यक्ति आज चन्द्रमा पर जा पहुँचा है। इससे स्पष्ट है कि आज व्यक्ति पारिस्थितिकी के साथ अपने प्रगाढ सम्बन्धो को बनाए हुए है। आज व्यक्ति प्रकृति का दास नहीं, उसका सहयोगी है।

मानव समाज में पारिस्थितिकीय प्रक्रियाएँ
(The Ecological Processes in Human Society)

इस आलोच्य पुस्तक मे आपने अनेक स्थलो पर पहले जीव-जन्तुओ और पारिस्थितिकी *तथा वनस्पति और पारिस्थितिकी को विषय-वस्तु, अध्ययन के क्षेत्र, महत्त्व* आदि पर प्रकाश डाला है। इसके बाद आपने मानव, मानव समाज, सस्कृति, आर्थिकी, स्तरीकरण, जनसख्या, वितरण, सन्तुलन, क्षेत्रीय एव सामाजिक गतिशीलता, सहयोग आदि अनेक समाजशास्त्रीय एव सामाजिक विज्ञान की प्रक्रियाओ पर पारिस्थितिकी के सन्दर्भ में प्रकाश डाला है। आपका दृढ विश्वास है कि अर्थशास्त्र, जनांकिकी और प्रादेशिक समाजशास्त्र

के निष्कर्षों, सामान्यीकरणों तथा ज्ञान का उपयोग पारिस्थितिकी के क्षेत्र में किया जा सकता है और इसी प्रकार से पारिस्थितिकी का प्रभाव अर्थशास्त्र, जनांकिकी और समाजशास्त्र से सम्बन्धित अवधारणाओं, अध्ययन-विषयों एवं प्रक्रियाओं पर देखा जा सकता है। आपने समाजशास्त्र की संरचना से सम्बन्धित महत्त्वपूर्ण पारिस्थितिकीय प्रक्रियाओं का उल्लेख किया है, जो निम्न हैं—

(1) वितरण	(2) श्रम का विभाजन
(3) गतिशीलता	(4) प्रतिस्पर्धात्मक सहयोग
(5) स्तरीकरण	(6) अनुक्रमण एवं आक्रमण
(7) सामाजिक सन्तुलन	

मुकर्जी ने उपर्युक्त प्रक्रियाओं का विवेचन प्रथम अध्याय : समाज और सहजीवन के अन्तर्गत किया है। आपके अनुसार ये प्रक्रियाएँ इस प्रकार हैं—

(1) वितरण (Distribution)—बहुत समय से भूगोल उन भौतिक कारकों का अध्ययन करता रहा है जो जनसंख्या के वितरण और स्रोतों को संसार में नियन्त्रित करते हैं। अर्थशास्त्र ने इसके ज्ञान में बड़े उद्योगों, व्यापारिक संस्थानों और बाजार के स्थानीयकरण के कारणों, आधुनिक संचार और यातायात के साधनों के प्रकारों तथा उत्प्रवास जो किसी विशेष क्षेत्र में जनसंख्या के संकेन्द्रण का नियन्त्रण करते हैं, का अन्वेषण करके वृद्धि की है। नगरीय एवं ग्रामीण बस्तियों का नियन्त्रण प्राकृतिक सम्पदा और फसलों के वितरण द्वारा होता है। मानव पारिस्थितिकी जीवन के प्रतिमानों का पूर्णता में अध्ययन करती है जिसमें वनस्पति, जीव-जन्तु और मानव संगठनों का अध्ययन भी सम्मिलित है। सभ्यता जलवायु, स्थलाकृति और खाद्य वनस्पति, जीव तथा दूसरी सम्पदाएँ जो जनसंख्या वितरण, वास स्थान, उद्योग और जीवन की कला को नियन्त्रण करती है, के अध्ययन करने के साथ-साथ संचार और यातायात के साधनों, रेल और जलमार्ग, रेल-इन्जन, भाप-जहाज और स्वचालित वाहन, दैनिक-समाचार, और टेलीफोन का भी अध्ययन करती है। इसके अतिरिक्त सभ्यता सामाजिक अभिवृत्ति, प्रथाएँ, टैरिफ सूची और उत्प्रवास कानून जो मानव परिचालन को नियंत्रित करता है, जनसंख्या का विसर्जन या संकेन्द्रण का भी अध्ययन करती है। ये सभी पारिस्थितिकी शक्तियाँ हैं जो मानव समूहों का वितरण और उत्प्रवास तथा पृथक्करण का नियन्त्रण आवास और व्यवसाय के आधार पर करती है। प्रतिस्पर्धा, सम्पदाओं के दोहन में श्रम के विभाजन और विशेषीकरण के द्वारा मानव समुदाय—उपग्राम (ढाणी), ग्राम, कस्बा और नगर में अपने को वितरित करती हैं। ये सभी सम्बन्धित इकाइयाँ—उपग्राम, ग्राम, कस्बा और नगर पारिस्थितिकी प्रक्रिया, जैसे—श्रम का विभाजन, विशेषीकरण, परिचालन और संकेन्द्रण के परिणाम हैं।

(2) श्रम का विभाजन (Division of Labour)—मानव समाज में श्रम का विभाजन आयु, लिंग, प्रजाति और वर्ग और व्यक्तियों की भिन्न-भिन्न क्षमताओं पर आधारित होता है। मानव समुदायों में रुचियों की भिन्नता एवं क्षमता तथा आविष्कारशीलता के कारण श्रम का विभाजन बहुत अधिक विस्तृत, बहुत अधिक स्टीरियोटाइप (रूढ़िबद्ध) और बहुत अधिक परिवर्तनीय हो गया है। सभी पारिस्थितिक कारक एवं शक्तियाँ, जैसे—मौसम या जलवायु सम्बन्धी कारक, खाद्य पदार्थों की उपलब्धि, प्रजनन की क्रिया, शिशुओं का पालन-पोषण एवं सन्तानों की संख्या, महामारियाँ आदि जनसंख्या की अधिकतम वृद्धि आदि मानव के क्षेत्रीय सम्बन्धों को प्रभावित करते हैं। इन कारकों का प्रभाव जनसंख्या

के घनत्व पर भी पडता है। पर्यावरण की अनुकूलनता की मात्रा का प्रभाव एक-विवाह और बहुपत्नी एव बहुपति विवाह की परम्परा पर भी पड़ता है। मुकर्जी ने लिखा है कि गतिशीलता एक महत्त्वपूर्ण क्रियाविधि है जो जीवो की जनसंख्या के उपयुक्त घनत्व और वितरण को बनाती है।

(3) गतिशीलता (Mobility)—गतिशीलता या उत्प्रवास का नियम जीवो एव मानव जगत मे हमेशा रहा है। कमजोर को परिधि या बस्ती के बाहर ढकेल दिया जाता है तथा शक्तिशाली केन्द्र पर कब्जा कर लेते हैं। **जी. टायलर** के अनुसार सभी प्रजातियों का उद्भव केस्पियन समुद्र के पास सामान्य शैशव भूमि मे हुआ था। प्रमुख प्रजातियाँ एशिया के पाँच क्षेत्र मण्डलो मे स्थित हो गई तथा बहुत अधिक आदिम प्रकारो को दुर्गम स्थान मे ढकेल दिया गया। उत्प्रवसन की पारिस्थितिकी हमे पूर्व-ऐतिहासिक काल के प्रारम्भिक मानवो के भटकने और भिन्नताओ को समझने मे सहायता करती है। भोजन की उपलब्धता तथा खाद्य सामग्री के क्षेत्रो के अनुसार मानव एक स्थान से दूसरे स्थान पर भटकते रहते थे। मुकर्जी लिखते हैं कि व्यावहारिक पारिस्थितिकी ने हमें आयात किए गए पेड़-पौधो, जीवो और कीट-पतगो का नवीन आवास-स्थल मे सफलता और असफलता के सम्बन्ध से अवगत कराया है। बिल्कुल भिन्न स्थिति में पौधे, जीव या मानवो का पतन हो जाता है। इस प्रकार सामाजिक पारिस्थितिकी प्रभावी जाति, वर्ग, प्रजाति आदि से सम्बन्धित भौगोलिक गतिशीलता का अध्ययन एव विश्लेषण करती है।

(4) प्रतिस्पर्धात्मक सहयोग (Competitive Co-operation)—मुकर्जी, रूसी जीव-वैज्ञानिक **गॉस (Gause)** एव **हल्डेन (Haldane)** ने जीवो में परस्पर सघर्ष, सहयोग एव प्रतिस्पर्धा पर नवीन तथ्य एव विचार व्यक्त किए हैं। डार्विनवाद मे सघर्ष को मानव-व्यवहार की व्याख्या के सम्बन्ध मे एक-तरफा तथा आज गुमराह करने वाला माना जाता है। हल्डेन ने अनेक उदाहरण देकर स्पष्ट किया है कि जब तक एक जाति (स्पीशीज) मुख्य रूप से दूसरी जाति अथवा बाह्य प्रकृति से सघर्ष करती है तब तक वह सामान्यतया फिटर बन जाती है। जब जाति के अन्दर सघर्ष होता है तब ऐसा नही होता है। आकार मे वृद्धि, हथियारो एवं मूल प्रवृत्ति मे विकास, इस प्रकार की लडाइयो मे लाभकारी होते हैं, लेकिन इनका अन्त सामान्यतया जाति का अन्य परिस्थितियो मे कुसमायोजन के रूप मे होता है या इनका लोप हो जाता है। इसी प्रकार से अनेक आदिवासी लोगो ने जब अनेक पशुओ को पूर्णत: नष्ट कर दिया था तो उनको अकाल का सामना करना पड़ा था और उनको सभ्य संस्कृतियो के साथ रहने के लिए मजबूर होना पडा अथवा अछूते बीहड जगलो मे जाना पडा। सामाजिक पारिस्थितिकी प्रतिस्पर्धात्मक सहयोग को समुदायो के सगठन की विशेषता मानती हैं। इस विज्ञान की मान्यता है कि भोजन और रहने के स्थान के लिए प्रतिस्पर्धा अथवा सघर्ष होना व्यवस्था के कार्य से सम्बन्धित होता है। मुकर्जी लिखते हैं कि एक रेवड, पशुओ का झुण्ड या मानव समूह एक दुश्मन को डराने या लडने में अधिक सफल होते हैं अपेक्षाकृत एक अकेले के। इसी सन्दर्भ मे मुकर्जी की मान्यता है कि मानव समाज मे प्रतिस्पर्धात्मक सहयोग महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया है जिसका अध्ययन पर्यावरण अथवा पारिस्थितिकी के सन्दर्भ मे करना आवश्यक है।

(5) स्तरीकरण (Stratification)—मुकर्जी के अनुसार प्रत्येक समुदाय मे प्रतिस्पर्धा और सहजीवन के द्वारा एक या एक से अधिक प्रभुत्व जातियाँ बन जाती हैं। स्तरीकरण के द्वारा प्रत्येक श्रेणी या वर्ग के जीवो या मानव समुदायो में प्रतिस्पर्धा नियन्त्रित की

जाती है। मानव समाज के पारिस्थितिकी प्रतिमानो मे विभिन्न सामाजिक श्रेणियाँ, वर्ग, जातियाँ तथा व्यक्तियों मे भिन्न-भिन्न क्षेत्रीय सम्बन्ध देखे जा सकते हैं। सामाजिक श्रेणियो के निर्धारक धन और सत्ता है। लेकिन प्रत्येक व्यक्ति की सामाजिक वर्ग मे स्थिति को निरन्तर चुनौतियाँ गतिशीलता अथवा दूसरे के उत्प्रवासन से मिलती रहती है। पारिस्थितिक गतिशीलता अथवा तेजी से एक क्षेत्र मे अन्य सामाजिक खण्ड, श्रेणी या समूह का आक्रमण स्तरीकरण को प्रभावित करता है। इस प्रकार सामाजिक परिस्थितिकी मे स्थान, व्यवसाय और समय के आधार पर व्यक्तियों एवं समूहो के पारस्परिक सम्बन्धों का विशेष महत्त्व है। उत्प्रवास, जनसंख्या नियंत्रण, उत्पादन मे विकास आदि महत्वपूर्ण पारिस्थितिकीय कारक हैं जो सामाजिक स्तरीकरण का नियत्रण, संचालन एव सन्तुलन करते हैं।

(6) अनुक्रमण एवं आक्रमण (Succession and Invasion)—सामाजिक पारिस्थितिकी मे सामाजिक परिवर्तन और अनुक्रमण की व्याख्या और मापन किया जाता है। समय-समय पर नए महत्त्वपूर्ण केन्द्रो की संख्या और गुणवत्ता तथा सेवाओ के वितरण की प्रवृत्ति का अध्ययन किया जाता है। नवीन सामाजिक व्यवस्था के विकास और आक्रमण की गति को मापा जाता है जो सामाजिक परिवर्तन और अनुक्रमण को स्पष्ट करती है। मानव पारिस्थितिकी मे हम अनुक्रमण देख सकते हैं जो देश के स्थानीय केन्द्रो एव शहरो मे समन्वित रुचि, सेवाओं और संस्थाओ के रूप में उभरते है। सामाजिक जगत मे आर्थिक इतिहास अनुक्रमण के उदाहरण स्पष्ट करता है। यहाँ पर प्रवृत्ति विकासात्मक व्यवस्थान की ओर होती है। अनुक्रमण वानिकी से कृषि और अपरिष्कृत कृषि से गहन खेती, उद्योग, वाणिज्य, जन-सख्या के पुनः वितरण एव सामाजिक सरचनाओ तथा संस्थाओं के पुनर्गठन के क्रम में होता है।

अनुक्रमण क्षेत्र, क्षेत्र का उप-विभाजन, ग्राम और नगर के आधार पर होता है। कस्बो एवं नगरो में जनसख्या वृद्धि से गिरजाघर, मन्दिर, पाठशालाएँ, औषधालय, भोजनालय एवं अन्य सेवाओ के संस्थानों की संख्या मे वृद्धि होती चली जाती है। इसी प्रकार से आबादी के बढने से कपडो की दुकानें, परचूनी एव पंसारी की दुकाने आदि के आकार और बिक्री मे वृद्धि होती है। जितनी अधिक गतिशीलता होगी उतनी ही तेजी से सभी क्षेत्रो मे अनुक्रमण होगा। नगर से अन्य ग्रामीण क्षेत्रों मे बैंक, वाणिज्य प्रतिष्ठान, दुकाने, सास्कृतिक संस्थाएँ, दैनिक समाचार पत्र, रेडियो आदि पहुँचते है जो ग्रामीण जीवन व्यवस्था को परिवर्तित करते हैं। इस प्रकार से सामाजिक पारिस्थितिकी समाज से सम्बन्धित अनेक पक्षों में अनुक्रमण और आक्रमण की प्रक्रिया का अध्ययन एवं मूल्याकन करती है।

(7) सामाजिक संतुलन (Social Equilibrium)—मुकर्जी ने सामाजिक पारिस्थितिकी मे सामाजिक सन्तुलन की प्रक्रिया पर अनेक प्रकार से प्रकाश डाला है। आपने सामाजिक सन्तुलन को एक महत्वपूर्ण प्रक्रिया बताया है। समाजशास्त्र सामाजिक सन्तुलन को न केवल जैविक या आर्थिक सन्तुलन के रूप मे देखता है बल्कि यह संस्थाओ को समरसता और मानव के विभिन्न आवेगो, रुचियो, मूल्यो, सद्गुणो एवं व्यक्तित्व के प्रकारो के अनुसार देखता है। समाजशास्त्र सामाजिक सन्तुलन को सामाजिक समरसता और प्रस्थिति, सम्पत्ति, स्वतन्त्रता एवं नियन्त्रण के वितरणो मे न्याय के आधार पर व्यक्त करता है। यह भी समाजशास्त्र समुदाय के अनुसार देखता है। सामाजिक सन्तुलन एक जैविकीय एव अर्थशास्त्रीय वास्तविकता के रूप मे निश्चित व्यावहारिक उद्देश्यो के लिए काम में लिए जाते हैं। पारिस्थितिक सन्तुलन को आर्थिक सन्तुलन के द्वारा प्राप्त किया जाता है और जब अधिकतम सामाजिक कल्याण एवं न्याय प्राप्त कर लिए जाते हैं तब आर्थिक सन्तुलन भी स्थापित हो जाता है। समाज मे अचानक जनसंख्या मे वृद्धि या कमी हो जाती है तब असन्तुलन

आ जाता है। उत्पादन, धन, वस्तुओ, सेवाओ आदि मे परिवर्तन पारिस्थितिक, आर्थिक एवं समाजशास्त्रीय कारणो से आते हैं जो व्यक्तिगत, सामुदायिक, सामाजिक आदि सन्तुलन को प्रभावित करते हैं। अनेक राजनैतिक कारक, जैसे—दीर्घ राजनैतिक अनिश्चितता, युद्ध, सम्पत्ति सम्बन्धी असुरक्षा, उच्च कर, कर्ज में वृद्धि, साख पर दबाव, मुद्रा स्फीति, व्यापार में अनिश्चितता आदि असन्तुलन पैदा कर देते हैं। अन्य मनोवैज्ञानिक कारक, जैसे—फैशन, जीवन के तरीको, दृष्टिकोण, श्रमिक एवं धन सम्बन्धी धारणाओं के कारण भी असन्तुलन पैदा होता है।

समाज ने सर्वदा मानव की जैविक इच्छाओ और पर्यावरण में सम्पत्ति, प्रस्थिति, स्वतन्त्रता और नियन्त्रणो की संस्थाओ द्वारा सन्तुलन बनाया है। सामाजिक सहयोग, प्रस्थिति, सम्पत्ति और नियन्त्रण के द्वारा व्यक्ति की जन्मजात आवश्यकताओं और सीमित साधनो के मध्य सन्तुलन बनाए रखा है। इतना ही नहीं इसके द्वारा आर्थिक रुचियो और समाज कल्याण तथा न्याय मे भी सन्तुलन बनाए रखा है। संस्थाओ ने व्यक्ति और व्यक्ति के बीच, व्यक्ति और वस्तुओ के बीच या लोगो की पारस्परिक सेवाओं मे भी सन्तुलन बनाया है।

मुकर्जी ने इस प्रकार से सामाजिक पारिस्थितिकी के महत्त्वपूर्ण पक्षो पर समाज, आर्थिकी, पर्यावरण, व्यक्ति, जीव, पेड-पौधो आदि के सन्दर्भ मे प्रकाश डाला है।

अभ्यास प्रश्न

निबन्धात्मक प्रश्न

1 सामाजिक पारिस्थितिकी के सम्बन्ध में राधाकमल मुकर्जी के विचारो की विवेचना कीजिए।
2 राधाकमल मुकर्जी की कृति 'सोशियल इकोलॉजी' के उद्देश्य, प्रमुख अवधारणाओ, सामाजिक परिस्थितिकी के कार्य, अनुकूलन, प्रक्रियाओ का संक्षिप्त विवरण दीजिए।
3. मानव समाज मे पारिस्थितिकी प्रक्रियाओ की संक्षिप्त विवेचना कीजिए।
4 सामाजिक पारिस्थितिकी या सामाजिक परिस्थिति विज्ञान से आप क्या समझते हैं? इसके महत्त्व पर प्रकाश डालिए।
5 सामाजिक परिस्थिति विज्ञान पर निबन्ध लिखिए।

लघुउत्तरात्मक प्रश्न

निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिए :—

1 'सोशियल इकोलॉजी' कृति का उद्देश्य
2 सामाजिक पारिस्थितिकी की परिभाषा
3 सामुदायिक पारिस्थितिकी
4 व्यावहारिक पारिस्थितिकी
5 पारिस्थितिकी एवं अनुकूलन
6. कोई एक सामाजिक पारिस्थितिकी की प्रक्रिया
7 सामाजिक सन्तुलन
8 अनुक्रमण एवं आक्रमण

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. सोशियल इकोलॉजी के रचयिता कौन हैं?
(अ) एस. सी दुबे (ब) डी एन मजूमदार
(स) राधाकमल मुकर्जी (द) जी. एस. घुर्ये
[उत्तर- (स)]

2. राधाकमल मुकर्जी की पुस्तक 'सोशियल इकोलॉजी' या 'सामाजिक पारिस्थितिकी' में कितने अध्याय हैं?
   (अ) बारह (ब) आठ
   (स) पन्द्रह (द) दस
   [उत्तर- (स)]
3. सामाजिक पारिस्थितिकी के अध्ययन की इकाई 'मानव प्रदेश' किस विद्वान ने बताई है?
   (अ) डी. पी. मुकर्जी (ब) राधाकमल मुकर्जी
   (स) वेबर (द) मार्क्स
   [उत्तर- (ब)]
4. कस्बों एवं नगरों में जनसंख्या वृद्धि से किन संस्थानों एवं सेवाओं में वृद्धि होती है?
   (अ) मन्दिर (ब) गिरजाघर
   (स) पाठशाला (द) औषधालय
   (य) भोजनालय (र) उपर्युक्त सभी में
   [उत्तर- (र)]
5. निम्न में से सत्य कथनों का चयन कीजिए—
   (i) 'सोशियल इकोलॉजी' के लेखक राधाकमल मुकर्जी हैं।
   (ii) 'सामाजिक पारिस्थितिकी' कृति में कुल 16 अध्याय हैं।
   (iii) सपारिस्थितिकी और सामुदायिक पारिस्थितिकी पर्याय हैं।
   (iv) स्वपारिस्थितिकी और संपारिस्थितिकी दोनों परस्पर एक-दूसरे पर निर्भर और अन्तर्सम्बन्धित नहीं हैं।
   (v) सामाजिक पारिस्थितिकी की अध्ययन की इकाई 'मानव प्रदेश' है।
   (vi) सामाजिक पारिस्थितिकी के कार्य—अनुकूलन और सन्तुलन को मापना है।
   (vii) सन्तुलन, वितरण, गतिशीलता और स्तरीकरण पारिस्थितिक प्रक्रियाएँ नहीं हैं।
   (viii) 'रीजनल सोशियोलॉजी' के लेखक डी. पी. मुकर्जी हैं।
   (ix) राधाकमल मुकर्जी के अनुसार क्षेत्र एक प्रकार से व्यक्तियों का पारिस्थितिकी समूहन है, एक आर्थिक ढाँचा और सांस्कृतिक व्यवस्था है।
   (x) राधाकमल मुकर्जी ने लिखा है, "एक अर्थ में इस पुस्तक (सोशियल इकोलॉजी) को तुलनात्मक सामाजिक पारिस्थितिकी को लिखने का एक प्रयास माना जाए जिस पर तुलनात्मक अर्थशास्त्र और समाजशास्त्र की आधारशिला स्थित है।"

   [उत्तर- सत्य कथन : (i), (iii), (v), (vi), (ix), (x);
   असत्य कथन : (ii), (iv), (vii), (viii)]

□

अध्याय-14

डी. पी. मुकर्जी : परम्पराओं का द्वन्द्व
(D.P. Mukerji : Dialectic of Traditions)
(1894-1962)

भारतीय समाजशास्त्र मे धुर्जटि प्रसाद मुकर्जी (Dhurjati Prasad Mukerji) का विशेष स्थान है। आप डी पी मुकर्जी के नाम से जाने जाते हैं। डी पी मुकर्जी राधाकमल मुकर्जी के समकालीन रहे हैं। भारत के सामाजिक वैज्ञानिक आपको डी पी के नाम से पुकारते हैं। डी पी मुकर्जी का समाजशास्त्र के अतिरिक्त अर्थशास्त्र, साहित्य, सगीत और कला के क्षेत्रो मे भी उल्लेखनीय योगदान रहा है। समाजशास्त्र का सर्वाधिक लाभ आपके द्वारा प्रतिपादित अनेक अवधारणाओ, सिद्धान्तो, मौलिक विचारो, मौखिक बातचीत और विचारो की अद्वितीय अभिव्यक्ति के कारण हुआ है। अब हम व्यवस्थित एव क्रमबद्ध रूप से डी पी मुकर्जी के जीवन-चित्रण, प्रमुख रचनाओ, लेख, विचारो, समाजशास्त्र मे योगदान, कार्य प्रणाली आदि का अध्ययन करेंगे।

डी. पी. मुकर्जी का जीवन-चित्रण
(Life Sketch of D. P Mukerji)

डी पी मुकर्जी का जन्म बगाल के एक मध्यम वर्गीय ब्राह्मण परिवार मे सन् 1894 मे हुआ था। आपके व्यक्तित्व के निर्माण पर परिवार एव जाति के सस्कारो का प्रभाव पडा। आपने 1918 मे एम ए इतिहास तथा 1920 मे एम ए अर्थशास्त्र की परीक्षा पास की। आपने ये उपाधियाँ कलकत्ता विश्वविद्यालय से प्राप्त कीं। आपकी शिक्षा अच्छी हुई। आगे चलकर आपने अपने परिवार के वातावरण के प्रभाव के फलस्वरूप शिक्षण-कार्य व्यवसाय के रूप मे ग्रहण किया। पहले आप इतिहास के विद्यार्थी रहे। उस काल मे इतिहास मे अर्थशास्त्र भी पढाया जाता था। बाद मे आपने इतिहास मे उपाधि प्राप्त की। आपने वर्षो तक समाजशास्त्र और इतिहास का अध्यापन किया। ज्ञान के क्षेत्र मे सभी विषयो में आप रुचि लेते थे। आपका विवाह छायादेवी के साथ हुआ। बाद मे आप एक समाजशास्त्री के रूप मे उभरे तथा अन्तर्राष्ट्रीय जगत् मे आपको एक समाजशास्त्री के रूप मे माना जाने लगा।

धुर्जटि प्रसाद मुकर्जी बहुमुखी प्रतिभा के धनी, मौलिक विचारक व भविष्य को देखने की अद्भुत क्षमता रखने वाले समाजशास्त्री थे। आपके शिक्षण काल मे बगाल मे अनेक महान् हस्तियाँ थी। उस समय बकिम चन्द्र, रवीन्द्रनाथ ठाकुर एव शरत् चन्द्र आदि के साहित्य का विशेष प्रभाव था। उस समय बगाली साहित्य का भी पुनर्जागरण हो रहा था। इस वातावरण का डी पी. के व्यक्तित्व पर विशेष प्रभाव पडा। डी पी पर सगीत, राजनीति, चित्रकला, साहित्य और विज्ञान आदि का इतना अधिक प्रभाव पडा कि आपने समाज और

अर्थशास्त्र के अतिरिक्त अनेक विषयो पर अधिकार के साथ काफी कुछ लिखा। डी पी को संगीत से सम्बन्धित अच्छा ज्ञान था। आप अक्सर उस्तादो के साथ बैठा करते थे और राग-रागनियों की आपको अच्छी पहचान व पकड़ थी। आपने भारतीय संगीत के परिचय के सम्बन्ध मे बाद मे सन् 1945 में एक पुस्तक 'इन्ट्रोडक्शन टू इण्डियन म्यूजिक' लिखी। बाद में आपने मार्क्सवाद का गहन अध्ययन किया। आपके विचारो पर समस्याओ के अध्ययन, निवारण आदि के सन्दर्भ में मार्क्सवाद का प्रभाव देखने को मिलता है। आपके लिए राजनैतिक आन्दोलन और इसकी दशा और दिशा मात्र सामाजिक परिवर्तन के अंग थे। आपके ज्ञान का लाभ एकीकरण को प्राप्त करने में सहायक रहा। डी. पी जो कुछ कहते, लिखते अथवा करते वह बहुत प्रभावशाली होता था।

आपने अपना अध्यापक जीवन अपने निवास स्थान के बंगवासी कॉलेज से प्रारम्भ किया। यहाँ से आप सन् 1922 में लखनऊ विश्वविद्यालय मे व्याख्याता बने। यहाँ आपने अर्थशास्त्र एवं समाजशास्त्र के व्याख्याता पद पर कार्य आरम्भ किया तथा इस विख्यात विश्वविद्यालय मे 32 वर्षों तक खूब पढा, पढाया, सीखा और सिखाया। इस कार्य काल मे आपने अपने शिष्यो को पढ़ाया जो आगे चलकर भारत के राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय स्तर के समाजशास्त्री के रूप मे सामने आए। आपने इस विश्वविद्यालय की शैक्षणिक व्यवस्था एवं संगठन के निर्माण में अद्वितीय योगदान दिया। यद्यपि आपके शिक्षण का कार्यकाल लखनऊ विश्वविद्यालय मे व्यतीत हुआ किन्तु बीच-बीच मे आप अन्यत्र भी जाते रहे। आपने प्रथम उत्तरप्रदेश सरकार के समय में 1937 से 1940 तक विभिन्न पदों पर कार्य किया। जब कांग्रेस सत्ता मे आई तो आप सूचना-विभाग के निदेशक बने। इस काल में अपने जन-सम्पर्क को बौद्धिक दृष्टिकोण से पुनर्गठित किया। डी पी ने "अर्थशास्त्र और सांख्यिकी ब्यूरो" की स्थापना की और उसके द्वारा आपने समाज के अनेक महत्त्वपूर्ण विभिन्न पक्षो से सम्बन्धित सूचनाओं और तथ्यों को एकत्र करने, वर्गीकृत करने तथा विश्लेषित करने का कार्य प्रारम्भ किया। इस महत्त्वपूर्ण कार्य को प्रारम्भ करने का श्रेय आपको ही जाता है। आप इस क्षेत्र मे और भी कार्य करते लेकिन उत्तरप्रदेश की कांग्रेस सरकार द्वारा अंग्रेजो के साथ द्वितीय महायुद्ध की समस्या पर मतभेद होने के कारण त्याग-पत्र दे दिया गया जिसके परिणामस्वरूप डी पी मुकर्जी लखनऊ विश्वविद्यालय में व्याख्याता के पद पर लौट आये।

सन् 1947 मे डी पी. को उत्तरप्रदेश जाँच समिति का सदस्य नियुक्त किया गया। इस समिति के सदस्य के नाते आपने अपने ज्ञान के आधार पर अमूल्य सुझाव देकर बहुमूल्य योगदान दिया।

सन् 1951 में आपको लखनऊ विश्वविद्यालय मे प्रोफेसर बनाया गया। एम सी राव (M Chalapathi Rav) ने अपने लेख 'डी पी मुकर्जी : ए पोर्ट्रेट' (D P Mukerji A Portrait) मे लिखा है कि आपको प्रोफेसर बहुत पहले ही बना देना चाहिए था लेकिन डी पी को पदो के प्रति कोई रुचि नहीं थी। प्रोफेसर नहीं बनने का उन्हे कभी दुःख नहीं हुआ और बनने से कोई खुशी भी नहीं हुई।

सन् 1953 में लखनऊ विश्वविद्यालय से सेवा-निवृत्ति के एक वर्ष पूर्व अलीगढ विश्वविद्यालय से अर्थशास्त्र विभाग के अध्यक्ष पद के लिए आपको निमंत्रण प्राप्त हुआ जिसे आपने स्वीकार किया तथा वहाँ 5 वर्षों तक कार्यरत रहे। बाद में पूर्ण रूप से स्वस्थ न रहने के कारण वे कार्य नहीं कर सके। इसके उपरांत भी अलीगढ़ विश्वविद्यालय ने आपसे पद पर

बने रहने का आग्रह किया, जिससे एक प्रेरणा स्रोत व्यक्तित्व वहाँ बना रहे। लेकिन आपने इस आग्रह को अस्वीकृत कर दिया।

डी.पी. मुकर्जी समाजशास्त्र के 'विजिटिंग प्रोफेसर' बनकर हेग में 'इन्टरनेशनल इन्स्टीट्यूट ऑफ सोशियल स्टडीज' में कार्यरत रहे। डी.पी. मुकर्जी 'इण्डियन सोशियोलोजिकल एसोसिएशन' के संस्थापक सदस्य थे। आप इसकी कार्यकारिणी समिति के सदस्य थे। आप इस समिति के संस्थापक मण्डल के भी सदस्य थे तथा इसकी स्थापना मे आपका उल्लेखनीय योगदान रहा। इस समिति द्वारा 1955 में आपने प्रथम 'अखिल भारतीय समाजशास्त्रीय सगठन' की बैठक की अध्यक्षता की। डी.पी. मुकर्जी को यूनेस्को ने पैरिस में व्याख्यान देने के लिए आमन्त्रित किया था। आपने पेरिस में ओजस्वी व्याख्यान दिया।

डी पी. मौखिक बातचीत बहुत अधिक करते थे। आपसे बुद्धिजीवी खूब मिलते थे। आपके लेखन से अधिक महत्त्वपूर्ण व्याख्यान, वार्तालाप और विचार-विमर्श होते थे। आप धूम्रपान बहुत अधिक करते थे। वे अपने छात्रों से कहा करते थे "मेरे पास पुस्तकें लिखने को समय कहाँ है?" आप विचारो की अभिव्यक्ति में अद्वितीय थे। "संस्कृति का समाजशास्त्र" विषय के आप अधिष्ठाता थे। आपने मौखिक बातचीत के द्वारा एक पीढ़ी को प्रशिक्षित किया, सोचने के लिए तैयार किया। आप कहा करते थे, "**मानव का निर्माण करना मेरे लिए पर्याप्त है।**" जब आप हेग में थे, उस समय अधिक धूम्रपान के कारण आपके गले मे कैंसर हो गया था, इसके उपचार के लिए आप ज्यूरिख गये, वहाँ शल्य चिकित्सा की गई इससे आपको कुछ आराम तो मिला लेकिन आपकी आवाज खराब हो गई। आप वापिस अलीगढ लौट आये तथा अपने पद पर तब तक कार्यरत रहे जब तक शरीर ने साथ दिया। शिक्षा जगत् के लोगो को आपकी आवाज के खराब होने का हार्दिक दु:ख रहा। आपके वार्तालाप पर अंकुश लग गया तथा मौखिक बातचीत के द्वारा आपके ज्ञान का संचार व हस्तान्तरण प्रतिबन्धित हो गया। 5 दिसम्बर, 1962 को उन्होंने अपनी मृत्यु का स्वागत किया। इस प्रकार से कॉफी हाउस के चर्चा-जगत् का सुकरात इस संसार से उठ गया।

डी. पी. मुकर्जी की रचनाएँ
(Works of D. P Mukerji)

1 'बेसिक कन्सेप्ट्स इन सोशियोलोजी'
(Basic Concepts in Sociology) 1932
2. 'पर्सनैलिटी एण्ड द सोशियल साईंसेज'
(Personality and the Social Sciences) 1924
3. 'टैगोर : ए स्टडी' (Tagore A Study) 1943
4. 'मॉडर्न इण्डियन कल्चर' (Modern Indian Culture) 1942
5. 'ऑन इण्डियन हिस्ट्री' (On Indian History) 1945
6. 'इन्ट्रोडक्शन टु इण्डियन म्यूजिक'
(Introduction to Indian Music) 1945
7. 'प्रोब्लम्स ऑफ इण्डियन यूथ'
(Problems of Indian Youth) 1946

8. 'व्यूज एण्ड काउण्टर-व्यूज'
   (Views and Counter-Views) 1946
9. 'डाइवर्सिटीज' (Diversities) 1958
10. 'सोशियोलोजी ऑफ इण्डियन कल्चर'
   (Sociology of Indian Culture) 1942
11. 'इण्डियन ट्रेडिशन एण्ड सोशियल चेन्ज'
   (Indian Tradition and Social Change)

'भारतीय परम्परा और सामाजिक परिवर्तन' विषय पर आपने 'इण्डियन सोशियोलोजिकल कॉन्फ्रेन्स', देहरादून, 1955 के अधिवेशन में अध्यक्षीय भाषण दिया। इसके अतिरिक्त आपके तीन उपन्यास प्रकाशित हुए। आपने एक कहानी संकलन भी प्रकाशित कराया। रवीन्द्रनाथ टैगोर के साथ आपने एक संगीत की पुस्तक लिखी और एक पुस्तक संगीत में ही अलग से भी लिखी। आपके बंगाली भाषा में लिखे निबन्धों के दो खण्ड भी प्रकाशित हुए।

डी. पी. मुकर्जी के सामाजिक विचार
(D. P. Mukerji's Social Views)

डी. पी. मुकर्जी ने अनेक विषयों से सम्बन्धित महत्त्वपूर्ण विचार प्रस्तुत किए हैं। आपके सामाजिक विचार समाजशास्त्र, इतिहास और अर्थशास्त्र में विशेष रूप से अध्ययन किये जाते हैं। कला, संगीत और साहित्य से सम्बन्धित लेखों एवं विचारों को सम्बन्धित विषय में सम्मान की दृष्टि से पढ़ा जाता है। यहाँ उनके उन सामाजिक विचारों का उल्लेख किया जायेगा जिनका समाजशास्त्र में विशेष महत्त्व है।

सम्पूर्णवादी दृष्टिकोण

डी. पी. मुकर्जी का मत है कि विभिन्न विज्ञान, जैसे—समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र व इतिहास आदि परस्पर घनिष्ठतया सम्बन्धित हैं। इन विज्ञानों की सामग्री के आदान-प्रदान को आप आवश्यक मानते हैं। डी. पी. का मत है कि चूँकि अर्थशास्त्र की जड़ें सामाजिक वास्तविकता में विद्यमान होती हैं इसलिए अर्थशास्त्र की प्रकृति समाजशास्त्रीय है। आप यह भी कहते हैं कि सम्पूर्णवादी दृष्टिकोण ही समाज विज्ञान की व्याख्या का आधार होना चाहिए। आप लिखते हैं कि व्यक्ति, वैयक्तिकता और समाजीकरण का समन्वय है। वैसे आपका कहना है कि व्यक्तित्व पूर्ण एकता है और ज्ञान इस एकीकृत पूर्णता का आधार है। इसलिए सामाजिक विज्ञानों की अध्ययन-वस्तु को अलग-अलग दृष्टिकोण से नहीं देखा जाना चाहिए। आपका कहना है कि आज ज्ञान का विभाजन हो गया है। वह कई शाखाओं उप-शाखाओं में बँट गया है अतः उसकी पूर्णता समाप्त हो गई है। व्यक्तित्व के विभिन्न पक्ष होते हैं, डी. पी. के अनुसार इन विभिन्न पक्षों को एक पूर्णता मानकर अध्ययन करना चाहिए। आपने निष्कर्ष दिया है कि ज्ञान के विभिन्न पक्ष अवश्य होते हैं लेकिन समाज विज्ञान की पूर्णता एवं एकीकरण आवश्यक है और अगर हम समाजशास्त्र विषय का विकास करना चाहते हैं तो हमें सम्पूर्णवादी दृष्टिकोण को अपनाना चाहिए।

डी. पी. मुकर्जी ने 'व्यूज एण्ड काउण्टर-व्यूज' में लिखा है, "इस विषय को ज्ञान से काट दिया गया है, ज्ञान को जीवन से पृथक् कर दिया गया है और जीवन, जीवित

सामाजिक दशाओ से अलग कर दिया गया है।" आपने यह कथन समाजशास्त्र की बिखरी सामग्री के सम्बन्ध मे कहा है। आप सामाजिक जीवन को पृथक्-पृथक् खण्डो मे अध्ययन करने के विरुद्ध थे तथा सम्पूर्णतावादी दृष्टिकोण के समर्थक थे।

मार्क्सवादी विचारधारा के समर्थक
(Supporter of Marxian Ideology)

डी. पी मुकर्जी मार्क्सवादी विचारधारा के समर्थक थे। आपके विचारो, अध्ययनो, मतो, अध्ययन पद्धति व भारतीय समाज की समस्याओं के समाधान आदि मे किसी-न-किसी रूप मे मार्क्सवादी विचारधारा का प्रभाव मिलता है। कुछ विद्वानो ने तो आपको भारतीय समाजशास्त्र की मार्क्सवादी विचारधारा का अग्रज तक कहने का साहस किया है।

योगेन्द्रसिह ने अपनी पुस्तक, 'मॉडर्नाइजेशन ऑफ इण्डियन ट्रेडिशन' की पाद-टिप्पणी मे लिखा है, *"डी पी मुकर्जी अपने आपको मार्क्सवादी होने का दावा करते हैं।"* डी पी ने भारत के सामाजिक परिवर्तन का अध्ययन द्वन्द्वात्मक उपागम के अनुसार किया है—आपका द्वन्द्ववाद हीगल और मार्क्स के प्रभाव का परिणाम है। योगेन्द्रसिह ने भी अपनी कृति मे लिखा है कि भारत मे सामाजिक परिवर्तन के अध्ययन के उपागमो मे द्वन्द्वात्मक उपागम अपना विशेष स्थान रखता है। भारत मे मार्क्सवादी दृष्टिकोण प्रारम्भ मे एम एस रॉय, जवाहरलाल नेहरू और जयप्रकाश नारायण जैसे बुद्धिजीवियो के विचारो मे मिलता है, जिन्होने बाद मे इसे त्याग दिया। समाजशास्त्र मे इस उपागम का प्रभाव अधिक प्रभावशाली नहीं रहा जिसका कारण ब्रितानिया समाजशास्त्र और सामाजिक मानवशास्त्र के प्रकार्यात्मक दृष्टिकोण का प्रभुत्व अध्ययन पद्धति और क्षेत्र में होता रहा। इसके उपरान्त भी कुछ *समाजशास्त्री द्वन्द्वात्मक अथवा मार्क्सवादी समाजशास्त्र की अध्ययन पद्धति से प्रभावित हुए* जिनमे एक डी पी मुकर्जी हैं। डी पी के साहित्य मे भारतीय सामाजिक प्रक्रियाओ के विश्लेषण मे द्वन्द्वात्मक सम्बन्ध-परिधि (Dialectical Frame of Reference) पाई जाती है। आपने भारतीय समाज के परिवर्तन का विश्लेषण भारत की परम्पराओ के सघर्ष के आधार पर किया। डी पी का द्वन्द्ववाद हीगल और मार्क्स के द्वन्द्ववाद से इस प्रकार भिन्न है कि हीगल विचारों में सघर्ष का अध्ययन करते हैं, मार्क्स भौतिक पदार्थों को आधार मानकर सघर्ष द्वारा परिवर्तन का विश्लेषण व व्याख्या करते हैं, वहीं डी पी परम्पराओ मे संघर्ष के द्वारा भारतीय समाज के सामाजिक परिवर्तन का विश्लेषण एवं व्याख्या करते हैं।

पद्धतिशास्त्र
(Methodology)

डी पी मुकर्जी की अध्ययन की पद्धति के सम्बन्ध में बहुत कुछ लिखा जा सकता है। डी पी को मुख्यतया समाजशास्त्री माना जाता है, लेकिन आप अर्थशास्त्र, इतिहास, सगीत, चित्रकला व साहित्य आदि मे भी अधिकार के साथ लिखते थे इसलिए आपकी अध्ययन-पद्धति ऐतिहासिक रही है। इसके अतिरिक्त किन्हीं विषयो के अध्ययन की आपने मनो-समाजशास्त्रीय एव दार्शनिक पद्धति का भी समर्थन किया है।

1. द्वन्द्वात्मक-पद्धति (Dialectical Method)—भारतीय समाज के अध्ययन के लिए आपने ऐतिहासिक पद्धति को अपनाया। आपने भारत की परम्पराओ के इतिहास मे कालक्रमिक अध्ययन पर जोर दिया। इसमे आपने द्वन्द्वात्मक दृष्टिकोण के आधार पर भारतीय

परम्पराओ के संघर्ष के अध्ययन को प्रस्तुत किया है। आपने लिखा है कि भारतीय समाज मे परम्पराओ का संघर्ष (द्वन्द्व) वृहद्स्तर और लघुस्तर की परम्पराओ मे होता है। वृहद्स्तर की परम्पराएँ संस्कृत भाषा में मिलती हैं तथा लघुस्तर की परम्पराएँ स्थानीय भाषाओ मे मिलती हैं। इसके अतिरिक्त आपने भारतीय परम्पराओ का संघर्ष बाहर से आई इस्लामी एव पश्चिमी समाजो की परम्पराओ मे भी बताया है। डी पी ने भारतीय समाज के सामाजिक परिवर्तन के अध्ययन की पद्धति हीगल और मार्क्स के द्वन्द्ववाद को संशोधित करके प्रस्तुत की है जिसे भारतीय समाजशास्त्र मे **'डी. पी. मुकर्जी के द्वन्द्वात्मक उपागम'** (D P Mukerji's Dialectical Approach) के नाम से जाना जाता है।

2. मनो-समाजशास्त्रीय पद्धति (Psycho-Sociological Method)—डी पी. मुकर्जी की अध्ययन पद्धति के सम्बन्ध मे काफी कुछ लिखा जा सकता है। आपने विभिन्न विज्ञानो मे अपने विचार व्यक्त किये हैं, इसलिए आपने वैज्ञानिक अध्ययन पद्धति पर भी यथास्थान मत व्यक्त किया है, आप सत्य को जानने के लिए विभिन्न मार्गों के पक्षधर थे। आपने समाजशास्त्रीय अवधारणा का तत्त्व—व्यक्तित्व बताया है तथा विभिन्न प्रकार से इस तथ्य को सिद्ध करने का प्रयास भी किया है। आप लिखते हैं कि ''व्यक्तित्व पूर्ण एकता है तथा ज्ञान इस पूर्णता का आधार है।''

आप ज्ञान को व्यक्तित्व के विकास का प्रमुख साधन मानते हैं। जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है कि डी पी मुकर्जी का दृष्टिकोण सम्पूर्णतावादी है, उसी के अनुसार आपकी अध्ययन-पद्धति व्यक्तित्व के विभिन्न पक्षों को पूर्णता मे देखती है। चूँकि आप व्यक्तित्व पर अधिक जोर देते हैं, इसलिए आपकी अध्ययन-पद्धति मनो-समाजशास्त्रीय है।

3. दार्शनिक-पद्धति (Philosophical Method)—डी पी मुकर्जी दार्शनिक पद्धति के भी समर्थक रहे हैं। डी पी की दार्शनिक प्रवृत्ति का आधार तर्क और विवेक है। आपकी दार्शनिक पद्धति का मूल बिन्दु बुद्धिवाद और व्यावहारिक तर्क है। आप एक ओर तर्क या विवेक को घटनाओ के अध्ययन का यन्त्र मानते हैं तो दूसरी ओर तर्क या विवेक को व्यक्तित्व के विकास का साधन भी मानते है। डी पी मुकर्जी की अध्ययन की पद्धति मे हीगल का द्वन्द्ववाद भी मिलता है।

4. विभिन्न विज्ञानों में सम्बन्ध (Relationship Between Various Sciences)—डी पी. मुकर्जी क्योंकि सम्पूर्णतावादी दृष्टिकोण के समर्थक थे इसलिए आप अर्थशास्त्र, इतिहास और समाजशास्त्र के पारस्परिक सम्बन्धो और ज्ञान के आदान-प्रदान को आवश्यक मानते हैं। आपने समाजशास्त्र की प्रकृति को ऐतिहासिक बताते हुए लिखा है कि समाजशास्त्र मे सांस्कृतिक विशिष्टताओ का विशेष महत्त्व होता है इसलिए समाजशास्त्र की प्रकृति ऐतिहासिक है। आपने लिखा है कि अर्थशास्त्र की जडे सामाजिक वास्तविकता मे हैं। इस कारण इसकी प्रकृति समाजशास्त्रीय है। आपने इतिहास की प्रकृति को दार्शनिक बताया है। इस मत को स्पष्ट करते हुए आप लिखते हैं, ''इतिहास मात्र अतीत की घटनाओ का ही अध्ययन नहीं है, बल्कि अतीत की घटनाओ के अध्ययन के आधार पर इतिहास, समाज के भविष्य का अनुमान भी लगाता है इसलिए इतिहास की प्रकृति दार्शनिक है। आप सामाजिक विज्ञानो के परस्पर आदान-प्रदान के समर्थक थे।''

निष्कर्षत: डी पी मुकर्जी के सामाजिक विचार—व्यक्तित्व का अध्ययन, सम्पूर्णतावादी दृष्टिकोण, मनो-समाजशास्त्रीय अध्ययन पद्धति, दार्शनिक पद्धति, हीगल के द्वन्द्ववाद व मार्क्सवादी विचारधारा आदि के समर्थक और पोषक थे।

भारतीय समाजशास्त्र में योगदान
(Contribution to Indian Sociology)

डी पी मुकर्जी ने 'भारत के लिए समाजशास्त्र' मे भारतीय समाजशास्त्र की विषय-वस्तु, भारतीय समाजशास्त्र की अध्ययन-पद्धति, अवधारणाएँ व सिद्धान्त आदि से सम्बन्धित निम्नलिखित विचार व्यक्त किये हैं—

1. भारतीय समाजशास्त्र की विषय-वस्तु (Subject Matter of Indian Sociology)—डी पी मुकर्जी ने भारतीय समाजशास्त्र की अध्ययन-सामग्री को भारतीय परम्पराओ का अध्ययन बताया है। आपने कहा कि भारतीय सस्कृति का विकास विभिन्न प्रजातियो एव सस्कृतियो की चुनौतियो एवं संश्लेषण का परिणाम है। आपने हिन्दू सिद्धान्त की व्याख्या करने के लिए भी परम्पराओ के अध्ययन को आवश्यक बताया। आपने भारतीय समाज की अध्ययन सामग्री के अन्तर्गत परम्पराओ मे आन्तरिक और वाह्य दबाव से उत्पन्न परिवर्तनो के अध्ययन को भी सम्मिलित करने पर जोर दिया है। मानव तथा समाज के हिन्दू सिद्धान्त की व्याख्या के लिए परम्पराओ का अध्ययन महत्त्वपूर्ण बताया है। आपका कहना है कि भारतीय परम्पराओ मे परिवर्तन की समाजवादी व्याख्या के लिए भी भारतीय परम्पराओं का अध्ययन करना आवश्यक है। डी पी मुकर्जी ने भारतीय समाजशास्त्र की विषय-सामग्री भारतीय परम्पराओ को बताते हुए यहाँ तक लिखा है कि भारतीय समाजशास्त्री का प्रथम कर्त्तव्य इनका अध्ययन करना है।

2. भारतीय समाजशास्त्र के लिए व्याख्यात्मक पद्धति (Explanatory Method for Indian Sociology)—डी पी मुकर्जी ने भारतीय समाजशास्त्र की वैज्ञानिक अध्ययन पद्धति के सम्बन्ध मे काफी लिखा है। आपने कहा कि भारत का समाजशास्त्र अभी इस अवस्था मे नहीं पहुँचा है कि वह आनुभविक तथ्यो को एकत्र करके अनुसधान करे। आपने सन् 1955 मे भारतीय समाजशास्त्र तथा उसके अनुस्थापन के विषय पर अपने विचार निम्न शब्दो मे व्यक्त किए हैं।

"एक भारतीय के रूप में तथाकथित शोध प्रबन्धों के जगल में कोई भी जीवन-अर्थ खोज निकालना असम्भव पाता हूँ। .... भारतीय समाजशास्त्र .... केवल व्याख्यात्मक ही हो सकता है जिसमें अधिकतर निर्भरता अन्तर्दृष्टि की पद्धति पर है जो 19वीं शताब्दी के विज्ञान की अपेक्षा सामाजिक क्रिया की भारतीय प्रणाली में भाग लेने से उत्पन्न होती है। अन्वेषण तो सदैव ही किया जायेगा, किन्तु इसे प्रेक्षित वस्तुओं की भावना के आधार पर करना होगा।"

आपने लिखा है कि भारतीय समाजशास्त्र आगे आने वाले कुछ वर्षों तक केवल व्याख्यात्मक ही हो सकता है।

3. पाश्चात्य वैज्ञानिक तकनीक का विरोध (Opposition of Western Scientific Technology)—डी पी मुकर्जी ने लिखा है कि भारतीय समाज पश्चिम के समाजो से भिन्न है। पश्चिम के समाज काफी विशृखलित हो चुके हैं। भारतीय समाज परिवर्तित तो हो रहा है लेकिन यह कम विशृंखलित है इसलिए पाश्चात्य वैज्ञानिक तकनीक, अवधारणाओ एवं सिद्धान्तो के द्वारा भारतीय समाजशास्त्री भारतीय समाज को भली-भाँति नहीं समझ सकते। आप पश्चिमी परम्परा के आदर्श पर भारतीय समाजशास्त्र को

विकसित करने के पक्ष में नहीं हैं। आपने मत व्यक्त किया है कि हमें भारत की सामाजिक घटनाओं की विशिष्ट रूप से व्याख्या करनी चाहिए तथा पश्चिम के अध्ययन के प्ररूप, अवधारणाओं, सिद्धान्तों व तकनीक आदि को नहीं अपनाना चाहिए। पश्चिम में जो वैज्ञानिक तकनीक विकसित एवं निर्मित की गई है, वह अन्य समाजो तथा संस्कृतियों को ध्यान में रखकर की गई है, उनके द्वारा भारतीय-समाज तथा संस्कृति के तत्वों व स्वरूपों को नहीं समझा जा सकता। आप भारतीय समाजशास्त्र को पश्चिम के समाजशास्त्र की अनुकृति बनाने के विरोधी हैं। आपने मत व्यक्त किया है कि भारतीय समाजशास्त्रियों ने प्रगति, समानता और सामाजिक नियन्त्रण आदि का अध्ययन पश्चिमी दृष्टिकोण की सहायता से किया है। यह भारतीय समाज के सन्दर्भ में बिल्कुल अनुपयुक्त है। भारतीय समाज को समझने के लिए आपने सुझाव दिया कि भारत के समाजशास्त्रियों को अपने समाज की संरचना, व्यवस्था, परम्परा और समस्याओं आदि को समझने के लिए उपयुक्त अवधारणाएँ, अध्ययन-पद्धति दृष्टिकोण व सिद्धान्त आदि निर्मित करने चाहिए।

4. मार्क्स के द्वन्द्ववाद के पक्षधर (Follower of Marx's Dialecticism)—डी पी मुकर्जी मार्क्स के द्वन्द्ववाद के पक्षधर हैं। आपने कहा कि भारत के सामाजिक सन्दर्भ में व्यक्तित्व और संस्कृति का अध्ययन करने के लिए मार्क्स की द्वन्द्वात्मक अध्ययन-पद्धति को अपनाना चाहिए। आपने कहा कि मार्क्स की द्वन्द्वात्मक पद्धति भारत के लिए उपयुक्त पद्धति है। इस पद्धति के द्वारा भारत की विशिष्ट परम्पराओं, प्रतीकों, सांस्कृतिक प्रतिमानों व सामाजिक क्रियाओं आदि का अध्ययन किया जा सकता है। आप लिखते हैं कि भारतीय समाज की वास्तविकता को मार्क्स के द्वन्द्ववाद के द्वारा ही अच्छी तरह समझा जा सकता है।

डी. पी. मुकर्जी के भारत के लिए समाजशास्त्र के सन्दर्भ में व्यक्त किये गये विचारों का प्रभाव भारत के अनेक समाजशास्त्रियों पर पड़ा।

5. भारतीय सामाजिक परिवर्तन में परम्पराओं का महत्त्व (Importance of Traditions in Indian Social Change)—डी पी मुकर्जी ने भारतीय परम्परा एवं सामाजिक परिवर्तन पर अपने विचार 1955 में 'अखिल भारतीय समाजशास्त्रीय सम्मेलन', देहरादून में अध्यक्षीय भाषण में व्यक्त किये हैं। बाद में यह भाषण आपकी कृति 'डाइवर्सिटीज' 1958 में 'इण्डियन ट्रेडीशन एण्ड सोशियल चेन्ज' में प्रकाशित हुआ। इसमें आपने भारतीय परम्परा एवं सामाजिक परिवर्तन के सम्बन्ध में इसके अध्ययन के महत्त्व, परम्परा का अर्थ, परम्पराओं में परिवर्तन, परिवर्तन के सिद्धान्त, परम्परा और आधुनिकता में सम्बन्ध, आधुनिकीकरण की परिभाषा एवं गाँधीजी द्वारा प्रस्तावित आर्थिक पुनर्निर्माण की योजना आदि से सम्बन्धित विचार प्रकट किये हैं, जो इस प्रकार हैं—

5.1 परम्परा का अर्थ एवं परिभाषा (Meaning and Definition of Tradition)—डी. पी. मुकर्जी ने 'परम्परा' शब्द की व्याख्या ऐतिहासिक दृष्टिकोण से करते हुए इस शब्द की उत्पत्ति पर प्रकाश डाला है। डी पी ने लिखा है कि अंग्रेजी शब्द 'ट्रेडिशन (Tradition) की उत्पत्ति 'ट्रेडर' (Tradere) शब्द से हुई है। 'ट्रेडर' शब्द का अर्थ है—हस्तान्तरण करना। संस्कृत भाषा में अंग्रेजी के ट्रेडिशन का समानार्थक शब्द 'परम्परा' है 'परम्परा' शब्द का अर्थ है—उत्तराधिकार या 'ऐतिह'—जिसका अर्थ 'इतिहास' है। रोमन कानून के अनुसार 'ट्रेडर' शब्द का अर्थ मूल्यवान वस्तुओं को जमा करना तथा सुरक्षित रखना

है। उसके अनुसार, नागरिक का यह नैतिक और कानूनी कर्त्तव्य है कि वह बहुमूल्य वस्तुओ को सुरक्षित रखे।

ब्राह्मणो को सस्कृत साहित्य मे परम्पराओ का सरक्षक माना गया है। जाति प्रथा भी एक प्रकार से परम्परा है जिसके संरक्षक ब्राह्मण हैं। ब्राह्मण परम्पराओं को धार्मिक पुस्तको द्वारा सुरक्षित रखते है और पीढी-दर-पीढी हस्तातरित करते हैं। डी पी के अनुसार, ब्राह्मण परम्परा को सामाजिक सरचना के रूप मे बनाये रखते हैं। आपने भारतीय समाज की निरन्तरता का बना रहना भी परम्पराओ के कारण बताया। आपने लिखा है कि परम्पराएँ भारतीय समाज का इतिहास हैं।

5 2 भारतीय समाजशास्त्र में परम्परा का अध्ययन (Study of Tradition in Indian Sociology)—डी पी मुकर्जी ने विस्तार से यह स्थापना की है कि भारतीय समाजशास्त्र के अध्ययन का केन्द्र बिन्दु परम्पराओ का अध्ययन है। आप भारतीय समाजशास्त्रियो का प्रथम कर्त्तव्य 'भारतीय परम्पराओं का अध्ययन' मानते हैं। सन् 1955 मे अखिल भारतीय समाजशास्त्री सम्मेलन मे आपने अपने अध्यक्षीय भाषण मे भारत के समाजशास्त्रियो को भारत की सामाजिक परम्पराओ का अध्ययन करने की सलाह दी। आपने कहा कि हमारा जन्म भारतीय परम्पराओं में हुआ है, हमारा अस्तित्व भी इन्हीं मे निहित है। हम अपनी परम्पराओ से भाग नहीं सकते। भारत की समाज-व्यवस्था मे समूह की क्रियाओ को महत्त्वपूर्ण माना गया है। समूह की क्रियाएँ, मत, सम्प्रदाय व जाति आदि के रूप मे होती है, इसलिए हमे पहले भारतीय होना चाहिए, अपनी समाज व्यवस्था को समझने के लिए भारतीय समाजशास्त्री को अपनी जनरीतियो, रूढ़ियो, प्रथाओ और परम्पराओ मे भाग लेना चाहिए। निष्कर्षत. डी पी मुकर्जी का मत, आग्रह एव सलाह है कि भारत का समाजशास्त्र विशिष्ट विज्ञान तभी हो सकता है जब वह भारत की परम्पराओ का अध्ययन करे।

5.3 सस्कृत भाषा एवं स्थानीय भाषा का ज्ञान आवश्यक है (Knowledge of Sanskrit and Local Dialects is Necessary)—डी पी मुकर्जी ने मत व्यक्त किया है कि भारतीय समाजशास्त्री के लिए सस्कृत भाषा तथा स्थानीय भाषा का ज्ञान होना आवश्यक है। आप लिखते हैं कि अपनी समाज व्यवस्था का अध्ययन करने एव समझने के लिए उसे जन-रीतियो, प्रथाओ, रूढियो एवं परम्पराओ आदि में भाग लेना होगा। उसे भारत की निम्न तथा उच्च विद्याओ का ज्ञान प्राप्त करना होगा। भारतीय समाजशास्त्री उच्च अथवा वृहद्-स्तरीय परम्पराओं का ज्ञान तभी प्राप्त कर सकता है जब उसे सस्कृत भाषा का ज्ञान हो, क्योंकि यह ज्ञान सस्कृत साहित्य मे ही उपलब्ध है। लघु-स्तरीय विद्याओ के ज्ञान के लिए *समाजशास्त्री को स्थानीय भाषाओ का ज्ञान होना चाहिए।* आपने कहा है कि जिन भाषाओ में परम्पराएँ प्रतीको के रूप मे मूर्तिमान हैं उनके ज्ञान के बिना भारतीय परम्पराओ का अध्ययन एव परिवर्तन का विश्लेषण सम्भव नहीं है। अब तक भारत मे अध्ययन पश्चिम के अनुकरण द्वारा हो रहा है। इस सम्बन्ध मे डी पी मुकर्जी ने अग्र शब्दो मे दुःख प्रकट किया है।

"मुझे यह देखकर दुःख होता है कि किस प्रकार हमारे भारतीय विद्वान उन आधुनिक (वैज्ञानिकों की) तकनीकों के आकर्षण के सामने बिना किसी प्रतिरोध अथवा सम्मान के झुक जाते है जिन्हें बाहर से प्राविधिक सहायता या क्रियात्मक ज्ञान के अंग के रूप मे आगाह किया जाता है। बौद्धिक लेन-देन में जो कुछ चल रहा है,

उससे ऐसा प्रतीत होता है कि हमारे पास प्रस्तुत करने को न तो कुछ शर्तें है और, खड़े होने के लिए आधार ही।"

5.4 परम्पराओं के परिवर्तन के तत्त्व (Elements of Changes of Tradition)—डी पी मुकर्जी ने परम्पराओ के परिवर्तन के प्रमुख तीन तत्त्व बतायें हैं— (1) श्रुति, (2) स्मृति, और (3) अनुभव। अनुभव को परिवर्तन का कारण माना जाता है. अनुभव दो प्रकार का है—(1) व्यक्तिगत और (2) सामूहिक। व्यक्तिगत अनुभव ही परिवर्तन का मूल कारण है किन्तु वह शीघ्र ही सामूहिक अनुभव का रूप ले लेता है। सामान्य अनुभव सदैव ही परिवर्तन का कारण रहा है। उदाहरण के लिए विभिन्न सम्प्रदायो और धार्मिक ग्रन्थों की उत्पत्ति बडे-बडे सन्तो के व्यक्तिगत अनुभव से हुई है और कालान्तर में वे सामूहिक अनुभव के रूप मे फैल गये। परम्पराएँ भी उच्च और निम्न दोनों ही प्रकार की होती हैं। उच्च परम्पराएँ—प्रमुखतया बौद्धिक थीं जो श्रुतियो और स्मृतियो मे केन्द्रित थी जिनमे तर्क-वितर्क, वाद-विवाद व परिवर्तन होता था। जिसका कारण बुद्धि-विचार था। *बुद्धि-विचार अनुभव से उच्च परिवर्तन का साधन है, अनुभव को निम्न माना गया है। इन उच्च और निम्न बौद्धिक परम्पराओ मे जब संघर्ष होता है तो अमूर्त विचार एव भावनाएँ उन्हे समीप लाने का प्रयास करती हैं।*

6. आधुनिकता एवं आधुनिकीकरण *(Modernity and Modernization)*—डी पी मुकर्जी ने आधुनिकता एव आधुनिकीकरण के सम्बन्ध मे अपने विचार, अपने लेख 'इण्डियन ट्रेडिशन एण्ड सोशियल चेन्ज' मे व्यक्त किये है। आपने कहा कि भारत के सामाजिक परिवर्तन का अध्ययन तभी पूर्ण माना जायेगा जब भारतीय परम्पराओ एव आधुनिकता के द्वन्द्व या संघर्ष एवं इनके परिणामो का अध्ययन किया जायेगा। आपने यह भी लिखा है कि आधुनिकीकरण एक ऐतिहासिक एवं गत्यात्मक अवधारणा है। परम्परा एव आधुनिकोकरण परस्पर सापेक्ष अवधारणाएँ हैं। इसलिए परम्परा के ज्ञान के अभाव मे आधुनिकीकरण का अध्ययन नहीं किया जा सकता। आप यह भी लिखते हैं कि हम भारत के वर्तमान (आधुनिकीकरण) को अतीत (परम्परा) के सन्दर्भ में ही समझ सकते हैं। आपने इस तथ्य पर भी जोर दिया कि आधुनिकीकरण व परम्परा समय-सापेक्ष अवधारणाएँ हैं। परम्पराएँ अतीत से सम्बन्धित हैं और आधुनिकीकरण वर्तमान से सम्बन्धित है। आपने आधुनिकीकरण को समझाते हुए लिखा है कि परम्परा और आधुनिकता के अन्तर्खेल (Inter Play) से परम्परागत मूल्यो और सास्कृतिक प्रतिमानो मे जो विस्तार और परिमार्जन होता है, वह आधुनिकीकरण है। आपकी मान्यता है कि आधुनिकता और परम्परा दोनों गत्यात्मक अवधारणाएँ हैं। आपके अनुसार परम्पराएँ ही आधुनिकीकरण को प्रेरित करती हैं। परम्पराएँ अनेक विकल्पो मे से उपयुक्त विकल्प को चुनने का अवसर प्रदान करती हैं। आधुनिकता मे नवीन मूल्य और संस्थाएँ होती हैं जिनकी उत्पत्ति का आधार परम्पराएँ प्रदान करती हैं। आप द्वन्द्ववाद के पक्षधर हैं इसलिए आपने आधुनिकीकरण की प्रक्रिया की परिभाषा भी द्वन्द्व या संघर्ष के आधार पर दी है। आप लिखते हैं कि *परम्परा और आधुनिकता मे टकराव होता है, परम्परा वाद है, आधुनिकता प्रतिवाद है, इन दोनो के संघर्ष से जो सशोधित अथवा समन्वित स्थिति उत्पन्न होती है वह आधुनिकीकरण है जिसे समवाद के रूप मे देखा जा सकता है।*

7. भारत का विकास (Development of India)—डी. पी मुकर्जी एक बहुमुखी प्रतिभावान समाजशास्त्री रहे हैं। आपने भारत की प्रगति तथा विकास के सम्बन्ध में भी विचार व्यक्त किये हैं। आपके ये विचार एवं सुझाव सामाजिक एवं आर्थिक दृष्टिकोण से अपना विशेष महत्त्व एव स्थान रखते हैं। भारत की प्रगति के लिए योजनाओ के निर्माण मे आपका यह आग्रह रहा है कि योजनाओ का आधार भारत की सांस्कृतिक परम्पराएँ होनी चाहिए। इसी सन्दर्भ मे आपने गाँधीजी के विचारों का अध्ययन करने का सुझाव दिया और कहा कि विकास की योजनाएँ बनाने से पहले गाँधीजी द्वारा सुझाए गए बिन्दुओ का ध्यान रखा जाना चाहिए। डी पी ने कहा कि गाँधीजी के सुझावो का अन्धानुकरण नहीं किया जाना चाहिए क्योंकि गाँधी जी ने भारतीय परम्पराओं के साथ पश्चिमीकरण के समन्वय के सम्बन्ध मे व्यावहारिक एवं उपयोगी बाते नहीं बताईं। डी. पी. ने भारत के विकास के सन्दर्भ में गाँधीजी के कुछ विचारो का विरोध भी किया है। आपने एक ओर गाँधीजी के रामराज्य की कल्पना को इतिहास-विरोधी बताया है तो दूसरी ओर उनके परम्परावादी दृष्टिकोण का समर्थन किया है। अगर हम पश्चिम के समाजों की बुराइयों से बचना चाहते हैं तो भारतीय परम्पराएँ ही हमें उनकी बुराइयों से सुरक्षित रख सकती हैं। डी. पी मुकर्जी ने भारत की विकास की योजनाओ के लिए परम्पराओ को महत्त्वपूर्ण बताया है तथा आपने लिखा है कि परम्पराओ का विकास द्वन्द्व एवं संघर्ष के द्वारा होता है। आपने परम्पराओं के द्वन्द्व पर विस्तार से लिखा है जो भारतीय समाजशास्त्र में महान् योगदान माना जाता है।

डी. पी. मुकर्जी : परम्पराओं का द्वन्द्व
(D. P Mukerji : Dialectic of Traditions)

डी पी मुकर्जी का **'भारत के समाजशास्त्र में परम्पराओं का द्वन्द्व'** से सम्बन्धित विचार महत्त्वपूर्ण है। आपने भारत मे सामाजिक परिवर्तन के संरचनात्मक परिवर्तन के अध्ययन के लिए द्वन्द्वात्मक-उपागम का प्रयोग किया है। डी पी ने कहा कि भारत के समाजशास्त्रियो को परम्पराओ का समाजशास्त्रीय अध्ययन करना चाहिए। आपने परम्पराओ के अध्ययन के महत्त्व, उपागम, पद्धति, व्याख्या एवं विश्लेषण आदि पर प्रकाश डाला है, जो निम्न प्रकार है—

परम्पराओं के द्वन्द्व के अध्ययन का महत्त्व (Importance of Study of Dialectic of Tradition)—डी पी मुकर्जी ने अपने विभिन्न भाषणो, वार्तालापो, लेखों एवं पुस्तकों मे परम्परा एवं परम्परा के द्वन्द्व के अध्ययन पर जोर दिया है। आपकी मान्यता है कि यदि हम भारतीय समाज एवं उसमें होने वाले परिवर्तनो को समझना चाहते हैं तो हमें पहले परम्पराओ को समझना होगा। डी पी ने परम्पराओं के अध्ययन के लिए द्वन्द्वात्मक-पद्धति का सुझाव दिया। आपका कहना है कि परम्पराओ मे द्वन्द्व या संघर्ष होता है। ये द्वन्द्व भारत की वृहद्-स्तरीय परम्पराओ तथा लघु-स्तरीय परम्पराओ के मध्य होता है। इनमें परस्पर अनुकूलन भी हो सकता है। भारत की आन्तरिक परम्पराओ एवं बाह्य परम्पराओ में भी संघर्ष, द्वन्द्व, टकराव, अनुकूलन व समन्वय आदि होता है। इस प्रक्रिया के द्वारा ये भारत की सामाजिक संरचना को परिवर्तित करती हैं। डी पी मुकर्जी ने इसी संदर्भ मे परम्पराओ के अध्ययन के महत्त्व को बताते हुए लिखा है कि भारतीय संस्कृति का विकास अनेक प्रजातियो एव सस्कृतियों की क्रमागत चुनौतियों एव उनके संश्लेषण के परिणामस्वरूप हुआ

है। इसको समझने के लिए आपने परम्पराओं के अध्ययन का समर्थन किया है और लिखा है कि भारतीय समाजशास्त्री व्याख्यात्मक पद्धति से परम्पराओं के द्वन्द्वात्मक उपागम से अध्ययन कर सकता है।

डी. पी. मुकर्जी ने लिखा है कि भारतीय समाज पश्चिम के समाजों की तुलना मे कम विशृंखलित है। इसमें परिवर्तन अवश्य हो रहा है, इस समाज का अध्ययन आयातित आधुनिक वैज्ञानिक तकनीक से नहीं कर सकते। व्याख्यात्मक-पद्धति से ही इसका अध्ययन करना चाहिए। आप भारतीय समाज को पश्चिम के समाज की आकृति देने के विरोधी थे। भारतीय समाज की विशेषता यहाँ की परम्पराओ का अध्ययन करके ही बनाई रखी जा सकती है।

'परम्पराओं का द्वन्द्व' का अर्थ एवं परिभाषा
(Meaning and Definition of 'Dialectic of Tradition')

डी पी. मुकर्जी का 'परम्पराओ का द्वन्द्व' के उपागम को समझना अत्यावश्यक है। आपने परम्पराओं और द्वन्द्व को परस्पर भारत के समाज को समझने तथा भारतीय समाज के परिवर्तन के अध्ययन के लिए काम में लिया है। इनके इस उपागम एवं सिद्धान्त को समझने के लिए आवश्यक है कि हम—परम्परा, द्वन्द्व एवं 'परम्पराओं का द्वन्द्व'—तीनों को क्रम से समझें, जो अग्र प्रकार हैं।

(1) परम्परा का अर्थ, परिभाषा एवं विशेषताएँ (Meaning, Definition and Characteristics of Tradition)—डी पी मुकर्जी ने अपने अध्यक्षीय भाषण एवं लेख, 'इण्डियन ट्रेडिशन एण्ड सोशियल चेन्ज' जो 'डाइवर्सिटीज' कृति मे प्रकाशित हुआ है, मे परम्परा के विभिन्न पहलुओं पर प्रकाश डाला है। आपने 'परम्परा' शब्द का शाब्दिक अर्थ उत्पत्ति व परिभाषा ऐतिहासिक दृष्टि से दी है जिसकी चर्चा पूर्व में की जा चुकी है। मुकर्जी के अनुसार परम्परा से तात्पर्य हस्तांतरण करना, कीमती वस्तुओं को सुरक्षित रखना, उत्तराधिकार व इतिहास आदि से है। डी. पी. ने लिखा है कि परम्परा का लोग आदर-सम्मान करते हैं और इनका समाज में लम्बे समय से प्रचलन चल रहा होता है। परम्पराएँ भारतीय समाज-व्यवस्था का इतिहास होती हैं जिनके द्वारा भारतीय समाज की निरन्तरता बनी रहती है। परम्पराएँ समाज में सन्तुलन व दृढ़ता बनाये रखती हैं। इस प्रकार परम्पराएँ उन स्रोतों से समुत्पन्न हैं जिनके पीछे ऋषियो की कल्पना की गई है। साराशतः ये परम्पराएँ अनुदान क्रियाओ की सूचक होती हैं।

डी. पी. मुकर्जी ने परम्परा के अर्थ को उसकी विभिन्न विशेषताओं पर प्रकाश डालकर स्पष्ट किया है। आपने लिखा है कि परम्पराओं में विरोध करने एव सीखने की महान् शक्ति निहित होती है। ये समाज में सन्तुलन, दृढ़ता एवं सगठन को बनाये रखती हैं। डी. पी के अनुसार परम्पराएँ कभी मरती नहीं हैं। परम्पराओं में अनुकूलन एवं सामंजस्य करने का गुण निहित होता है इसलिए ये नवीन परिस्थितियों के अनुसार अपने-आपको ढाल लेती हैं। आपका कहना है कि परम्पराओ मे निरन्तरता का गुण निहित होती है अर्थात् एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति, एक स्थान से दूसरे स्थान और पीढी-दर-पीढ़ी हस्तांतरित होती रहती है इसलिए आपके अनुसार परम्परा कोई स्थिर वस्तु नहीं है, ये गतिशील होती हैं। आपने परम्पराओं की क्षमता के गुण पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि इनमे अवरोध एवं

समावेश की अपार क्षमता पाई जाती है। परम्पराएँ समाज के सदस्यो को अपनी आवश्यकता की पूर्ति के लिए अनेक विकल्पो में से उपयुक्त विकल्प को चुनने का अवसर प्रदान करती हैं। आपने परम्परा की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता द्वन्द्ववाद के सन्दर्भ मे बताते हुए लिखा है कि परम्पराओ मे प्राचीन और नवीन का समन्वय मिलता है। आपने कहा है कि परम्पराएँ कभी नष्ट नही होती हैं परम्पराएँ केवल तभी नष्ट होती हैं, जब समाज मे परम्परा-विरोधी तीव्र आर्थिक परिवर्तन होता है। आपने अपने आलोच्य भाषण मे कहा कि परम्परा तब तक नष्ट नहीं होती जब तक कि आर्थिक शक्ति विशेष रूप से बहुत बलशाली न हो और ऐसी भी न हो कि वह समाज मे प्रचलित उत्पादन की प्रणाली को ही बदल डाले। आपने ये भी बताया कि समाजशास्त्री परम्परा की शक्ति का मूल्याकन भी कर सकते हैं। जो परम्परा जितने अधिक विरोधो का सामना करती है व अनुकूलन करती है, पीढी-दर-पीढी बनी रहती है, वह परम्परा उतनी ही शक्तिशाली है। सार रूप मे डी पी ने परम्परा की उपर्युक्त विशेषताएँ बताई हैं।

(2) द्वन्द्व की अवधारणा (Concept of Dialectic)—डी पी मुकर्जी ने द्वन्द्व की अवधारणा हीगल और मार्क्स से ग्रहण की है। योगेन्द्र सिंह ने अपनी पुस्तक मे लिखा है कि डी पी ने तो यह दावा भी किया है कि वे स्वय मार्क्सवादी हैं। आपके परम्परा के द्वन्द्व को समझने के लिए जानना आवश्यक है कि द्वन्द्व का अर्थ क्या है और आप किस रूप मे उसे व्यक्त करते हैं। 'द्वन्द्व' व 'द्वन्द्ववाद' की विस्तृत विवेचना हम पिछले अध्याय '**कार्ल मार्क्स : द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद**' मे कर चुके हैं फिर भी पाठको की सुविधा के लिए सक्षिप्त मे यहाँ उस पर पुन: प्रकाश डाला जा रहा है। द्वन्द्ववाद अग्रेजी के शब्द (Dialectic) का अनुवाद है, जिसका अर्थ वाद-विवाद करना, शास्त्रार्थ एव तर्क-वितर्क करना आदि है। हीगल ने 'फिक्टे' से द्वन्द्ववाद की अवधारणा ग्रहण की। फिक्टे ने तर्क की तीन अवस्थाएँ बताई हैं—वाद, प्रतिवाद और समवाद। पोपर ने लिखा है कि प्रत्येक तार्किक समवाद दो विरोधी विचारो—वाद और प्रतिवाद—से प्राप्त होता है। हीगल ने विश्व के विकास को संघर्ष एवं द्वन्द्ववाद के आधार पर विश्लेषित किया है। आपने द्वन्द्ववाद मे परिवर्तन की तार्किक प्रक्रिया को एक 'त्रैत' (Trait)—वाद, प्रतिवाद और समवाद—के द्वारा स्पष्ट किया है। हीगल ने विचारों मे द्वन्द्व के द्वारा परिवर्तन की व्याख्या की है। मार्क्स ने भौतिकता से द्वन्द्ववाद के आधार पर परिवर्तन की व्याख्या की है। डी पी मुकर्जी ने 'परम्पराओ मे द्वन्द्व' (संघर्ष और समन्वय) के परिणामो के द्वारा भारतीय समाज के परिवर्तन की व्याख्या की है। हीगल ने द्वन्द्व की प्रक्रिया निम्न प्रकार बताई हैं। आपका कहना है कि पहले वाद होता है जो अपने मे से ही विरोधी विचारो को जन्म देता है, जिसे आप प्रतिवाद कहते हैं। इन दोनो—वाद और प्रतिवाद (विचार और विरोधी विचार) के सघर्ष के द्वारा एक तीसरी वस्तु 'समवाद' या 'नया विचार' उत्पन्न होता है। यह क्रम चलता रहता है।

कार्ल मार्क्स ने मत व्यक्त किया है कि भौतिक पदार्थ विचारो को निर्धारित करते हैं। आपने हीगल के विचारो का विरोध किया कि विचार भौतिक पदार्थों का निर्धारण नहीं है। मार्क्स ने कहा कि आर्थिक व्यवस्था और भौतिक पदार्थ के द्वारा परिवर्तन की प्रक्रिया चलती है। आपने वाद, प्रतिवाद और समवाद की प्रक्रिया को शोषक और शोषित के विभिन्न रूपो एव प्रकारो के परस्पर सघर्ष के फलस्वरूप बताया है। यह परिवर्तन का क्रम वर्गों में द्वन्द्व के द्वारा आदिम साम्यवादी वर्ग-विहीन समाज से दासत्व युग, सामन्ती युग व पूँजीपति

युग से होता हुआ वर्ग-विहीन एव राज्य-विहीन साम्यवादी समाज की स्थापना पर जाकर समाप्त होगा।

डी पी मुकर्जी ने द्वन्द्वात्मक सिद्धान्त से प्रभावित होकर भारतीय समाज व्यवस्था के सामाजिक परिवर्तन का सिद्धान्त परम्पराओ के द्वन्द्व का दिया है। आपका मत है कि भारतीय समाज के इतिहास मे वैदिक काल से लेकर आज तक समय-समय पर पुरानी परम्परा और नई परम्परा, वृहद् परम्परा और स्थानीय परम्परा, आन्तरिक परम्परा व बाह्य परम्परा आदि मे परस्पर सघर्ष होता रहा है। अगर हम भारतीय समाज को समझना चाहते हैं तो हमे भारतीय इतिहास मे परम्पराओ के द्वन्द्व, संघर्ष व विरोध आदि का क्रमबद्ध एव व्यवस्थित अध्ययन करना होगा। डी. पी मुकर्जी की दृष्टि मे धर्म से सम्बन्धित परम्पराएँ, जो आज भी अपनी निरन्तरता बनाये हुए हैं और नगरीय मध्यम वर्ग की नवीन परम्पराओ के मध्य द्वन्द्व या सघर्ष का अध्ययन करना चाहिये। वर्तमान में आपने परम्परा और आधुनिकता के परस्पर द्वन्द्व के अध्ययन पर भी जोर दिया है। इनमे सघर्ष के अध्ययन के द्वारा आधुनिकीकरण की प्रक्रिया की व्याख्या की जा सकती है। आपका कहना है कि परम्पराएँ रूढिवादी होती हैं और इनके विरोध मे सुधार-आन्दोलन द्वारा नये मूल्य सघर्ष करने के लिए उत्पन्न होते रहते है। इस प्रकार से आपने द्वन्द्व या सघर्ष के आधार पर परम्पराओ का अध्ययन करके भारतीय समाज एवं सस्कृति मे सामाजिक परिवर्तन की विवेचना की है।

डी पी मुकर्जी द्वारा वर्णित परम्परा और द्वन्द्व की अवधारणाओ को समझने के बाद अब हम 'परम्पराओं का द्वन्द्व' की अवधारणा को समझने का प्रयास करेंगे।

3. परम्पराओं का द्वन्द्व (Dialectic of Traditions)—डी पी मुकर्जी ने 'परम्पराओ का द्वन्द्व' उपागम के द्वारा भारतीय समाज के सामाजिक परिवर्तन की विवेचना की है। इसको आपने अपने अध्यक्षीय भाषण 'इण्डियन ट्रेडिशन इन सोशियल चेन्ज' व 'वेस्टर्न इन्फ्लूएंस ऑन इण्डियन कल्चर' ('न्यू डेमोक्रेट, 1948'), 'मैन एण्ड प्लान इन इण्डिया', 'इकोनोमिक वीकली, बाम्बे, 1953' आदि मे प्रस्तुत किया है।

डी. पी मुकर्जी ने विचार व्यक्त किया है कि भारतीय समाजशास्त्री परम्पराओं के अध्ययन के द्वारा विभिन्न सामाजिक विज्ञानो के मध्य पाये जाने वाले सम्बन्धो का पता लगा सकते हैं। आपने परम्पराओ के अध्ययन के महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि भारतीय समाजशास्त्रियो को निम्न कारणो से परम्पराओं के अध्ययन की ओर ध्यान देना चाहिए। आपका आग्रह है कि भारतीय समाजशास्त्री को उन सामाजिक परम्पराओ का अध्ययन करना चाहिए जिनके बीच उसने जन्म लिया है, पला है, बडा हुआ है और आज भी रह रहा है। डी पी का कहना है कि इन परम्पराओ का अध्ययन करना हमारे लिए आवश्यक तथा लाभदायक है। भारतीय समाजशास्त्री को पहले भारतीय होना चाहिए, उसके बाद उसे अपनी जनरीतियो, लोकाचारो, प्रथाओ तथा परम्पराओ मे भाग लेना चाहिए तथा अपनी सामाजिक व्यवस्था को सही रूप मे समझना चाहिए। भारतीय समाजशास्त्री के लिए केवल समाजशास्त्री होना पर्याप्त नहीं है बल्कि उसे भारतीय जनरीतियो को ठीक तरह से समझना भी चाहिए। आपने यह भी लिखा है कि भारतीय समाजशास्त्री को परम्पराओं मे आन्तरिक एव बाह्य दबावो (द्वन्द्व) से जो परिवर्तन हो रहे हैं, उनका अध्ययन करना चाहिए। डी पी की मान्यता है कि भारतीय परम्परा का सघर्ष आदिकाल से लेकर अब तक अनेक परम्पराओ—आन्तरिक एव बाह्य, उच्च जनरीतियो एव स्थानीय परम्पराओ मे होता

रहा है। आपने निष्कर्ष दिया कि भारतीय परम्पराओं के इतिहास से स्पष्ट होता है कि इनमे अवरोध एवं समावेषण को अपूर्व क्षमता है। भारतीय परम्पराओं में अनुकूलन की विशेष क्षमता है, जिसके कारण वह आज भी बनी हुई है।

भारत को परम्पराओ के द्वन्द्वात्मक परिवर्तन की प्रक्रिया को प्रस्तुत करने से पहिले यहाँ डी पी के कुछ मौलिक सुझावो एवं आपत्तियो को प्रस्तुत करना आवश्यक है। आपका सुझाव है कि भारतीय समाजशास्त्री को अपनी सामाजिक व्यवस्था को सही रूप मे समझने के लिए सस्कृत तथा स्थानीय बोलियों का ज्ञान होना चाहिए। इस बात को आपने निम्न प्रकार से प्रस्तुत किया है। आपका कहना है कि भारतीय परम्पराएँ—परम्पराओ का ज्ञान संस्कृत साहित्य मे उपलब्ध है। जनश्रुतियो को समझने के लिए स्थानीय बोलियो का ज्ञान आवश्यक है। आपने अपने समकालीन समाजशास्त्रियो मे पाया कि उन्हें सस्कृत तथा स्थानीय बोलियो का ज्ञान नहीं है। भारतीय परम्पराओ का द्वन्द्व (संघर्ष) इस्लाम की परम्पराओ के साथ रहा है। इन परम्पराओं का परस्पर संघर्ष एव समन्वय के अध्ययन के लिए अरबी, फारसी आदि भाषाओ का ज्ञान आवश्यक है। डी पी का कहना है कि इन भाषाओ के ज्ञान की तो शायद ही कोई परवाह करता है। आपने लिखा है कि परम्पराओ के द्वन्द्व का अध्ययन इन परिस्थितियो मे निराशाजनक है। आपका आग्रह है कि भारत मे समाजशास्त्रीय शिक्षा सस्कृत या ऐसी भाषा को आधार मानकर दी जानी चाहिए जिनमें परम्पराएँ प्रतीको के रूप में विद्यमान हो। ऐसा जब तक नहीं किया जायेगा तब तक भारत में सामाजिक अन्वेषण द्वैतीयक स्रोतो पर-आश्रित रहेगा। अर्थात् जो कुछ दूसरे कर रहे हैं, उनका मात्र अनुकरण होगा। भारत के सामाजिक वैज्ञानिक व शोधकर्त्ता आदि वैज्ञानिक प्रविधियाँ बाहर से आयात कर रहे हैं ऐसा भी वे बिना सोचे-समझे, उपयोगिता पर बिना ध्यान दिये कर रहे हैं, इसलिए परम्पराओं का द्वन्द्वात्मक अध्ययन वस्तुनिष्ठ नहीं हो पा रहा है।

डी. पी मुकर्जी ने तथ्य प्रस्तुत करके स्पष्ट किया है कि भारतीय समाज को समझने के लिए परम्पराओ से स्वतन्त्र होने का कोई पथ नहीं है। आपने कहा—भारत को धर्म जीवन व्यतीत करने का परम्परागत तरीका है यही बात भारतीय संस्कृति के लिए भी लागू होती है। भारत की सामाजिक व्यवस्था पूर्ण रूप से समूह अथवा जाति क्रिया के लिए प्रतिमानात्मक आधार प्रस्तुत करती है। आपका मत है कि यह सामाजिक व्यवस्था व्यक्ति के लिए स्वैच्छिक रूप से क्रिया करने का प्रतिमान नहीं है। आपका ये भी कहना है—भारत मे मुसलमानों, ईसाइयो तथा बौद्धो में भी समूह के लिए प्रतिमानात्मक आधार उनकी परम्पराएँ प्रदान करती हैं अत: परम्पराओं का अध्ययन करना आवश्यक है। चूँकि भारत मे हिन्दू, बौद्ध, जैन, सिख, मुसलमान व ईसाई आदि अनेक परम्पराएँ हैं जिनमें परस्पर द्वन्द्व होता रहा है, इसलिए आपने इनके अध्ययन की समाजशास्त्रीय पद्धति द्वन्द्वात्मक बताई है।

मुकर्जी ने परम्पराओ मे अनेक प्रकार के विरोध देखे और इसके आधार पर परम्पराओं के द्वन्द्वात्मक अध्ययन की वकालत की। आपका कहना है कि नगरो एवं कस्बो में स्वेच्छावाद पनप रहा है। इनका निकट से अध्ययन किया जाये तो यह बात स्पष्ट रूप से सामने आती है कि इन लोगो मे परम्परा-विरोधी प्रवृत्ति विकसित हो रही है। इनमे व्यक्तिवाद की परम्परा विकसित हो रही है। ये लोग समूहवादी परम्परा के विरोधी बनते जा रहे हैं। अत: परम्पराओ में परस्पर विरोध का अध्ययन करना आवश्यक है।

मुकर्जी ने अपने भाषण में स्पष्ट रूप से कहा कि आज भी धर्म से सम्बन्धित परम्पराएँ अपनी निरन्तरता बनाये हुए हैं। धार्मिक परम्पराओं का द्वन्द्व या संघर्ष नगरीय मध्यम वर्ग की नूतन परम्पराओं के साथ हो रहा है। आपका सुझाव है कि भारतीय समाजशास्त्रियों को इन परम्पराओं का विकास संघर्ष या द्वन्द्व के दृष्टिकोण से करना चाहिए। मुकर्जी लिखते हैं कि जब भारत के समाजों में स्वेच्छावाद या व्यक्तिवाद नहीं पनपा था, तब भारतीय किसान तथा परिवार के मुखिया आदि की आकांक्षाओं का स्तर निम्न था। भारतीयों के जीवन में निराशा तथा कुण्ठाओं का अभाव था। आपने कहा है कि आकांक्षाओं के स्तर का निर्धारण परम्पराएँ करती हैं। इसी सन्दर्भ में आपने यह भी लिखा है कि भारत की प्राचीन परम्पराओं में मनुष्य की अवधारणा पुरुष है, व्यक्ति नहीं है। इसलिए भारतीय समाजशास्त्रियों को अपने अध्ययन की इकाई समूह को चुनना होगा जिनके आचरणों और व्यवहारों को परम्परा नियन्त्रित, निर्देशित और संचालित करती है। इसी सन्दर्भ में डी. पी. ने परम्परा की परिभाषा देते हुए लिखा कि "परम्परा वास्तव में आचरण या व्यवहार का नियम है।"

परम्पराओं के द्वन्द्वात्मक अध्ययन के प्रारूप
(Typologies of Dialectical Study of Tradition)

डी. पी. मुकर्जी ने भारतीय समाज की परम्पराओं का अध्ययन किया और आपने कहा कि यदि समाजशास्त्रियों को भारतीय समाज को समझना है तो इसकी परम्पराओं का द्वन्द्वात्मक दृष्टिकोण से विभिन्न कालों में अध्ययन करना चाहिए। आपने भारतीय समाज की परम्पराओं के द्वन्द्व के आधार, प्रकार एवं रूप सुझाये हैं, जो निम्न प्रकार हैं—

1. लघु एवं वृहद् परम्परा में संघर्ष (Dialect of Great and Little Tradition)—सर्वप्रथम आपने यह कहा कि भारतीय संस्कृति के अन्दर ही आन्तरिक दबावों के फलस्वरूप वृहद्-परम्परा और लघु-परम्परा में संघर्ष होता है। ऐसा लगता है कि हीगल ने द्वन्द्वात्मक सिद्धान्त के सम्बन्ध में लिखा है कि जो वाद होता है उसके विरोध के तत्त्व उसी में से उत्पन्न होते हैं, इसी प्रकार भारतीय संस्कृति की वृहद्-परम्परा में विरोध लघु-परम्परा के रूप में इसके विरोध में उत्पन्न हुए हैं। समय-समय पर भारतीय संस्कृति की परम्पराओं के विरुद्ध भारतीय समाज में ही विरोध उत्पन्न हुए हैं। भक्तिकाल में चैतन्य, कबीर, दादू, नानक व विस्ती आदि ने परम्पराओं के विरुद्ध सुधारात्मक प्रयास किये। इसी प्रकार 19वीं शताब्दी में *ब्रह्म समाज, आर्य समाज, रामकृष्ण मिशन आदि* ने परम्पराओं के विरुद्ध सुधारात्मक आन्दोलन किये जो उस काल में विद्यमान परम्पराओं के विरुद्ध थे।

2. पुनर्जागरण की श्रृंखलाएँ (Series of Renaissance)—डी. पी. मुकर्जी ने एक स्थान पर लिखा है कि *भारतीय परम्पराओं का अध्ययन हमें पुनर्जागरण के रूप में भी* करना चाहिए। आप ही के शब्दों में, "----- 19वीं शताब्दी का पुनर्जागरण केवल एक है, जो कि भारत में पुनर्जागरण की श्रृंखला की अन्तिम कड़ी है। हम कम-से-कम पहले के पाँच प्रमुख कालों को जानते हैं जिसमें परिवर्तन हुए हैं और सभी में नवजीवन के लक्षण मिलते हैं।" इन पंक्तियों के बाद आपने भारतीय परम्पराओं के संघर्ष के आधार पर निम्न पाँच प्रमुख कालों का उल्लेख किया है। छठे ब्रितानिया काल का आपने उल्लेख बाद में किया है—

1. वैदिक-आर्यकाल

2 युद्ध-काल
3 गुप्त-काल
4 हर्ष एव विक्रमादित्य काल
5 मुस्लिम काल (भक्ति काल)
6 ब्रितानिया काल

इन कालो मे परम्परा के सम्बन्ध मे जो सघर्ष, अनुकूलन और परिवर्तन आदि मिले उसका उल्लेख आपने किया है।

3. उच्च एवं निम्न आरोही व अवरोही प्रक्रियाएँ (Ascending and Descending Processes)—मुकर्जी ने परम्पराओ के अध्ययन के सम्बन्ध में टर्नर (Turnner) के वर्गीकरण का अनुकरण किया है। इनके अनुसार परम्पराएँ दो भागो मे बाँटी गई हैं, जो निम्न हैं—

(1) उच्च (High)

(2) निम्न (Low)

आपने इस वर्गीकरण के अनुसार परम्पराओ के द्वन्द्व के अध्ययन की योजना का उल्लेख किया है जिसमें गुरविच (Gurvitch) के विचारों का भी समावेश किया है। आपने कहा है कि मुख्य बात यह है कि समाजशास्त्र को सामाजिक व्यवस्था के परिवर्तन की प्रक्रिया का विश्लेषण करना चाहिए जिसमे सम्बन्धित क्रियाएँ शिखर से नीचे की ओर जाती हैं और धरातल से शिखर की ओर जाती हैं, जिनको आपने निम्न शब्दों मे व्यक्त किया है—(1) नीचे गहराई मे जाना (Descent to the Deeps), और (2) ऊपर ऊँचाई की ओर जाना (Ascent to the Heights)। इसको हम परम्पराओं की आरोही एवं अवरोही प्रक्रिया कह सकते हैं जिसमें परस्पर सघर्ष, अनुकूलन, सामजस्य व समन्वय होता है। आपने लिखा कि "   और मैं ये सोचता हूँ कि भारतीय समाज एव भारतीय समाजशास्त्र—हमारे सभी शास्त्र समाजशास्त्रीय हैं। . . " इस कथन को आपने इस सन्दर्भ मे कहा है कि भारतीय समाज के सम्बन्ध में बहुमूल्य समाजशास्त्रीय ज्ञान हमारे शास्त्रो में देखा जा सकता है।

4. आन्तरिक एवं बाह्य परम्पराओ में द्वन्द्व (Dialectic in Endogenous and Exogenous Traditions)—डॉ पी मुकर्जी ने भारतीय समाज की परम्पराओं के द्वन्द्व का वर्णन करते हुए लिखा है कि भारतीय परम्पराओं का टकराव समय समय पर बाहर से आई परम्पराओ से होता रहा है, इनमे मुख्य रूप से इस्लाम एव पश्चिमी बाह्य परम्पराएँ हैं। इन बाह्य परम्पराओ के कारण भारतीय परम्पराओं मे काफी परिवर्तन आया है। पश्चिम की परम्पराओं का विश्लेषण आपने अपने लेख 'वैस्टर्न इन्फ्लूएंस ऑन इण्डियन कल्चर डाइवर्सिटीज' मे किया है।

5. परम्परा एवं आधुनिकता मे द्वन्द्व (Dialectic in Tradition and Modernity)—डॉ पी ने लिखा है कि परम्परा और आधुनिकता मे टकराव होता है, इसको आपने द्वन्द्ववाद के रूप मे प्रस्तुत किया है। आपने एक प्रकार से परम्परा को वाद और आधुनिकता को प्रतिवाद माना है। इन दोनों के द्वन्द्व से जो संशोधित एवं समन्वित परिणाम निकलता है, उसी को आपने आधुनिकता कहा है। इसे अग्र प्रकार से स्पष्ट किया जा सकता है—

वाद ←——→ प्रतिवाद = समवाद

परम्परा ←——→ आधुनिकता = आधुनिकीकरण

डी. पी. मुकर्जी ने लिखा है कि वर्तमान का अध्ययन अतीत के सन्दर्भ मे ही किया जा सकता है। इसलिए आधुनिकीकरण को समझने के लिए परम्परा को समझना आवश्यक है। परम्परा और आधुनिकता के अन्तर्खेल से परम्परागत मूल्यो और सांस्कृतिक प्रतिमानो मे जो विस्तार और परिमार्जन होता है, वही आधुनिकीकरण है।

योगेन्द्रसिंह ने 'मॉडर्नाइजेशन एण्ड ट्रेडिशन' मे 'सोशियल चेञ्ज इन इण्डिया : एन अप्रोच' मे लिखा है कि डी. पी. मुकर्जी की कृतियो मे हम परम्पराओ के प्रकारो एवं स्तरो का सम्पूर्ण विवेचन पाते हैं, *जिसमें परिवर्तन, अन्तःक्रिया तथा टकराव के द्वारा परिवर्तन होता* है। योगेन्द्रसिंह ने यह भी निष्कर्ष दिया है कि डी. पी. ने अपना ध्यान अधिकांशत: बृहद् परम्पराओ (इस्लाम, हिन्दूवाद और आधुनिक पश्चिम) पर केन्द्रित रखा है तथा परम्पराओ की लघु-संरचना को विवेचना अति न्यून है।

डी. पी. मुकर्जी द्वारा अपने विभिन्न लेखो, अध्यक्षीय भाषणो एवं कृतियों में परम्पराओ के अध्ययन से सम्बन्धित द्वन्द्व के रूपो का जो वर्णन किया है, उनको सार रूप मे निम्न प्रकार से प्रस्तुत किया जा सकता है—

परम्पराओं के द्वन्द्वात्मक अध्ययन के प्रारूप

आन्तरिक	बाह्य
1. बृहद् परम्परा एव लघु परम्परा	1. इस्लाम काल
2. पुनर्जागरण की श्रृखलाएँ	2. ब्रितानिया काल
3. वैदिक-आर्य काल	3. 19 वीं शताब्दी का पुनर्जागरण
4. बौद्ध काल	4. आधुनिकता
5. गुप्त काल	
6. हर्ष व विक्रमादित्य काल एवं	
7. भक्ति काल	

भारतीय परम्पराओं का द्वन्द्वात्मक अध्ययन
(Dialectical Study of Indian Traditions)

डी. पी. मुकर्जी ने भारतीय परम्पराओ का जो द्वन्द्वात्मक विवेचन किया है उसे संक्षिप्त रूप मे निम्न प्रकार से प्रस्तुत किया जा सकता है।

आपने परम्पराओ के दो प्रकार के द्वन्द्व बताए हैं—(1) आन्तरिक द्वन्द्व और (2) बाह्य द्वन्द्व। इन्हें निम्न क्रम से प्रस्तुत किया जा सकता है।

1. आन्तरिक परम्पराओ का द्वन्द्व (Dialectic of Endogenous Traditions)—डी. पी. मुकर्जी ने परम्पराओ के द्वन्द्व का प्रमुख प्रकार आन्तरिक द्वन्द्व का स्वरूप बताया है। इसमें आपने भारतीय समाज और सस्कृति मे जितने भी प्रकार के परम्पराओ

के द्वन्द्व हुए हैं, उन सभी को इसमे समाहित किया है। आपने भारत के इतिहास में द्वन्द्व की प्रक्रिया को काल-क्रमिक दृष्टिकोण से वर्णित करते हुए लिखा कि परम्पराओं का द्वन्द्व वैदिक--आर्य काल, बुद्धकाल, गुप्तकाल, हर्षवर्धन तथा विक्रम काल और भक्ति काल में हुआ है। इन सभी कालो में विद्यमान परम्पराओं का समाज के प्रमुख लोगो ने विरोध किया और सुधार के रूप मे कुछ-न-कुछ परिणाम सामने आए। जैसा कि पूर्व मे स्पष्ट किया जा चुका है कि डी पी भारतीय इतिहास मे मात्र 19वीं शताब्दी को ही पुनर्जागरण नहीं मानते बल्कि आप विभिन्न कालों को भारत में पुनर्जागरण की शृंखलाएँ मानते हैं। जिसकी अन्तिम कड़ी उन्नीसवीं शताब्दी का पुनर्जागरण है। आपने मुस्लिम काल को भी पुनर्जागरण की शृंखला की एक कड़ी माना, जिसमे भक्ति काल में परम्पराओ का सघर्ष अधिक स्पष्ट प्रकट हुआ।

डी पी ने आन्तरिक दबावों, टकरावों एवं द्वन्द्व के अध्ययन पर बल दिया है। परम्पराएँ सामजस्य एवं अनुकूलन आदि के द्वारा जीवित रही हैं। आपने लिखा है कि भारतीय परम्पराएँ प्रतीको के रूप मे संस्कृत तथा स्थानीय बोलियो मे विद्यमान हैं। संस्कृत साहित्य मे आपके अनुसार ब्राह्मणो को परम्पराओ का संरक्षक माना गया है। ब्राह्मण पवित्र पुस्तको के माध्यम से भारतीय परम्परा की पवित्रता को बनाए रखते थे। ये सामाजिक सरचना को परम्परा के रूप में सुरक्षित रखते हैं। डी पी ने लिखा है कि जाति-प्रथा भारतीय परम्परा है। ब्राह्मणों ने परम्पराओ की रक्षा के द्वारा भारतीय समाज व्यवस्था का इतिहास बनाए रखा। पीढ़ी-दर-पीढ़ी वे परम्पराओ को स्थानान्तरित करते रहे।

डी. पी ने लिखा है कि ऐसा होते हुए भी भारतीय परम्पराओ में श्रुति, स्मृति और अनुभव से स्पष्ट होता है कि इनमें परिवर्तन हुए हैं। यदि हम विभिन्न सम्प्रदायों, धार्मिक ग्रन्थों की उत्पत्ति का अध्ययन करे तो पायेगे कि उच्च परम्पराएँ मुख्यरूप से वृहद् एव बौद्धिक थीं और सन्तो के वैयक्तिक अनुभव, लघु तथा निम्न बौद्धिक परम्पराओ के रूप समय-समय पर प्रतिवाद के रूप मे उत्पन्न होते रहे। इन उच्च और निम्न परम्पराओ और वृहद् और स्थानीय परम्पराओं मे द्वन्द्व होता रहा। उच्च या वृहद् परम्पराएँ संस्कृत भाषा से सम्बन्धित थीं, लघु या निम्न परम्पराएँ स्थानीय बोलियो के रूप मे थीं। इसी सन्दर्भ मे आपने लिखा कि भारतीय परम्पराओ मे अपूर्व समावेश की क्षमता रही है, इसी कारण इसकी परम्पराओ मे जब भी विरोध हुआ इसने उनको अपने मे समाविष्ट कर लिया। विभिन्न कालों मे अनेक सम्प्रदायों के सन्त-संस्थापकों ने अपने व्यक्तिगत अनुभवो से परम्पराओ के विरुद्ध विचार व्यक्त किए। उनका मन्दिरो तथा पुजारियों से कोई सम्बन्ध न था। इन्होने निम्न जातियों एवं वर्गों को ही अपने पथ से सम्बन्धित रखा। इन्होने स्त्रियों को समान स्थिति प्रदान की एव प्रेम, स्नेह तथा सहजता या स्वाभाविकता का उपदेश दिया। सन्तो का लोगो पर व्यापक प्रभाव पडने से परम्पराओ मे परिवर्तन हुआ। आपने बताया कि विभिन्न कालो मे मानव, बौद्धिकता एवं विचारो का प्रचार हुआ। कला, हस्तकला व साहित्य आदि का विकास हुआ। आपका कहना है कि आन्तरिक शक्तियो एवं दबावो से परम्पराओं मे जो परिवर्तन हुआ है इसका अध्ययन करके ही भारतीय परम्पराओं को समझा जा सकता है। आपने पूर्व उल्लेखित विभिन्न कालो मे परम्पराओ का गहन अध्ययन नहीं किया। योगेन्द्रसिह ने भी अपने निष्कर्ष में डी पी. के बारे में यही लिखा है।

2. बाह्य परम्पराओं से द्वन्द्व (Dialectic with Exogenous Traditions)— डी. पी. मुकर्जी ने लिखा है कि वैसे तो भारत में समय-समय पर बाहर से अनेक प्रजातियाँ और संस्कृतियाँ आईं लेकिन भारतीय परम्परा पर सबसे अधिक बाहर से आई इस्लामी और पश्चिमी ब्रितानिया परम्परा का प्रभाव पड़ा। इस्लामी परम्परा भारत में बाहर से आए मुसलमानों के साथ आई। डी पी ने लिखा कि पन्द्रहवीं व सोलहवीं शताब्दी में इस्लाम ने हिन्दूवाद पर पूर्ण रूप से प्रहार किया। इसके द्वारा हिन्दूवाद में परिवर्तन आया।

डी पी. मुकर्जी ने अपने लेख 'वेस्टर्न इन्फ्लूएंस ऑन इण्डियन कल्चर' अर्थात् 'भारतीय संस्कृति पर पश्चिम के प्रभाव' की बहुत विस्तार से विवेचना की है। आपने लिखा है कि भारतीय समाज पर पश्चिम के प्रभाव को परम्पराओं के द्वन्द्व में बहुत महत्त्वपूर्ण माना जाता है। जो प्रभाव मुस्लिम शासन से प्रारम्भ हुए थे, ब्रितानिया साम्राज्य ने उसमें व्यवधान डाला। डी पी. ने अंग्रेजो द्वारा भारत में नवीन आर्थिकी, राजनीति, न्यायिक एवं सामाजिक व्यवस्थाओं व संस्थाओं को परिवर्तन का कारण माना हैं। आपका यह भी कहना है कि 19वीं शताब्दी में राष्ट्रवाद का विस्तार हुआ। इस काल मे पुनर्जागरण की प्रक्रिया एवं समाज-सुधार आन्दोलन को डी पी पश्चिमी प्रभाव मानते हैं। आपने व्यक्तिवाद का उदय, स्वतन्त्रता की भावना व बाह्य सत्ता से मुक्ति आदि का कारण पश्चिम का प्रभाव माना है। इसी काल में ब्रह्म समाज, आर्य समाज, प्रार्थना समाज व रामकृष्ण समिति आदि ने भी समाज सुधार के प्रयास किए जो एक प्रकार से भारतीय परम्परा के विरुद्ध थे। ये सभी नवीन धार्मिक आन्दोलन पुरातन-समाज द्वारा अपने में समाहित कर लिए गए। डी पी ने भारतीय परम्पराओं पर पश्चिम के प्रभावों का विस्तार से उल्लेख किया है, जिसे हम अलग से निम्न प्रकार से प्रस्तुत कर रहे हैं—

भारतीय संस्कृति पर पश्चिम का प्रभाव
(Western Influence on Indian Culture)

डी पी मुकर्जी ने अपने इसी शीर्षक के लेख में भारतीय परम्परा, संस्कृति और समाज पर बाह्य परम्परा अर्थात् पश्चिम के प्रभाव का विश्लेषण किया है। इसमें आपने भारत की अर्थव्यवस्था मे परिवर्तन, आर्थिक कारको का प्रभाव, शिक्षा, राष्ट्रीयता के लिए संघर्ष व ईसाई मिशनरियो का प्रचार, पुनर्जागरण आदि पर प्रकाश डाला है।

डी पी मुकर्जी ने मार्क्स के विचारों का उल्लेख करते हुए लिखा है कि भारत वर्ष मे आधुनिकीकरण (पश्चिमीकरण) की प्रक्रिया ब्रितानिया प्रशासन के द्वारा प्रारम्भ हुई। एक प्रकार से अंग्रेजो ने ही भारतवर्ष में बहुमुखी परिवर्तनो की प्रक्रिया का श्रीगणेश किया, ऐसा डी. पी. और मार्क्स का मानना है। आपने लिखा है कि बाहर से अनेक प्रजातियाँ एवं संस्कृतियाँ भारत मे आईं और यहीं बस गई, लेकिन अंग्रेज यहाँ पर बसने के उद्देश्य से नहीं आए। डी पी ने लिखा कि पश्चिम के प्रभाव की समस्या स्वीकृति या अस्वीकृति की नहीं है, बल्कि इसको भारतीय परम्पराओ के सन्दर्भ मे समझने की है। अंग्रेजों का उद्देश्य लाभ कमाना था। उन्होने अर्थव्यवस्था के परिवर्तन पर विशेष बल दिया। डी. पी ने लिखा भी है कि किसी समाज की परम्परा को सबसे अधिक धक्का आर्थिक व्यवस्था में आमूल-चूल परिवर्तन होने का पड़ता है। अंग्रेजों ने भारत में अनेक नवीन परिवर्तन किए। ब्रितानिया प्रशासन ने भारत की ग्रामीण आत्मनिर्भर अर्थव्यवस्था को विखंडित कर दिया। भू-व्यवस्था

के अनेक नये कानून बनाकर उसे नवीन रूप दिया। भारत की अर्थव्यवस्था ग्राम, नगर, महानगर से होती हुई विश्व अर्थव्यवस्था मे जुड़ गई और इस प्रकार से आत्मनिर्भरता पारस्परिक निर्भरता मे बदल गई। यहाँ से कच्चा माल विदेश जाने लगा और उत्पादित वस्तुएँ यहाँ बिकने लगीं।

ब्रितानिया सरकार ने अपने उद्देश्य को सफल बनाने के लिए भारत मे शिक्षा का विस्तार किया। भारतीय लोग राजनीति, तत्त्व-दर्शन तथा यूरोप के इतिहास के सम्पर्क मे आए। भारतीयो पर पश्चिमी विज्ञान एव दर्शन का प्रभाव पड़ा, उनके सोचने-विचारने मे व्यक्तिवाद एव तर्क का समावेश हुआ। इसका परिणाम यह हुआ कि शिक्षित भारतीय लोग प्राचीन परम्पराओ और प्रथाओ को महत्त्वहीन मानने लगे। मुस्लिम काल में अनेक कुरीतियाँ भारतीय समाज मे विकसित हो गई थीं। उनका विरोध पश्चिम मे प्रभावित शिक्षित भारतीयों ने किया, जिसका परिणाम ब्रह्म समाज, आर्य समाज, प्रार्थना समाज व रामकृष्ण समिति आदि की स्थापना व समाज-सुधार के रूप मे हुआ। पश्चिमी सम्कृति का प्रभाव भारत के साहित्य, चित्रकला, सगीत, कला आदि की प्रगति पर भी पड़ा। वैज्ञानिक शोध, पत्रकारिता, विश्वविद्यालयी शिक्षा, क्लब, समितियो का गठन, नारी स्वतन्त्रता, सतीप्रथा पर रोक व विधवा पुनर्विवाह आदि परिवर्तन आए।

डी पी तथा अनेक विद्वानो का कहना है कि भारत मे राष्ट्रीयवाद की भावना व राष्ट्रीयता की लहर पश्चिम के प्रभावो का परिणाम है। शिक्षित भारतीयो मे स्वतन्त्रता, समानता एव राष्ट्रीयता के मूल्य विकसित हुए। ये लोग मानवतावाद के प्रति जागरूक हो गए। अब तक जो पुनर्जागरण प्रजातियो एवं सस्कृतियो की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप चल रहा था, वह ब्रितानिया सरकार के कारण बहुत गत्यात्मक हो गया। ब्रितानिया साम्राज्य के साथ-साथ भारत मे ईसाई मिशनरियो ने ईसाई धर्म का खूब प्रचार किया। यह धर्म-प्रचार मानवतावाद पर आधारित रहा है। इन मिशनरियो ने भारतीय परम्पराओं से सम्बन्धित अन्धविश्वासो से लोगो को मुक्ति दिलाई। यहाँ के लोग अपने विकास एव प्रगति की ओर सजग हो गए। भारतवर्ष मे पश्चिम के प्रभाव का एक परिणाम यहाँ पर व्यक्तिवाद का उदय होना है। डी पी ने लिखा है कि भारतीय बुद्धिजीवी अपने स्वय के बारे में सोचने लगे, व्यक्तियो मे स्वतन्त्रता की भावना का उदय हुआ। स्त्रियाँ अपने पति व परिवार से मुक्ति की बात सोचने लगीं। सार रूप मे डी पी मुकर्जी ने ब्रितानिया साम्राज्य के रूप मे पश्चिमी सस्कृति एव परम्पराओं के प्रभावो का विवेचन किया। आपने यह भी लिखा कि विभिन्न क्षेत्रो मे इसका प्रभाव इतना बढ गया कि भारतीय लोग इस बाह्य सत्ता (ब्रिटिश शासन) से स्वतन्त्रता प्राप्त करने के लिए प्रयास करने लगे।

डी पी मुकर्जी ने यह भी बताया कि भारतवर्ष मे जाति-प्रथा ने कभी वर्गों को विकसित नही होने दिया लेकिन पश्चिम के प्रभाव के कारण वर्ग के लक्षण उभरे और एक बडे मध्यम वर्ग का उदय हुआ। डी पी मुकर्जी ने इस सम्बन्ध मे रवीन्द्रनाथ टैगोर के विचारो को भी उद्धरित किया है, जो निम्न प्रकार हैं—

टैगोर ने भारतीय परम्पराओ पर पश्चिम के निम्न तीन प्रभावो का उल्लेख किया है—

1 भारत के दृष्टिकोण मे परिवर्तन हुआ जो पहले जाति प्रथा के कारण एक सीमा तक सीमित था।

2. मानव के सम्मान मे विश्वास पैदा हुआ।
3. मानवीय समस्याओ के समाधान के लिए मानव स्वयं सक्षम है, इस विचार को स्वीकार किया गया।

डी पी मुकर्जी ने लिखा है कि अग्रेजो ने कभी भी भारत के सामाजिक मामलो मे योजनाबद्ध दखल नहीं दिया। ब्रितानिया सरकार की नीति सामाजिक मामलों के प्रति प्रशासकीय तटस्थता को रही इसीलिए ब्रितानिया सरकार ने जाति-व्यवस्था को समाप्त करने के लिए कोई प्रयास नहीं किया। लेकिन अन्य नवाचारो के कारण भारतीयो मे अपने प्राचीन इतिहास एवं सभ्यता को समझने एव देखने के प्रति जागृति पैदा हो गई और उसे समझने का उन्होने प्रयास किया।

डी पी मुकर्जी ने लिखा कि ब्रितानिया सरकार एव पश्चिम के प्रभाव से पश्चिम पूर्व के निकट आया। इस निकटता का श्रेय अग्रेजो के व्यापार एव उद्योग को जाता है। अग्रेजो के माध्यम से पूर्व एवं पश्चिम को सस्कृतियो मे आदान-प्रदान हुआ। पश्चिम के सम्पर्क से भारत मे प्राकृतिक विज्ञानो की प्रगति हुई। भौतिक विज्ञान एवं रसायन विज्ञान मे उल्लेखनीय प्रगति हुई। डी पी. का कहना है कि सामाजिक विज्ञानों के सम्बन्ध मे भारत मे अधिक प्रगति नहीं हुई क्योंकि भारतीय सामाजिक संस्थाएँ इनके प्रति विरोधी रहीं। शिक्षित लोगो मे विशेष रूप से महात्मागाँधी और उनके अनुयायियो मे नई मशीनो और औद्योगीकरण के प्रति विरोध रहा। डी पी मुकर्जी ने अपना यह लेख 'भारतीय सस्कृति पर पश्चिम का प्रभाव' 1948 मे लिखा था, इसलिए भारतीय परम्परा एवं पश्चिमी संस्कृति मे जो आदान-प्रदान सन् 1948 के बाद हुए उसका इसमे उल्लेख नहीं है। विगत् वर्षों मे पूर्व और पश्चिम मे सस्कृति व सभ्यता से सम्बन्धित अनेक उल्लेखनीय आदान-प्रदान हुए हैं जिसके सम्बन्ध मे डी पी मुकर्जी द्वारा प्रस्तुत की गई पृष्ठभूमि महत्वपूर्ण है।

अभ्यास प्रश्न

निबन्धात्मक प्रश्न

1 डी पी मुकर्जी के जीवन-चित्रण एव रचनाओ पर प्रकाश डालिए।
2 डी पी मुकर्जी के सामाजिक विचारो, अध्ययन के दृष्टिकोण, मार्क्सवादी विचारधारा, अध्ययन पद्धति और विभिन्न सामाजिक विज्ञानो के परस्पर सम्बन्धो की समीक्षा कीजिए।
3 डी पी मुकर्जी का भारत के समाजशास्त्र मे योगदान का वर्णन कीजिए।
4 भारतीय सामाजिक परिवर्तन मे परम्पराओ के महत्त्व पर प्रकाश डालिए।
5 डी पी मुकर्जी के 'परम्परा का द्वन्द्व' से सम्बन्धित विचारो का आलोचनात्मक मूल्याकन कीजिए।
6 डी. पी. मुकर्जी के द्वन्द्वात्मक अध्ययन के प्रारूपो की विवेचना कीजिए।
7 भारतीय सस्कृति पर पश्चिम के प्रभावो की विवेचना कीजिए।

लघुउत्तरात्मक प्रश्न

निम्नलिखित पर सक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिए :—

1 डी पी मुकर्जी : परम्पराओ का द्वन्द्व (राज वि 1996)
2 डी पी मुकर्जी के अनुसार परम्परा का अर्थ
3 लघु एवं वृहद् परम्परा मे द्वन्द्व

4 पुनर्जागरण की शृखलाएँ
5 उच्च एवं निम्न आरोही व अवरोही प्रक्रियाएँ
6 परम्पराओ के द्वन्द्वात्मक अध्ययन के प्रारूप
7 भारतीय सस्कृति पर पश्चिम का प्रभाव
8 विभिन्नता की अवधारणा (राज वि 199

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1 डी पी मुकर्जी का जन्म कब हुआ था?
(अ) 1894 (ब) 1895 (स) 1869 (द) 1889
[उत्तर- (अ)]

2 डी. पी मुकर्जी का देहान्त कब हुआ था?
(अ) 1958 (ब) 1962
(स) 1968 (द) 1983
[उत्तर- (ब)]

3. 'व्यूज एण्ड काउण्टर-व्यूज' रचना के लेखक कौन हैं?
(अ) डी. पी मुकर्जी (ब) राधाकमल मुकर्जी
(स) जी एस घुर्ये (द) दुर्खीम
[उत्तर- (अ)]

4 निम्नलिखित मे से सत्य कथनो का चयन कीजिए—
(i) डी पी मुकर्जी के अनुसार भारतीय समाज मे परम्पराओ का सघर्ष (द्वन्द्व) वृहद्स्तर और लघुस्तर की परम्पराओं मे होता है।
(ii) डी. पी. मुकर्जी की अध्ययन पद्धति मनो-समाजशास्त्रीय है।
(iii) डी. पी मुकर्जी का दृष्टिकोण सम्पूर्णतावादी नहीं है।
(iv) डी पी मुकर्जी के अनुसार भारतीय समाजशास्त्री के लिए संस्कृत भाषा तथा स्थानीय भाषा का ज्ञान होना आवश्यक नहीं है।
(v) 'परम्पराओ का द्वन्द्व' की अवधारणा राधाकमल मुखर्जी ने प्रतिपादित की है।
[उत्तर-सत्य कथन : (i), (ii), असत्य कथन : (iii), (iv), (v)]

5. 'परम्पराओं का द्वन्द्व' के प्रारूप लघु-वृहद्, उच्च-निम्न, आन्तरिक-बाह्य परम्परा-आधुनिकता किसने दिए हैं?
(अ) राधाकमल मुखर्जी (ब) डी पी मुकर्जी
(स) गुरविच (द) मजूमदार
[उत्तर- (ब)]

6 परम्परा को वाद, आधुनिकता को प्रतिवाद और समवाद को आधुनिकीकरण किसने कहा है?
(अ) डी पी मुकर्जी (ब) श्रीनिवास
(स) घुर्ये (द) राधाकमल मुकर्जी
[उत्तर- (अ)]

अध्याय-15

डी. पी. मुकर्जी : कला तथा साहित्य का विकास
(D.P. Mukerji : Development of Art and Literature)

डी. पी. मुकर्जी ने भारत मे साहित्य और कला के विकास पर अपने विचार निम्न तीन लेखों मे व्यक्त किये हैं।

1. 'सोशियल प्रोब्लम्स् इन फिक्शन', 20वीं शताब्दी कलकत्ता, 1935,
2. 'सोशियोलोजी ऑफ इण्डियन लिटरेचर', 1950-52, और
3. 'सोशियल चेन्जेज एण्ड इण्टलेक्चुअल इन्टरेस्ट', आपने यह लेख दिल्ली मे यूनेस्को विचारगोष्ठी मे सन् 1956 मे प्रस्तुत किया था।

आपके ये तीनों लेख 'डाइवर्सिटीज' पुस्तक मे प्रकाशित हुए है। इन लेखो मे आपने भारतवर्ष मे विद्यमान साहित्य का समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से मूल्याँकन किया है। डी पी ने 'भारतीय साहित्य का समाजशास्त्र' लेख मे साहित्य का विकास विभिन्न भाषाओ में साहित्य की स्थिति, संस्कृत, हिन्दी, बंगाला व उर्दू आदि भाषाओ मे गद्य-पद्य, नाटक व उपन्यास इत्यादि का विश्लेषण करके स्पष्ट किया कि इनमे समाज व संस्कृति का चित्रण किस प्रकार किया गया है। उन्होने भाषाई क्षेत्र के आधार पर भारतीय साहित्य पर प्रकाश डाला। साहित्य मे विपथगमन, कर्त्तव्य, भावुकता, नैराश्य, पुनर्जागरण, राष्ट्रीयता, देश-भक्ति, प्रकृति-प्रेम व ईश्वर-प्रेम आदि के आधार पर साहित्य का काल्पनिक विकास बताया गया है। आपने भारतीय साहित्य पर मुस्लिम संस्कृति का प्रभाव और अंग्रेजी साहित्य के प्रभाव का भी मूल्याकन किया है। आपने हिन्दी साहित्य में सामाजिक समस्याओ के चित्रण एवं साहित्य के द्वारा समाज-सुधार पर भी प्रकाश डाला है। आपका कहना है कि भारत एक बहु-भाषाई एव बहु-क्षेत्रीय राष्ट्र है इसलिए भारतीय साहित्य एव कला के विकास की पूर्ण जानकारी के लिए भाषा एव क्षेत्र के आधार पर विस्तृत अध्ययन की आवश्यकता है। आपने बंगला, हिन्दी और उर्दू साहित्य के विख्यात साहित्यकारो व उनकी रचनाओ तथा उनकी विषय-सामग्री को संक्षिप्त पाद-टिप्पणी मे प्रस्तुत किया है। यहाँ हम उपयुक्त क्रम से ही भारतीय साहित्य एव कला के विकास को डी पी मुकर्जी द्वारा प्रदान की गई सामग्री के आधार पर प्रस्तुत कर रहे हैं।

भारतीय साहित्य का समाजशास्त्र
(Sociology of Indian Literature)

डी पी मुकर्जी ने 'भारतीय साहित्य का समाजशास्त्र' को अपने लेख 'सोशियोलोजी ऑफ इण्डियन लिटरेचर' मे वर्णित किया है। आपने लिखा है कि अगर हम भारतीय साहित्य का सामान्य सर्वेक्षण करे तो पायेगे कि इस साहित्य मे निम्नलिखित समाजशास्त्रीय विशेषताएँ हैं। इन्होने कहा कि साहित्य मे संस्कृति और समाज का गत्यात्मक

वर्णन मिलता है जो एक प्रकार से समाजशास्त्रीय है। आपके अनुसार भारतीय साहित्य की परम्पराएँ—साहित्य के इतिहास और साहित्य—दोनों मे ही विषय-वस्तु के रूप मे विद्यमान होती हैं। डी पी का मत है कि सास्कृतिक परम्पराएँ एव प्रयोग सामाजिक क्रियाओ को प्रभावित करते हैं और सामाजिक क्रियाएँ सास्कृतिक परम्पराओ को प्रभावित करती हैं अर्थात् ये दोनो परस्पर घनिष्ठतया सम्बन्धित, अन्योन्याश्रित व सगुफित हैं। आपने निष्कर्ष निकालते हुए लिखा कि समाज के साहित्य की प्रकृति का समाज की सस्कृति और सामाजिक प्रक्रिया से सीधा, प्रत्यक्ष और घनिष्ठ रूप से सम्बन्ध होता है। आपने पाद-टिप्पणी मे लिखा कि अब तक जो साहित्य प्रकाशित हुआ है, उसमे निम्न कमियाँ मिलती हैं—

1 समाजशास्त्रीय पद्धतियो एवं सिद्धान्तो से अपरिचितता।
2 मार्क्सवादी व्याख्या का अति-सरलीकरण, और
3 लेखक की अपनी मातृभाषा के अतिरिक्त अन्य साहित्यों मे होने वाली घटनाओ के प्रति तटस्थता।

डी पी ने आगे लिखा है कि उपर्युक्त वर्णित प्रथम दो कमियो को तो समाजशास्त्र के ज्ञान के विस्तार के द्वारा हल किया जा सकता है लेकिन तीसरी कमी को समाप्त करने के लिए ऐसी अन्वेषण योजनाओ का संचालन करना होगा जिनमे विभिन्न भारतीय साहित्य के प्रतिनिधियो को एक साथ एकत्र किया जा सके और इस आधार पर अखिल भारतीय दृष्टिकोण एव यथार्थ परीक्षण के द्वारा सामाजिक एव साहित्यिक निष्कर्ष निकाले जा सके। आपने कहा कि भारतीय साहित्य के विकास की उस समग्रता का अन्वेषण करना होगा जो भारत के सास्कृतिक परिवर्तन के सामान्य रूप को प्रकट करे, इतना ही नहीं, आगे चलकर यह सम्पूर्ण सामाजिक प्रक्रिया की व्याख्या करने में योगदान करे।

(1) साहित्य का विकास
(Development of Literature)

डी पी मुकर्जी ने सस्कृत को भारतीय सस्कृति एव परम्परा का मुख्य स्रोत माना है। इसलिए भारतीय साहित्य एव कला के विकास का अध्ययन प्राचीनकाल मे सस्कृत साहित्य से शुरू होना चाहिए। प्राचीनकाल मे सस्कृत ही समाज की परम्पराओ, प्रथाओ, रूढियों, सगठन, सामाजिक एकता, मूल्यो, आदर्शों एव नियमो का आधार थी। इतिहास इस बात का साक्षी है कि भारतीय साहित्य पर इस्लाम का प्रभाव पडा। उसके बाद भक्तिकाल का प्रभाव पडा और बाद मे पश्चिम के अग्रेजी साहित्य का प्रभाव पडा। डी. पी द्वारा इन कालो मे भारतीय साहित्य के विकास को इन्हीं शीर्षकों के अन्तर्गत प्रस्तुत किया जायेगा।

1. सस्कृत साहित्य (Sanskrit Literature)—डी पी मुकर्जी ने लिखा है कि विभिन्न साहित्य के स्वरूपों का स्रोत सस्कृत साहित्य रहा है जिसका निर्माण सम्भ्रान्त-वर्ग के द्वारा हुआ। जो भिन्नताएँ थीं, उनका कारण लोक कथाएँ, गीत, कविताएँ आदि था जो जन-सामान्य में विद्यमान थीं। सस्कृत भाषा ने इन भिन्नताओं को अपने मे समाहित किया और एकीकृत साहित्य का निर्माण किया जो शताब्दियो तक बना रहा। सम्भ्रान्त-वर्ग मे जो जीवन की सामान्य सामाजिक परम्पराएँ थीं वे साहित्य के स्वरूपो की निरन्तरता के लिए प्रमुख रूप मे उत्तरदायी थीं। ये लोग अपने को जनसाधारण के साहित्य से अलग रखते थे। साहित्य के न्यून परिवर्तन का कारण विभिन्न जनजातियो एव लोगों को राजनैतिक विकेन्द्रीकरण के रूप

में अलग-अलग लेकिन सगठित रूप से जीवन व्यतीत करना था। वे लोग अपनी इच्छानुसार स्वतन्त्र रूप से पास-पास रहते थे। उनकी आर्थिकी आत्मनिर्भर थी तथा सचार के साधन कम विकसित थे इसलिए साहित्य पर नगरीय जीवन का प्रभाव कम पड़ा।

इतिहास इस बात का साक्षी है कि संस्कृत एवं प्राकृत साहित्य मे स्वरूप एवं अन्तर्वस्तु मे विनिमय हुआ। स्वरूप एव अन्तर्वस्तु को संस्कृत साहित्य ने अपने मे समाहित कर लिया। भारत के सौन्दर्य-शास्त्रियो की कविताओ मे स्थानीय विशेषताएँ मिलती हैं। 16वीं शताब्दी तक संस्कृत भाषा प्रभावशाली थी। एक बंगाली लेखक ने अपनी रचना का संस्कृत भाषा मे अनुवाद किया, जिससे उसे भारतीय लोग समझ सके।

2. इस्लाम का प्रभाव (Impact of Islam)—मुस्लिम शासन जो ब्रितानिया शासन की तुलना में भारत मे बहुत लम्बे समय तक रहा, उसने भारतीय संस्कृति और साहित्य के किसी भी क्षेत्र को अछूता नहीं छोड़ा। मुस्लिम शासन काल में सांस्कृतिक समन्वय हुआ। भारतीय साहित्य मे उर्दू भाषा की उत्पत्ति एवं विकास हुआ। डी पी ने कहा, "उर्दू निश्चय ही भारतीय भाषा है।" यह भाषा कस्बों तथा उत्तर भारत के बड़े क्षेत्रो एवं दक्षिण के कुछ क्षेत्रो मे फैली। मुस्लिम शासन काल मे न्यायालयो की भाषा उर्दू होने के कारण धीरे-धीरे सुदूर क्षेत्रों में भी यह फैल गई। भारतीय साहित्य में हिन्दुस्तानी और उर्दू भाषा मे अन्तर करना मुश्किल होगा। राजनीति के कारण हिन्दू-मुसलमान अलग हो गये। उर्दू भाषा अधिक फारसी हो गई और हिन्दी भाषा अधिक संस्कृतमय हो गई। अदालतो की भाषा होने के कारण उर्दू अन्तर्क्षेत्रीय भाषा बन गई।

3. भक्ति एवं साहित्य पर प्रभाव (Impact on Devotion and Literature)—क्षेत्रीय भाषाओं के पुनर्जागरण तथा भक्ति का साहित्यिक महत्त्व बढने से भारतीय साहित्य के विकास पर प्रभाव पड़ा। वाल्मीकि की संस्कृत रामायण के राम और सीता भी तुलसीदास के राम-सीता से भिन्न थे। वैदिक काल के साहित्य एव आध्यात्मिक साहित्य के कारण मुस्लिम शासनकाल मे भारतीय साहित्य मे एकता मे भिन्नता बनी रही। सम्भ्रान्त वर्ग में संस्कृत साहित्य व्याप्त रहा और अदालतो के सम्पर्क वालो मे उर्दू भाषा व्याप्त रही। जब भारतीय पृथ्वी पर पश्चिम का प्रभाव आया उस समय तक भारतीय समाज, भारतीय संस्कृति और भारतीय साहित्य समृद्ध एव स्थिर और औपचारिक भी था। भारतीय साहित्य पर इस्लाम की तुलना में पश्चिम का प्रभाव अधिक पड़ा।

4. पाश्चात्य प्रभाव (Western Influence)—मुसलमानो के बाद भारत मे ईस्ट इण्डिया कम्पनी आई जिसने यहाँ के स्थानीय उद्योग एवं व्यापारो को हानि पहुँचाई। इस कम्पनी के स्थापित होते ही उन्होने यहाँ की पचायतो को समाप्त किया, सामन्तवादी सम्बन्धो को बनाये रखा व अंग्रेजी साहित्य की शिक्षा को ऐसे वर्ग के निर्माण के लिए प्रारम्भ किया, जो सरकार की सहायता कर सके। इन भूमिपतियो (सामन्तों) और अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त लोगों से मध्यम वर्ग का निर्माण हुआ। मुकर्जी ने व्यग्य करते हुए लिखा कि ये पश्चिम के बुर्जुआओ से भिन्न थे तथा ये वर्ग अपने समाज से टूट गये और 'त्रिशकु' की स्थिति मे आ गये। "They were an Uprooted class who were kept hanging in mid air" इसके साथ-साथ इस वर्ग की महत्त्वपूर्ण भूमिका पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि "लेकिन इन अंग्रेजी प्रशिक्षित मध्यम वर्गों ने पश्चिमी संस्कृति के हस्तान्तरण के माध्यम के रूप मे

कार्य किया।" राजा राममोहन राय ने दोनो संस्कृतियो को देखा और योजनाबद्ध तरीके से पश्चिम आह्वान को स्वीकार किया। पश्चिम के सम्पर्क का सर्वोत्तम उदाहरण उनका नया साहित्य था। भारत मे ब्रितानिया काल में भारतीय साहित्य नई दिशा मे विकसित होने लगा। सस्कृत साहित्य के स्वरूप का प्रभाव अन्ततोगत्वा कमजोर पड़ गया। यद्यपि पश्चिम के साहित्य का सम्पर्क भारतीय जनता के एक वर्ग से ही था।

(2) भारतीय साहित्य में सामान्य तत्त्वों का विकास
(Development of General Features in Indian Literature)

डी पी मुकर्जी ने भारतीय साहित्य के विकास के इतिहास का सक्षिप्त वर्णन किया और उसके आधार पर आपने भारत के अनेक नवीन साहित्य मे समय के साथ-साथ सामान्य लक्षणो का वर्णन किया, जिनका उस समय विकास हुआ था। आपने साहित्य में विकसित निम्न चार प्रमुख लक्षणो को विवेचना की है—

1 क्षेत्र का विकास
2 नूतन मूल्यो का उत्तरोत्तर अधिग्रहण
3 नये वर्ग की उत्पत्ति
4 उद्योग एव तकनीक का प्रभाव

1. क्षेत्र का विकास (Enlargement of Scope)—डी पी. मुकर्जी ने लिखा है कि मुद्रण सुविधा, पुस्तकालीन शिक्षा के विस्तार से साहित्य में विकास हुआ। इसके विकास पर अग्रेजी साहित्य के राजनैतिक दार्शनिको का प्रभाव पड़ा। अब जो नया साहित्य विकसित हुआ उसमे उपन्यास, नाटक, यात्रा-वर्णन, निबन्ध, डायरी, कहानी, काव्य एव महाकाव्य आदि की रचना हुई। पौराणिक नाटक लिखे जाने लगे तथा मच पर खेले जाने लगे। उपन्यासो मे ऐतिहासिक घटनाओ का वर्णन किया जाने लगा। बगाल मे महाकाव्य यूरोपीय नमूनो के अनुसार लिखे जाने लगे।

2. नूतन मूल्यों का उत्तरोत्तर अधिग्रहण (Gradual Acquisition of New Values)—भारतीय साहित्य मे अनेक नये मूल्यो का स्थान रातो-रात पश्चिम के मूल्यो ने ले लिया। मुकर्जी ने स्पष्ट किया है कि स्वतन्त्रता, समानता और भ्रातृत्व, राष्ट्रीयतावाद, विज्ञान तथा तर्कपूर्ण विचार व विशेष रूप से नये मूल्य भारतीय साहित्य मे आये। ये मूल्य राजनीतिक समस्या ■ नागरिक स्वतन्त्रता से सम्बन्धित थे लेकिन जो धार्मिक सुधारवादी आन्दोलन थे, उन्होने सामाजिक मामलो मे इनके द्वारा हस्तक्षेप किया। तर्कपूर्ण विचारो का विकास विज्ञान और तकनीकी शिक्षा के अभाव के कारण तिरस्कृत हो गया। पश्चिम के ईसाई धर्म ने भौतिक समृद्धि को बढावा दिया। भारतीय साहित्य मे अनुकरण, सघर्ष, व्यवस्था, सामंजस्य और आत्मसात् आदि सभी सास्कृतिक प्रक्रियाएँ विकसित हो गईं। इस नये साहित्य मे समाजवाद, जिसमे प्रेम, स्नेह, धैर्य, तार्किक विचार व अन्वेषण की भावना आदि का विकास हुआ।

3. नये वर्ग की उत्पत्ति (Origin of a New Class)—डी पी मुकर्जी ने कहा कि जब ईस्ट इण्डिया कम्पनी भारत मे आई और ब्रितानिया शासन की स्थापना यहाँ हो गई तो उन्होंने भारत के सामन्तो, जागीरदारो व भूमिपतियो को सरक्षण दिया। अपने प्रशासन को चलाने के लिए यहाँ को लोगो को अग्रेजी भाषा सिखाई। इन दोनो ही प्रकार के

लोगो—सामन्तों तथा अंग्रेजी-प्रशिक्षित लोगों का डी पी मुकर्जी के अनुसार भारत मे एक विशिष्ट वर्ग बन गया जिसे आपने बुर्जुआ-वर्ग कहा है, लेकिन ये पश्चिम के बुर्जुआ-वर्ग से भिन्न विशेषताओ वाला वर्ग है। अंग्रेजी-प्रशिक्षित इन सम्भ्रान्त लोगो ने भारत मे अंग्रेजी साहित्य का विकास व विस्तार किया। ये एक प्रकार से भारत और पश्चिम के साहित्य को जोड़ने वाले माध्यम बन गये। इन लोगो ने पश्चिम के साहित्य का अनुकरण किया, अपनाया और उसी प्रकार के साहित्य का निर्माण किया। भारत मे यह सामाजिक व सांस्कृतिक द्वन्द्व की परिस्थिति अंग्रेजी साहित्य के स्वरूप, विश्वास और दृष्टिकोण मे मिलती है।

4. उद्योग एवं तकनीकी का प्रभाव (The Effects of Industrialism and Technology)—डी. पी. ने बताया कि भारतीय साहित्य मे उद्योगवाद को प्रथम महायुद्ध के बाद पहचाना गया। द्वितीय महायुद्ध के बाद प्रविधि को भी माना जाने लगा, पूर्व के काल मे इन दोनों कारकों ने अंग्रेजी भाषा मे आर्थिक साहित्य मे सामाजिक परिवर्तन किया था, जिसमें भारत की धन-सम्पत्ति का बहाव ब्रिटेन की ओर रहा। उस काल के दो भारतीय अर्थशास्त्रियो ने ऐतिहासिक उपन्यासो का इतिहास लिखा, जबकि पहले उपन्यास प्रायः भौतिक सफलता एवं विकास के सम्बन्ध मे ही लिखे जाते थे। प्रथम महायुद्ध के बाद भारतीय साहित्य में भारतीय समाज पर पूँजीवाद की घटनाओ का वर्णन किया जाने लगा। ग्रामीण रोमांचवाद से शास्त्रीय मार्क्सवाद तक सम्बन्धी घटनाओ का वर्णन साहित्य में मिलने लगा। मार्क्सवादी विचारधारा मे सामाजिक न्याय सम्बन्धी बाते साहित्य की अन्तर्वस्तु में आने लगीं।

(3) मिथ्या-व्यक्तिवाद का विस्तार
(Spread of Pseudo-Individualism)

ब्रितानिया सरकार के अनेक प्रभावो के फलस्वरूप भारतीय समाज के अंग्रेजी *शिक्षित वर्ग में व्यक्तिवाद की उत्पत्ति और विकास हुआ। मध्यम वर्ग जो कि अंग्रेजी शिक्षा* प्राप्त था, वह अपनी स्थिति को सुदृढ करना चाहता था क्योकि उसकी स्थिति समाज मे उखड़े वर्ग जैसी थी। डी पी ने लिखा कि इन लोगो की स्थिति मे मिथ्यावाद पनपा जो बंगाली साहित्य से भारत के अन्य भागो मे फैला तथा बंगाली साहित्य का प्रभाव अन्य भारतीय साहित्य पर पड़ा। रोमांचकारी व्यक्तिवाद ने एक प्रकार से सुखकर सामाजिक शक्ति का कार्य किया। इसके प्रभाव को बताते हुए डी पी ने लिखा कि पुरुषो ने महिलाओं का, जमींदारों ने किसानों का, उच्च वर्ग ने निम्न-मध्यम वर्ग का तथा मालिको ने श्रमिकों का शोषण किया। इनका वर्णन भी भारतीय साहित्य मे अभिव्यक्त होने लगा। आपने निष्कर्ष रूप मे लिखा कि यह भी सत्य है कि क्षेत्रीय साहित्य अभी भी एक-दूसरे से भिन्न था जिसके पर्यावरण सम्बन्धी कारणों के अतिरिक्त अन्य कारण भी थे, जो निम्नलिखित हैं— 1 अंग्रेजी भाषा द्वारा शिक्षा तथा प्रारम्भ के यूरोप के वाणिज्य का ऐतिहासिक प्रभाव। 2. वाणिज्य के केन्द्र और कच्चे माल के निर्यात के बदरगाहो का प्रभुत्व। 3 औद्योगिक क्षेत्रों एव नगरो का विकास—इन दोनो ने ग्राम-नगर-सस्कृति के प्रसार को दिशा तय की। 4 विद्यमान साहित्य में सस्कृत अथवा फारसी परम्पराओ का न्यूनाधिक वर्चस्व—संस्कृत और उर्दू के इस वर्चस्व को भारत के सुदूर क्षेत्रो के हिन्दी साहित्य तथा दिल्ली, लखनऊ तथा हैदराबाद की अदालतो

के केन्द्रीय क्षेत्रों मे देखा जा सकता है। 5 अन्तिम कारण आपने विशेष रूप से संचार एवं मुद्रण के प्रसार को बताया है। इन भिन्नताओ के विद्यमान होने के उपरान्त तथा ब्रितानिया शासन के विकास के प्रभाव के कारण भारत मे एक अखिल भारतीय साहित्य को पहचाना जा सकता है। आधुनिक भारतीय संस्कृति का विस्तार तो हुआ लेकिन वह मध्यम वर्गो के मूल्यो से आगे विस्तृत नहीं हो सकी।

(4) भारतीय साहित्य में सामान्य सामाजिक विश्वास (General Social Faiths in Indian Literature)

डी पी मुकर्जी ने कहा कि उपर्युक्त वर्णित सामान्य सामाजिक और सास्कृतिक प्रक्रियाओं के फलस्वरूप निम्नलिखित सामान्य सामाजिक विश्वास देखे गये हैं जिन्होने भारतीय साहित्य के विश्वासो और दृष्टिकोणों को प्रभावित किया है—

1 प्रगति मे विश्वास
2. व्यक्ति मे विश्वास
3 तर्क मे विश्वास

इन तीनो सामाजिक विश्वासो की व्याख्या डी पी ने इस प्रकार प्रस्तुत की है—

1. प्रगति में विश्वास (Faith in Progress)—डी पी मुकर्जी ने भारतीय साहित्य के विकास से सम्बन्धित उन तत्त्वो पर प्रकाश डाला है जो सामाजिक और आर्थिक परिवर्तन के फलस्वरूप हुए हैं। आपका कहना है कि भारतीय साहित्य मे प्रगति के प्रति विश्वास पश्चिम ने पैदा किया। प्रगति मे विश्वास लगभग सार्वभौमिक था। ऐसा मानना है कि भारत के साहित्य मे 'प्रगति मे विश्वास' के तत्त्व का सन्देश भारत में पश्चिम ने पहुँचाया, अन्यथा यह विशेषता शायद ही भारत मे पनप पाती। वैसे तो साहित्य मे मुख्य रूप से विज्ञान ही इस विशेषता को लाता। भारत मे ब्रितानिया सरकार ने लोगो के लिए सभी कार्यो को करने की जिम्मेदारी ली थी, इसी के परिणामस्वरूप अनेक क्षेत्रो मे पश्चिमीकरण हुआ, जिसका साहित्य की रचनाओ पर भी प्रभाव पडा।

2. व्यक्ति मे विश्वास (Faith in the Individual)—डी पी मुकर्जी ने लिखा है कि भारतीय साहित्य मे व्यक्ति के प्रति विश्वास का अध्ययन हमे भारतीय व्यक्तिवाद के आधार पर करना चाहिए। आपने भारतीय व्यक्तिवाद को —(1) आदि-भारतीय व्यक्तिवाद और (2) नव-भारतीय व्यक्तिवाद के रूप मे बाँटा है।

आदि-भारतीय व्यक्तिवाद से आपका तात्पर्य प्राचीन साहित्य में विद्यमान वैष्णव पदावली और सन्तो के गीतो मे विद्यमान व्यक्तिवाद से है। इन गीतो और पदावलियो में व्यक्ति अन्त मे अपने को भगवान को समर्पित करता है। नूतन व्यक्तिवाद से तात्पर्य जाति, *परिवार और राजनैतिक सताओ के विरुद्ध नकारात्मक कार्यों से है तथा व्यक्ति में अधिकारो* के प्रति सकारात्मक रुख से है। इस प्रकार के वातावरण मे धीरे-धीरे स्वाभाविक रूप से अराजकता का वातावरण पनपा। राष्ट्रीय आन्दोलन के गाँधी-युग में जो साहित्य लिखा गया वह भी इस अराजकता की विचारधारा से बाहर नहीं आ सका। समाजवादी विचारधारा के अन्तर्गत जो साहित्य लिखा गया उसमें भी इसी प्रकार के व्यक्तिवाद की झलक मिलती है।

3. तर्क में विश्वास (Faith in Reason)—डी पी मुकर्जी ने कहा कि तर्क एक प्रकार के नहीं थे। भारतीय साहित्य में तर्क-वितर्क थे, लेकिन वे लोगो की पुस्तकों तक ही सीमित थे। तर्कों का उत्तम उपयोग पुराने लेखो, अभिलेखों तथा वर्णनो की आलोचनात्मक व्याख्या करने के लिए किया जाता था। तर्क-विश्लेषण द्वारा उत्तम बौद्धिक साहित्य रचे गये। लेकिन यह ऐतिहासिक तर्क नहीं था। या तो यह वैज्ञानिक तर्क था या भारत की सम्स्कृति के गुण-गान करने के लिए राष्ट्रीय सुरक्षा के लिए तर्क था। कुल मिलाकर भारतीय साहित्य मे तर्क अनिरन्तर तथा छोटे-छोटे खण्डो मे मिलता था। यह सल्तनतो व राजनीति से सम्बन्धित था। दार्शनिक साहित्य मे भी तार्किक विचार मिलते हैं। इस प्रकार तार्किक उपागम अनेक धार्मिक अन्धविश्वासो और सामाजिक विश्वासो के विरुद्ध मिलता है।

(5) साहित्यिक विश्वासों का विकास
(Development of Literary Beliefs)

डी पी मुकर्जी ने इस लेख के अन्त मे विस्तार से अनेक विश्वासो और मूल्यो के विकास का कालक्रमिक विवेचन किया है। आपने लिखा है कि प्रारम्भ के इतिहास मे आचा से सम्बन्धित मूल्यों पर अधिक जोर दिया जाता था। पश्चिम के साहित्य में अनैतिकता क्षम करने योग्य थी जबकि भारत मे यह क्षम्य नहीं थी। सस्कृत अथवा वैष्णव साहित्य म विद्यमान प्रेम-सम्बन्धी तथा कामुक तत्त्व धीरे-धीरे भुला दिये गये अथवा धार्मिक प्रतीकात्मक रूप से वर्णित किये जाने लगे। इस प्रकार बहुत ही न्यून औपचारिक आलोचना की जाती थीं। यह सब नये साहित्यिक विश्वासो को व्यक्त करता है। अब कला, कला के लिए थी। साहित्यिक प्रतिबन्धो को कुछ छुटकारा भी दिया गया जो प्रभावशाली भी था इससे नये सामाजिक दृष्टिकोण विकसित हुए। सुधारवादियो ने साहित्य मे पत्नियों क पतियो का तथा सासों के विरुद्ध बहुओ का, पुत्रो का पिताओ के विरुद्ध, युवाओं का वृद्धो के विरुद्ध, उत्पीड़ितों का उत्पीड़को के विरुद्ध, दलितों का अत्याचारियो के विरुद्ध अथवा शोषितों का शोषको के विरुद्ध परिस्थितियों का वर्णन किया। प्रथम महायुद्ध के बाद साहित्यिक मूल्यों में और परिवर्तन आया। जिन लोगो ने कभी कालिदास अथवा भवभूति के विषय मे नहीं सुना था वे भी अब इनके विषय में जानने लगे। विभिन्न साहित्यो का यह प्रभाव पड़ा कि भारत के साहित्य मे मानवतावाद का प्रसार हुआ। 19वीं शताब्दी के तीसरे दशक मे मूल्यो के इस रुझान मे दिशा एव अन्तर्वस्तु स्पष्ट रूप से विकसित हो गई। भारतीय साहित्य के मूल्यो पर रूप भी 17वीं शताब्दी का भी प्रभाव पड़ा। इस वृत्ति से भारत तथा अन्य उपनिवेशों मे मार्क्सवाद का अध्ययन किया जाने लगा, जिसने साम्राज्यवाद के विरुद्ध प्रक्रिया शुरू की तथा समाजवादी राष्ट्रवाद का स्वरूप ग्रहण किया। धीरे-धीरे भारत मे लोक-साहित्य की भी खोज की जाने लगी, चेतन या अचेतन रूप से संस्कृति का प्रसार हुआ और एक सामान्य आधार विकसित हुआ। इस साहित्य मे स्त्रियों, बच्चो, अनूसूचित जातियो, निर्धन कृषको, औद्योगिक श्रमिको, श्वेत-वस्त्रधारी बाबुओ तथा दलितो की आकाक्षाओ के लिए आवाज उठाई गई। इस प्रकार से डी पी मुकर्जी ने भारतीय साहित्य के इतिहास का वर्णन करने के उपरान्त लिखा कि सामाजिक कार्यों तथा साहित्य के प्रभाव को पहले की तुलना में अब अधिक व्यापक एवं गहन रूप से समझा जाने लगा।

विशिष्ट सन्दर्भ
(Special Refrences)

डी पी मुकर्जी ने लिखा कि निम्नलिखित प्रसग पूर्ण नहीं है, यदि कोई महत्त्वपूर्ण नाम छूट जाता हे तो वह लेखक (डी पी) की स्मरणशक्ति की कमी के कारण है। आपने लिखा कि बगला भाषा, हिन्दी भाषा और उर्दू भाषा मे प्रमुख साहित्यकारो व उनकी कृतियो, विषय-सामग्रियों आदि का विशेष सन्दर्भ दिया जा रहा है। लेकिन भारतीय साहित्य के सम्पूर्ण ज्ञान के लिए एक वृहद्, पूर्ण, अनुसधान व भोजन आवश्यक है। हम यहाँ हिन्दू, उर्दू और बगला साहित्य का वर्णन करेगे।

(1) हिन्दी साहित्य
(Hindi Literature)

1 **उपन्यासकार (Novelist)**—हिन्दी साहित्य के निम्नलिखित महत्त्वपूर्ण लेखक हैं। **'प्रेमचन्द'** की कुछ कहानियो का अग्रेजी मे अनुवाद हुआ है। अन्य हिन्दी रचनाओ का अनुवाद नहीं हुआ।

1 पी. एन. श्रीवास्तव ने **'विदा'** लिखा, जिसमे आपने नव-विवाहित दम्पत्ति के सघर्ष का वर्णन किया।

2 उग्र ने **'दिल्ली का दलाल'** तथा **'बधुआ की बेटी'** उपन्यास लिखे जिसमे आपने स्त्री व अस्पृश्यता की समस्या का वर्णन किया। विख्यात कवि **निराला** की **'अप्सरा'**, **विलेश्वर** की **'बकरिया'** मे क्रमश: स्त्री की कहानी तथा सामाजिकता को लिया गया है। **प्रेमचन्द के सेवासदन, रंगभूमि, प्रेमाश्रम, कर्मभूमि, गबन, गोदान व कफन** आदि उपन्यासो मे उन्होने लडकी की परिस्थिति, कृषि, गरीबी और एक भारतीय ईसाई लडकी और हिन्दू परिवार, भूमिपति और कृषक, सामाजिक, आर्थिक सघर्ष, मध्यम वर्ग के सम्मान आदि का वर्णन किया है। प्रेमचन्द की कहानियाँ बहुमूल्य रत्न हैं। इनमे सर्वाधिक मूल्यवान कफन है। प्रेमचन्द ने अपने जीवन के अन्तिम दिनो मे समाजवाद पर लिखा। प्रेमचन्द ने हिन्दी और उर्दू दोनो ही भाषाओ पर खूब लिखा, वे आधुनिक गद्य के—हिन्दी और उर्दू—दोनो के ही महानतम लेखक थे।

यशपाल ने **'दादा कामरेड'** और **'मनुष्य के रूप'** लिखे हैं जिनमें राजनैतिक उग्रवादी और सामाजिक वर्ग का दास है—विषय पर प्रकाश डाला। **भगवती चरण वर्मा** ने **'टेढ़े-मेढे रास्ते'** मे राजनीतिक सघर्ष और गाँधीवादी उपागम को विषय बनाया है। **'अज्ञेय'** ने **'शेखर : एक जीवनी'** में आधुनिक सामाजिक परिस्थितियों मे बुद्धिजीवी के उद्विकास का वर्णन किया हे तथा **'नदी के द्वीप'** मे महिला की स्थिति का वर्णन किया हे। **'जैनेन्द्र'** के विशिष्ट उपन्यास **'सुनीता'** मे लिंग-तृष्णा और क्रान्ति के सघर्ष को दर्शाया गया है। **'त्याग-पत्र'** और **'परख'** मे मध्यम वर्ग के जीवन और सघर्ष का चित्रण किया गया है। **इलाचन्द्र जोशी** ने **'संन्यासी'** और **'प्रीत और छाया'** लिखे हैं जिन पर फ्रॉयड का प्रभाव है। **उपेन्द्रनाथ 'अश्क'** ने **'गिरती दीवार'** में युद्ध के बाद की गरीबी और मूल्यों के ह्रास का वर्णन किया है। **'अमृता नागर'** ने **'महाकाल'** मे प्राकृतिक आपदाओ का वर्णन किया है।

'सेठ बांकेमल' कृति में प्राचीन सामन्तवादी मूल्यों पर व्यंग्य किया गया है। **'धर्मवीर भारती' ने 'सूरज का सातवां घोड़ा'** में राजनैतिक और सामाजिक संघर्षों का चित्रण किया है।

2. कहानीकार (Story Writer)—डी पी मुकर्जी ने लिखा कि निम्नलिखित छोटी कहानियाँ मूल्यवान निष्कर्ष प्रदान करती हैं—सुदर्शन, कौशिक, प्रेमचन्द, यशपाल, बेनी प्रसाद, अमृता नागर, अमृत राय, बी एस उपाध्याय, पहाडी, महेन्द्र स्थाना, प्रकाश गुप्ता, प्रभाकर, श्रीमती चन्द्रकिरण, राधाकृष्ण प्रसाद, चन्दर आदि ने अपनी कहानियों में नए आन्दोलन को दर्शाया है। मार्क्सवाद का प्रभाव भी इनमे स्पष्ट दिखाई देता है, लेकिन इनकी प्रतिक्रियाओं मे भिन्नता है। वात्स्यायन तथा जैनेन्द्र ने सामाजिक अन्तर्वस्तु के परिवर्तनों से सम्बन्धित दार्शनिक प्रश्न उठाए हैं।

3. कवि (Poet)—डी पी. मुकर्जी ने लिखा कि निम्नलिखित कवियों—निराला, दिनकर, वात्स्यायन, केदारनाथ अग्रवाल, बच्चन, नेमीचन्द जैन, नागार्जुन, गिरिजाकुमार माथुर, भवानी प्रसाद मिश्रा आदि की कविताएँ समाजशास्त्रीय निष्कर्षों से सम्बन्धित थीं।

सुमित्रानन्दन पन्त और महादेवी वर्मा की कविताओं मे सामाजिक समस्याओं का ही सदैव चित्रण नहीं हुआ है लेकिन इन लोगो की कविताओं को इन समस्याओं से अछूता कहना गलत होगा।

4. नाटककार (Play-writer)—हिन्दी साहित्य मे बहुत कम लेखक थे। बाद मे आकाशवाणी ने उन्हे प्रसारित किया। उपेन्द्रनाथ 'अश्क' (आदिमार्ग), जगदीश सी. माथुर (कोनार्क), अमृतलाल नागर (चक्करदार सीढ़ियाँ और गूँगी), बी. प्रभाकर (जहाँ दया पाप, मनोवैज्ञानिक विश्लेषण), पृथ्वीराज—विख्यात चलचित्र अभिनेता एवं संसद-सदस्य (पठान, गद्दार और दीवार) नाटक खेले।

5. पत्र-पत्रिकाएँ—कुछ रुचिकर पत्र-पत्रिकाएँ भी प्रकाशित होने लगीं। डी पी के अनुसार इनका प्रभाव इनके वितरण से अधिक है। **'नया साहित्य', 'नया समाज', 'प्रतीक', 'मासिक', 'हंस', 'नई धारा', 'आलोचना' व 'न्याय'** महत्त्वपूर्ण पत्रिकाएँ हैं जिनमें लेख, कहानियाँ व कविताएँ उपर्युक्त वर्णित लेखकों की हैं।

6. आलोचक—निम्नलिखित प्रतिष्ठित आलोचक—**हजारी प्रसाद द्विवेदी, नगेन्द्र, एस. एस. चौहान, प्रकाश सी. गुप्ता, चन्द्रावली सिंह, नामवर सिंह, विनय शर्मा, देवीराज और रामविलास शर्मा** आदि हैं—

(2) उर्दू साहित्य
(Urdu Literature)

डी पी मुकर्जी ने उर्दू साहित्य की निम्न महत्त्वपूर्ण विशेषताएँ बताई हैं—

(1) उर्दू मे कोई महत्त्वपूर्ण आधुनिक साहित्यिक उपन्यास नहीं है।

(2) हिन्दुस्तान-पाकिस्तान के विभाजन के उपरान्त भी उर्दू साहित्य भारत और पश्चिमी पाकिस्तान मे लगभग समान सामाजिक चेतना को व्यक्त करता है। इन दोनों ही राष्ट्रों मे उर्दू मे सामाजिक समस्याएँ भी समान रूप से ही मिलती हैं।

(3) डी पी ने तीसरी बात यह बताई कि प्रेमचन्द, किशन चन्दर अख्तर रायपुरी और अश्क हिन्दी और उर्दू दोनों ही भाषाओ मे समान अधिकार के साथ लिखते हैं।

(4) उर्दू एवं हिन्दी साहित्य की पहले की प्रवृत्ति—उर्दू का अधिक फारसी बनना तथा हिन्दी का अधिक संस्कृत-मय होना है। आगे भी सम्भवत: चलता रहे। इस अवधि मे भारत के उर्दू लेखक अपनी भाषा का राजनैतिक एवं समाजशास्त्रीय कारणो से सरलीकरण कर रहे है। उर्दू साहित्य सामाजिक समस्याओ को मुख्य रूप से लघु कहानियो, नाटको और निबन्धो मे ही चित्रित करता है।

1. कवि (Poet)—पुरानी पीढी के कवियो—'हाली' और 'इकबाल' मे सामाजिक चेतना थी। इकबाल मे राष्ट्रीय तत्त्व हाली की तुलना मे अधिक सशक्त थे। इकबाल का विख्यात राष्ट्रीय गीत 'हिन्दुस्तान हमारा' विख्यात है। उनका धर्म इस्लाम था लेकिन उन्होने मानवीय समस्याओ और विश्व समस्याओ को चित्रित किया। वे अन्याय के विरोधी थे। '**अकबर इलाहाबादी**' कवि कम और तीखे, चटपटे, रोचक, उत्तेजक व्यंग्यकार अधिक थे। आधुनिक कवियो मे '**जोश मलीहाबादी**' क्रान्तिकारी कवि कहलाते हैं। दूसरे जागरूक कवि '**अली सरदार जाफरी**', '**मिजाज**', '**सधर निजामी**', '**मजरूह**', '**फिराक**', '**आनन्द नारायण मुल्ला**, (दोनो हिन्दू) तथा '**कैफी**' हैं। और भी अधिक युवा कवि '**जज्बी**', '**राही**' और '**तबन**' (इनमें से कुछ उपनाम) है।

2. कहानीकार (Story-writer)—प्रेमचन्द के बारे मे कहा जा सकता है कि इन्होंने आधुनिक उर्दू लघु कहानियो के प्रतिमान को निश्चित किया है। उर्दू के उत्तम लेखक **कृष्ण चन्दर** (हिन्दू), **राजेन्द्रसिंह बेदी** (सिख), **असमत चुगताई**, **मण्टो**, **करतारसिंह दुग्गल** (सिख), **ए. ए. हुसैनी**, **के. ए. अब्बास**, **एस. जहीर**, **सुहेल**, **कुरेट-उल-इन** और **रामानन्द सागर** (हिन्दी) आदि हैं। उर्दू की कहानियाँ सामाजिक असमानता को प्रभावशाली, बधी हुई, नाजुक सन्दर्भशील रूप मे प्रस्तुत करती हैं। ये सामान्यतया मार्क्सवादी विचारधारा का उल्लेख करती हैं तथा मुख्य रूप से ये मानवतावादी हैं।

इस्लामी विश्वास का वर्ग-चेतना के प्रति सघर्ष उठा नहीं है। अथवा इस्लाम के द्वारा इसे सामाजिक स्वतन्त्रता की आवश्यकता के रूप मे परिभाषित किया गया है।

3. आलोचक (Critics)—उर्दू साहित्य मे आलोचक पिछले दो दशको (1930-1950) मे क्रियाशील हुए हैं। इसमे विख्यात आलोचक **कलमुद्दीन**, **मजनू**, **फिराख**, **ए. ए. सरूर**, **ऐतहम हुसैन**, **अली सरदार जाफरी**, **अब्दुल अलीम**, **आबिद हुसेन**, **अब्दुल्ला** और **इबादत बरेल्वी** (पाकिस्तान) हैं।

4. निबन्धकार (Essayist)—उर्दू निबन्धकारो ने हिन्दू-इस्लामिक संस्कृति तथा भाषा की नाजुकता को दूसरो तक पहुँचाया। इनके व्यंग्य बहुत मूल्यवान व प्रभावशाली हैं। **रशीद ए. सिद्दकी**, **कन्हैयालाल कपूर** (हिन्दी), **ए. बोखारिया** (पाकिस्तान) ने हास्य-व्यंग्य से पूर्ण निबन्ध लिखे हैं। **एस. मुजीब** तथा **आबिद हुसैन** ने गम्भीर निबन्ध लिखे हैं।

5. नाटक एवं उपन्यास (Drama and Novel)—उर्दू साहित्य मे नाटक एव उपन्यासो का विकास नहीं हुआ, कुछ एकाकी व नाटक उपेन्द्र नाथ '**अश्क**', **राजेन्द्रसिंह बेदी** और **कृष्णचन्दर** (सभी हिन्दू), **मुजीब**, **आई. एच. कुरेशी** तथा **इन्तिसार हुसैन** आदि ने लिखे हैं। इनमे सामाजिक दृष्टि महत्त्वपूर्ण है जबकि स्वरूप को आकाशवाणी प्रदान करती है।

इस प्रकार डी पी. मुकर्जी ने भारतीय साहित्य के विकास की समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से क्रमबद्ध एवं व्यवस्थित विवेचना की है। आपने हिन्दी साहित्य और उर्दू साहित्य के समान ही बंगला साहित्य का भी सन्दर्भ प्रस्तुत किया है।

(3) बंगला साहित्य
(Bengali Literature)

सामाजिक उपन्यास, नाटक, कहानियाँ और निबन्ध की परम्परा उतनी ही पुरानी है, जितना कि भारत मे ब्रिटिश शासन का प्रभाव। रवीन्द्रनाथ टैगोर से पहले पिछले पचास से अधिक वर्षों में माइकल, मधुसूदन दत्त, दीनबन्धु मित्रा और काली प्रसन्ना सिन्हा ने नाटक लिखे। राममोहन राय, विद्यासागर, भूदेव मुकर्जी, बंकिम चटर्जी, शिवनाथ शास्त्री ने निबन्ध लिखे। माइकल, मधुसूदन दत्त, हेमचन्द, रगालाल ने कविताएँ लिखीं। इस साहित्य में राजनैतिक और सामाजिक सुधारों को दर्शाया गया है। राजनैतिक लेखक तो अनेक हैं। टैगोर भारतीय साहित्य के महान् विचारक हैं।

1. **रवीन्द्रनाथ ठाकुर**—आपके उपन्यास, कहानियाँ, कुछ कविताएँ तथा निबन्ध, भारतीय साहित्य मे अति-महत्त्वपूर्ण हैं। आपके साहित्यिक योगदान के बिना भारतीय साहित्य का अध्ययन अपूर्ण है। टैगोर के नाटको मे प्राय: सामाजिक समस्याओ का उल्लेख हुआ है। इनके निम्नलिखित उपन्यास पढने योग्य है—'**छोकरवाली**', '**नौका डूबी**', '**गोरा**', **घरे बायेर**', '**चार अध्याय**', '**चतुरंगा**' आदि। आपने प्रारम्भ मे उपन्यास ऐतिहासिक दृष्टिकोण से लिखे थे। '**घरे बायेर**' उपन्यास मे राष्ट्रीय भावना का चित्रण हुआ है। '**गोरा**' उपन्यास भारतीय साहित्य मे श्रेष्ठतम माना जाता है जिसमे सामाजिक एव राष्ट्रीय समस्याओ का चित्रण हुआ है।

2. **शरत् चन्द्र चटर्जी**—डी पी. के अनुसार आपके सभी उपन्यास एव कहानियाँ समाजशास्त्रीय रुचि के हैं। आपकी रचनाओ मे 'दलितो' एव 'घुमन्तो' के प्रति सहानुभूति दिखाई देती है। आपने जीवन के सभी रूपो का स्पष्ट चित्रण किया है।

3. **प्रमथा चौधरी**—प्रमथा चोधरी ने कहानी और निबन्ध '**वीरबल**' उपनाम से लिखे हैं। इनमे सामाजिक और बौद्धिक पाखड का चित्रण मिलता है। '**चार यारी कथा**' (*Char Yari Katha*) का अंग्रेजी में अनुवाद भी हुआ है, इसमे आपने इग्लैण्ड से वापिस आये उच्च वर्ग के पुरुष की विशेषताएँ—कल्पना, मूर्खता और चरित्र की दुर्बलता आदि का वर्णन किया है। डी. पी. के अनुसार इनमें निबन्ध साहित्य के बहुमूल्य रत्न हैं, जिनका अनुवाद होना चाहिए।

4. '**नरेश सेन गुप्ता**', '**प्रेमन मित्रा**', '**बुद्धदेव बोस**', '**अचिन्त्य कुमार सेन गुप्ता**', '**एम. बन्धोपाध्याय**', '**विभूति बन्दोपाध्याय**', '**दिलीप कुमार रे**', '**वनफूल**', '**अनन्त शंकर रॉय**', '**सुबोध घोष**' और '**डी. पी. मुकर्जी**' स्वय समकालीन उपन्यासकार और लघु-कहानी लेखक हैं जिनका साहित्य समाजशास्त्रीय दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है।

5. बगाली साहित्य मे कविताओ की भरमार है, टैगोर इसके सिरमौर हैं। टैगोर बंगाली कविताओं में, साहित्यिक कविताओ और जीवन से सम्बन्धित कविताओ के सशक्त एवं प्रभावशाली कवि रहे। उनका सर्वाधिक प्रसिद्ध काव्य-ग्रन्थ '**गीतांजलि**' है। इसके

अतिरिक्त **'सत्येन दत्त'**, **'जेतेन्द्र वागची'** भी बगाली साहित्य मे हुए हैं। इनके अतिरिक्त डी पी ने **'काजी नजरूल इस्लाम'**, **'मोहित लाल मजूमदार'**, **'सुधीन्द्र दत्त'**, **'प्रेमीन मित्रा'** आदि की कविताओ के अध्ययन पर जोर दिया।

6. नाटक के क्षेत्र मे टैगोर के समकालीन नाटककार **'गिरीशचन्द्र घोष'**, **'के. विद्या विनोद'**, **'डी. एल. रॉय'** और **'अमृतलाल बोस'** उल्लेखनीय हैं। इन लोगों के पौराणिक और ऐतिहासिक नाटक आधुनिक, सामाजिक एवं राजनैतिक समस्याओं का चित्रण करते हैं। वास्तविक सामाजिक नाटक्कार **दीनबंधु गुप्ता, सचिन गुप्ता** आदि हैं। एम रे का **'एकांकी'** परम्पराओ पर आधारित है। भारतीय साहित्य के विकास के सन्दर्भ मे डी पी ने लिखा कि जहाँ तक रगमच की बात है—सार्वजनिक रंगमंच केवल बंगाल और महाराष्ट्र में ही मिलते हैं। राजशेखर बोस (परशुराम) के नाटक कहानी के रूप में मिलते हैं। इनकी बगला भाषा बडी क्लिष्ट है लेकिन इन्होने सामाजिक बुराइयो को सरल ढग से प्रस्तुत किया है।

7 डी पी मुकर्जी ने लिखा है कि साहित्यिक निबन्धकार व आलोचक तो बंगला साहित्य मे बहुत अधिक हुए हैं—इनमें **टैगोर, सुरेश समाजपति और प्रथमा चौधरी** प्रमुख हैं। जीवित निबन्धकारो मे **गोपाल हलधर, निसि चौधरी, अमित सेन और डी. पी. मुकर्जी** स्वय हैं। इन लोगो के निबन्धो मे निश्चय रूप से समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण मिलता है।

'अतुल चन्द्र गुप्ता', **'सुधीन्द्र एन. दत्त'**, **'बुद्धदेव बोस'**, **'आनन्द शंकर रे'**, **'मोहितलाल मजूमदार'**, **'विष्णु दा'**, **'रजनीकांत दास'**, **'हिरन के. सान्याल'**, **'विमल प्रसाद'** उपाध्याय ने भी उत्तम साहित्यिक निबन्ध लिखे हैं जिनमे महत्त्वपूर्ण सामाजिक सन्दर्भ का वर्णन मिलता है। अन्त मे डी पी ने बगला साहित्य के विशिष्ट सन्दर्भ मे लिखा है कि सामाजिक परिवर्तन सदैव सभी के साथ रहा है। इस प्रकार डी पी मुकर्जी ने समाजशास्त्रीय सन्दर्भ मे भारतीय साहित्य का विकास प्रस्तुत किया तथा उपन्यास, कहानी, कविताएँ, नाटक, पत्र-पत्रिकाओ व आलोचनाओ इत्यादि का सक्षिप्त इतिहास प्रस्तुत किया है।

कला का विकास
(Development of Art)

भारतीय कला का विकास विविध परम्पराओ से निर्मित एव समन्वित होकर हुआ है। कला के विकास का अध्ययन करने से पूर्व इसका अर्थ और अध्ययन के कुछ आधार निश्चित करना श्रेयस्कर होगा। विद्वानो ने लिखा है कि "ललित कला का आकलन ही कला है।" भगवतशरण उपाध्याय ने कला की परिभाषा देते हुए लिखा है, "अभिराम अंकन चाहे भोग-विलास के क्षेत्र मे हो, चाहे रेखाओ मे, चाहे वास्तुशिल्प मे हो, वह कला ही है।" सार रूप मे यह कहा जा सकता है कि, "कला अपनी दृष्टि से प्रकृति को देखती है। कलाकार कला की दृष्टि से दृश्य मे पेठकर और प्राय: उससे अपने आपको एकीभाव करके देखता है, समझता है तथा अपनी तूलिका, छैनी अथवा लेखनी से सवार देता है, इसी को कला कहते है।" इस प्रकार कला के विभिन्न रूप—चित्रकला, सगीतकला, मूर्तिकला व स्थापत्य कला आदि अनेक रूप हैं। समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से भारतीय कला का विकास लगभग सिंधु सभ्यता के बाद से देखा जा सकता है। ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी के बाद वैदिक उदासीनता के कारण भारतीय कला की प्रगति टूट गई थी और उस सभ्यता तथा मौर्य काल की कला के बीच 1500 वर्षों का दीर्घ कालान्तर पड गया था। मोर्य युग से जो कला का

विकास प्रारम्भ होता है, वह निरन्तर चलता रहा है। कला के विभिन्न क्षेत्रों, रूपो, प्रकारो और अभिप्रायो पर विदेशी सस्कृति के प्रभाव पडते रहे। ऐसा नही कहा जा सकता कि भारतीय कला मुख्यत: हिन्दुओं से ही सम्बन्धित रही हो क्योंकि इस पर समय-समय पर प्रभाव पडते रहे।

कला के अनेक रूप हैं, इनको मुख्यतया स्थापत्य कला, मूर्ति कला, चित्रकला, संगीत व रंगमच आदि में वर्गीकृत किया जा सकता है। भारतीय कला के विकास के अध्ययन मे स्थापत्य कला का सर्वाधिक अध्ययन हुआ है। भारतीय कला और उसके दृष्टिकोण के विरुद्ध कुछ भारतीय विद्रोही हुए हैं, उनकी दृष्टि मे भारतीय कला कमजोर, ऊबाने वाली, गीतात्मक, अभौतिक और उद्योग के लिए अनुपयुक्त है। डी पी ने यह भी लिखा है कि भारत मे कुछ ऐसे कलाकार भी हैं जो पाश्चात्य तरीके से कला के सृजन मे लगे हुए हैं। दूसरे कुछ ऐसे लोग भी हैं जो भारतीय कला के केवल प्रशसक हैं। आपका कहना है कि भारतवासी मूलत: एक आध्यात्मिक प्रजाति के रूप मे रहे है। यही कारण है कि भारतीय कला आध्यात्मिक मूल्यो की खान रहते हैं। भारतवासी सदैव ऐतिहासिक दृष्टिकोण से अपनी प्रारम्भिक परम्पराओं, पौराणिक कथाओ तथा प्रतीको के प्रति जागरूक व विशेष रुचि लेते रहे हैं। दु:ख की बात है कि आज मध्यम वर्ग के भारतवासी महाभारत के कथानकों से भी अपरिचित रहे हैं। लेकिन वर्तमान सन्दर्भ मे दूरदर्शन के रामायण, महाभारत व चाणक्य आदि धारावाहिको के द्वारा अनेक भारतवासी इनसे परिचित हुए हैं। अनेक समाजशास्त्रियो एव मानवशास्त्रियो ने भी लिखा है कि अनेक मागलिक उत्सवो मे सामूहिक पूजा के लिए सम्पूर्ण भारत मे मिट्टी की प्रतिमाएँ बनाई जाती हैं। ये प्रतिमाएँ भिन्न-भिन्न प्रकार की मिट्टी से बनाई जाती हैं। इन प्रतिमाओ की विशेषता ये है कि भारत के विभिन्न क्षेत्रो मे उनकी परम्पराओ के अनुसार इनका निर्माण किया जाता है। बगाल मे दुर्गा माता की हजारो प्रतिमाएँ बनाई जाती हैं। दक्षिण भारत के केरल ग्राम मे विभिन्न उत्सवो पर विशेष जातियो द्वारा उच्च कोटि के नृत्य एव नाटक प्रदर्शित किये जाते हैं।

भारत मे कला के विकास एव महत्त्व को क्षेत्रो के आधार पर ग्राम और नगर मे बाँटा जा सकता है तथा काल के आधार पर प्राचीन एव नवीन कला के रूप मे बाँटा जा सकता है। डी पी ने कहा है कि ऐतिहासिक दृष्टिकोण से भारत मे कला को जितना महत्त्व पहले दिया जाता था उतना आज नहीं दिया जाता है। ग्राम और नगर के सन्दर्भ मे कला का महत्त्व नगरो की तुलना मे ग्रामो मे अधिक है। नगरीय समाजो मे मध्यमवर्गीय लोग कला के प्रति अधिक उदासीन पाये जाते हैं।

कला के विकास के दृष्टिकोण से अध्ययन करने पर यह तथ्य सामने आता है कि लोगो मे पहले की तुलना मे अब कला के प्रति रुचि अधिक बढी है। इसका प्रभाव कलात्मक उत्पादन तथा बिक्री पर पडा है, इसे सामाजिक प्रक्रिया के रूप मे विकास की दिशा मे एक आन्दोलन कहा जा सकता है। कला के प्रशसक—गाँव और नगरो—दोनों मे ही काफी हैं। कला के क्षेत्र मे प्रतिभाशाली कलाकारो का अभाव नहीं है। जैसे-जैसे भारत का विभिन्न क्षेत्रो मे विकास हुआ है उसका प्रभाव कला के विकास पर भी पडा है। डी पी ने लिखा है कि कलात्मक वस्तुओं व चित्रों का उत्पादन बढा है और इसमे खरीददारों की सख्या भी बढी है।

आधुनिक सिनेमा या चलचित्रो का अध्ययन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि उनकी विषय-वस्तु अधिकांशत: पौराणिक है। चल-चित्रो मे बुद्ध, अशोक, चैतन्य एव अन्य सन्तो तथा कवियो के सम्बन्ध मे जानकारी दी जाती है। चल-चित्रो मे अनेक लोकप्रिय उपन्यास, नाटक, निबन्ध, कहानियो का भी चित्रण किया गया है, जैसे—शाकुन्तलम्, मेघदूत, जातक कथा, रामायण, महाभारत, उमर खैयाम आदि चलचित्रो के द्वारा भारतीय समाज की विभिन्न समस्याओ, ऐतिहासिक घटनाओ, साहित्यिक रचनाओ, कृषको का शोषण, स्त्रियो की समस्याओ व अस्पृश्यता आदि का चित्रण मिलता है।

भारतीय कला विविध परम्पराओ से प्रभावित हुई है, लेकिन चित्रकला पर प्रधानत: हिन्दुओ का वर्चस्व रहा है क्योकि इस्लाम अधिकाशत: चित्रकला के विरुद्ध रहा है। भारतीय चित्रकला मे प्राकृतिक दृश्यों के चित्र प्रसिद्ध रहे हैं। यहाँ राग-रागनियो को भी चित्रो द्वारा दर्शाया गया है। विगत वर्षों मे रागिनी चित्रो के नीचे दोहे लिखने की प्रथा भी रही है। बगाल में चित्रो पर टैगोर की कविताएँ लिखी हुई मिलती हैं।

भारत मे सभी प्रकार की कलाओ मे वास्तुकला सबसे अधिक सामाजिक रही है। नृत्य कला की दृष्टि से भारत मे यह कला विभिन्न क्षेत्रो में रही है लेकिन पिछले वर्षो मे इसके प्रति लोगो मे आकर्षण बढा है। नृत्य के क्षेत्र मे विभिन्न क्षेत्रीय शैलियाँ भी मिलती हैं। इन क्षेत्रीय शैलियो ने नृत्य के विकास मे उल्लेखनीय योगदान दिया है। ग्रामो या कस्बो मे नृत्य मण्डलियो के अभिनय को स्थानीय लोग उत्साह एव रुचि के साथ देखते हैं। गुजरात मे 'गर्बा-नृत्य' बहुत प्रसिद्ध है। नृत्य कला मे स्त्री-पुरुष दोनो ही समान रूप से भाग लेते हैं। क्षेत्रीय आधार पर 'भरत नाट्यम', मणिपुरी व कथकली आदि क्षेत्रीय शैलियो के नृत्य हैं जिनका देश-विदेश मे योजनाबद्ध रूप मे प्रदर्शन किया जाता है।

भारत मे लोक-नृत्यो की भी अधिकता है। इन नृत्यो मे कलाकार हाथो मे तलवार, डडियाँ, प्रत्यचा, लेजियम, मजीरे आदि लेकर नृत्य करते हैं। भारत मे जनजातियो एव ग्रामीण क्षेत्रो में त्योहारो के अवसर पर लोक नृत्यो का आयोजन किया जाता है। होली के अवसर पर भी विशेष प्रकार के नृत्य का आयोजन किया जाता है और नृत्य के दौरान ही विवाह भी सम्पन्न किये जाते हैं। लोक-नृत्यो की मुख्य विशेषता यह है कि सभी लोग नृत्यो मे भाग लेते हैं और नर्तक और दर्शक का भेद नहीं होता है। भारत मे लोक-नृत्य और उनकी शैली अपना विशेष स्थान रखती है।

कलाकारो तथा कला के विकास के लिए अनेक योजनाएँ कार्यान्वित की गयी हैं। कलाकारो को समाज मे सम्मान प्रदान किया गया है। इनको समाज मे प्रस्थिति एव प्रतिष्ठा प्राप्त हुई है। स्टूडियो की स्थापना के फलस्वरूप कलाकारो को स्टूडियो मे उच्च पदो पर नियुक्तियाँ दी जाती हैं, कला के विकास के क्षेत्र मे कला केन्द्रो द्वारा विभिन्न कार्यक्रम एव प्रतियोगिताएँ आयोजित की जाती है, कलाकारो को सम्मान, पुरस्कार व प्रदर्शन के सम्मान मे प्रीति-भोज दिये जाते हैं। एक प्रकार से भारत मे विभिन्न कलाओ के विकास मे इनकी अह भूमिका है। विगत् वर्षों मे भारत मे चित्रकला, सगीत कला, नृत्य-कला आदि सामाजिक वास्तविकता के निकट आती जा रही हैं। अनेक सामाजिक समस्याओ के समाधान के लिए विभिन्न कलाओं के द्वारा सुझाव एवं समाधान प्रस्तुत किये जाते हैं।

डी. पी. मुकर्जी ने अपने लेख 'उपन्यास' में सामाजिक समस्याओ के अन्त में कला से सम्बन्धित निम्नलिखित निष्कर्ष दिये हैं।

1. कलाकार स्वरूप को मुश्किल से ही अन्तर्वस्तु पर आरोपित करता है।

2 अन्तर्वस्तु सदैव सामाजिक होती है।

3 अन्तर्वस्तु और स्वरूप दोनो ही सामाजिक प्रक्रियाओ को प्रतिबिम्बित करते है, समाज को प्रतिबिम्बित नहीं करते।

4 सामाजिक प्रक्रियाएँ द्वन्द्वात्मक होती है। इसमें विरोध के द्वारा प्रत्येक चरण पर समस्याएँ उत्पन्न होती हैं।

5 समस्याएँ सम्पूर्ण सामग्री होती हैं और उनका समाधान सम्पूर्ण काल्पनिक साहित्य द्वारा होता है।

6 समाधान समझ या ज्ञान के द्वारा होता है न कि विशिष्ट सकाय के द्वारा।

7. डाउने (Downay) लिखते हैं कि **"प्रमाणित सृजनात्मक निर्माण का विकास वैज्ञानिक अन्तर्दृष्टि से होता है।"**

8 कला और दस्तकारी मे परस्पर बहुत कम अन्तर होता है। उनमे अन्तर्भाग समान होता है। तकनीकी कठिनाइयो को समस्याओं का समाधान तथा वस्तुओ के विरोध पर विजय पाना—कला और कला-वस्तु—दोनो मे समान रूप से मिलता है। कला मे जो वस्तु विरोध करती है, वह कला का आदि-रूप है, जिसको निश्चित एव प्रमाणित समाज का आदि-स्वरूप करता है।

इस प्रकार डी पी. मुकर्जी ने भारतवर्ष मे साहित्य और कला की समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से विवेचना की है।

अभ्यास प्रश्न

निबन्धात्मक प्रश्न

1 डी पी मुकर्जी के भारतीय कला तथा साहित्य से सम्बन्धित विचारो को विवेचना कीजिए।

2. भारतीय साहित्य से सम्बन्धित डी पी के विचारो पर प्रकाश डालिए।

3. डी पी मुकर्जी के भारतीय कला से सम्बन्धित विचारो का उल्लेख कीजिए।

4. 'भारतीय साहित्य का समाजशास्त्र' विषय पर डी पी मुकर्जी के विचार व्यक्त कीजिए।

5 डी पी मुकर्जी द्वारा भारतीय साहित्य में सामान्य तत्वो के विकास का वर्णन कीजिए।

6 भारतीय साहित्य मे 'सामान्य सामाजिक विश्वास' तथा 'साहित्यिक विश्वासो का विकास' से सम्बन्धित विचार स्पष्ट कीजिए।

7. डी पी मुकर्जी के विशेष सन्दर्भ के अन्तर्गत हिन्दी, उर्दू एव बगला साहित्य का जो समाजशास्त्रीय विवेचन प्रस्तुत किया गया है, उसका मूल्याकन कीजिए।

लघुउत्तरात्मक प्रश्न

निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिए :—

1 भारतीय साहित्य का समाजशास्त्र

2 भारतीय साहित्य मे सामान्य तत्त्वो का विकास

3 साहित्यिक विश्वासो का विकास

4 हिन्दी साहित्य

5 उर्दू साहित्य

6 बगला साहित्य

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1 "सोशियल प्रोब्लम्स इन फिक्शन, 20वीं शताब्दी" लेख किसने लिखा है?

(अ) डी पी मुकर्जी (ब) राधाकमल मुकर्जी

(स) जी एस घुर्ये (द) श्रीनिवास

[उत्तर- (अ)]

2 "सोशियोलोजी ऑफ इण्डियन लिटरेचर" के रचयिता कौन हैं?

(अ) रामकृष्ण मुकर्जी (ब) एस सी दुबे

(स) एम एन श्रीनिवास (द) डी पी मुकर्जी

[उत्तर- (द)]

3 भारतीय व्यक्तिवाद को आदि-भारतीय व्यक्तिवाद और नव-भारतीय व्यक्तिवाद के रूप मे किसने बाँटा है?

(अ) जी एस घुर्ये (ब) डी पी मुकर्जी

(स) दुर्खीम (द) वेबर

[उत्तर- (ब)]

4 बगला भाषा, हिन्दी भाषा और उर्दू भाषा के प्रमुख साहित्यकारो व उनकी कृतियो, विषय-सामग्रियो आदि का समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से विश्लेषण एव वर्णन किस विद्वान ने किया है?

(अ) डी एन मजूमदार (ब) के एम कापडिया

(स) ए के सरन (द) डी पी मुकर्जी

[उत्तर- (द)]



अध्याय-16

जी. एस. घुर्ये
(G. S. Ghurye)
(1893-1983)

जीवन-चित्रण
(Life Sketch)

जी एस घुर्ये का जन्म एक सारस्वत ब्राह्मण परिवार में 12 दिसम्बर, 1893 मे महाराष्ट्र के मालवा प्रान्त मे हुआ था। आप बाल्यकाल से ही एक प्रतिभाशाली और कुशाग्रबुद्धि थे। आपका शैक्षणिक जीवन उच्च कोटि का रहा। आपने सभी परीक्षाएँ प्रथम श्रेणी मे उत्तीर्ण की थी। आपने संस्कृत मे एम ए 1918 में और बाद मे अंग्रेजी मे एम ए एल्फिन्स्टन महाविद्यालय, मुम्बई से प्रथम श्रेणी-प्रथम स्थान मे उत्तीर्ण करके स्वर्ण पदक प्राप्त किया था। मुम्बई विश्वविद्यालय मे प्रोफेसर पैट्रिक गेड्डिस को 1919 में समाजशास्त्र को पढाने के लिए नियुक्त किया था। उस समय घुर्ये एल्फिन्स्टन महाविद्यालय मे संस्कृत के प्राध्यापक थे तथा गेड्डिस के भाषणो को सुनने जाया करते थे। ब्रिटिश विश्वविद्यालय मे समाजशास्त्र मे प्रशिक्षण प्राप्त करने के लिए गेड्डिस ने घुर्ये का चयन किया। इनकी सिफारिश पर घुर्ये को लन्दन भेजा गया। घुर्ये पहिले तो प्रो एल टी हाबहाउस के साथ कुछ समय तक अध्ययन करते रहे। उसके बाद आप डब्ल्यू आर एच रिवर्स के पास अध्ययन के लिए कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय चले गए। वहाँ आपने अनेक लेख लिखे। आपने रिवर्स के निर्देशन मे "Ethic Theory of Caste" विषय पर शोध कार्य किया परन्तु घुर्ये का शोध कार्य पूर्ण होने से पहिले ही रिवर्स का देहान्त हो गया था। घुर्ये पर रिवर्स का बहुत प्रभाव पड़ा जिसने घुर्ये की रुचि मानवशास्त्रीय विषयो, जैसे—नातेदारी, प्रसारवाद आदि की ओर पैदा की।

घुर्ये कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय से डॉक्टरेट की उपाधि प्राप्त करके 1923 मे वापिस भारत आए। आपको समाजशास्त्र विभाग, मुम्बई विश्वविद्यालय के रीडर एवं विभागाध्यक्ष पद पर 1924 मे पैट्रिक गेड्डिस के बाद नियुक्त किया गया। दस वर्ष बाद 1934 मे आपको पदोन्नत कर प्रोफेसर का पद प्रदान किया गया। आप इस पद से 1959 मे सेवानिवृत हुए थे। आपकी प्रतिभा का लाभ उठाने के लिए मुम्बई विश्वविद्यालय ने एक नवीन पद—प्रोफेसर एमरीटस का प्रावधान करके यह पद आपको 1960 मे प्रदान किया जिस पर आप अपनी मृत्यु (1983) तक कर्मठ कार्यकर्ता की तरह कार्य करते रहे। आपने 30 पुस्तकें अंग्रेजी तथा एक पुस्तक मराठी मे लिखी है। आपकी तत्कालीन पुस्तक 'The Burning Cauldron of North-East India 1980 है। घुर्ये ने लिखा था कि वेस्टरमार्क की पुस्तक History of Marriage ने उन्हे समाजशास्त्र के लिए प्रभावित किया। आपने एम ए स्तर के 800 विद्यार्थियो को शोध कार्य का निर्देशन प्रदान किया। आपके निर्देशन में 87 विद्यार्थियो ने डॉक्टरेट की उपाधि के लिए शोध कार्य किया। आपके शिष्य विश्वस्तर के समाजशास्त्री बने

उनमे कुछ उल्लेखनीय वैज्ञानिक एम एन श्रीनिवास, के एम कापडिया, ए आर. देसाई, वाई बी डामले, एम एस ए राव आदि हैं। आपने भारत के अनेक समाजशास्त्र के प्राध्यापको को शिक्षा दी थी। आप 1945-50 तक 'एन्थ्रोपोलॉजिकल सोसायटी ऑफ बाम्बे' के अध्यक्ष रहे। भारतवर्ष मे समाजशास्त्र के विकास और विस्तार के लिए अवर्णनीय कार्य किए हे, तथा इण्डियन सोशियोलॉजिकल सोसायटी की स्थापना की। इस सोसायटी के तत्वावधान मे आपने भारतीय स्तर की प्रथम समाजशास्त्रीय पत्रिका 'सोशियोलॉजिकल बुलेटिन' के प्रकाशन का शुभारम्भ किया जो आज की पत्रिकाओ मे गिनी जाती है। आप इसके 1966 तक प्रथम अध्यक्ष रहे।

जी एस घुर्ये ने भारत मे समाजशास्त्र को एक महत्त्वपूर्ण विषय के रूप मे स्थापित किया तथा अपनी कार्यकुशलता, वैज्ञानिक सोच, लेखन, निर्देशन की अभूतपूर्व क्षमता, अध्ययन-अध्यापन एव सगठन के द्वारा भारत मे समाजशास्त्र को अल्पकाल मे उचित स्थान प्रदान करवाया है। आपने भारतीय समाज से सम्बन्धित समाजशास्त्रीय शोध तथा सिद्धान्तो के निर्माण द्वारा समाजशास्त्रीय साहित्य का विकास किया तथा अपने शिष्यो द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय स्तर के अनुसन्धान करवाकर भारतीय समाजशास्त्रियो की एक समृद्ध पीढी का विकास किया। घुर्ये के सम्बन्ध मे एक बार डी पी मुखर्जी ने कहा था, "आज घुर्ये ही एकमात्र भारतीय समाजशास्त्री है। अन्य भारत में समाजशास्त्री है।" घुर्ये ने स्वय भी उच्च स्तर के अध्ययन-अध्यापन के साथ-साथ 30 विश्व विख्यात पुस्तके अग्रेजी मे लिखी हैं, जिनमे से कुछ का वर्णन प्रस्तुत है—

घुर्ये की प्रमुख रचनाएँ
(Major Works of Ghurye)

जी एस घुर्ये ने अपने दीर्घ कार्यकाल मे अनेक रचनाएँ ऐतिहासिक तथा भारत-शास्त्रीय विधि के अनुसार लिखी हैं उनमे से कुछ प्रमुख रचनाएँ निम्न हैं—

1 दा एबोरिजिन्स—सो काल्ड एण्ड देयर फ्यूचर, 1943
2 इण्डियन साधूज, 1953
3 कॉस्ट एण्ड क्लास इन इण्डिया का सशोधित एव परिवर्तित सस्करण प्रकाशित हुआ। कॉस्ट एण्ड रेस इन इण्डिया और इसका सशोधित एव परिवर्तित सस्करण प्रकाशित हुआ कॉस्ट, क्लास एण्ड आक्यूपेशन, 1961। इसका हिन्दी सस्करण है—जाति, वर्ग और व्यवसाय।
4 सिटीज एण्ड सिविलाइजेशन, 1962
5 फेमिली एण्ड किन इन इण्डो-यूरोपियन कल्चर, 1962
6 दा शेड्यूल्ड ट्राइब्स, 1963
7 कल्चर एण्ड सोसायटी, 1963
8 एन्थ्रोपो-सोशियोलॉजिकल पेपर्स, 1963
9 सोशियल टेन्शन्स् इन इण्डिया, 1968
10 रेस रिलेशन्स् इन नीग्रो अफ्रीका।

घुर्ये की उपर्युक्त वर्णित प्रमुख कृतियो मे से कुछ का सक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया जा रहा है—

(1) अनुसूचित जनजातियाँ (The Scheduled Tribes) 1963—घुर्ये की कृति The Scheduled Tribes मे भारत की जनजातियों की समस्याओ और उनके समाधान के सम्बन्ध मे विस्तारपूर्वक विवेचना की गई है। यह कृति आपको पहिले प्रकाशित पुस्तक "The Aboriginals so called and their Future" का सशोधित तथा परिवर्द्धित सस्करण

है। इसमे भारत की कुछ प्रमुख जनजातियो के सामाजिक संगठन, धर्म, नातेदारी, परिवार, विवाह आदि का सम्पूर्ण विवरण दिया गया है।

पुस्तक की अध्यायवार विषय-योजना निम्नानुसार है। प्रथम अध्याय मे घुर्ये ने जनजातियों के विभिन्न नामो—जनजाति, आदिवासी, मूल निवासी, अनूसूचित जनजातियो आदि की विवेचना की है। भारत मे विभिन्न जनगणना प्रतिवेदनों मे इनके लिए प्रयुक्त किए गए नामो का भी उल्लेख किया गया है। अध्याय दो और तीन मे जनजातियों का अन्य लोगो, जैसे—हिन्दू, ईसाई आदि से सम्पर्क के परिणामस्वरूप उत्पन्न समस्याओं और तनावों का वर्णन किया गया है। जनजातियो के प्रति अंग्रेजो की नीति का वर्णन अध्याय चार और पाँच में किया गया है। अध्याय सात में विभिन्न विद्वानों के दृष्टिकोणो को देने के साथ-साथ घुर्ये ने अपना मत भी व्यक्त किया है। अध्याय आठ से ग्यारह मे घुर्ये ने भारत की प्रमुख जनजातियो के सामाजिक-धार्मिक जीवन, उनकी सामाजिक संरचना एवं सगठन, विवाह, परिवार एवं नातेदारी की विवेचना की है। आपने वेरियर एल्विन, हट्टन, और मजूमदार आदि वैज्ञानिको के द्वारा सुझाए गए जनजातियो की समस्याओ के समाधान का मूल्याकन किया है तथा स्वयं ने समस्या के समाधान का सुझाव आत्मसात् बताया है। आपके अनुसार जनजातियो को सामाजिक, धार्मिक, सास्कृतिक, आर्थिक सभी समस्याओ के समाधान के लिए हिन्दू समाज के साथ आत्मसात् करना चाहिए।

(2) नीग्रो अफ्रीका में प्रजातीय सम्बन्ध (Race Relations in Negro Africa) —घुर्ये ने इस पुस्तक मे अफ्रीका मे प्रजाति पर आधारित भेदभाव तथा नीग्रो समस्याओ का विश्लेषण किया है। आपने दक्षिण अफ्रीका के प्रजातीय तनावो पर भी प्रकाश डाला है।

(3) भारतीय साधु (Indian Sadhus) 1953—घुर्ये ने अपनी पुस्तक 'इण्डियन साधूज' में भारत में साधुवाद तथा साधुओ के उत्थान, इतिहास, कार्य एवं वर्तमान मे हिन्दू साधुओ के सगठन पर प्रकाश डाला है। इस पुस्तक के कुल 13 अध्यायो मे भारतीय साधुओ के सम्बन्ध में समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण के महत्त्वपूर्ण जानकारी प्रदान की गई है। पुस्तक मे महत्त्वपूर्ण सन्दर्भ ग्रन्थों एवं पुस्तको की सूची भी दी गई है। घुर्ये ने भारत के विभिन्न सम्प्रदायो एवं पथो का विस्तारपूर्वक विवेचन किया है। आपने भारत के प्रमुख साधु पथो एव सम्प्रदायो—शकर सम्प्रदाय के साधुओ या दशनामी, दशनामी नागा या लड़ाकू साधु, नाथ पथी या कनफडा जोगियों, बैरागी या वैष्णव साधुओ, सुधारवादी सन्यासियो, केतु समुदायी नागा या लड़ाकू बैरागियो आदि का समाजशास्त्रीय विवेचन किया है।

(4) नगर और सभ्यता, (Cities and Civilization) 1962—घुर्ये की पुस्तक 'सिटिज् एण्ड सिविलाइजेशन' नगरीय समाजशास्त्र के क्षेत्र मे एक महत्वपूर्ण योगदान है। इस पुस्तक के ग्यारह अध्यायो मे नगरो के प्राकृतिक इतिहास, अमरीका और इग्लैण्ड के नगरो का इतिहास, भारत के नगरो की स्थिति तथा वृद्धि-नगर की राजधानियो तथा विशाल नगरो के रूपो की विवेचना की गई है। पुस्तक के अन्तिम अध्याय मे मुम्बई नगर के सम्बन्ध मे सविस्तार विवरण दिया गया है।

(5) मानवशास्त्रीय-समाजशास्त्रीय पत्र, (Anthropo Sociological Papers) 1963—घुर्ये ने समय-समय पर जो पत्र एव लेख मानवशास्त्र और समाजशास्त्र के विषयो से सबन्धित लिखे थे जो विभिन्न पत्र-पत्रिकाओ मे प्रकाशित हुए थे उनका संकलन 'एन्थ्रोपो-सोसियोलॉजिकल पेपर्स' पुस्तक शीर्षक के अन्तर्गत प्रकाशित किया गया है। इस संकलित पुस्तक में सत्रह विषयो पर सत्रह अध्यायो में लेख प्रकाशित किए गए हैं। इसमें जो लेख प्रकाशित किए गए हैं वे—'भारत में द्वै-संगठन, 'काठियावाड़ में ममेरे-फुफेरे-भाई-बहिन एवं द्वै-संगठन, 'नातेदारो का नामकरण', 'विवाह की आयु', 'भारत में विवाह और वैधव्य',

'मिश्र की नातेदारी प्रथा एव भारत की दाह-क्रियाएँ', 'मानव नाल को पृथक् करना'; सामाजिक कार्य एव समाजशास्त्र', 'सामाजिक श्रेणी के रूप मे मित्रता', 'भारतीय परम्परा'; 'भारतीय एकता', 'मूल्य और समाज', 'शैली और सभ्यता', 'नवाचार और गतिशीलता का समाजशास्त्र' आदि है। इस प्रकार इस पुस्तक मे विविध विषयो पर प्रकाश डाला गया है।

(6) संस्कृति और समाज, (Culture and Society) 1963—घुर्ये ने **'कल्चर एण्ड सोसायटी'** पुस्तक मे सामाजिक विघटन के कारण संस्कृति के समक्ष आने वाली समस्याओ का विश्लेषण किया है। आपने हवेली तालुका के 111 गाँवो का लोक-नगरीय-अविच्छिन्नक (Folk-Urban-Continueim) की परम्परा मे पारिस्थितिकीय को ध्यान मे रखकर अध्ययन किया है, उसे इस पुस्तक मे प्रकाशित किया है तथा जनसख्या के आधार पर गाँवो का वर्गीकरण किया है। सम्पूर्ण हवेली तालुका को आपने समुदाय कहा है जिसका वर्गीकरण निम्न है—

हवेली तालुका (समुदाय) का वर्गीकरण

प्रकार →	कृषिपुरा	ग्राम राजा	महाग्राम	खेतका
जनसंख्या →	(3,000 से अधिक जनसख्या)	(2,000 – 3,000)	(1,000 – 2,000)	(500 से कम)

1 **कृषिपुरा**—हवेली मे आठ गाँव तीन हजार या उससे अधिक जनसख्या के थे उन्हे कृषिपुरा की सज्ञा दी गई।

2 **ग्राम राजा**—जिनकी जनसख्या दो हजार से तीन हजार के बीच थी उन्हे आपने ग्राम राजा को सज्ञा दी। ऐसे ग्राम-राजा दस थे।

3 **महाग्राम**—जिनकी जनसख्या एक हजार से दो हजार के बीच थी उन्हे महाग्राम की सज्ञा दी गई है। ऐसे 34 महाग्राम थे।

4 **खेतका (छोटे गाँव)**—जिनकी जनसख्या 500 से कम थी उन्हे आपने खेतका (छोटे गाँव) कहा। ऐसे बीस गाँव थे।

घुर्ये ने हवेली तालुका के अध्ययन में 1891 से 1951 तक के जनसख्या के आँकडो का उपयोग किया। जनसख्या के घनत्व का भी विश्लेषण किया। सामाजिक, धार्मिक, शैक्षिक एव आर्थिक परिवर्तन के पक्षो का विशेष रूप से विवेचन किया गया है।

(7) जाति, वर्ग और व्यवसाय, 1961—घुर्ये की पुस्तक 'कास्ट, क्लास एण्ड आक्यूपेशन' का हिन्दी अनुवाद जाति, वर्ग और व्यवसाय है। यह पुस्तक Caste and Class in India और Caste and Race in India का सशोधित एव विस्तृत रूप है।

इस पुस्तक मे कुल 12 अध्याय है जिसमे जाति-व्यवस्था के लक्षण, जाति समूहो का स्वरूप, युग-युग से जाति, जाति मे परिवर्तन। प्रजाति और जाति, भारत के बाहर जाति के तत्त्वो, जाति व्यवस्था के मूल स्रोत, जाति तथा ब्रिटिश शासन, अनुसूचित जातियो, व्यवसाय और जाति, वर्ग तथा उसके कार्यो तथा जाति के भविष्य आदि जाति से सम्बन्धित विविध विषयो की विवेचना की गई है। यह कृति भारत मे जाति व्यवस्था से सम्बन्धित तथ्यो का महत्त्वपूर्ण स्रोत है।

घुर्ये ने इस पुस्तक की प्रस्तावना मे लिखा है, **"भारतीय जाति और वर्ग"** इस नाम के मेरे ग्रन्थ का यह (जाति, वर्ग और व्यवसाय) परिवर्द्धित सम्करण है और मेरे 'भारतीय जाति और प्रजाति' नामक ग्रन्थ का चौथा सस्करण है। **'व्यवसाय'** के सम्बन्ध मे लिखे हुए एक नए प्रकरण को इस सस्करण मे सम्मिलित करने से इसका विस्तार हो गया है। इस

विस्तार से यह ग्रन्थ भारतीय समाज संरचना का एक विशेष अध्ययन प्रस्तुत करता है। अन्य परिवर्तन आनुषंगिक है। *9वें, 10वें एवं 11वे अध्यायो मे* नवीन सामग्री का समावेश किया गया है। अन्तिम अध्याय के शीर्षक को उपयुक्ततानुसार (प्रासंगिकतानुसार) परिवर्तित किया गया है। यह आशा की जाती है कि इस ग्रन्थ के पाठको को ये कुछ परिवर्तन विषय की समस्याओ को अच्छी तरह से समझने मे सहायक होगे।"

इस पुस्तक मे वर्णित जाति, वर्ग और व्यवसाय का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत है—

जाति-व्यवस्था

जब हिन्दू समाज जाति के सामाजिक दर्शन के द्वारा शासित होता था और आधुनिक विचारधारा के अधिकारो और कर्त्तव्यो का उस पर कोई प्रभाव नहीं पडा था, उस समय घुर्ये के अनुसार हिन्दू समाज के निम्न छः प्रधान विशिष्ट लक्षण देखे जा सकते हैं—

जाति द्वारा शासित हिन्दू समाज के विशिष्ट लक्षण

1. समाज का खण्डात्मक विभाजन
2. श्रेणी-बद्धता
3. भोजन व सामाजिक समागम पर प्रतिबन्ध
4. विभिन्न खण्डो को नागरिक व धार्मिक असमर्थताएँ व विशेषाधिकार
5. अप्रतिबन्धित व्यवसायों के चयन का अभाव
6. विवाह पर नियन्त्रण

1 **समाज का खण्डात्मक विभाजन (Segmental Division of Society)**—हिन्दू जाति समाज न्यूनाधिक रूप मे समरूप समुदाय नहीं था। यह एक ऐसा समाज था जिसमे विभिन्न समूह (जातियाँ) थे, जिनका अपना सुविकसित जीवन होता था और जिनकी सदस्यता जन्म से निर्धारित होती थी। किसी भी व्यक्ति की सामाजिक स्थिति आधुनिक यूरोप के वर्गों की भाँति उसके धन पर निर्भर नहीं होती थी। ब्राह्मण और राजपूत जैसी ऊँची जातियों को छोडकर अन्य सभी जातियो की नियमित तथा स्थाई परिषदे या प्रशासनिक संस्थाएँ (पचायते) होती थी। ये जाति पंचायते उप-जाति के साथ निषिध खान-पान, पारस्परिक व्यवहार, स्त्री को रखेल या उप-पत्नी के रूप मे रखना, स्त्री का अपहरण या व्यभिचार, अवैध संभोग करना, पत्नी का भरण-पोषण नहीं करना, कर्ज नहीं चुकाना आदि अपराधो पर निर्णय दिया करती थी। जाति पचायत अपने अपराधी सदस्य को दण्ड के रूप में स्थाई या अस्थाई रूप से जाति से बहिष्कृत करती, जुर्माना, जाति के सदस्यो को भोज, शारीरिक दण्ड आदि दिया करती थी। घुर्ये ने लिखा है कि इन विशेषताओ के कारण "जाति स्वयं अपनी शासक है।" विभिन्न जातियो के मध्य एक सास्कृतिक खाई देखी जा सकती है। आपने निष्कर्ष मे लिखा है, "अत: जातियाँ छोटी तथा अपने आप मे समूची सामाजिक दुनियाएं होती हैं और विशाल समुदाय मे सम्मिलित रहते हुए भी एक-दूसरी से भिन्न होती हैं।" हिन्दू समाज जाति के द्वारा अनेक खण्डो (जातियो व उपजातियो) में विभाजित होता है।

2 **श्रेणीबद्धता (Heerarchy)**—घुर्ये के अनुसार जाति-समाज का मुख्य लक्षण विभिन्न समूहो (जातियो) की श्रेणीबद्धता है। भारत मे उच्चता और निम्नता के क्रम मे जातियो मे सामाजिक वरिष्ठता देखने को मिलती है। इसमे ब्राह्मण उच्चतम प्रस्थिति प्राप्त होते हैं और हरिजन या अस्पृस्य जाति निम्नतम प्रस्थिति वाली होती है। अन्य जातियाँ प्रतिष्ठानुसार इनके मध्य क्रम से स्थित होती हैं।

3 **भोजन व सामाजिक समागम पर प्रतिबन्ध (Restrictions on Feeding and Social Intercourse)**—इस सम्बन्ध मे विस्तृत नियम विद्यमान है कि किस जाति का सदस्य किस प्रकार का भोजन एवं पेय पदार्थ किन-किन जातियों से ग्रहण कर सकता है

और किन-किन से नहीं। इस सम्बन्ध में भारत मे बहुत अधिक अनेकता विद्यमान है। घुर्ये ने भोजन और सामाजिक समागम सम्बन्धी नियमो के आधार पर भारत को दो भागो मे विभाजित किया है। आपने उत्तर भारत मे जातियो का विभाजन निम्न पाँच समूहों मे किया है—(1) पहला स्थान द्विज यानी ब्राह्मणो का है। (2) दूसरा स्थान उन जातियों का है जिनके हाथ से ब्राह्मण 'पक्का' भोजन ग्रहण कर लेते हैं। (3) तीसरे स्थान पर वे जातियाँ आती हैं जिनके हाथ से ब्राह्मण मात्र जल ग्रहण कर सकते हैं। (4) चौथा स्थान उन अछूत जातियो का है जिनके हाथ से ब्राह्मण जल भी ग्रहण नहीं कर सकते हैं। (5) अन्तिम स्थान पर वे जातियाँ आती हैं जिनका स्पर्श मात्र किसी भी कट्टर हिन्दू को अपवित्र कर सकता है। सिद्धान्त रूप मे ऊँची जाति का व्यक्ति अपने से नीची जाति के सदस्य द्वारा स्पर्श हो जाने पर अपवित्र हो जाता है। परन्तु व्यवहार मे इस नियम का इतनी दृढता से पालन नहीं किया जाता है। दूसरा दक्षिण भारत मे मद्रास और विशेषत: मलबार मे इस सिद्धान्त को और भी अधिक विस्तृत रूप मे देखा जा सकता है। एक निश्चित दूरी से कम दूरी होने पर उच्च जातियाँ अपवित्र हो जाती हैं।

4 **विभिन्न खण्डो की नागरिक व धार्मिक असमर्थताएँ एवं विशेषाधिकार (Civil and Religions Disabilities of the Different Sections)**—जाति संरचना में उच्चतम जाति (ब्राह्मण) को अधिकतम नागरिक व धार्मिक विशेषाधिकार प्राप्त होते हैं तथा उनकी न्यूनतम असमर्थताएँ होती हैं। इसके विपरीत निम्नतम जाति (अस्पृश्य या हरिजन) पर अधिकतम असमर्थताएँ होती हैं और न्यूनतम विशेषाधिकार। घुर्ये ने लिखा है, "विशिष्ट जातियो या जाति-समूहो का गाँव मे पृथक्करण नागरिक विशेषाधिकारो तथा असमर्थताओ का अत्यन्त ही स्पष्ट चिन्ह है और यह सारे भारत मे न्यूनाधिक रूप में विद्यमान रहता आया है।" नियमो की कठोरता मे दक्षिण भारत का विशिष्ट स्थान है आपने लिखा है, "उत्तर भारत, महाराष्ट्र और तेलगू कन्नड प्रदेशो मे केवल अपवित्र जातियो को ही पृथक् किया जाता है और उन्हे गाँवो की बाहरी सीमा पर रहने के लिए विवश किया जाता है।" तमिल व मलायालम प्रदेशो मे प्राय ऐसा होता है कि विभिन्न जातियाँ पृथक् भागो मे रहती है या कभी कभी किसी गाँव को ही तीन भागो मे विभक्त कर दिया जाता है। एक भाग मे प्रमुख जाति या ब्राह्मण, दूसरे मे शूद्र और तीसरे मे पचम यानी अछूत निवास करते है। ब्राह्मणो, शूद्रो और पचमो के मोहल्ले पृथक् होते हैं।

ब्राह्मणो के संस्कार विशिष्ट—वैदिक-क्रिया पद्धति की सहायता से सम्पादित होते थे जबकि अन्यो के सस्कार पौराणिक क्रिया पद्धति, जिसे कम पवित्र माना जाता है, के द्वारा सम्पन्न किए जाते थे। अत्यन्त पवित्र साहित्य का अध्ययन शूद्रो के द्वारा नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार से अन्य अनेक प्रतिबन्ध निम्न जातियो पर लगे हुए रहे हैं। मन्दिरो के अन्तरग भागो मे मात्र ब्राह्मण ही जा सकते थे। शूद्रो तथा अन्य जातियो का पवित्र स्थानो मे प्रवेश निषिध था।

घुर्ये ने लिखा है, "ऐसा वर्णन पाया गया है कि मराठो तथा पेशवाओ के शासन काल मे महार और माँग जातियो को पूना के दरवाजो के अन्दर दोपहर 3 बजे के बाद और सुबह 9 बजे से पहिले प्रवेश करने की अनुमति नहीं दी जाती थी, क्योकि इस समय मे उनके शरीरो की लम्बी छाया पडती थी, जो ऊँची जातियो के सदस्य पर गिरकर उन्हे अपवित्र कर देती थी। महाराष्ट्र प्रदेश मे अछूतो को सडक पर थूकने नहीं दिया जाता था क्योकि कहीं ऊँची जाति के किसी हिन्दू का पैर उससे छू जाने से वो अपवित्र हो जाते थे।

मलबार तथा पूर्वी सीमा के ताडी बनाने वाले इझवा तथा शानारो को छाता, जूता या सोने के गहने पहिनने, गाये दुहने या देश की साधारण भाषा का भी उपयोग करने की

अनुमति नहीं दी जाती थी। सन् 1865 तक ऐसा ही कानून था कि तिया या अन्य नीची जातियो की स्त्रियो को कमर से ऊपर अपने शरीर को नहीं ढक सकती थी। उन्हें अपने शरीर का ऊपरी भाग बिल्कुल खुला रखने को विवश होना पडता था। सश्रम कारावास या मृत्युदण्ड प्राय: नीची जातियो के अपराधियो को ही दिया जाता था।

फारबस ने लिखा है, "भारत के अधिकांश भागो की भाँति त्रावनकोर के ब्राह्मणो ने अपने आपको यथासाध्य दण्ड से मुक्ति पाने मे पूरी सावधानी प्रदर्शित की। कम-से-कम एक ही अपराध मे अन्य जातियो की अपेक्षा उन्हे बहुत ही अल्प दण्ड दिया जाता था।" बगाल मे मे भूमि भोगने वाली जाति के अनुसार कर या लगान की राशि प्राय: परिवर्तित होती रहती थी। जाति प्रथा के अन्तर्गत विभिन्न जातियो को नागरिक और धार्मिक असमानताएँ एवं विशेषाधिकार उनकी जाति संरचना मे उच्चता और सिद्धान्त के क्रम विन्यास के आधार पर भिन्न-भिन्न थे।

5. अप्रतिबन्धित व्यवसायों के चयन का अभाव (Lack of Unrestricted Choice of Occupation)—सामान्यत: कोई भी जाति या उससे मिलता-जुलता जाति-समूह कुछ व्यवसायो को अपना पैतृक व्यवसाय मानते थे। उस पैतृक व्यवसाय को वे किसी दूसरे लाभकारी व्यवसाय के लिए छोडना उचित नही माना जाता था। ब्राह्मण यह सोचता था कि उसके लिए पुरोहित बनना या बने रहना उचित है। चमार जूते बनाना और चमड़े के कार्य को करना अपना परम कर्त्तव्य समझता था। घुर्ये ने टिप्पणी लिखी है कि यह मात्र सामान्य रूप से ही सत्य था क्योकि व्यापार, कृषि, कृषि-श्रम, सैनिक सेवा जैसे व्यवसाय समूह थे जो किसी भी जाति के व्यक्ति के लिए खुले हुए थे। अधिकाश जातियाँ इनमे से किसी भी एक व्यवसाय के लिए उपयुक्त मानी जाती थी। इसके साथ आपने यह भी लिखा है कि कोई भी जाति अपने सदस्यों को ऐसा धन्धा अपनाने की अनुमति नहीं देती थी जो प्रतिष्ठाघातक हो, जैसे—ताड़ी या शराब बनाना, मलमूत्र या कूडा-करकट उठाना या चमडे का गन्दा कार्य करना। व्यक्ति के व्यवसाय के चयन करने मे दो प्रकार के प्रतिबन्ध होते थे—(1) अपनी जाति-बन्धुओ का नैतिक नियत्रण, तथा (2) अन्य जातियो एव सामाजिक प्रतिबन्ध भी व्यवसाय के चयन मे प्रभावी रहते थे। घुर्ये ने उदाहरण दिया है कि जन्मजात ब्राह्मण के अतिरिक्त अन्य कोई भी व्यक्ति पुरोहित का कार्य करने की अनुमति प्राप्त नहीं कर सकता था। इसी कारण पुरोहित का कार्य का पूर्ण अधिकार परम्परागत एव आनुवाशिक रूप से ब्राह्मणों का रहा है। आपने यह भी स्पष्ट किया है कि महाराष्ट्र प्रदेश मे ब्राह्मणो को अनेक लौकिक कार्यों जैसे लेखापाल, और सैनिक सेवा मे देखा जा सकता है। इसी प्रकार भारतीय विद्रोह से पूर्व ब्राह्मण बंगाल की सेना मे सेवारत थे। राजपूताना के कुछ ब्राह्मण मारवाड़ी सेठो की सेवा करते थे। बुचनन (Buchanan) के अनुसार, कर्नाटक मे अनेक ब्राह्मण राजस्व एकत्र करने तथा दूत या सदेशवाहक का कार्य भी करते थे। राजपूताने मे ब्राह्मण अपने खेत पर आवश्यक श्रम करने तथा अपने श्रम को भूमिधरो को बेचा भी करते थे।

घुर्ये ने लिखा है कि कृषि में अनेक जातियाँ लगी हुई हैं। व्यक्तियो के लिए एक व्यवसाय से दूसरे व्यवसाय मे बिना अपनी सामाजिक प्रस्थिति मे परिवर्तन किए या जाति के अन्दर विवाह का अधिकार खोए चले जाना असम्भव नहीं है। रसेल (Russel) ने लिखा, "अनेक जातियो का एक-सा ही परम्परागत व्यवसाय है। मध्य प्रान्त की लगभग चालीस जातियो का वर्गीकरण कृषको के रूप मे, ग्यारह का बुनकरो के रूप मे, सात का मछुओ के रूप मे और ऐसे ही अन्यो का किया गया है।" घुर्ये ने निष्कर्ष मे लिखा है कि यह सामान्य कथन स्वीकार किया जा सकता है कि प्रत्येक जाति के लिए जो व्यवसाय निश्चित है उसे अधिमान्यता पाने का अधिकार है। कतिपय अपवादो को छोडकर प्रत्येक व्यवसाय प्रत्येक

प्रकार के व्यक्ति के लिए खुला है। आपने इरविंग (Irving) का कथन उद्धरित किया जो इस प्रकार है, "यदि हम पुरोहित के कार्य को छोड दे तो जाति का भी आवश्यक प्रभाव जीवन की उस दिशा पर नही पडता है जिस ओर कोई व्यक्ति जाना चाहे। घुर्ये की टिप्पणी है कि इरविंग का उपरोक्त कथन स्थिति को कुछ बढ़ा-चढा कर प्रस्तुत करता है। आपने इस सम्बन्ध मे बेन्स (Baines) के कथन को सही बताया है जो निम्न है, "फिर भी व्यवसाय जो जाति के लिए परम्परागत-सा है किसी भी प्रकार से आवश्यक रूप से वही नहीं है जिससे उस समूह के सभी या अधिकाश लोग वर्तमान समय मे अपनी जीविका अर्जन करते हैं।"

■ विवाह पर नियंत्रण (Restrictions on Marriage)—हिन्दू समाज अनेक उप-समूहो मे विभक्त होता है। प्रत्येक उप-समूह उपजाति के नाम से सर्वविदित होता है। यह प्रत्येक उपजाति अपने रहस्यो को गुप्त रखने के कारण अपने किसी भी सदस्य को उप-जाति से बाहर विवाह नहीं करने देती है। इस प्रकार प्रत्येक उपजाति अन्तर्विवाही होता है। जाति-व्यवस्था का अन्तर्विवाह का नियम बहुत कठोर होता है। वेस्टर मार्क ने तो अन्तर्विवाह को 'जाति-व्यवस्था का सार' माना है। घुर्ये ने लिखा है, "फिर भी अन्तर्विवाह यानी अपनी ही उपजाति मे विवाह करने के इस सामान्य नियम के कुछ अपवाद भी हैं और उनका कारण अनुलोम विवाह की प्रथा का होना है। पजाब मे विशेषत: पर्वतीय प्रदेश मे ऊँची जाति का पुरुष किसी भी निम्न जाति की कन्या से विवाह कर सकता है। मलाबार मे जम्बुद्री तथा अन्य ब्राह्मणों के कनिष्ट पुत्र क्षत्रिय व नैयर स्त्रियो से विवाह कर लेते हैं। इनके अतिरिक्त प्रत्येक समूह को विवाह सम्बन्ध अपनी सीमाओ के अन्दर करने होते हैं। किसी भी कोकणस्थ ब्राह्मण को कोकणस्थ ब्राह्मण परिवार मे उत्पन्न कन्या से ही विवाह करना होता है। विवाह अपने निजी समूह मे ही होना आवश्यक है। अगर इस नियम का उल्लंघन किया जाता है तो उसकी सदस्यता समूह से निष्कासन ही इसका सामान्यत: दण्ड होता है जिसे अपराधी पक्षो को भोगना पडता है।

जाति और उप-जाति . एक समीक्षा (Caste and Sub-Castes A Review)

घुर्ये ने जाति और उपजाति के तुलनात्मक महत्त्व को अनेक तथ्यो द्वारा स्पष्ट करने का प्रयास किया है। आपने लिखा कि अन्तर्विवाह को जाति का मुख्य लक्षण मान लेने का अर्थ है कि इन उपजातियो को वास्तविक जातियाँ मान लिया जाए। गेट (Gait) ने इस पर निम्न दो आपत्तियाँ उठाई है। पहिला ऐसा करना "इस सम्बन्ध मे स्थानीय लोगो की जो भावना है उसके विपरीत होगा।" दूसरा यह कि "व्यवहार मे यह बहुत ही असुविधाजनक होगा क्योंकि इससे जातियो की सख्या अत्यधिक हो जावेगी।" घुर्ये ने दूसरी आपत्ति की उपेक्षा करते हुए लिखा कि सख्या मात्र प्रशासनिक कठिनाई है। प्रथम आपत्ति के सम्बन्ध मे आपने निम्न प्रमाण दिए हैं। आपने लिखा कि महाराष्ट्र मे अन्य लोगो के लिए सारस्वत ब्राह्मण केवल सारस्वत नाम से विख्यात है परन्तु एक सारस्वत की दृष्टि मे वह शेणवी या पेडनेकर है। यद्यपि समूचे समाज के द्वारा जाति को ही मान्यता दी जाती है, तथापि जाति विशेष तथा व्यक्ति द्वारा जाति उपजाति मानी जाती है। एक ब्राह्मण की दृष्टि मे अधिकाश अन्य लोग शूद्र हैं, चाहे उनकी प्रस्थिति ऊँची या नीची हो। घुर्ये की मान्यता है कि हम किसी भी बडी भाषायी प्रान्त की सारी जनसख्या को ब्राह्मण तथा शूद्र नामक दो जातियो या उन स्थानो में तीन जातियो मे विभक्त कर देगे जहाँ अनिच्छापूर्वक क्षत्रियो का भी पृथक् अस्तित्व माना जाता है। निष्कर्ष मे आपने लिखा है, "इसके लिए पर्याप्त कारण विद्यमान है कि समाजशास्त्र की दृष्टि से इस सस्था का सही रूप समझने के लिए हमे उपजातियो को वास्तविक जातियाँ मानना चाहिए।

वर्ग-व्यवस्था
(Class System)

घुर्ये के अनुसार वर्गो मे सदस्यता स्वैच्छिक होती है तथा जन्म से निर्धारित नहीं होती है। किसी भी व्यक्ति की सामाजिक परिस्थिति आधुनिक यूरोप के वर्गो मे उसके धन पर निर्भर करती है। आपने जाति और वर्ग के अन्तर को स्पष्ट करने के लिए मेकाइवर के निम्न कथन को उद्धरित किया है, "पूर्वी सभ्यता मे जब कि वर्ग और प्रस्थिति का मुख्य निर्धारिक तत्त्व जन्म था, पश्चिमी सभ्यता मे आज धन ही वर्ग-निर्धारक के रूप मे उतना ही या उससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण है और धन की अपेक्षा जन्म कम कठोर निर्धारक तत्त्व है। धन अधिक दृढ़ है। अत: इसके दावों को सरलतापूर्वक चुनौती दी जा सकती है, यह एक आशिक विषय है इसमें पृथक्करण, उपार्जन या हस्तान्तरण अथवा जातिगत भेदभावो को पैदा करने की क्षमता है तथा यह भेदभाव की स्थायी दरार उत्पन्न नहीं करता है, जैसे कि जन्म से उत्पन्न होती है।" घुर्ये ने लिखा है कि हिन्दू समाज मे प्रत्येक व्यक्ति एक जाति मे जन्म लेता है तथा वह अन्य व्यवसाय करने पर भी उसकी जाति परिवर्तित नहीं होती है। वर्ग-व्यवस्था वाले समाज में व्यक्ति की प्रस्थिति का निर्धारण व्यवसाय और उससे प्राप्त आय से होती है। आपने आगे लिखा है, "समस्त समुदाय के कानून को छोडकर वर्ग के सदस्यो के आचार को नियंत्रित करने के लिए तथा उसकी नैतिकता का मार्गदर्शन करने के लिए कोई स्थायी या सामाजिक परिषद नहीं होती है। एक ही वर्ग के सदस्य भिन्न-भिन्न व्यवसाय अपनाते हैं, जो संगठित होने पर स्थाई कार्य सचालक का समितियो के रूप मे कार्य करते हैं, जो उनके सदस्यो पर अपने नियमों के अनुसार शासन करती हैं। ये नियम सामान्य रूप से विशाल समुदाय के न्यायोचित अधिकार-क्षेत्र को पृथक् रखते हुए केवल अपने व्यवसाय सम्बन्धी शिष्टाचार या आर्थिक लाभ का ध्यान रखते हैं। बुद्धिजीवी व्यवसायो मे ये सामान्य नियम तथा प्रशासनिक आदेश ऐसे विषयो को निश्चित करते हैं, जैसे—प्रवेश सम्बन्धी योग्यताएँ, प्रशिक्षण का स्वरूप, पारिश्रमिक के तरीके, नौकरी की शर्तें, सहकर्मियो तथा जनता के प्रति व्यवहार के नियम, सार्वजनिक पदो पर की जाने वाली नियुक्तियो की योग्यताएँ, सेवा की शर्तें, निष्कासन के अधिकार आदि।" जाति व्यवस्था मे जाति पचायत अपनी जाति के लगभग सभी मामलो पर निर्णय देती है जिनका सविस्तार विवेचना अपनी कृति 'जाति, वर्ग और व्यवसाय' के ग्यारहवे अध्याय मे 'वर्ग तथा उसका कार्य' शीर्षक के अन्तर्गत निम्नानुसार की है—

वर्ग तथा उसकी भूमिका
(Class and its Role)

घुर्ये ने वर्ग का महत्त्व, विशेषताएँ, भूमिका, गतिशीलता, निर्णायक कारकों आदि का विवेचन जाति के सन्दर्भ मे किया है। घुर्ये ने स्पष्ट किया है कि जाति की भाँति वर्ग-व्यवस्था भी अगतिशील और विवाह आदि से सम्बन्धित प्रतिबन्धो से युक्त प्रथा रही है। आपने इस सम्बन्ध मे विद्वानो के कथन उद्धरित किए हैं जो निम्न हैं— सी. ए. मसे (C A Mace) ने वर्ग के मनोवैज्ञानिक आधार पर किए गए प्राचीन किन्तु गहरे विश्लेषण के बाद निम्न उद्‌गार प्रकट किए, "भिन्न राष्ट्रीयता या भिन्न धर्म की पत्नी से विवाह करने की अपेक्षा यदि कोई युवक अपने वर्ग से बाहर विवाह कर लेता है तो वह अत्यधिक गम्भीर विषय हो जाता है।"

घुर्ये ने बेनेडिटो क्रोसे (*Benedetto Croce*) के विचार अपने इस अध्याय मे उद्धरित किए हैं जो निम्न हैं, "पिछली शताब्दी से, विशेषत: पिछले पचास वर्षों से ऐसा प्रतीत होता है कि ससार सर्प के शीषवाली देवियो के दु:स्वप्न से आक्रान्त, उत्पीड़ित,

भूतोपप्टित तथा आतंकित हो गया है, जो कुछ मध्यकालीन भाँडो या विदूषको की टोली या शैतानो की चढाई की भाँति है जिसे **'सामाजिक वर्ग'** कहते हैं।

1956 मे **काराडोग जोन्स** और **जोहन हाल (Caradog Jones and John Hall)** ने सामाजिक गतिशीलता पर जो अन्वेषण किया था उसमे विवाह को प्रासंगिक लक्षण के रूप मे सम्मिलित किया गया था और उसके आधार पर **जरजी बैरन्ट (Jergy Berent)** ने निम्न कथन लिखा, ''जिस सीमा तक विभिन्न सामाजिक समूहो के व्यक्तियो के मध्य विवाह होता है, यह सामाजिक सरचना के खुलेपन की कसौटी है।'' इसमे वर्ग अन्तर्विवाह अर्थात् व्यक्ति अपने वर्ग मे ही विवाह करने को प्राथमिकता देता पाया गया। 5,100 विवाहो मे जीवनसाथी के सामाजिक मूल के सम्बन्ध मे उपलब्ध सामग्री को चार वर्ग श्रेणियो मे वर्गीकृत किया गया और यह पाया कि (1) 44 9% विवाहो मे पति और पत्नी का सामाजिक मूल एक ही समूह का था। (2) वे विवाह जिनमे पत्नी-पति के वर्ग से तुरन्त नीचे वाले वर्ग की थी 30 6% थे। (3) वे विवाह जिनमे पत्नी-पति के वर्ग से दो स्थान नीचे वाले वर्ग की थी 18 6% थे। (4) 38 9% मामलो मे पत्नी का वर्ग पति के वर्ग से निम्नतर था। घुर्ये ने निष्कर्ष दिया कि, ''ब्यौरे मे गए बिना यह सकेत किया जा सकता है कि सन् 1915 से पूर्व हुए विवाहो की तुलना मे वे विवाह जो सन् 1940 तथा उसके बाद हुए उनमे अगतिशीलता या वर्ग-अन्तर्विवाह का अनुपात उल्लेखनीय रूप से कम था। जहाँ 1915 के पूर्व एक वर्ग के विवाह 48 7% थे वहाँ 1940 तथा उसके बाद ऐसे विवाह केवल 42 9% पाए गए। इस प्रकार वैवाहिक गतिशीलता मे वृद्धि देखी जा सकती है।

घुर्ये का कहना है कि प्रचलित ब्रिटिश वर्ग-व्यवस्था का विकास पूर्ववर्ती सामन्तीय ब्रिटिश वर्ग-व्यवस्था से हुआ जो यूरोप मे सामान्य रूप से विद्यमान थी और सैद्धान्तिक दृष्टि से भारतीय इतिहास के हिन्दू-युग के अन्त मे जो जाति-व्यवस्था थी, वह बहुत कुछ उसके जैसे ही थी। आपका कहना है कि यद्यपि इनमे समानता गहरी है तथापि इन दोनो मे कुछ महत्त्वपूर्ण भिन्नताएँ भी हैं जिसको आपने इस व्यवस्था के वर्णन के द्वारा स्पष्ट किया है। यह इस प्रकार से हैं—

ब्रिटिश वर्ग-व्यवस्था (British Class System)—सामन्तीय समाज द्वारा मान्यता प्राप्त वर्ग तीन से लेकर बारह प्रकार के थे। अधिकतर इनकी सामान्य सख्या चार थी—(1) सरदार, (2) पादरी, (3) स्वतत्र कृषक, तथा (4) भू-दास। सामन्तीय प्रथा भूमि एव सामाजिक पद दोनो के लिए कानून के रूप मे थी। जाति-व्यवस्था मे भू-धारणाधिकार का तत्त्व नहीं था। जाति के प्रारम्भिक काल मे और सैद्धान्तिक दृष्टि से उसके बाद भी जाति समूहो को चार या पाँच तक सीमित कर दिया जाता था। जाति समाज मे ब्राह्मण सर्वोच्च थे वहाँ यूरोपीय वर्ग समाज मे योद्धा या सरदार जो क्षत्रियो के अतिरूप थे पहिले स्थान पर थे। सामन्तीय समाज का विभाजन तथा भेदभाव धार्मिक आदेश से रहित था जबकि जाति-व्यवस्था मे धर्म प्रधान तत्त्व था। यही इन दोनो व्यवस्थाओ मे प्रमुख अन्तर रहा है। पादरी समाज के सभी वर्गों से भर्ती किए जाते थे। पादरी कँवारे रहते थे और अविवाहित ही मरते थे।

सामन्तीय वर्ग की सदस्यता अन्य वर्गों के लिए प्रतिबन्धित थी। जो जातियो के जैसा ही बन्द वर्ग था। पादरी वर्ग सामाजिक गतिशीलता प्रधान था जो जाति से भिन्न था। क्षत्रियो ने अनेक बार ब्राह्मण से उच्च पद प्राप्त करने का प्रयास किया परन्तु उन्हे सफलता नहीं मिली। अन्त में क्षत्रियों को ब्राह्मण के बाद वाली श्रेणी से ही सन्तोष करना पडा।

दूसरा अन्तर यूरोपीय वर्ग-समाज और जाति-समाज के मध्य सख्या का है। वर्ग-समाज मे समूहो की सख्या बहुत ही कम थी तथा इनकी श्रेणीबद्धता तथा वरिष्ठता जाति-समाज की अपेक्षा बहुत कम जटिल थी।

प्रारम्भ में विभिन्न वर्गों के सदस्य एक-दूसरे से विवाह नहीं कर सकते थे। निम्न वर्ग की स्त्री से विवाह होने पर उस पत्नी को पति के वर्ग का व्यवहार प्राप्त नहीं होता था। उनकी सन्तानो को निम्न वर्ग मे जाना पडता था। ये विशेषता जाति-व्यवस्था जैसी ही थी। वर्ग-व्यवस्था मे सरदार लोगो का कर्त्तव्य रक्षा करना, पादरी का सबके लिए प्रार्थना करना तथा सामान्यजनो का कर्त्तव्य जाति-व्यवस्था के शूद्रो की भाँति सबके लिए अन्न उत्पन्न करना था। किसी भी व्यक्ति के लिए अपना वर्ग-परिवर्तन करना मूर्खता मानी जाती थी।

वर्ग-व्यवस्था में परिवर्तन या सर्वश्रेष्ठ सामाजिक रूपान्तर महारानी एलेजाबेथ काल (1400 से 1800) के मध्य दिखाई देता है।

ट्रेवेलियन इस परिवर्तन को निम्न शब्दो मे व्यक्त करते हैं, ''एलिजाबेथ के समय के इतिहास एवं साहित्य के अध्ययन से पूर्ववर्ती काल की अपेक्षा वर्गों मे अत्यधिक सामजस्य तथा विमुक्त पारस्परिक व्यवहार का प्रभाव उत्पन्न होता है। यह युग न तो कृषको के विद्रोह का था, न समतलन (Levelling) के सिद्धान्त का था, न जेम्स प्रथम के शासन काल के विरोधियो के भय का था और न उच्च वर्ग की उस एकान्तिकता तथा सभ्यमान्यता का था जिसका चित्रण परवर्ती काल मे जेन आस्टिन ने किया है। शेक्सपीयर के समय मे वर्ग-विभाजन को सामान्य रूप मे ही ग्रहण किया जाता था। उसमे न तो निम्न वर्गो मे ईर्ष्या-द्वेष की भावना थी, न उच्च तथा मध्यम वर्ग मे निम्न वर्ग को आधीनता के महान् नियम मिटवाने की गहरी चिन्ता थी जो अठारहवीं तथा उन्नीसवी शताब्दी के प्रारम्भ मे इतने कष्टदायक रूप से प्रकट होती है।''

वाणिज्य का विकास तथा कस्बो की उन्नति ने लोगो के नवीन वर्ग उत्पन्न कर दिए। ये वर्ग व्यापारियों, शिल्पकारो और श्रमिको के थे। नवीन वर्गो मे सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण वर्ग सौदागरों तथा व्यापारियो का था। ये भद्र वर्ग की प्रतिष्ठा प्राप्त करने की आकाक्षा रखते थे और प्राय: उसको प्राप्त भी कर लेते थे। घुर्ये ने लिखा है कि व्यापारी, सौदागर, ठेकेदार, बैंक बैठक-संचालक और वित्त प्रबन्धक और आगे चलकर निर्माता, उद्योगपति या फैक्ट्री के स्वामी—ये सब मिलकर पूँजीपति वर्ग की रचना करते हैं। मूल रूप मे ये मध्य वर्ग के नाम से प्रसिद्ध थे।

लगभग 18वीं शताब्दी के अन्तिम चतुर्थांश मे और 19वीं शताब्दी के प्रारम्भ मे होने वाले कृषि सम्बन्धी रूपान्तर एव औद्योगिक क्रान्ति के परिणामस्वरूप ब्रिटिश समाज के वर्ग रचना ने उल्लेखनीय परिवर्तन प्रदर्शित किया। श्रमिक वर्ग का आकार बढ़ गया था तथा यह समाज के अन्य विभागो से, विशेष रूप से नियोजक वर्ग (Employing Class) मे अधिकाधिक रूप से पृथक् हो गया। यह दृश्य 19वीं शताब्दी के द्वितीय चतुर्थांश तक इतना अधिक स्पष्ट रूप से प्रकट हो गया कि डिजरॉयली ने ब्रिटिश समुदाय को दो राष्ट्रो यानि संघर्ष के लिए समृद्ध धनी और निर्धन लोगो से निर्मित बताया। घुर्ये का मत है कि इसके बाद ही मार्क्स और इन्जल्स ने अपने दो वर्गो तथा उनके संघर्ष के सम्बन्ध मे विचार प्रकट किए।

घुर्ये ने लिखा है कि वेतनभोगी लोगो और मजदूरी कमाने वाले श्रमिको में भेदभाव वही है जो वेतन और मजदूरी के मध्य है। वेतनभोगी कार्यकर्ता होने के कारण किसी भी व्यक्ति को श्रमिक वर्ग से पृथक् होने का अधिकार प्राप्त हो जाता है क्योंकि श्रमिक वर्ग की कसौटी मजदूरी के लिए कार्य करना तथा हस्त कार्य करना है।

नामकरण जो प्रारम्भिक 'इस्टेट' व्यवस्था में प्रचलित था वह न केवल स्थिर था बल्कि उस समय के उत्पादन के प्रमुख साधन अर्थात् भूमि के विशिष्ट प्रकार के सम्बन्धो से जुड़ा हुआ था। इस प्रकार भद्र लोग वह वर्ग था जो भूमि का स्वामी था और भू-दास वह वर्ग था जिसका कर्त्तव्य किन्हीं रीति-रिवाजो या कानूनी धाराओ के अधीन उस भूमि पर कृषि कर्म करता था।

जब कस्बो की बढोतरी से व्यापारी सौदागर और शिल्पकारो के नवीन वर्गों का उदय हुआ तो श्रेणीबद्ध समाज में उनकी उचित स्थिति तथा उनकी उपाधि के विषय मे कुछ

गडबड या कम से कम हिचकिचाहट तथा भ्रम विद्यमान था। समय व्यतीत होने पर शिल्पकारो ने कच्चे माल तथा उन्हे तैयार वस्तुएँ तथा उनमे परिवर्तित करने के साधनो पर नियत्रण खो दिया और वे अपनी विशिष्टता को भी श्रमिको या मजदूरी कमाने वालो के सामान्य जनसमूह मे खो बैठे। इसी काल मे व्यापारी, सौदागर और ठेकेदार समृद्ध हो गए तथा उनकी सख्या मे भी वृद्धि हुई। प्रत्येक मोड पर उनमे से ये लोग एक संख्या मे भद्र लोग यानी उच्च वर्ग मे आत्मसात् हो गए। किन्तु उनकी बहुत बडी संख्या पृथक् रही और धनोपार्जन के कार्य मे लगी रही। ग्रेटन ने इस वर्ग को मध्य वर्ग की सज्ञा दी है और घुर्ये ने इसे ऐतिहासिक मध्य वर्ग कहा है।

ग्रेटन के अनुसार मध्य वर्ग का आधारभूत लक्षण यह है कि, "वह स्वतंत्र हो या कम से कम स्वतत्र होने की सामर्थ्य रखता हो।" सोम्बार्ट मध्य वर्ग का सादृश्य स्थानीय उत्पादन तथा वितरण के प्रतिनिधियो के रूप मे देखते हैं। जब अर्थशास्त्री तीन वर्गों की योजना का उपयोग करते हैं तो उनका मध्य वर्ग मध्य आय-समूहो का प्रतिनिधित्व करता हुआ प्रतीत होता है।

लॉकवुड ने लिखा है, वर्ग प्रस्थिति तथा विशेष रूप से कार्य स्थिति क्लर्क तथा श्रमिक के मध्य प्रस्थिति विषयक प्रतिद्वन्द्विता को प्रोत्साहित करती रहती है और प्रस्थिति-विषयक प्रतिद्वन्द्विता वर्ग एकरूपता की चेतना को दुर्बल बना देती है।

सभी आधुनिक राज्यो मे सेवा की शर्तें अपने कल्याणकारी पक्ष के साथ सभी श्रमिको को न्यूनतम मजदूरी प्रदान करने की ओर आगे बढने मे प्रवृत्त है। सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण भेद नियमित अनुक्रमो (Grades) तथा सेवा सम्बन्धी सगठन मे है जिनमे प्रारम्भिक वेतन तथा अभिवृद्धियाँ सम्मिलित हैं। किसी भी कार्य मे लगा हुआ कोई भी क्लर्क अधीक्षक या उससे भी अधिक उच्चतर पद तक पहुँचने की आकाक्षा रख सकता है। कुछ निश्चित रूप से इस आकाक्षा की पूर्ति कर लेते हैं। इस प्रकार के आर्थिक लाभ को प्राप्त करने के लिए मजदूरी करने वाले श्रमिक को अपने वर्ग, कार्य तथा सामान्य पदो से बाहर जाना पडता है और वह इस कार्य को तभी कर सकता है जबकि उसमे असाधारण योग्यता हो।

नवीन मध्य वर्ग के रहन-सहन के आदर्श तथा प्रतिमान मजदूरी कमाने वाले श्रमिको तथा प्राचीन या ऐतिहासिक मध्य वर्ग से भिन्न हैं।

अभी कुछ ही समय पहिले मलिन वस्त्रधारी (Black Coated) सर्वहारा वर्ग, निम्न अनुक्रमो के क्लर्क, दुकानो के गुमास्तो तथा ऐसे ही अन्य लोगो ने अपने आपको सघो (Unions) मे सगठित कर लिया है। सभी अनुक्रमो के अध्यापक समस्त पेशे की अपेक्षा शिक्षा के सोपान के अनुसार अपने-अपने सघ बना रहे हैं। पेशेवर लोग तो प्रारम्भ से ही सगठित हैं। अभी तक ऐसा कोई सघ नहीं है जो वेतनभोगी व्यवसायो को अपने मे लाने का प्रयास कर रहा हो। बुद्धिजीवियो का कोई सघ नहीं बना है। बुद्धिजीवी लोग एक शताब्दी पूर्व की स्थिति की अपेक्षा बहुत ही भिन्न-भिन्न समूहो मे से भरती किए जाते हैं। लेकिन ये सामाजिक व्यवस्था मे अत्यधिक दृढ स्थिति रखते हैं। जी एम ट्रेवेलियन ने इनकी वस्तुस्थिति निम्न कथन मे प्रकट की है, "यह उदारवादी स्पष्ट वक्ता युग है जिसका सर्वाधिक प्रतिनिधित्व करने वाले न तो कुलीन परिवारो के हैं और न दुकानदार हैं बल्कि विश्वविद्यालय शिक्षा प्राप्त, पेशेवर बुद्धि के प्रशिक्षित लोग हैं जो मिल, हक्सले मैथ्य अर्नाल्ड, जार्ज इलियट तथा ब्राउनिग के पाठक हैं। ये ऐसे दाढ़ी वाले बुद्धिजीवी भद्र लोग हैं जिनके पारिवारिक जीवन का पच के पृष्ठो मे चित्रित करने मे डूमारियर Dumarier) को आनन्द आता है।

समाज के अन्य वर्गों से श्रमिक वर्ग का पृथक्करण बिल्कुल नवीन घटना नहीं है। इनका संघर्ष इतना तीव्र था कि एन्जिल्स जो मार्क्स के साथ वर्ग युद्ध की तैयारी मे या श्रमिक वर्ग के द्वारा मध्यवर्ग को गिराकर सत्ता हस्तगत करने के संघर्ष मे विश्वास रखते थे तथा उसका समर्थन करते थे। 1844 मे निम्न भविष्यवाणी की जो सही नहीं निकली। उन्होने कहा, "मध्य वर्ग ऐसी भूमि पर निवास करता है जिसकी जड़े खुदी हुई हैं। जिसका द्रुतगति से पतन होना उतना ही निश्चित है जितना गणित सम्बन्धी प्रत्यक्ष निरुपण समस्त श्रमिक वर्ग का गहरा दोष थोड़े ही समय पश्चात् इस प्रकार क्रान्ति के रूप मे फैल जाएगा कि जिसकी तुलना फ्रांसिसी राज्य क्रान्ति बालकों का खेल सिद्ध होगी।"

निष्कर्ष मे घुर्ये ने वर्ग सघर्ष का समाजशास्त्रीय व्याख्याओ को प्रस्तुत किया है। व्यक्तियो तथा समूहों के कुछ ऐसे हित हो सकते हैं जो सदृश होते हुए भी दूसरो के लिए सामान्य नहीं हो सकते। इनकी सन्तुष्टि के लिए प्रयास करने मे प्रत्येक व्यक्ति तथा समूह के मार्ग मे कुछ कठिनाइयाँ उपस्थित होती है। चूँकि प्रतिस्पर्धी बहुत होते हैं। यह प्रतिस्पर्धा की स्थिति है जो शीघ्र ही विरोध और उसके आगे सघर्ष का रूप ग्रहण कर सकती है। किन्तु सभ्य समाज मे ऐसी अनेक स्थितियाँ किन्हीं परम्परागत या कानूनी नियमो द्वारा तय की जा सकती हैं। फिर भी समूहो के आचरण मे ऐसी स्थिति प्रचलित नियमो से सरलतापूर्वक नहीं तय हो पाती है और लम्बे सघर्ष का रूप ग्रहण कर लेती है। श्रमिक वर्ग बनाम नियोजक वर्ग की स्थिति समय पर इतिहास के दौर मे इस सीमा तक गिर जाती है कि केवल विस्फोटन ही उसका हल प्रस्तुत कर सकता है।

घुर्ये ने इस प्रकार से प्राचीन वर्ग-व्यवस्था का विवेचन करते हुए वर्तमान मे वर्गों के विकास और स्थिति का जाति-व्यवस्था के सन्दर्भ मे सारगर्भित विवेचन किया है।

व्यवसाय
(Occupation)

घुर्ये ने अपनी कृति **'जाति, वर्ग और व्यवसाय'** मे व्यवसाय के अनेक पक्षो की समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से विवेचना की है। आपने जाति-व्यवस्था के लक्षणो का वर्णन करते हुए आलोच्य पुस्तक के प्रथम अध्याय मे जाति का पाँचवा लक्षण **"अप्रतिबन्धित व्यवसायों के चयन का अभाव"** पर विस्तार से प्रकाश डाला है, जिसका वर्णन उपर्युक्त पृष्ठो मे 'जाति-व्यवस्था' शीर्षक के अन्तर्गत किया जा चुका है। आपने वर्ग-व्यवस्था शीर्षक के अन्तर्गत लिखा है कि वर्ग-व्यवस्था वाले समाज मे व्यक्ति की प्रस्थिति का निर्धारण व्यवसाय और उससे प्राप्त आय से होता है। आपने वर्ग-व्यवस्था मे व्यवसाय की भूमिका एव महत्व पर सविस्तार प्रकाश डाला है तथा व्यवसायो के आधार पर वर्गों के निर्माण, उनमे परस्पर उच्चता-निम्नता का क्रम, इनमे काल-क्रमिक परिवर्तन का जो सारगर्भित वर्णन किया है उसे सक्षेप मे उपर्युक्त पृष्ठों मे *'वर्ग-व्यवस्था'* और *'वर्ग तथा उसकी भूमिका'* शीर्षकों के अन्तर्गत दिया जा चुका है। व्यवसाय से सम्बन्धित तथ्यो के अतिरिक्त घुर्ये ने अध्याय 10 'व्यवसाय तथा जाति' मे कुछ महत्त्वपूर्ण व्यवसाय सम्बन्धी तथ्य जाति और वर्ग के सन्दर्भ मे प्रस्तुत किए हैं वो निम्न हैं—

1 जाति अपने उद्गम मे व्यावसायिक नहीं है। उन्नीसवीं शताब्दी के अध्ययनो के अनुसार इसके लक्षणो में केवल थोडा सा बन्धन व्यवसाय के सम्बन्ध मे था। घुर्ये के अनुसार, "इतिहास ने भी हमारे सामने ऐसी जातियो के उदाहरण प्रस्तुत किए गए हैं जो भिन्न-भिन्न व्यवसाय करती थी तथा एक ही जाति के सदस्य भी भिन्न-भिन्न व्यवसाय करते थे।" सिद्धान्त रूप मे बहुत प्राचीन काल से न केवल वर्णानुसार व्यवसाय या व्यवसायो के समूह निर्धारित किए गए बल्कि उनमे से अनेक जाति के अनुसार भी निश्चित हुए।

2 उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ मे यह कट्टर विश्वास भी था कि बहुसंख्यक जातियो मे से प्रत्येक का अपना परम्परागत व्यवसाय था और सदस्यो का वशानुगत व्यवसाय होता था जिसे त्याग देना अनुचित माना जाता था।

3 सभी समाजो—सभ्य, आदिवासी आदि समाजो मे व्यवसायो का विभिन्न प्रकार से मूल्याकन होता रहा है। सामाजिक वरिष्ठता एव व्यवसायो व व्यवसाय समूहो की श्रेणीबद्धता की लगभग सर्वसम्मत योजना भारत के जाति समाज मे विद्यमान थी।

4 व्यवसायो के भारतीय मूल्याकन मे शारीरिक श्रम की तुलना मे अशारीरिक श्रम के कार्य को उच्चतर मानने का लक्षण उसी प्रकार विद्यमान था जैसा कि समकालीन ब्रिटेन और अमेरिका मे मौन रूप से था।

5 भारत मे कार्य के सामाजिक मूल्याकन का दूसरा स्वरूप कार्य या उससे सम्बन्धित पदार्थ शुद्ध है या अशुद्ध, पवित्र है या अपवित्र, भ्रष्टताकारक है अथवा नहीं को विशेष रूप से 19वीं शताब्दी से सामाजिक मूल्य का निर्धारक माना जाता रहा है।

6 पिछली शताब्दी तक व्यवसायो मे कृषि को उत्तम माना जाता रहा है। घुर्ये ने इसे इस रूप मे उद्धरित किया है, "**व्यवसायो में कृषि उत्तम है, जबकि व्यापार मध्यम और नौकरी सबसे निकृष्ट है।**" इसी तथ्य को गोस्वामी तुलसीदास ने अपनी कृति रामचरित मानस मे इस प्रकार से स्पष्ट किया है, "**उत्तम खेती मध्यम बान, अधम चाकरी भीख समान।**"

7 ब्रिटिश प्रशासन के आगमन के बाद ही नौकरी के अवसरो मे निरन्तर वृद्धि होती रही। ब्रिटिश काल से वेतन बहुत कम मिलता था। तथा नौकरी लोगों के विकसित आत्मसम्मान से मेल नहीं खाती थी। मनु ने घोषणा कर दी थी कि नौकरी कुत्ते का जीवन है।

8 घुर्ये ने व्यावसायिक समूह की रचना के तीन अनुक्रमो : उच्च, मध्य तथा निम्न वर्गों का उल्लेख किया है। तीसरे निम्न वर्ग के लोगो मे मानसिक श्रम करने वाले तथा शारीरिक श्रम करने वाले दोनो प्रकार के कार्यकर्ताओ के लक्षणो का मिश्रण मिलता है। आपने वकालत के व्यवसाय को ब्रिटिश शासन काल की देन बताया है। अन्य व्यवसायो : इंजिनियर तथा भवन निर्माणकर्ता, डॉक्टर, चिकित्सक, वैद्य, शिक्षक, क्लर्कों तथा अन्य अनेक व्यवसायो का आपने वर्णन एव मूल्याकन किया है। इस सम्बन्ध मे आपने निष्कर्ष इस प्रकार है :

8 1 अध्यापन का व्यवसाय भारत मे सदैव एक आदरणीय व्यवसाय के रूप में रहा है।

8 2 इजिनियरो तथा भवन निर्माणकर्ताओ का कार्य भारत के प्राचीन तथा मध्य युगो के विशाल निर्माण कार्यों मे स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। इन व्यवसायो मे विशिष्ट जातियो के बाहर के लोग थे जो लकडी या पत्थर से सम्बन्धित परम्परागत व्यवसाय करते थे। मनु के अनुसार वह ब्राह्मण जो इन कार्यों का करते थे वे श्राद्ध भोज मे आमंत्रित करने योग्य नहीं होते थे।

8 3 डॉक्टरी व चिकित्सक का व्यवसाय ब्रिटिश शासन काल से पूर्व भी भारत में विद्यमान था। मनु के अनुसार, "चिकित्सक का धन्धा ब्राह्मण को इतना भ्रष्ट कर देता था कि वह श्रद्धा भोज के अयोग्य हो जाता था।

9 घुर्ये ने उन व्यवसायो का वर्णन किया है जो भारतीय जाति समाज में विद्यमान थे तथा जो ब्रिटिश शासन काल मे विकसित हुए थे। आपने लिखा है कि अनेक व्यवसायो का विकास इंग्लैण्ड मे सामन्तवाद के पतन और वाणिज्यवाद और उद्योगवाद के विकास के

समय हुआ था। आपने व्यवसाय के विकास और वर्गीकरण का विस्तृत वर्णन करते हुए लिखा है कि सर्वप्रथम राजा ग्रेगरी ने इग्लैण्ड की जनसख्या का व्यावसायिक और प्रस्थिति वितरण सम्बन्धी अनुमान 1688 मे किया। समस्त जनसख्या (आवारा एव भिखारियो को छोडकर) को पन्द्रह श्रेणियो मे विभाजित किया गया। इस वर्गीकरण मे क्लर्कों को पृथक् नहीं रखा गया। अगले पचास वर्षों के आर्थिक विकास के कारण छोटे जमींदार लोप हो गए और उनका स्थान भद्र एव पेशेवर लोगो ने लिया।

10. 1801 में पेट्रिक कोलकुहोन ने व्यवसायो की स्थिति का विवरण दिया। आपने राजा के पन्द्रह के वर्गीकरण के स्थान पर बीस प्रकार दिए हैं। 1851 मे इग्लैण्ड की पहिले सरकारी जनगणना मे सात हजार व्यवसाय दिखाए गए हैं। 1901 की जनगणना मे व्यवसायो को 22 प्रमुख व्यवसाय समूहो मे वर्गीकृत किया गया था।

11 घुर्ये ने इग्लैण्ड की 1951 की जनगणना को उस व्यावसायिक चित्र का वर्णन किया है जो भारत मे जाति से वर्ग के परिवर्तन को समझने मे सहायक है। इस जनगणना मे से तेरह व्यावसायिक समूहों का चयन किया गया है जो 82 7 प्रतिशत कर्मचारियो का वर्णन प्रदान करती है। इसमे नियुक्त व्यक्तियो की पूर्ण सख्या 30 8 प्रतिशत स्त्रियाँ थी। घुर्ये ने 1951 की जनगणना के आधार पर निम्न निष्कर्ष प्रस्तुत किए हैं—

11.1 क्लर्कों की जीवनयात्रा मे परिनिरीक्षक प्रबन्धक और निर्देशक बनने की सम्भावनाएँ हैं।

11 2 इनके व्यवसाय को भारत मे ब्रिटिश लोगों द्वारा अत्यन्त ही लोकप्रिय बना दिया गया है।

11.3 यही एक ऐसा व्यवसाय है कि जिसमे प्रवेश पाने के लिए साज-सज्जा की दृष्टि से सरलतापूर्वक शोर मचाया जा सकता है।

11 4 समाज-कल्याण को अपनी सोची-समझी हुई नीति मे राज्य इन स्थानो को सरक्षण के साथ भरता है।

11 5 यह व्यवसाय विभिन्न जातियो के आगे बढने मे प्रयत्नशील तथा बुद्धिमान सदस्यो का मिश्रित पात्र बन जाता है और इसे नगरो तथा कस्बो मे अधिक ग्रहण किया जाता है।

12. घुर्ये ने राष्ट्र संघ की साख्यिक विशेषज्ञो की समिति के 1938 के जनसख्या वर्गीकरण के सिद्धान्त को उद्धरित किया है। जो निम्न है—(1) आर्थिक क्रियाकलाप की शाखा, (2) व्यक्तिगत प्रस्थिति, और (3) व्यक्तिगत व्यवसाय। भारत मे 1951 की जनगणना इन सिद्धान्तों पर आधारित वर्गीकरण का उपयोग किया गया था। लेकिन भारत के जनगणना अधिकारी को यह उचित सलाह दी गई कि वो हमारे देश की दशाओ के अनुकूल वर्गीकरण मे सशोधन करे।

डी. आर गाडगिल ने 1954 मे व्यावसायिक (सामाजिक-आर्थिक) अनुवर्गो की योजना प्रकाशित की। तेरहवा अनुक्रम बेकारो के लिए था। आपने 12 अनुक्रमो को तीन पृथक् आर्थिक समूहो मे विकसित किया। इनमे से तीन अनुक्रमो मे (1) अकुशल श्रमिक, (2) कुशल श्रमिक, और (3) अत्यधिक कुशल एव परिनिरीक्षक हाथ से कार्य करने वाले श्रमिक आते हैं। अन्य 9 अनुक्रमो मे इस प्रकार है (4) छोटा कारोबार, (5) मध्यकारोबार, (6) फैक्टरियो, विशाल निर्माण-गृहो आदि के स्वामी, (7) निम्नतम पेशे तथा प्रशासकीय पद, प्राथमिक अध्यापक आदि, (8) क्लर्क तथा दूकानों के गुमास्ते, (9) मध्यवर्ती पेशे-सवैतनिक पद, माध्यमिक अध्यापक आदि, और (10) उच्चतर पेशे तथा सवैतनिक पद, (11) निवृत्ति वेतनभोगी, (12) भिक्षुकों एव वैश्याओ का है।

गाडगिल के वर्गीकरण पर 1951 के भारतीय जनगणना अधिकारी ने ध्यान नहीं दिया। लेकिन एन वी सोवनी ने गाडगिल के तत्त्वावधान मे 1954 मे पूना मे सर्वेक्षण किया जिसके निष्कर्ष घुर्ये ने निम्न रूप मे प्रस्तुत किया है—

1 जाति के व्यावसायिक रचना के सापेक्षित अनुपात मे बहुत अधिक परिवर्तन हो गया है। अकुशल हस्तकार्य मे 'अन्य हिन्दुओ बुनकर जातियो की अत्यधिक प्रतिशतता है। अनुसूचित जातियो की भी 1937 के व्यावसायिक दृश्य की अपेक्षा कुछ अधिक ही प्रतिशतता है।

2 अन्य हिन्दुओ, बुनकर जातियो, मालियो तथा अनुसूचित जातियो में प्रत्येक का योगदान 1937 की तुलना मे दुगुना हो गया है।

3 माध्यमिक पेशे तथा प्रशासकीय पदो में 15 प्रतिशत कर्मचारी 'अन्य हिन्दुओ' मे से आते हैं।

4 केवल ब्राह्मण जाति ऐसी है जिसके सदस्य सभी 9 अनुसूची क्रमो मे पर्याप्त प्रतिशतता मे हैं। अकुशल हस्तकार्य के अतिरिक्त सभी आठो अनुक्रमो मे इस जाति के परिवार 8 प्रतिशत से अधिक हैं। इनकी उच्चतम प्रतिशतता क्लर्क तथा दुकानो के गुमास्तो मे है। ब्राह्मण किसी एक परम्परागत व्यवसाय मे सीमित नहीं है।

5 अनुसूचित जातियो के बन्धनयुक्त होने से इनका निम्नतम पेशो तथा प्रशासकीय पदो मे प्रतिशत बढा है।

6 माली जाति का छोटे कारोबार मे उच्च प्रतिशतता है। इनकी प्रतिशतता अन्य सभी समूहो से अधिक है तथा मराठो से दुगुनी है।

7 आठ अनुक्रमो मे प्रत्येक मे 'अन्य हिन्दुओ' की प्रतिशतता पाँच से अधिक है। अन्य किसी जाति को इतनी प्रतिशतता नहीं है।

8 ब्राह्मणो की प्रतिशतता छोटे कारोबार मे घटी है।

घुर्ये की मान्यता है कि द्वितीय विश्व युद्ध के बाद राज्य द्वारा प्रारम्भ किया गया औद्योगीकरण तथा प्राविधिक प्रशिक्षण से जातियो की व्यावसायिक गतिशीलता मे तेजी से वृद्धि हुई है। आपने सुझाव दिया है कि गाडगिल और सोवनी के अध्ययन नगरीय क्षेत्रो की स्थिति के सम्बन्ध मे मार्गदर्शन का कार्य कर सकते हैं। आपने एन जी चाफेकर के बदलापुर गाँव-कस्बे का उल्लेख किया है। आपने इनके अध्ययन का सार देते हुए लिखा है कि महाराष्ट्र के कुछ थोडे से गाँवो की फैक्ट्री का कार्य इस बदलापुर गाँव की विशेषता है। इसे न केवल नगरीय प्रभाव अपितु नगरीय प्रवृत्ति माना जा सकता है। घुर्ये ने चाफेकर के सम्बन्ध मे लिखा, ''**श्री चाफेकर का निम्नलिखित सार्थक कथन आज के ग्रामीण महाराष्ट्र की व्यावसायिक स्थिति का साराश देता है। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रत्येक समुदाय परम्परागत कार्य की अपेक्षा नौकरी को अधिक पसन्द करता है।**''

इस प्रकार से घुर्ये ने व्यवसाय मे परिवर्तन को भारतीय समाज के सन्दर्भ मे स्पष्ट किया है।

(8) भारत मे सामाजिक तनाव (Social Tension in India)—गोविन्द सदाशिव घुर्ये की भारत मे सामाजिक तनाव पर पुस्तक **सोशियल टेन्शन इन इण्डिया** (*Social Tension in India*), *1968 मे प्रकाशित हुई थी।* इस पुस्तक मे कुल 14 *अध्याय हैं।* इन अध्यायो मे तनाव, सघर्ष और एकीकरण का भारतीय सदर्भ मे विवेचन किया गया है। इस पुस्तक की पाठ योजना निम्नानुसार है—**प्रथम अध्याय** : सघर्ष, तनाव और एकीकरण के सम्बन्ध मे समाजशास्त्रियो के दृष्टिकोण, **द्वितीय अध्याय** : अल्पसख्यक ओर सामाजिक तनाव, **तृतीय अध्याय** : मानव अधिकार और अल्पसख्यक, **चतुर्थ अध्याय** : भारत का

संविधान और अल्पसंख्यक; **पंचम, षष्ठ एवं सप्तम अध्यायों में** भारतीय इतिहास एवं संस्कृति (इसमें मुसलमानों एवं ईसाई प्रभावों का संक्षिप्त विवरण दिया है), **अष्टम अध्याय** : हिन्दू तथा मुस्लिम का कला एवं भवन निर्माण का मिश्रण, **नवम् अध्याय** : भारतीय कुण्ठा, **दशम् अध्याय** : हिन्दू-मुस्लिम दंगे; **एकादश अध्याय** : भारतीय मुसलमानों के विचार और कार्य (I); **द्वादश अध्याय** : भारतीय मुसलमानों के विचार और कार्य, (II), **त्रयोदश अध्याय** : भाषाई तनाव; और **चतुर्दश अध्याय** : एकीकरण या राष्ट्रीय एकता। अध्यायों के शीर्षकों से सम्बन्धित विषयों, अवधारणाओं एवं समस्याओं का क्रमबद्ध एवं व्यवस्थित अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। घुर्ये द्वारा व्यक्त विचारों का सार निम्नानुसार है—

तनाव, संघर्ष और एकीकरण
(Tension, Conflict and Integration)

घुर्ये के अनुसार तनाव सामाजिक जीवन की सार्वभौमिक घटना है। **हन्स मोरगेन्थू (Hans Morgenthau)** का कहना है कि तनाव घरेलू एवं अन्तर्राष्ट्रीय दोनों स्तरों पर देखा जा सकता है। तनाव संघर्ष का सूचक तथा परिणाम है। तनाव खुले संघर्ष की पूर्वस्थिति है जिसमें हिंसा, गाली-गलौज, अपशब्द, उग्र दलीलें आदि के बाद शत्रुता, विरोध, तोडफोड़, असहयोग अथवा मात्र चिड़चिड़ापन पाया जाता है। समाजशास्त्र में विगत वर्षों में ही तनाव की अवधारणा पर ध्यान दिया जाने लगा है। इस शताब्दी के तीसरे दशक के अन्त तक तनाव पर ध्यान नहीं दिया गया। **फेयर चाइल्ड** ने **डिक्शनरी ऑफ सोशियोलॉजी** में तनाव पर चौथे दशक में लिखा है जिसे समाजशास्त्र का प्रथम कार्य कहा जा सकता है। **आर. एम. मैकीवर** ने समाजशास्त्र की पुस्तक **सोसायटी** में सजातीय और प्रजातीय समूहों की चर्चा करते समय अन्तर-समूह तनाव पर प्रकाश डाला। आपका कहना है कि समूहों में परस्पर उच्च स्तर का पूर्वाग्रह, तनाव और भेदभाव मिलता है। घुर्ये ने इन अवधारणाओं के इतिहास पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि भारत में 1860 से 1910 की अवधि में तनाव और उच्च तनाव को समाज के कुछ वर्गों में देखा जा सकता है। सामाजिक सुधार और सामाजिक परिवर्तन इसके वास्तविक उदाहरण हैं। केशवचन्द्र सैन, विद्यासागर, रानाडे, ज्योतिबा फूले, महर्षि कर्वे, लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक और गोपाल कृष्ण की जीवनियों में अनेक अवसरों पर तनाव और उच्च तनाव के अस्तित्व को देखा जा सकता है। घुर्ये ने तनाव की अवधारणा के संक्षिप्त इतिहास के बाद इसकी तथा अन्य सम्बन्धित अवधारणाओं की परिभाषाओं की विवेचना की है।

अवधारणाओं की परिभाषाएँ
(Defintions of Concepts)

घुर्ये ने तनाव, सामाजिक तनाव, संघर्ष तथा एकीकरण आदि की परिभाषाओं की विवेचना की है जो निम्न है—

1. तनाव की परिभाषा (Defintion of Tension)—घुर्ये ने स्पष्ट किया है कि तनाव की अवधारणा समाजशास्त्र में कैसे आई और इसका अर्थ क्या है। आपने लिखा है कि समाजशास्त्र में मूल रूप से तनाव की अवधारणा शरीर क्रिया विज्ञान और शरीर क्रिया मनोविज्ञान से आई है। तनाव जीवों का एक गुण, क्षमता अथवा लक्षण है। यह स्वायत्त तंत्रिका यंत्र के विभिन्न खण्डों में उत्पन्न होता है। जब इनमें से कोई एक क्रियाशील हो जाता है तो तनाव व्यवस्था के निश्चित खण्ड में एकत्र हो जाता है और वह अशान्ति और अनियंत्रित क्रियाओं को उत्पन्न करती रहती है। जब तक कि वह उपर्युक्त क्रिया द्वारा शान्त नहीं हो जाता है। तनाव के प्रमुख चालक पोषणता और लैंगिकता हैं। फ्रायड सम्प्रदाय के

अनुसार लैंगिकता सभी तनावों और इच्छाओ मे सर्वोपरि कारण है। समाजशास्त्र मे कुर्टलेविन (Kurt Lewin) ने सामाजिक मनोविज्ञान में क्षेत्र सिद्धान्त का विकास किया जिसे तनाव मनोविज्ञान भी कहा जाता है। आपने तनाव के दो प्रमुख प्रकार बताए हैं—सकारात्मक और नकारात्मक तनाव। घुर्ये ने लिखा है कि तनाव कोई अभिवृत्ति नहीं है लेकिन बुद्धि की अवस्था या स्थिति जैसे, "अपमानता, गवारपन, सरक्षकता, अक्खडपन, घृणा, विमुखता, विद्वेषता और सन्देह। मैकीवर द्वारा बताई गई 51 अभिवृत्तियाँ "तनाव" मे स्थान रखती है। आपके अनुसार, "तनाव बुद्धि की एक अवस्था है जो समूह अथवा समूह के एक सदस्य को अलग-थलग कर देती है और जो तनाव या अप्रियता का कारण है तथा एक व्यवहार के प्रतिमान को पैदा करता है जिसे उपर्युक्त वर्णित एक या मिश्रित अभिवृत्तियो के रूप मे देखा जा सकता है।"

2 **समाज और सामाजिक तनाव** (Society and Social Tension)—सामाजिक तनाव की परिभाषा देने से पूर्व आपने समाज की परिभाषाएँ उद्धरित की हैं जो निम्न हैं—**एल. टी. हाबहाउस** ने समाज को "सम्बन्धो का ऊतक" बताया है। **मैकीवर** ने समाज "सामाजिक सम्बन्धो का जाल" बताया है। घुर्ये ने समाज को समूहो का और उन समूहो के सदस्यो का एकीकृत रूप बताया है। सभी मानव समाजो मे व्यक्ति और समूह प्रमुख है। **पार्क** और **बर्गेस** ने दो प्रकार के समूह बताए हैं—(1) सघर्ष समूह, और (2) व्यवस्थापन समूह। **घुर्ये** ने लिखा है, "जापान के समाजशास्त्रियो आदि ने अपने समाज मे भी विशिष्ट तनाव के समूह बताया है, ये है—(1) पारिवारिक जीवन मे तनाव, (2) समुदायो में तनाव, (3) साहित्यिक सघो मे तनाव, (4) 'ईटा' बहिष्कृत जाति की समस्या के इर्द-गिर्द तनाव, (5) प्रजातीय तनाव, (6) धार्मिक जीवन मे तनाव, (7) आर्थिक जीवन मे तनाव, (8) वैचारिक तनाव, और (9) युवा लोगो मे तनाव। घुर्ये ने आलोच्य कृति मे सामाजिक तनाव से तात्पर्य इन्हीं अन्तर वैयक्तिक तनावो और अन्तर समूह तनावो से लगाया है।

3 **सघर्ष** (Conflict)—घुर्ये ने सघर्ष की अवधारणा के इतिहास पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि यह अवधारणा तनाव की तरह व्यक्तिगत, अन्तर-वैयक्तिक और अन्तर-समूह घटना है। इस पर मोर्गेन्थू के विचार महत्त्वपूर्ण हैं। मोर्गेन्थू के अनुसार राजनैतिक दल, धार्मिक एव प्रजातीय समूह, क्षेत्र तथा बस्तियाँ अपना अस्तित्व बनाए रखने के लिए आर्थिक गतिविधियो मे पारस्परिक लेन देन एव सघर्ष करती है। इसके बाद आपने सामाजिक कार्य विधि का वर्णन किया है जिसमे सघर्ष पैदा होता है जिसका कारण विरोधी दावे होते हैं। **माल्थस** और **चार्ल्स डार्विन** ने अस्तित्व के लिए व्यक्तियो और समूहों में संघर्ष की चर्चा की है।

जार्ज सिमेल ने चार प्रकार की सामाजिक अन्तःक्रियाओ के प्रकार बताए हैं—(1) सघर्ष, (2) प्रतिस्पर्धा, (3) व्यवस्थान, और (4)आत्मासतकरण। इनसे सम्बन्धित चार प्रक्रियाओ को भी स्पष्ट किया है जो सामाजिक व्यवस्था से सम्बन्धित हैं ये निम्नानुसार हैं—(1) सन्तुलन प्रतिस्पर्धा से सम्बन्धित हैं। (2) राजनैतिक व्यवस्था-संघर्ष से सम्बन्धित है, (3) सामाजिक सगठन व्यवस्थान से सम्बन्धित है, (4) आत्मसातकरण व्यक्तित्व तथा सांस्कृतिक विरासत से सम्बन्धित है।

सिमेल ने सघर्ष के चार प्रकार बताए हैं—(1) युद्ध, (2) वैर एवं झगडे, (3) मुकदमेबाजी, और (4) बहस या परिचर्चा। इ एस रॉस (E A Ross) ने अपनी कृति "प्रिंसिपल्स ऑफ सोशियोलॉजी मे संघर्ष" से सम्बन्धित निम्न सात पक्ष लिखे हैं—(1) युगो का सघर्ष/युग-संघर्ष, (2) प्रजाति संघर्ष, (3) कस्बा देश/समुदाय/संघर्ष, (4) अन्तर्जातीय संघर्ष, (5) प्रौद्योगिक सघर्ष, (6) धार्मिक सघर्ष, और (7) पढ़े-लिखे

एवं अनभिज्ञों में संघर्ष। मैकीवर ने मात्र दो सामाजिक प्रक्रियाओं (1) सहयोग, और (2) संघर्ष को माना है। मैकीवर कहते हैं, "समाज सहयोग है जो संघर्ष से रेखित होता है *(Society is Co-operation Crossed by Conflict)*।

घुर्ये के अनुसार यंग ने सामाजिक और व्यक्तिगत संघर्ष के निम्न आठ प्रकार बताए हैं—(1) प्रौद्योगिक, (2) प्रजातीय, (3) धार्मिक, (4) राजनैतिक, (5) अन्तर-समुदाय एवं अन्त:-समुदाय, (6) अन्तर-वर्ग और अन्त:-वर्ग, (7) लिंग एवं आयु संघर्ष, और (8) बौद्धिक अथवा आचार सिद्धान्तों का संघर्ष। संघर्ष की अवधारणा के विकास में ध्यान देने योग्य बात ये है कि संघर्ष मात्र दुष्कार्यात्मक एवं विघटनकारी ही नहीं है बल्कि यह संगठनात्मक कार्य भी करता है। फॉलेट (Follet) ने एक लेख "कंस्ट्रक्टिव कॉन्फ्लिक्ट" लिखा जिसमें आपने संघर्ष के संगठनात्मक एवं निर्माणात्मक पक्ष पर प्रकाश डाला। आपने कहा कि संघर्ष को अच्छा या बुरा कुछ भी नहीं मानना चाहिए। इसका अध्ययन पूर्वाग्रह के आधार पर नहीं करना चाहिए। संघर्ष को विचारों और हितों की भिन्नता के अनुसार देखना चाहिए। इस प्रकार से संघर्ष का अर्थ है मतभेद।

राबर्ट एन्जील (Robert Angell) ने संघर्ष की एकात्मपरक भूमिका पर निम्न शब्दों में प्रकाश डाला है, "हमने इस पर जोर दिया है कि संघर्ष एकीकरण के साथ तब अनुरूपता रखता है जब संघर्ष केवल समस्त मापदण्डों के अनुसार होता है।" इसी प्रकार से एम. एम. लेविस कहते हैं, "युद्ध बिना, शान्ति अन्दर, शान्ति बिना, युद्ध अन्दर आज के समाज की परिवर्तित विशेषता है।"

घुर्ये ने संघर्ष की परिभाषा की विवेचना की है। आपने रॉबिन एम. विलियम्स द्वारा दी गई संघर्ष की परिभाषा उद्धरित की है जो निम्न है, "संघर्ष मूल्यों (वितरणात्मक या अवितरणात्मक) में द्वन्द्व है जिसमें शत्रुओं का तत्काल उद्देश्य अपने प्रतिस्पर्धियों को प्रभावहीन, पीड़ित, अथवा हटाना है।" विलियम्स का कहना है कि सभी परिचित सामाजिक व्यवस्थाओं में व्यक्ति स्वयं को किसी समूह का सदस्य मानता है जिसे बौद्धिक एवं व्यावहारिकता के अनुसार "हम समूह" कहते हैं तथा अन्य समूहों को "वे समूह" अथवा "अ-हम-समूह" कहते हैं। इस प्रकार की शत्रुता समूह-संघर्ष का स्रोत होता है। किसी भी प्रकार की कुण्ठा (वास्तविक अथवा काल्पनिक) संघर्ष की प्रकृति को कठोर बनाने में 'आग में घी' का काम करती है।

रेमण्ड एरोन *(Raymond Aron)* ने संघर्ष की निम्न परिभाषा दी है, "समूह संघर्ष दो समूहों और व्यक्तियों में निश्चित सीमित वस्तु को प्राप्त करने अथवा पारस्परिक असंगत मूल्यों को पाने के लिए विरोध अथवा द्वन्द्व है।"

किंग्स्ले डेविस ने अपनी पुस्तक ह्यूमन सोसायटी में प्रक्रिया के तीन महत्त्वपूर्ण प्रकारों में संघर्ष को प्रथम स्थान पर रखते हुए इसको दो प्रकारों का उल्लेख किया है—आंशिक संघर्ष और पूर्ण संघर्ष, जिसमें समझौते की सम्भावना किसी भी स्तर पर नहीं होती है।

फॉलेट (Fallet) का कहना है कि संघर्ष अथवा मतभेद को हल करने के तीन प्रमुख तरीके हैं—प्रभुत्व, (2) समझौता, और (3) एकीकरण। घुर्ये का कहना है कि फॉलेट का समझौता और समाजशास्त्रियों का व्यवस्थापन की प्रक्रियाएं समान है। जब संघर्ष का हल एकीकरण के द्वारा किया जाता है तो स्थरीकरण उसका परिणाम निकलता है जो निर्माणात्मक है। प्रभुत्व के द्वारा केवल एक पक्ष को वह मिलता है जो वह चाहता है, समझौते के द्वारा किसी को भी वो नहीं मिलता जो वह चाहते हैं तथा एकीकरण के द्वारा दोनों ही पक्षों को वो

मिल जाता है जो वो चाहते हैं। इस प्रकार से एकीकरण व्यक्ति और सामाजिक समूहों के लिए एक महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया है।

4 **एकीकरण (Integration)**—घुर्ये का स्वभाव रहा है कि वे अवधारणा की विवेचना में सर्वप्रथम उसके इतिहास पर अवश्य प्रकाश डालते हैं। एकीकरण के इतिहास पर प्रकाश डालते हुए आपने लिखा है कि फॉस्लेट ने एकीकरण की अवधारणा का प्रयोग राजनैतिक विज्ञान में 1921 और 1927 में किया था। अमरीका में एकीकरण की अवधारणा का उल्लेख 1931 तक 'एॅनसाइक्लोपीडिआ ऑफ दा सोसियल साइन्सेज' में नहीं हुआ था। यद्यपि एॅनसाइक्लोपीडिआ ब्रिटानिका के 14वें सस्करण में एकीकरण पर एक संक्षिप्त टिप्पणी लिखी गई। लेकिन इस अवधारणा की प्रक्रिया और महत्त्व को हर्बर्ट स्पेन्सर ने 1862 में अपनी पुस्तक में प्रयोग करके स्पष्ट कर दिया था। आपने ज़ोर देकर कहा कि विभेदीकरण के साथ एकीकरण निर्जीव, जैविक और सामाजिक उद्‌विकास का महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त हैं।

1931 में मेकीवर ने अपनी पुस्तक सोसायटी में फॉलेट एकीकरण की अवधारणा को प्राथमिक समूह के सिद्धान्त में समूह-प्रक्रिया के रूप में प्रस्तुत किया। मैकीवर ने विचारों का उपयोग किया तथा एकीकरण की अवधारणा को आगे बढ़ाया। बाद में सामाजिक परिवर्तन और प्रगति की विवेचन में मैकीवर ने हर्बर्ट स्पेन्सर के उद्‌विकास से सम्बन्धित एकीकरण के विचारों का भी उपयोग किया। आपने लिखा कि यह सामान्यतया कहा जाता है कि उद्‌विकास विभेदीकरण और एकीकरण की एक प्रक्रिया है लेकिन विभेदीकरण को जब ठीक से समझा जाता है तो वह एकीकरण को व्यक्त करता है।

डेविड एफ. अबेर्ले (David F Aberle) ने एकीकरण की निम्न परिभाषा दी है, ''एकीकरण से हमारा तात्पर्य है समाज की क्षमता जिससे वह बार-बार खुले संघर्ष में पतन होने या स्वतंत्र छोटी व्यवस्थाओं की श्रृंखलाओं में बिखरे बिना एक प्रकार से संगठित पूर्णता में कार्य कर सके।''

वेर्नर एस. लेण्डेकर (Werner S Landecker) ने एकीकरण की परिभाषा न देकर इसके चार प्रकार दिए हैं—



(1) सांस्कृतिक एकीकरण (Culteral Integration)—सांस्कृतिक मानदण्डों में एकीकरण।

(2) मानकीय एकीकरण (Normative Integration)—सांस्कृतिक मानदण्डों और मानव के व्यवहारों में एकीकरण।

(3) संप्रेषणपरक एकीकरण (Communicative Integration)—अर्थों के विनिमय द्वारा एकीकरण।

(4) प्रकार्यात्मक एकीकरण (Functional Integration)—सेवाओं के विनिमय द्वारा एकीकरण जिसे अर्थशास्त्री 'श्रम का विभाजन' कहते हैं।

श्रम विभाजन की व्यवस्था की इकाइयों में पारस्परिक निर्भरता की मात्रा में प्रकार्यात्मक एकीकरण होता है। यह दूसरे प्रकार के एकीकरणों में सहायक हो भी सकता है और नहीं भी हो सकता है। लेकिन अन्य तीनों प्रकार के एकीकरण एक-दूसरे से घनिष्ठ सम्बन्धित हैं। संचार अथवा अर्थों का आदान-प्रदान समूह में संप्रेषणपरक (संचार सम्बन्धी)

एकीकरण की मात्रा निर्धारित करता है जिसका सम्बन्ध सांस्कृतिक एकीकरण और मानकीय एकीकरण के साथ है। लेण्डेकर के अनुसार संप्रेषणपरक एकीकरण अन्य प्रकार के एकीकरणों का केन्द्रीय और प्रमुख आधार है। एम एम गोर्डेन ने दो स्तरों पर एकीकरण की अवधारणा का प्रयोग सामाजिक समूह के सन्दर्भ में किया है—(1) सामुदायिक एकीकरण स्तर, और (2) बहुवादी एकोकरण स्तर। 1959-60 में पीटर एम. ब्लॉग ने दो लेख "सामाजिक एकीकरण" पर लिखे और उससे सामाजिक एकीकरण समाजशास्त्र में स्थापित हो गया। एक लेख में आपने समूह में व्यक्तियों का एकीकरण—अन्तर-वैयक्तिक एकीकरण की विवेचना की है तथा इसके सूचकों को स्पष्ट किया है। दूसरे लेख में आपने "ए थ्योरी ऑफ इन्टीग्रेशन" शीर्षक से लिखा। इसमें आपने बताया कि एकीकरण का निर्धारण समूह के सदस्यों में एक-दूसरे को आकर्षित करने की शक्ति सम्पर्क करने की क्षमता तथा ऐसा करने की इच्छा करती है। फॉलेट का कहना है कि एकीकरण स्पष्ट करता है कि "समाधान मिल गया है जिसमें दोनो पक्षो को स्थान मिल जाता है तथा किसी भी पक्ष को कुछ भी त्यागना नहीं पड़ता है।"

रॉबर्ट स्कोटस् ने भौतिक और मनोवैज्ञानिक एकीकरण मे योगदान दिया। कार्ल जे. फ्रेडरिक ने दो प्रकार के एकीकरण बताए हैं—एकताकारी और एकीकरण, तथा (2) 'राष्ट्रीय निर्माण'। जेम्स एस कॉलमैन ने तथा कार्ल जी. रासबर्ज ने प्रथम पुस्तक "राष्ट्रीय एकीकरण" पर 1964 में लिखी जिसमें आप दोनों ने (1) राजनैतिक एकीकरण, और (2) भूभागीय एकीकरण पर प्रकाश डाला। पी ई जेकब ने यूरोप के आर्थिक समुदाय की परिस्थितियों के आधार पर एकीकरण ने निम्न चार प्रकार निर्धारित किए—(1) राजनैतिक एकताकारी के रूप मे एकीकरण, (2) आर्थिक एकताकारी के रूप में एकीकरण, (3) आर्थिक एवं राजनैतिक सहयोग के रूप में एकीकरण, और (4) स्वतंत्र व्यापार के रूप में एकीकरण।

घुर्ये लिखते हैं कि जिस प्रक्रिया के द्वारा एकता की परिस्थिति प्राप्त की जाती है वे सभी जटिल तकनीकें एकीकरण कहलाती है। इसके दो घटक हैं—(1) राजनैतिक एकीकरण जिसमें—(अ) भूभागीय एकीकरण, और (ब) आर्थिक एकीकरण सम्मिलित हैं। (2) सामाजिक एकीकरण, भूभागीय एकीकरण में सभी भौगोलिक क्षेत्रों की एकताकारिता आती है, तथा उनमें जैविक एकता होती है। जो यातायात एवं संचार मे बाधा बन सके। आर्थिक एकता में सभी आर्थिक क्रियाएँ सभी लोगों व एक सामान्य प्रशासन के अधीन होती है।

दूसरा घटक सामाजिक एकीकरण है जिससे तात्पर्य है—व्यक्तियों और समूहों का ऐसा एकीकरण जिसमें व्यक्तियो में सामान्य साझा मूल्य होते हैं। इस सामाजिक एकीकरण का आधार और परिणाम मनोवैज्ञानिक एकीकरण होता है जो संप्रेषणपरक एकीकरण के द्वारा होता है। संचार या संप्रेषणपरक के द्वारा विभिन्न लोग परस्पर एक-दूसरे के सम्पर्क मे सामान्य मूल्यों के द्वारा आते हैं। यह प्रत्येक नागरिक में भावात्मक पहचान स्थापित करता है जिसे राष्ट्र-राज्य के द्वारा आदर्शपूर्ण रूप मे प्रदर्शित किया जाता है। घुर्ये इस पूर्ण जटिलता को सामाजिक एकीकरण कहते हैं जिसका कारण आपने इसमें राजनैतिक पक्ष, प्रशासनिक एकता और राजनैतिक सहभागिकता का होना बताया है जो प्रत्येक नागरिक का राजनैतिक एकीकरण है और उसके मिलने से राष्ट्रीय एकीकरण का निर्माण जो जटिलपूर्ण बनता है वह राष्ट्रीय एकीकरण कहलाता है।

5. सामाजिक तनाव और अल्पसंख्यक (Social Tension and Minorities)—घुर्ये ने अल्पसंख्यको से सम्बन्धित सामाजिक तनाव की विस्तृत विवेचना की है। आपने भाषा

के आधार पर अल्पसंख्यको में तनाव का निर्धारण किया है। इसे आपने भाषाई तनाव कहा है। एक भाषा को बोलने वाले अल्पसख्यक पूरे भारत मे बसे हैं। वे अपनी भाषा को राष्ट्रीय स्तर पर मान्यता दिलवाना चाहते हैं। इसी प्रकार से एक धर्म को मानने वाले अल्पसंख्यक धर्मावलम्बी पूरे देश मे फैले हुए हैं उनमें धर्म के आधार पर अन्य धर्मावलम्बियो के साथ धार्मिक तनाव या साम्प्रदायिक झगड़े देखे जा सकते हैं। घुर्ये ने सामाजिक तनाव के तीसरे रूप अल्पसख्यको मे प्रान्तीयता के आधार पर भी सघर्ष की विवेचना की है। आपने यह पुस्तक 1968 में लिखी थी उस समय सविधान की 8वीं अनुसूची मे बारह भाषाओ का उल्लेख किया गया था तथा भाषा के आधार पर भाषाई राज्यो के निर्माण की प्रक्रिया देखी जा सकती है। भारतीय सविधान के अधिनियम, 30 (1), (2) 350 (ब) (1) मे "भाषाई अल्पसख्यक समूह" और "भाषाई अल्पसख्यक" का उल्लेख किया गया है। इस प्रकार से यह स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय सविधान मे अल्पसंख्यको का निर्धारण संस्कृति या प्रजाति या राष्ट्रीयता के अनुसार नहीं है। यह केवल भाषा या धर्म अथवा दोनो पर आधारित है।

मुस्लिम भारतीय जो उर्दू भाषाई हैं, उनका भिन्न धर्म है तथा वे भाषा और धर्म के आधार पर भारत मे अल्पसंख्यक है। भारत मे धर्म के आधार पर ईसाई एक और अल्पसख्यक है परन्तु वे कोई विशिष्ट भाषाई नहीं है। ये लोग भारत के विभिन्न राज्यो मे फैले हुए हैं जहाँ उनका जन्म एव पालन-पोषण हुआ है तथा वे अपने-अपने राज्यो की भाषा बोलते हैं। इसलिए अग्रेजी भाषा भारतीय ईसाइयो की विशिष्ट भाषा नहीं मानी जा सकती है।

अल्पसख्यक द्वितीय महायुद्ध के बाद एक प्रकार के रूप मे राजनीतिशास्त्र मे और एक अवधारणा के रूप मे अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो तथा कानून मे प्रस्फुटित हुआ था। एनसाइक्लोपिडिया ब्रिटानिका के 1964 के संस्करण मे अस्पृस्यो अल्पसंख्यको की समस्याओ पर प्रकाश डाला गया है। कोहन के अनुसार, "अल्पसंख्यक वो समूह हैं जो सामान्य वशज के बन्धन, भाषा या धार्मिक विश्वास और इन क्षेत्रो मे अपने को निश्चित राजनैतिक क्षेत्र मे बसे बहुसंख्यको से भिन्न अनुभव करते हैं।"

लुईस विर्थ (Louis Wirth) ने अल्पसख्यक की निम्न परिभाषा दी है, "एक लोगो का समूह अपने शारीरिक अथवा सास्कृतिक लक्षणो के कारण जिस समाज मे रहते हैं उसमे असमान अथवा भेदभावपूर्ण व्यवहार करने के लिए दूसरो से पृथक् कर दिए जाते हैं और इसलिए वो अपने को सामूहिक भेदभाव का विषय मानते हैं। .अल्पसख्यक प्रस्थिति के साथ समाज के जीवन में पूर्ण सहभागिता सम्बन्धी अपवर्जन जुडा होता है।"

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि अल्पसख्यक किसी समाज मे एक छोटा समूह है जिसे उनके शारीरिक, सास्कृतिक, भाषाई, धार्मिक और राजनैतिक लक्षण या लक्षणो के कारण समाज के बहुसख्यको मे अलग-थलग या पृथक् कर दिया जाता है। अल्पसख्यक अपने को भेदभाव व्यवहार का विषय मानते हैं। समाज को सभी गतिविधियो मे वे भाग नहीं ले सकते हैं। उन पर अनेक प्रतिबन्ध होते हैं। उनका विभिन्न प्रकार से शोषण किया जाता है अथवा उन्हें सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक, सास्कृतिक आदि क्षेत्रो मे समान अधिकार प्राप्त नहीं होते हैं। इन्हीं भेदभावो के कारण राष्ट्र सघ ने अल्पसख्यकों के अधिकार सम्बन्धी प्रावधान स्पष्ट किए हैं जिनका घुर्ये ने उल्लेख किया है।

अल्पसंख्यकों के प्रमुख अधिकार
(Principal Rights of Minorities)

घुर्ये ने लिखा है कि राष्ट्रसघ केवल प्रजातीय, भाषाई अथवा धार्मिक अल्पसख्यको को मानता है। इसमे कहीं पर भी राष्ट्रीय अथवा सास्कृतिक अल्पसख्यको का उल्लेख नहीं मिलता है। इसी सन्दर्भ मे राष्ट्र संघ ने प्रजातीय, भाषाई अथवा धार्मिक अल्पसंख्यको के निम्न प्रमुख अधिकारो का वर्णन किया है—

1. राष्ट्रीयता (Nationality)—एक व्यक्ति का निश्चित सीमा मे आदतन आवास है अथवा वह आदतन आवास करने वाले की सन्तान है तो उसे उस राष्ट्र राज्य की राष्ट्रीयता

प्राप्त हो जाती है जिसकी सीमा मे वह क्षेत्र आता है। (2) जीवन, स्वतंत्रता, पूजा की स्वतंत्रता उन सभी निवासियो का अधिकार है, चाहे उसकी प्रजाति, धर्म या विश्वास यहाँ की जनता की व्यवस्था अथवा जनता के आचार से मेल नहीं खाते हो, (3) कानून के सामने सभी समान हैं। प्रजाति, भाषा या धर्म के आधार पर किसी भी राष्ट्र या देश मे नौकरियो, व्यवसायों और उद्योगो मे भेदभाव नहीं बरता जाएगा। (4) जो अल्पसख्यक राष्ट्र है उन्हे पूरा अधिकार है अपने सामाजिक और धार्मिक संस्थाओं, पाठशालाओं और शैक्षणिक सस्थाओं को स्थापित करने चन्दा द्वारा चलने आदि का अधिकार है। (5) राज्य उन पर उनकी भाषा के उपयोग पर कोई प्रतिबन्ध लागू नहीं करेगा। (6) राज्य इन्हें मौखिक अथवा न्यायालय द्वारा उनकी भाषा के बोलने के लिए राजकीय भाषा के अतिरिक्त सभी सुविधाएँ प्रदान करेगा। (7) राज्य उन्हे कस्बों और जिलो में बच्चो को पढ़ाने के लिए प्राथमिक विद्यालयों मे उपर्युक्त सुविधाएँ प्रदान करेगा। (8) राज्य उन्हे सम्पूर्ण बजट में से उनकी जनसंख्या के अनुपात में वित्तीय सहायता देगा जिसे वो शिक्षा, धर्म तथा दान के उद्देश्यो के रूप में उपयोग कर सकते हैं। (9) अल्बानियाँ और यूनान मे मुसलमानो के परिवार के कानून और व्यक्तिगत अधिकारो के लिए राज्य कदम उठाएगा और वहाँ मुसलमानो के परम्पराओं के अनुसार व्यवस्था करेगा।

सांस्कृतिक बहुवाद और बहु-समाज (Cultural Pueralism and Pleural Society)—घुर्ये ने सांस्कृतिक बहुवाद और बहु-समाज, समाज मे विभिन्नता के पक्षो का तनाव के सन्दर्भ मे आलोचनात्मक मूल्यांकन किया है। इससे सम्बन्धित विद्वानो के विचारों को आपने क्रमबद्ध रूप मे प्रस्तुत किया है। किसी एक समाज मे एक से अधिक प्रजाति या सांस्कृतिक मूल की जनसंख्या होने से वह बहु-समाज नहीं बन जाता है। बहु-समाज के लिए विभिन्नता एक आवश्यक लेकिन सन्तोषजनक स्थिति नहीं है। सभी तथा अधिकतर राष्ट्र, जिनमे भिन्नता वाली जनसख्याएँ होती है आवश्यक नहीं है वे बहु-समाज हो। उनकी प्रमुख जनसंख्याओ के समूहो मे जाति, भाषा, धर्म, भौगोलिक क्षेत्र तथा संस्कृति मे अवश्य भिन्नता होनी चाहिए। बहु-समाज मे विभिन्नता की समस्या का समाधान प्रभावी जनसख्या के अलग अस्तित्व की पहिचान, सम्पर्क के तत्त्वो के क्षेत्र विशेष रूप से बाजार और राजनीति, सीमित होने चाहिएँ। एक बहु समाज तभी बनता है जब समाज मे एक छोटा प्रमुख समूह होता है, जिसके पास समाज के अन्य सास्कृतिक समूहो पर शक्ति एव नियंत्रण रहता है। राष्ट्रवादियो की मान्यता है कि राजनैतिक और सांस्कृतिक विषय अपरिहार्य है। कोई भी संस्कृति तभी बनी रह सकती है जब उसके पास राजनैतिक सत्ता एव शक्ति हो। इसीलिए बहु-समाज, बहु-सस्कृति तथा बहु-जनसख्या, बहु-आर्थिको आदि मे तनाव की समस्याएँ विद्यमान होती हैं।

घुर्ये ने लिखा है कि बहुवाद मे अल्पसख्यकों और बहुसंख्यकों के बीच बहुवादी उद्देश्यो को बनाए रखने के कारण सघर्ष की कुछ मात्रा का बने रहने का खतरा सदैव बना रहता है। सर्वोच्च महत्त्व के विषय, जैसे—बाहर से आक्रमण के अतिरिक्त बहु-समाजे में सर्वजन इच्छा नहीं होती है। आपने अन्त में लिखा है कि समुदाय के मध्य सम्बन्धो को सुधारने के लिए सभी प्रकार के सम्भव प्रयास किए जाते हैं तब भी उन लोगों के बीच तनाव विद्यमान रहते है जो मौलिक प्रश्नो पर अपने भिन्न विश्वास व्यक्त करते हैं और उनमे भी जिनका जीवन एव विचार विभिन्न भाषाओं द्वारा व्यक्त होते हैं।

घुर्ये के उपर्युक्त योगदान एव चिन्तन ने भारतीय समाजशास्त्र के विकास मे उल्लेखनीय योगदान दिया है।

अभ्यास प्रश्न

निबन्धात्मक प्रश्न

1. जी. एस. घुर्ये की प्रमुख समाजशास्त्रीय कृतियो का वर्णन कीजिए।

2. जी. एस. घुर्ये के जीवन एवं कार्यों पर एक संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।
3 घुर्ये के जाति, वर्ग और व्यवसाय से सम्बन्धित विचारों की समीक्षा कीजिए।
4 घुर्ये द्वारा वर्णित जाति द्वारा शासित हिन्दू समाज के विशिष्ट लक्षणो की विवेचना कीजिए।
5. घुर्ये को कृति 'भारत में सामाजिक तनाव' की समीक्षा कीजिए।

लघूत्तरात्मक प्रश्न

निम्न पर सक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिए—

1 घुर्ये की प्रमुख रचनाएँ,
2 घुर्ये के अनुसूचित जनजातियो से सम्बन्धित विचार,
3 विभिन्न खण्डों की नागरिक और धार्मिक असमर्थताएँ व विशेषाधिकार,
4 अप्रतिबन्धित व्यवसायो के चयन का अभाव
5 वर्ग-व्यवस्था,
6 व्यवसाय,
7 एकीकरण के प्रकार,
8 सामाजिक तनाव और अल्पसख्यक।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1 निम्न मे से घुर्ये ने कौन-कौन सी कृतियाँ लिखी हैं—
(अ) कास्ट एण्ड क्लास इन इण्डिया (ब) कल्चर एण्ड सोसायटी
(स) कास्ट एण्ड रेस इन इण्डिया (द) जाति, वर्ग और व्यवसाय
(क) सोशियल टेन्शन इन इण्डिया (ख) दा शेड्यूल्ड ट्राइब्स्
(ग) उपरोक्त सभी
[उत्तर—(ग)]

2 निम्न के उपयुक्त जोडे बनाइए—

(i) 1893–1983	(अ) जाति-व्यवस्था
(ii) विवाह पर नियत्रण	(ब) गोस्वामी तुलसीदास
(iii) "उत्तम खेती मध्यम बान, अधम चाकरी भीख समान"	(स) वर्ग-व्यवस्था
(iv) धन का महत्त्व	(द) जी. एस घुर्ये

... को श्राद्ध भोज के अयोग्य बनाता है।
[उत्तर—(i) द, (ii) अ, (iii) ब, (iv) स]

3 पैट्रिक गेड्डिस के बाद 1924 मे मुम्बई विश्वविद्यालय के समाजशास्त्र विभाग के प्रथम भारतीय विभागाध्यक्ष निम्न मे से कौन बने थे—
(अ) के. एम कापडिया (ब) एम एन श्रीनिवास
(स) जी एस घुर्ये (द) डी. पी मुकर्जी
[उत्तर—(स)]

4 निम्न में से घुर्ये किस पुस्तक से प्रभावित हुए थे—
(अ) ह्यमन सोसायटी (ब) हिस्ट्री ऑफ मेरेज
(स) सौसायटी (द) दा स्युसाइड
[उत्तर—(ब)]